महामाहेश्वरश्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितः

श्रीतन्त्रालोकः

व्याख्याद्वयोपेतः

[द्वितीयो भागः]

कुलपतेः श्रीवेङ्कटाचलस्य 'शिवसङ्कल्प' -पुरोवाचा पुरस्कृतः

हिन्दीभाष्यकारःसम्पादकश्च

डॉ. परमहंसमिश्रः 'हंसः'

योगतन्त्र-ग्रन्थमाला

[१७]

महामाहेश्वरश्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितः

श्रीतन्त्रालोकः

व्याख्याद्वयोपेतः

[द्वितीयो भागः]

मूलपदैः श्रीजैरथाचार्यस्य 'विवेकसूत्र'-पुरोगमया

पुरस्कृतः

सम्पादकः

डॉ० परमहंसमिश्रः 'हंसः'

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः

YOGATANTRA-GRANTHAMĀLĀ

[Vol. 17]

ŚRĪTANTRĀLOKA

OF

MAHĀMĀHEŚVARA ŚRĪ ABHINAVAGUPTAPĀDĀCĀRYA

[PART TWO]

With Two Commentaries

'VIVEKA'

BY

ĀCĀRYA ŚRĪ JAYARATHA

'NĪRAKSĪRAVIVEKA'

BY

DR. PARAMHANS MISHRA 'HANS'

FOREWORD BY

PROF. V. VENKATACHALAM

VICE-CHANCELLOR

EDITED BY

DR. PARAMHANS MISHRA 'HANS'

VARANASI

1993

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute,
Sampurnanand Sanskrit **University**
Varanasi.

□

Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Publication **Officer,**
Sampurnanand Sanskrit **University**
Varanasi—221 002.

□

Available at—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi—221 002.

□

First Edition, 500 Copies
Price Rs. 132·00

□

Printed by—
VIJAYA PRESS,
Sarasauli, Bhojubeer
Varanasi.

योगतन्त्र-ग्रन्थमाला

[१७]

महामाहेश्वरश्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितः

श्रीतन्त्रालोकः

[द्वितीयो भागः]

श्रीमदाचार्यजयरथकृतया

'विवेक'व्याख्यया

डॉ० परमहंसमिश्रकृतेन

'नीरक्षीरविवेक'-हिन्दीभाष्येण

कुलपतेः श्रीवेङ्कटाचलस्य 'शिवसङ्कल्प'-पुरोवाचा च

पुरस्कृतः

सम्पादकः

डॉ० परमहंसमिश्रः 'हंसः'

वाराणस्याम्

२०५० तमे वैक्रमाब्दे १९१५ तमे शकाब्दे १९९३ तमे खैस्ताब्दे

अनुसन्धानप्रकाशनपर्यवेक्षकः—
निदेशकः, अनुसन्धान-संस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी ।

□

प्रकाशकः—
डॉ० हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठी
प्रकाशनाधिकारी,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी–२२१ ००२.

□

प्राप्तिस्थानम्—
विक्रय-विभागः,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी–२२१ ००२.

□

प्रथमं संस्करणम्, ५०० प्रतिरूपाणि
मूल्यम्—१३२=०० रूप्यकाणि

□

मुद्रकः—
विजय-प्रेस,
सरसौली, भोजूबीर,
वाराणसी ।

शिव-सङ्कल्प

'अद्वैत' तत्त्व भारतीय दार्शनिक चिन्तन का सर्वोच्च शिखर है, यह तटस्थ भाव से विचार करने वाले संसार के सभी मनीषियों का अभिमत है। कविता के साथ शास्त्रों में जिनकी प्रतिभा की अबाध गति थी, ऐसे महाकवि श्रीहर्ष ने अपने नैषध-महाकाव्य के प्रसिद्ध **पञ्चनली** सर्ग में बड़े चमत्कार के साथ इस तथ्य की ओर इंगित किया है, जब काव्य को नायिका दमयन्ती स्वयंवर-मण्डप में चार मिथ्या-नलों से मिलने के बाद परमार्थ नल की ओर कदम बढ़ाती है। असत्य से सत्य की ओर बढ़ती इस गति की महाकवि अपनी अनूठी शैली से द्वैतवादी मिथ्या-दर्शनों को छोड़कर पारमार्थिक अद्वैत की ओर उन्मुखता से तुलना करते हुए लिखता है—

साप्तुं प्रयच्छति न पक्षचतुष्टये तां
तल्लाभशंसिनि न पञ्चमकोटिमात्रे।
श्रद्धां दधे निषधराड्विमतौ मताना-
मद्वैततत्त्व इव सत्यतरेऽपि लोकः॥ (१३।३६)

यह तो निर्विवाद है कि इस परमाद्वैत तत्त्व का मूल उत्स उपनिषद् है; परन्तु उपनिषदों से प्रवाहित अद्वैत की धारा ने कालान्तर में बहुमुखी रूप धारण किया। जहाँ दक्षिण के सुदूर अंचल केरल में जन्मे आचार्य शङ्कर भगवत्पाद ने उसको निर्विशेष ब्रह्माद्वैत के रूप में रूपायित कर अपनी अलौकिक दैवी प्रतिभा से सारे देश में प्रतिष्ठापित किया, वहाँ उत्तर की सीमा काश्मीर में उसकी एक दूसरी धारा शिवाद्वैत के रूप में विकसित हुई। इस काश्मीरी शिवाद्वैत प्रस्थान में आचार्य अभिनवगुप्त का वही स्थान है, जो ब्रह्माद्वैत दर्शन में श्रीशङ्कराचार्य का। अन्तर मात्र इतना है कि इस धारा का प्रभाव-क्षेत्र काश्मीर एवं उसके परिसर तक सीमित रहा, जब कि आचार्य शङ्कर का दर्शन सारे भारतवर्ष में छा गया। फिर भी यह अद्भुत संयोग ही कहलाएगा कि इस काश्मीर शैवदर्शन की एक धारा के प्रवर्तक श्रीकण्ठाचार्य के ब्रह्मसूत्र-भाष्य पर तमिल प्रदेश के सर्वशास्त्र-पारंगत विद्वान् अप्पय्य दीक्षित ने विशाल भाष्य **शिवार्कमणिदीपिका** लिखकर व्यापक प्रतिष्ठा दी।

काश्मीरी शिवाद्वैत के प्रसार का भौगोलिक क्षेत्र कुछ सीमित अवश्य रहा, फिर भी एक स्वतन्त्र दर्शन के रूप में उसकी समग्रता अक्षुण्ण है। उसका साहित्य भी तदनुरूप समृद्ध एवं बहुमुखी है। जिस आगम-साहित्य पर वह आधृत है, वह भी अपने आप में एक विशाल दार्शनिक ज्ञान का भण्डार है। आचार्य अभिनवगुप्त ने शैवागम साहित्य रूपी अपने मूल उत्स की समस्त दार्शनिक धाराओं को समेटने वाले एक ऐसे सर्वंकष ग्रन्थ की परिकल्पना की है जो उनकी जैसी अलौकिक प्रतिभा के लिए ही सम्भव था। प्रस्तुत ग्रन्थ तन्त्रालोक उनके इस विराट् शिव-संकल्प का ही परिणाम है। अपने ग्रन्थ के विराट् आयाम के विषय में महाभारतकार की प्रसिद्ध उक्ति—

यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।

तन्त्रशास्त्र के सन्दर्भ में अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक पर भी उतनी ही सटीक है। यही कारण है कि अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक को काश्मीरी शैव-शास्त्र के आकर ग्रन्थ की प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकी। यही कारण है कि आज तक यह महामाहेश्वर आचार्य काश्मीरी शैव-दर्शन के 'मार्गदर्शी' महर्षि के रूप में पूजे जाते हैं।

यह तो स्वाभाविक ही था कि शैवागम-सर्वस्व की प्रतिष्ठा का आकांक्षी ऐसा ग्रन्थ **'मितं च सारं च'** के आदर्श का अनुगमन करने वाला हो। ऐसी संक्षिप्त शैली के बिना समूचे शैवागम को एक ग्रन्थ की परिधि में संगृहीत कर स्थापित करना असम्भव ही था। परिणाम-स्वरूप तन्त्रालोक काश्मीरी शैवदर्शन का एक प्रकार से सूत्र-ग्रन्थ बन गया। विशाल शैवागम से परिचित तन्त्रालोक का प्रत्येक पाठक यह अवश्य अनुभव करेगा कि आचार्य अभिनवगुप्त ने इसमें **'अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्'** की पारम्परिक सूत्र-शैली को आत्मसात् करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है और जैमिनि, बादरायण, कणाद, गौतम, पतञ्जलि आदि विभिन्न दर्शनों के सूत्रकारों-ऋषियों की श्रेणी में अपना स्थान बना दिया है। अन्तर मात्र इतना है कि सांख्यदर्शन में ईश्वरकृष्ण की **'सांख्यकारिका'** के समान इनका ग्रन्थ गद्यात्मक न होकर कारिका-रूप में निबद्ध है।

जब तन्त्रालोक का निर्माण सूत्र-शैली में हुआ तो कालान्तर में उस पर विस्तृत भाष्य लिखा जाना भी स्वाभाविक ही था। भारत के प्राचीन वैचारिक साहित्य के इतिहास से अभिज्ञ व्यक्ति तो भलीभाँति जानते हैं कि

संक्षेप और विस्तार की दोनों धाराएँ समानान्तर रूप में ज्ञान के समस्त क्षेत्रों में प्रचलित थीं। गम्भीर सूत्र-ग्रन्थों में निगूढ व्यापक अर्थों की 'कर्णा-कर्णिका' परम्परा जब शिथिल होने लगती है, तब उन गूढार्थों की रक्षा के लिए भाष्यों का उद्‌गम होता रहा है और ऐसे भाष्यों की रचना से दार्शनिक चिन्तन के विभिन्न प्रस्थान पूर्ण प्रतिष्ठा को अर्जित कर पाये। व्याकरण में पाणिनि-सूत्र पर महाभाष्य, मीमांसा-सूत्र पर शाबरभाष्य, वेदान्त-सूत्र पर शाङ्करभाष्य आदि ग्रन्थों की जो स्थिति उन दार्शनिक प्रस्थानों में है, ठीक वैसी ही स्थिति और वैसी ही प्रतिष्ठा राजानक आचार्य जयरथ प्रणीत 'विवेक' व्याख्या की भी है; क्योंकि तन्त्रालोक कारिकारूप में होने से तथा सूत्र-काल की दृष्टि से अर्वाचीन रचना होने से सूत्र नहीं कहा गया, इसीलिए यह व्याख्यान भाष्य नहीं कहा गया। वास्तविकता तो यह है कि इसमें प्राचीन भाष्यों की गरिमा पूर्णतया निहित है। इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने ग्रन्थ के भागों को महाभाष्य के विभाजन की परम्परा से आह्निक नाम दिये हैं। प्रतीत होता है कि जयरथ ने अपने भाष्य को 'विवेक', 'प्रकाश' इन दोनों नामों से अभिहित किया है। कहीं इसे 'विवरण' भी कहा है।

जयरथ की टीका का महत्त्व मूल तन्त्रालोक से कहीं कम नहीं है। वास्तव मे वह मात्र व्याख्या नहीं है, कई अंशों में उसकी पूरक भी है, जिसके बिना तन्त्रालोक का अर्थ-बोध और माहात्म्य-बोध लगभग असम्भव ही है। यह एक अद्‌भुत योग ही था कि तन्त्रालोककार एवं उसके भाष्यकार दोनों ही अप्रतिम विद्वान् थे, जो तन्त्र-शास्त्र के प्रति समर्पित थे। शास्त्र के गूढ़ अर्थों की परम्परा के रक्षक थे और तो और दोनों ही शैव-तन्त्र के परिनिष्ठित साधक भी थे। इन सब कारणों से जयरथ की 'विवेक'-व्याख्या तन्त्रालोक के अर्थावबोध के साथ-साथ तन्त्रालोक द्वारा प्रदर्शित साधना-पथ में भी उसका अभिन्न अंग बन गयी है। यहाँ पर यह भी ध्यातव्य है कि आचार्य जयरथ की साधना-परम्परा भी किसी न किसी रूप में अभिनवगुप्त से सम्बद्ध ही थी, जिसका संकेत उनके ग्रन्थ में भी यत्र-तत्र विद्यमान है।

हमारे देश की दार्शनिक-परम्परा में इन दोनों आचार्यों की संपृक्त प्रतिष्ठा का वास्तविक रहस्य यही है कि ये दोनों ही आचार्य तन्त्र के प्रखर साधक थे। यदि इन दोनों ग्रन्थों में उपलब्ध सूक्ष्म संकेतों पर ध्यान दें तो

यह स्पष्ट होगा कि ये केवल साधक ही नहीं, अपनी परिपक्व साधना के माहात्म्य से अपने साधना-पथ के सिद्ध-पुरुष थे। भारतीय दार्शनिक परम्परा का यही चरम उत्कर्ष है कि यहाँ किसी दार्शनिक की मान्यता केवल बौद्धिक-व्यायाम या वैचारिक विश्लेषण पर नहीं, उनकी साधना एवं अनुभूति पर भी आधृत थी। बौद्धिक गहराई से आश्चर्य की भावना जागृत हो सकती थी; किन्तु आचार्य के रूप में श्रद्धा और भक्ति का केन्द्र वही दार्शनिक बन सकता है जो अपने अनुचरों को साधना के पथ पर अपने साथ ले जा सकता है। यही कारण है कि भारत में 'फिलासफी' और 'रिलीजन' भिन्न नहीं, एक दूसरे से गर्भित थे। यह अपने आप में स्वतन्त्र चर्चा का विषय है, जिसका विस्तार यहाँ सम्भव नहीं है। यहाँ पर 'तन्त्रालोक' के प्रस्तुत खण्ड में उपलब्ध एक उल्लेख की तरफ इंगित करना ही पर्याप्त मानता हूँ। चतुर्थ आह्निक के अन्त में अभिनवगुप्त लिखते हैं—

"अस्मिंश्च यागे विश्रान्तिं कुर्वतां भवडम्बरः।
हिमानीव महाग्रीष्मे स्वयमेव विलीयते॥
अलं वातिप्रसङ्गेन भूयसातिप्रपञ्चिते ।
योग्योऽभिनवगुप्तोऽस्मिन्कोऽपि यागविधौ बुधः" ॥ (२७७-२७८)

इसमें प्रयुक्त 'अभिनवगुप्त' शब्द का मर्मोद्घाटन करते हुए **जयरथ** ने लिखा है—

'अथ च एवंविधोऽयमेव ग्रन्थकारोऽत्र योग्य इत्यर्थः'। तात्पर्य यह है कि ग्रन्थकार ने 'अभिनव' एवं 'गुप्त' शब्द का प्रकारान्तर से प्रयोग कर प्रच्छन्न रूप में अपनी साधना-सिद्धि का संकेत किया है। इसी शक्तिपातजनित सिद्धि का ग्रन्थकार भाव-विभोर होकर वर्णन करता है। इसके पूर्वश्लोक में जिसमें स्वयं को प्राप्त ईश्वर-प्रेरणा एवं भैरवीय अद्वैत-रसानुभूति का प्रभावशाली उपमानों के माध्यम से प्रच्छन्न संकेत किया है—

केतकीकुसुमसौरभे भृशं भृङ्ग एव रसिको न मक्षिका।
भैरवीयपरमाद्वयार्चने कोऽपि रज्यति महेशचोदितः॥ (२७६)

मैं तो इस प्रकाशन का एक बहुत बड़ा सुयोग मानता हूँ कि तन्त्रालोक के हिन्दी-भाष्य के लेखक **श्रीपरमहंस मिश्र** भी अपने नाम के अनुरूप काश्मीरी तन्त्र-साधना के सम्प्रदाय-सिद्ध साधक हैं और तन्त्र के साधना-पक्ष से पूर्णतया परिचित हैं। प्रस्तुत खण्ड की भूमिकारूपी 'स्वात्मविमर्श' में इन्होंने अपनी

साधना के विषय में जो प्रच्छन्न और प्रकट संकेत प्रसंगवश दिये हैं उससे अधिक लिखना या बोलना रहस्यात्मक गुरुपरम्परा को मर्यादा के अनुकूल नहीं होगा। दोनों ग्रन्थों के सम्पादन एवं सुबोध हिन्दी-भाष्य के लिए मैं उनको हृदय से साधुवाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि वे इस महान् कार्य को शीघ्र ही पूरा करेंगे।

विश्वविद्यालय के कर्मठ प्रकाशनाधिकारी **डॉ० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी** की कर्त्तव्य-निष्ठा एवं कार्यकुशलता सचमुच स्तुत्य है। डॉ० त्रिपाठी एवं इस ग्रन्थ के मुद्रक **विजय-प्रेस** के व्यवस्थापक श्रीगिरीशचन्द्र भी विश्वविद्यालय के धन्यवाद के पात्र हैं।

वाराणसी
अनन्तचतुर्दशी,
वि० सं० २०५०

वि० वेङ्कटाचलम्
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
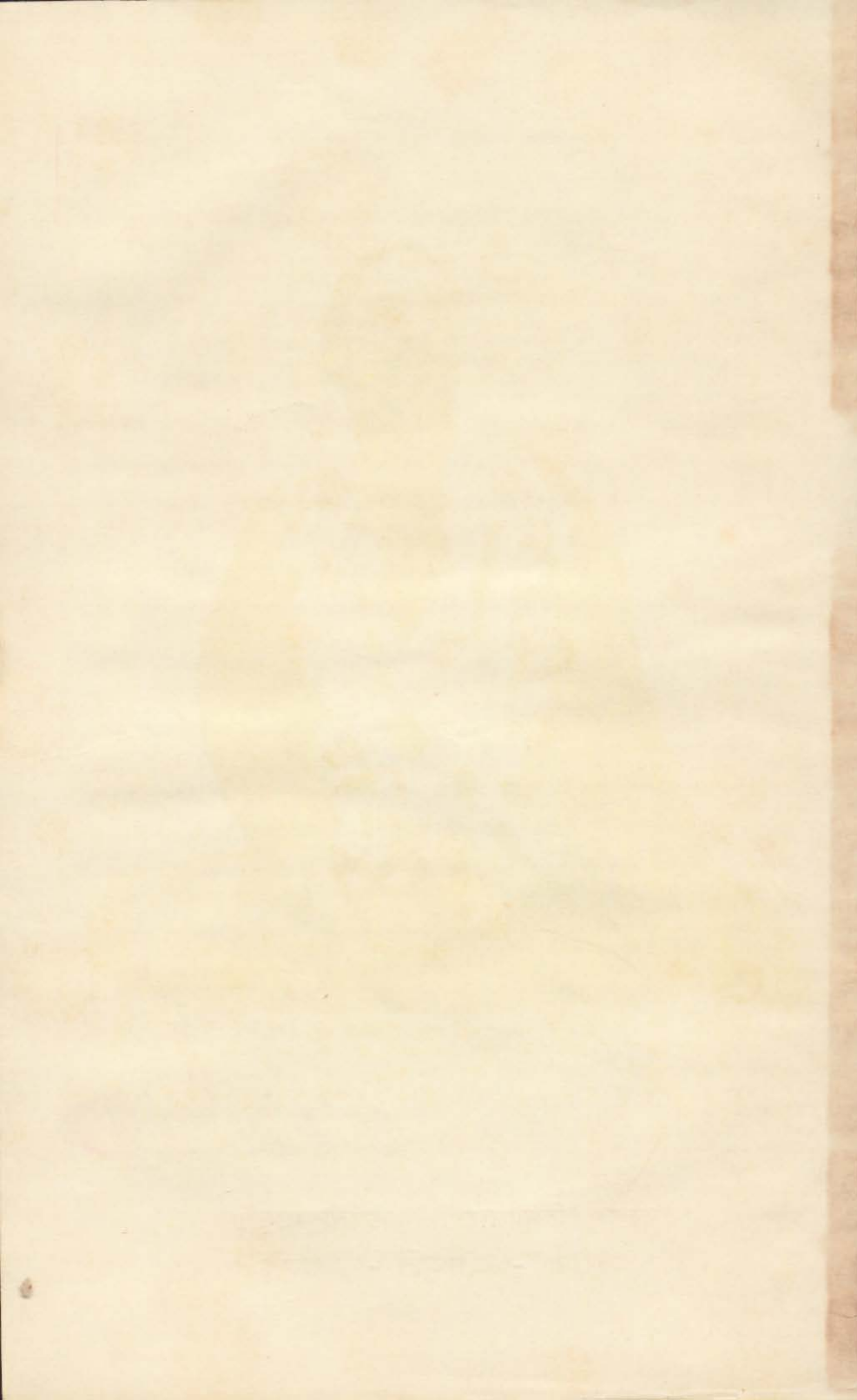
शुभाशंसा
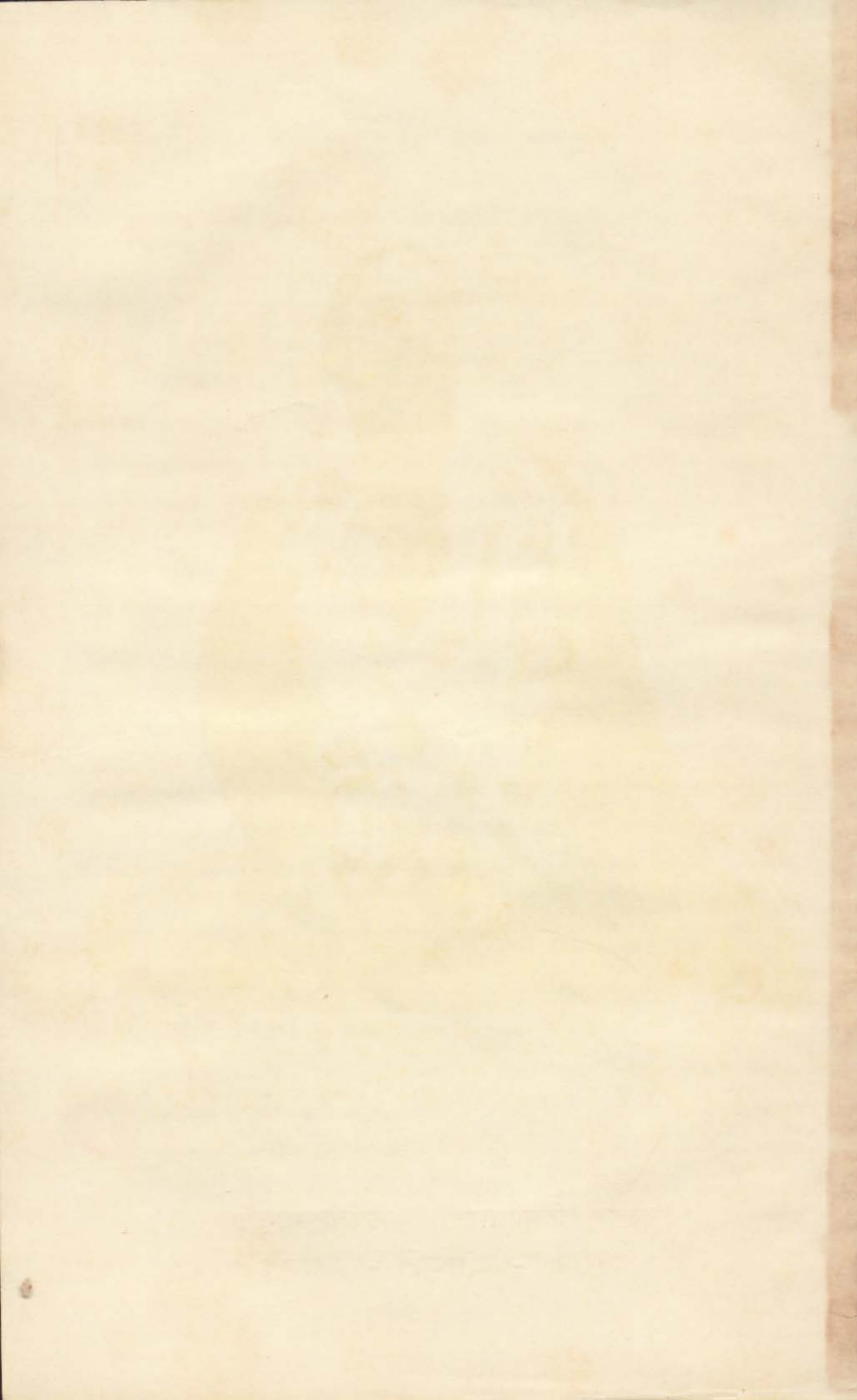
श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य की **तन्त्रालोक** नामक अलौकिक रचना शाक्त-तन्त्र के इतिहास में नितान्त महत्त्व धारण करती है। यह ग्रन्थ तन्त्रशास्त्र का वस्तुतः विश्वकोश ही है। विस्तृत होने के साथ ही साथ यह लोकातीत सिद्धान्तों का प्रकाशक होने के कारण नितान्त गम्भीर भी है। इस रहस्यमयी रचना को हिन्दी के माध्यम से सरल-सुबोध बनाने का यह प्रथम प्रयास तन्त्रशास्त्र-मर्मज्ञ **डॉ० परमहंस मिश्र** की लेखनी का चमत्कार प्रस्तुत करता है। मिश्र जी ने तन्त्र के आध्यात्मिक और ऐतिहासिक दोनों पक्षों का उपन्यास सरल-सुबोध भाषा में किया है। तन्त्रशास्त्र के रहस्यों का उद्घाटन इस ग्रन्थ में इतनी योग्यता से किया गया है कि पूरा विषय हस्तामलकवत् हो जाता है। मिश्र जी का यह कार्य नितान्त श्लाघनीय एवं आदरणीय है। इसका मैं सर्वदा अभिनन्दन करता हूँ।

बलदेव उपाध्याय
अध्यक्ष
उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी
लखनऊ

शुभाशंसा

सुगृहीतनामधेयेन विदुषा श्रीपरमहंसमिश्रमहाभागेन श्रीतन्त्रालोकस्य सानुवादं सम्पादनमुपक्रान्तं पुरः प्रसर्पतीति स्थानं प्रमोदस्य।

अयं हि ग्रन्थः सर्वशैवागमसिद्धान्तसारभूतस्तत्रभवतामाचार्याभिनवगुप्त-पादानां हृदयारविन्दमकरन्दकल्पश्चेति तद्विदामपरोक्षोऽयं विषयः।

मिश्रमहाभागस्यानुवादो दुरूहेऽपि स्थले साधुतया क्रमते। श्रद्धा-सम्प्रदाय-समधिगम्ये प्रस्तुते वस्तुनि यथामति स्फुटीकुर्वन् तानि तानि स्थलानि साधुवाद-मर्हत्येव मिश्रवरः। परां प्रतिभां परमशिवञ्च स्वैरं समाराधयन्नेष सुधीर्निश्शेष-विषयं प्रपूर्य श्रेयोभाजनं भवतादिति स्वात्ममहेश्वरदेशिकमनुसन्दधामीति।

बटुकनाथशास्त्रीखिस्ते
आचार्योऽध्यक्षचरश्च,
साहित्यविभागस्य
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये
वाराणसी
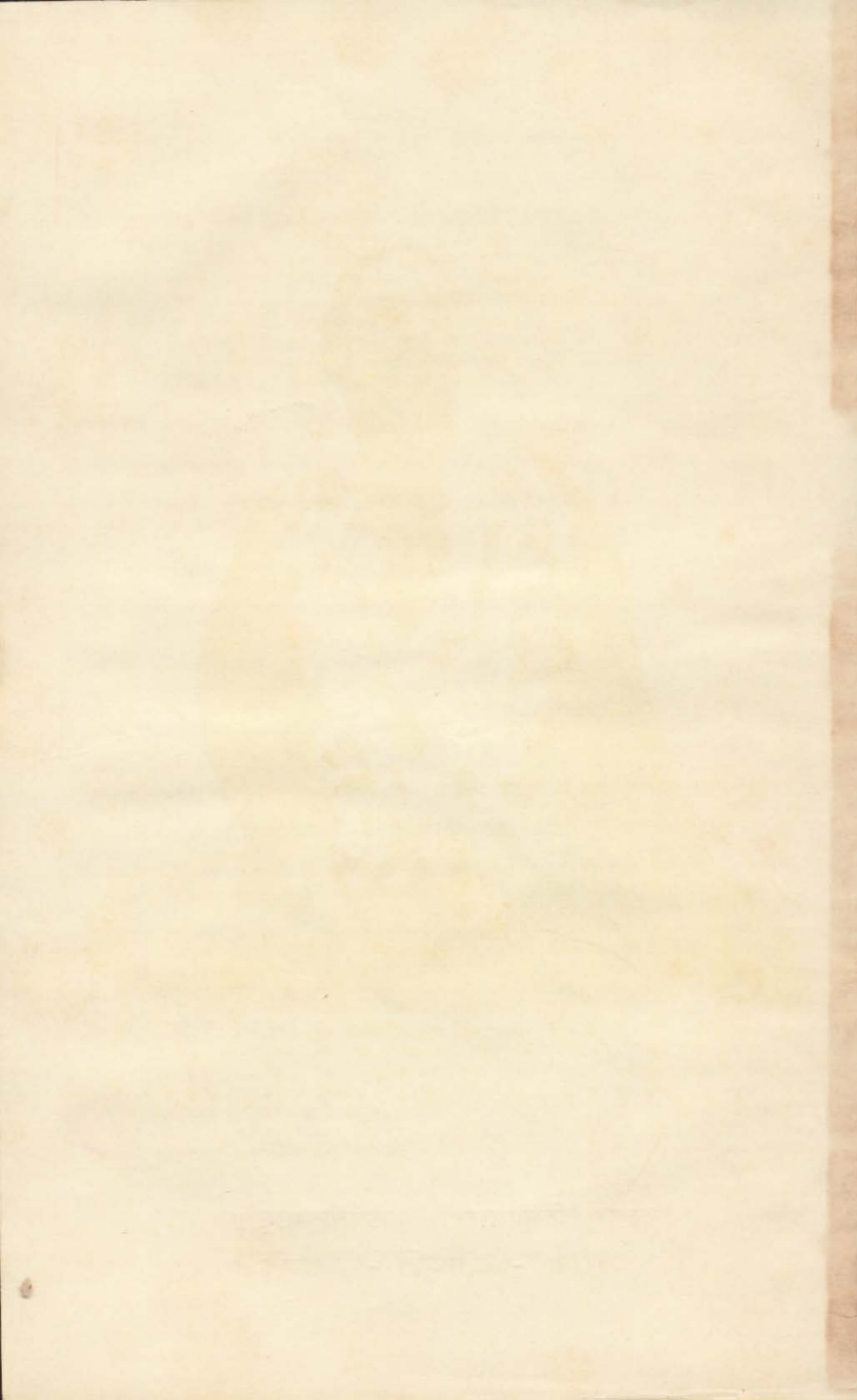
स्वात्म विमर्श

'प्राक् संवित् प्राणे परिणता' के अनुसार पहले सृष्टि में प्राण का प्रवर्तन हुआ, यह आगमिक मान्यता है। मेरी स्वात्म संवित् भी श्रीतन्त्रालोक की मङ्गल मरीचियों की मनोज्ञता के साथ हिन्दी मातृका में मूर्त्तिमन्त हो रही है। मेरा यह नीर-क्षीर-विवेक हिन्दी भाष्य हिन्दी जगत् में उसी आगमिकता का प्रवर्त्तन है। श्री तन्त्रालोक के प्रथम, द्वितीय और तृतीय आह्निकों का त्रिक-दर्शन-निकष प्रथम खण्ड के रूप में विश्ववाङ्मय पुरुष के विश्वमयत्व को निकषायित कर रहा है। श्री तन्त्रालोक का यह द्वितीय खण्ड इसी वैक्रमाब्द में विश्वमय पुरुष के कमल कोष का एक किंजल्क बन रहा है। इससे भी उसी शैव सुषमा का शृङ्गार हो रहा है। परमहंस प्रसन्न है। 'हंस' मानसरोवर से लौट रहा है। महामाहेश्वर 'अभिनव' की महाशैव भूमि को, कश्मीर को प्रणाम कर रहा है अभिनव' रूप 'परम गुरु' के पदारविन्दों में बैठे अन्तेवासी विद्वान् शिष्य राजानक जयरथ के कल्पनाकलित दृश्य दर्शन से कृतार्थ हो रहा है। संकल्प विकल्प रूप पंख फैलाये अनुत्तर-अन्तरिक्ष को अगम्यता का अनुमापन करता है। इस तन्त्र यात्रा में श्री तन्त्रालोक के चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ और सप्तम आह्निकों के देशकाल का दर्शन द्रष्टव्य है।

शैवसंविद्-संवेदना की देशना का निदर्शन है—'श्रीतन्त्रालोक'। इसके स्वाध्याय में प्रवृत्ति संस्कारों की परिष्कृति का प्रमाण है। इसका प्रवृत्ति-निमित्त संविद्वपुष् परमेश्वर का अनुग्रह है। परमेश्वर की परानुकम्पा स्वात्म-अभिव्यक्ति के लिये जिसे पात्ररूप में अपना लेती है, वह योगिनी भूः बन जाता है, महा-माहेश्वर बन जाता है, राजानकजयरथ और क्षेमराज हो जाता है एवम् उसी पशुपति की कृपा से एक अकिञ्चन पशु से परमहंस बन जाता है। इसमें किसी का कोई कृतित्व नहीं अपितु उसी परम पुरुष परमेश्वर की स्वात्म अभिव्यक्ति के उपक्रम का एक प्रत्यक्ष सम्प्रसूत साक्ष्य है। उसके माध्यम से जो कुछ सम्पन्न होता है, उसमें यद्यपि व्यक्तिका व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित होता है फिर भी उसके मूल में अप्रकल्पनीय अदृश्य सत्ता का ही उल्लास होता है, उसी की अदम्य इच्छाशक्ति का प्रकाश परिलक्षित होता है।

श्रीमदाचार्य अभिनव गुप्त परमेश्वर की इच्छा-शक्ति के मूर्त्तिमन्त प्रतीक थे। अणुता के धरातल पर उतर कर विराट का उन्होंने वरण किया था। उनके शरीर के परमाणुओं में ब्रह्माण्ड का विभुत्व आन्दोलित होता था। इसी लिये उन्हें महामाहेश्वर कहते थे। उनके जन्म के समय ही उन्हें माहेश्वर मान लिया गया। 'अद्य[1] माहेश्वरो जातः सोऽस्मान् संतारयिष्यति' श्लोक द्वारा पिता और पितामह की परम्परा को भी कर्म जाल से मुक्त करने की शक्ति से सम्पन्न ऊर्ध्व आवरण विदारण-दक्ष माहेश्धर पुत्र की चर्चा प्रथम खण्ड में की गयी है।

माहेश्वर शब्द के विशिष्ट आगमिक रहस्य-गर्भ अर्थ होते हैं। सामान्यतया अभिनव सृष्टि महा जननी योगिनी होती है। योगिनी भी पारिभाषिक शब्द है। पञ्चमकार की मैथुन-प्रक्रिया पारमेश्वर काम-कला का प्रवर्त्तन करती है। सांसिद्धिक परम सिद्ध पुरुष शिव भाव की चरमोत्कर्ष दशा में शक्ति रूपी काम-कला के आलिङ्गन की ललित लोलिकामयी मधुमती प्रकामता की अनुभूति से भरा रहता है। वह स्थिति 'म' और 'ह' के प्रत्याहार में अभिव्यक्त होती है। कोई भाग्यशालिनी माँ, शाश्वत शिवयोग संवलित काम कला के परिवेश में साधना करती हुई 'योगिनी' की संज्ञा प्राप्त करती है।

उसी के गर्भ में ईश्वर का अवतरण हो सकता है। वही शिशु महा ईश्वर (वृद्धि-समन्वित) माहेश्वर हो सकता है। जब वही स्वयं शैव स्वातन्त्र्य की घनता से उपबृंहित संविदैक्य के 'स्व' भाव की अनुभूति का 'मह' (उत्सव) मनाता है, तो महामाहेश्वर हो जाता है। ऐसे पुत्र 'योगिनी भूः[2]' कहलाते हैं। गर्भ में शिव-शक्ति-यामल कला से कलित-कलेवर भाग्यशाली बालक स्वयं शैव महाबोध-प्रकाश का पात्र भी होता है और बोध सिन्धु के अमर-लहराव में विश्व को तरङ्गायित करने का सामर्थ्य भी रखता है। वही श्री तन्त्रालोक सदृश सकल सन्तति-स्रोत-सार-पीयूषरसाभिवर्षी शास्त्र का प्रवर्त्तन भी कर सकता है[3]। संस्कृत वाङ्मय की इस पूर्णार्थी प्रक्रिया[4] का प्रवर्त्तन करने वाले उसी महा-मनीषी के कर्तृत्वका अजस्र मनन करने का सौभाग्य मेरी मनीषा को मिल रहा है। मैं इस बोध-सिन्धु में डुबता हूँ—उतराता हूँ और डूब जाने

१. श्रीतं० प्र० खण्ड पृ० १३। २. श्रीतं० प्र० खन्ड पृ० १५।
३. श्रीतं० प्र० खण्ड पृ० ३८ ४. श्रीतं० प्र० खण्ड पृ० ४१।

पर कविवर बिहारी का दोहा याद आता है—'ज्यों ज्यों डूबे श्याम रँग त्यों त्यों''''' ।

श्री तन्त्रालोक का प्रवर्त्तन करते समय आचार्य की मनीषा में एक अप्रकल्प्य उद्भविष्णुता का ऊर्मिल ऊहापोह स्पन्दित हो रहा होगा। कृतिकार की वह ऐसी अवस्था होती है, जैसी मिट्टी में खाद हवा और पानी से पुलकायमान बीज की होती है। अंकुर के उन्मेष के समय संवित्ति में जो संक्षोभ होता है, वह सृजन का आदि स्पन्द होता है। समस्त आगमिक सिद्धान्त-सम्प्रदाय परम्परा को आत्मसात् करने के उपरान्त महामाहेश्वर की लेखनी से जिस आलोक लालित्य का उल्लास हुआ, उससे तन्त्रालोक को अभिव्यक्ति मिली तथा संविदैक्य संभूति संवलित अनुभूति का अभिनव अभिव्यंजन हो गया।

आगमिकता के सारे आयाम इस तान्त्रिक वाङ्मय रूपी विश्वकोष में आलोकित हो सके। उस समय प्रचलित त्रिक, कुल, मत और क्रम दर्शनों के समस्त शैवसिद्धान्त इसमें प्रतिफलित हुए। इनके अतिरिक्त इसमें कापालिक पाशुपत, लकुलीश, भैरव, रुद्र मठिकाओं और सन्ततिक्रम से सम्प्राप्त विभिन्न मतवादों का यथावसर उल्लेख हुआ है। बोध के इस महासिन्धु के तारङ्गिक उल्लास में इनका ऊर्मिल ऊहापोह आज भी उसी तरह लहरा रहा है। सूक्ष्मेक्षिकया—उनका विमर्श आवश्यक है।

उक्त सन्दर्भों के समर्थन या निरसन में मुख्य रूप से अक्षपाद, तथागत, सांख्य, व्याकरण, पाञ्चरात्र और वेदान्त आदि के सिद्धान्तों का इतना अभूतपूर्व प्रयोग-परीक्षण किया गया है कि तन्त्रालोक का अध्येता इस प्रतिभा की विभापर विस्मय-विमुग्ध रह जाता है। शास्त्रार्थ की मर्मस्पर्शिनी शैली तन्त्रालोक की कारिकाओं में बड़ी कलात्मकता के साथ पिरोई हुई प्रतीत होती है।

शास्त्रकार ने पूर्वजोद्देश और अनुजोद्देश को उद्दिष्ट करते समय [श्री० तं० आ० १ । २८४-२८६] अत्यन्त निरहंकार भाव से, पर आस्था पूर्वक यह घोषित किया है कि "इन सैंतिस आह्निकों के स्वाध्याय–अध्यवसाय में संलग्न बुद्धिमान् पुरुष साक्षाद् भैरव भाव प्राप्त कर लेता है। सम्पूर्ण बोध से बुद्ध हो जाता है और सामान्य अणु पुरुष भी शाम्भव-भाव प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।"

जीवन का उद्देश्य पारमेश्वर स्वभाव में प्रवेश कर निर्विकल्प शाम्भव समावेश में तादात्म्य भाव से अवस्थान है। इसी उद्देश्य की पूर्ति में शास्त्रीय परम्परा से प्राप्त पद्धतियों पर चलते हुए स्वात्म संविदैक्य प्रतिपत्ति दार्ढ्य के लिये प्रथम खण्ड के प्रथम, द्वितीय और तृतीय आह्निकों की अवतारणा आचार्य ने की। इन आह्निकों में विभिन्न विकल्पोन्मूलक विधियों और पद्धतियों का क्रमिक वर्णन किया गया है। इसके लिये अभ्यास की आवश्यकता होती है। केवल उपदेश मात्र से कुछ नहीं होता।

तन्त्रालोक की अपनी एक विशिष्ट शैली है। आचार्य पहले एक सन्दर्भ प्रस्तुत कर उसकी विशेषता का निर्देश करते हैं। पुनः आवश्यकतानुसार वहीं या किसी अन्य प्रसङ्ग में उसकी विधि भी निर्दिष्ट करते हैं। तन्त्र शास्त्र एक रहस्य शास्त्र भी है। रहस्य का उद्‌घाटन परम्परा से वर्जित है। इसलिये रहस्य की प्रक्रिया पूरी करने पर साधक किस भाव भूमि पर अधिष्ठित होता है—यह कह कर उसके प्रति आकर्षण उत्पन्न करते हैं। भाव भूमि पर अधिष्ठित होने की विधि का इस तरह निर्देश करते हैं कि रहस्य की रक्षा भी हो जाय और साधक उसमें प्रवृत्त भी हो जाय।

उदाहरण स्वरूप प्रथम आह्निक के प्रथम श्लोक के सन्दर्भ को लिया जा सकता है। अनाख्या भगवती संविद् स्वातन्त्र्य का सन्दर्भ है। संविद् स्वात्म में ही सृष्टि आदि का अवभासन भी करती है और विलापन करने के व्यापार से भी विरत नहीं होती। वही उसका यामल स्फुरित भाव विसर्ग है। इस दार्शनिक दृष्टि का समथन करने के लिए आगामिक सन्दर्भ के माध्यम से उस दशा का एक शब्द चित्र श्लोक तीन की मङ्गलमयी कारिका में है।

भैरव का स्वात्म विश्वात्मकता के उद्भावन के आनन्द से ओत प्रोत हो रहा है। आनन्द के अप्रतिम उल्लास में भैरव झूम उठते हैं। आनन्द नर्त्तन की अनन्त अनन्त मुद्राओं की आकृतियों का उभार और उनका अदर्शन दोनो साथ ही साथ चल रहा है। उसे समझाने के लिए आचार्य वर्षा कालीन मेघ के हृदय में कौंधती विजली का चित्र उपस्थित करते हैं। यह अपरा भगवती की स्वात्मशरीरस्थ अवस्था है। इसको प्राप्त करने के लिये साधक को क्या करना चाहिये—इसका समाधान वहाँ से दूर श्लोक ६४ में विधि के निर्देश द्वारा करते हैं। जो जिसकी प्राप्ति में निष्ठा रखता है, वह उस भाव को अवश्य ही

प्राप्त करता है[१] ? उस विमर्श-व्योम में कौंधती विजली का अभ्यास करना चाहिये। व्योम साधना कुण्डलिनी जागरण की प्रक्रिया है। यह शरीरस्थ चक्रों के भेदन से सम्पन्न होती है। प्रावृट्घनव्योम में प्रयुक्त रहस्य का यहाँ स्फोरण है। इसमें निष्ठा का निर्देश है और अप्रत्यक्ष रूप से इसे जानने के लिये गुरु की महत्ता भी प्रतिपादित है।

शब्दों की विशिष्ट परिभाषाओं के माध्यम से किसी रहस्यार्थ का उद्‌घाटन तन्त्रालोक की शैलीगत विशिष्टता है। प्रथम खण्ड के १।९५ कारिका में प्रयुक्त देव शब्द दिव् धातु से निष्पन्न होता है। दिव् धातु के क्रीडा विजि-गीषा, व्यवहार द्युति स्तुति और गति ये छः अर्थ होते हैं। इनकी परिभाषा १।१०१-१०३ कारिकाओं में देकर आचार्य ने निरुक्ति का अनुपम उदाहरण दिया है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र के सिद्धान्त का समर्थन भी किया गया है और शिवतनु शास्त्र के निर्वचन को प्रतिष्ठा भी की गयी है।

जिस विषय का वर्णन करने के लिये आचार्य अपनी लेखनी का प्रयोग करते हैं, वह विषय आचार्य के प्रातिभ परिवेश का स्पर्श पाकर पुलकित हो जाता है। प्रकरण सप्तम आह्निक का है। सारा उपक्रम मन्त्राद्यात्मक चक्रों के यत्नज उदय का है। बीज और पिण्ड इसके दो रूप है। संविद् की स्पन्द-मानता को ये सक्रिय करते हैं। प्राण में मन्त्रों का स्फुरण और संवित् स्पन्दमानता सक्रिय करना शाक्त स्वरूपावेश को उल्लसित करने के समान है।

यह ध्यान देने की बात है कि इस प्राणप्रवाह स्फुरण में शाक्तस्वरूप उच्छलित होता है। शाक्त समावेश की सिद्धि के लिये मन्त्रवर्ग और मन्त्र चक्र का उपयोग होता है। यही सब परा-संवित्ति अर्थात् शाम्भव-समावेश के उपाय बन जाते हैं। इतना कह देना ही आचार्य के लिये पर्याप्त नहीं है। वह इस तथ्य को मात्र उपदेश के स्तर पर नहीं छोड़ते। इसके लिये साधक को विधि में उतारने का उपक्रम करते हैं।

उनका आदेश है कि केवल शब्द के स्तर पर वैचारिक वितण्डा से कोई लाभ नहीं। सक्रियता में उतर कर स्वयं इसे कर के देखो और स्वतः शाक्त समावेश से परा-संवित्ति के शाम्भव-समावेश के परानन्द में प्रतिष्ठित हो जाओ। वे विधि के लिये अरघट्ट चक्र का उदाहरण देते हैं। एकानुसन्धि यत्न से मन्त्रोदय की विचित्र निष्पत्ति होती है; उसी तरह स्वयं क्रियाशील होकर प्राणापानवाह से मन्त्रों को स्फुरित कर संविद् को स्पन्दमान करो। ऐसा करने

१. श्रीत० १।६४।

से साधक को वह उपाय मिल जायेगा, जिससे चमत्कार घटित हो जाये। इसीलिये कारिका ७।४ में विधि काल का प्रयोग कर मन्त्रोदय में प्रयत्न शील होने तथा पर संविदैकात्म्य प्राप्त करने की विधि में उतरने का आग्रह करते हैं। सप्तम आह्निक में पूर्णतया विधि में (क्रिया में) उतरने का अनुभव-सिद्ध आकलन है।

श्वास चक्र प्राणापानवाह के माध्यम से जीवन का वरदान देता है। योग मार्ग पूरक, कुम्भक और रेचक की विधि से प्राणजित होने की शास्त्रीय पद्धति का निदर्शन है पर तन्त्रशास्त्र प्राणायाम का एक प्रकार से निषेधक है। वह प्राणचार के प्रवेश, ऐकात्म्य और निर्गम विन्दुओं पर और मन्त्र स्फुरण पर बल देकर साधक को शाक्त समावेश से ऊपर शाम्भव समावेश मे पहुँचा देता है। तन्त्र वहाँ पहुँचाने के लिये आप का आवाहन करता है, जहाँ इस सरल सक्रियता से प्राण का ग्रास हो जाता है तथा साधक अखण्ड ज्ञान के प्रकाश का अधिकारी हो जाता है।

इस खण्ड का सम्पूर्ण चतुर्थ आह्निक शाक्तोपाय का प्रकाशन करता है। इसके लिये जिस कारिका का अवतरण किया गया है, उसी में विधिकाल की 'कुर्यात्' क्रिया का प्रयोग है। साधक को पारमेश्वर 'स्व' भाव में प्रवेश की यदि चाह है, तो इस चाहत को चिति के चमत्कार से चारु बनाने के लिये विकल्पों का संस्कार करना भी आवश्यक है। इन विकल्पों के संस्कार के क्रम में उतरना आवश्यक है। राजानक जयरथ ने ४।४ कारिका के विश्लेषण में 'क्रमात्' का 'अभ्यासातिशय तारतम्यात्' अर्थ लिखा है। अतिशय अभ्यास का तारतम्य साधक के लक्ष्य को परिष्कृत करता है।

विधि में उतरे विना विकल्प संस्कृत नहीं हो सकते, अविकल्प स्वरूपता नहीं मिल सकती और परासंविद् में अनुप्रवेश नहीं मिल सकता। कोई बुद्धिमान् व्यक्ति शास्त्र पढ़कर विकल्प और अविकल्प दशा पर परिष्कार पूर्ण प्रौढ़ प्रवचन तो दे सकता है, पर उसमें स्वयं कोई परिवर्तन नहीं होता। वह सभी सांसारिक अभिष्वङ्गों से अभिशप्त ही रह जाता है। वह वही रह जाता है; जो उसे कहीं का नहीं रखता। पर विधि में उतर कर अभ्यासातिशय तारतम्य से साधक वह नहीं रह जाता, जो पहले था। उसके विकल्प संस्कृत हो जाते हैं। उसमें पूरी तरह परिवर्तन हो जाता है और उसे अविकल्प दशा में अनुप्रवेश मिल जाता है।

इसीलिए तन्त्रशास्त्र अन्य सभी शास्त्रों से विशिष्ट शास्त्रीय महत्त्व प्राप्त कर लेता है। विधि में उतार कर वह एक चमत्कार पैदा करता है। माँ पार्वती प्रश्न करतीं हैं। शक्ति की शाक्त भक्ति का प्रतीक शिष्य जिज्ञासा करता है, तो शिव या शिव स्वरूप गुरु उसे उत्तर देने की चेष्टा इस शास्त्र के माध्यम से नहीं करते, वरन् उसे विधि में उतरने का दिशाबोध देते हैं। बोध हो जाने पर उत्तर अपने आप प्राप्त हो जाता है। इसी प्रसङ्ग क्रम में शास्त्र का निर्वचन भी सार्थक हो जाता है।

चतुर्थ आह्निक के आरम्भ में शास्त्रकार की यह प्रतिज्ञा है कि परात्म-संविद्-समुपलब्धि के लिए शाक्त उपाय मण्डल का कथन कर रहा हूँ। **शांभव** उपाय का प्रकाशन **तीसरे** आह्निक में किया जा चुका है। शाम्भवोपाय परौपयिक पद है। वह महेश्वर के अनुत्तर पद का ही प्रतीक है। वह भैरवीय मह है। शाम्भवोपाय के पहले भी भैरवीय मह में अनुप्रवेश के लिए एक वैज्ञानिक प्रक्रिया का उपक्रम **द्वितीय** आह्निक में है। उसे **अनुपाय** विज्ञान कहते हैं। अह अनुत्तर ज्ञप्ति रूप होता है। यह ऐसा विज्ञान है जहाँ देशना का कोई अर्थ नहीं रह जाता। अनुपाय विज्ञान निरुपाय उपासना है। इसके लिए भी शास्त्रकार ने विधि का ही निर्देश किया है[1]। जयरथ ने विधि के विश्लेषण के प्रसङ्ग में कहा है कि 'पूर्णसंविदावेश में क्रमिक अनुप्रवेश का प्रकार ही विधि है'।

अनुपाय एक विचित्र शब्द है। क्रिया में उपाय आवश्यक है। इस तथ्य की गहराई में आने पर एक नई मनीषा रश्मि फूटती है। सोचना है कि क्रिया कहाँ होती है? यह एक विचित्र जिज्ञासा है। त्रिक मतानुसार क्रिया हमेशा संविद्-विश्रान्त होती है। संविद् प्रकाश रूप है। प्रकाश का प्रकाशक कोई नहीं होता है। अन्य वस्तु प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। इसलिए उनकी ज्ञप्ति के लिए उपाय की आवश्यकता होती है। प्रकाश पारिभाषिक शब्द है। इसमें इस भौतिक प्रकाश की परिभाषा चरितार्थ नहीं होती। इसलिए संविद् शक्ति को स्वप्रकाश मानते हैं। सारा बाह्य और आन्तर प्रसार, प्रकाशन के लिए संविद् की अपेक्षा रखता है। उसी स्वप्रकाश संविद् के उस पूर्ण अद्वय भाव में प्रवेश का अभिलाषी साधक यदि इसके लिए किसी उपाय की प्रक्रिया अपनाता है, वह सचमुच सूरज के सौर प्रकाश को पाने के लिए जुगनू के प्रकाश के उपाय का प्रयोग करता है।

---

१. निरुपायमुपासीनास्तद्विधिः प्रणिगद्यते। श्रीत० आ० २।७ प्रथम भाग पृ० २९३

इसमें प्रवेश पाने की विधि है। आप उपासना में प्रवृत्त हैं। इसके लिए आसन पर विराजमान होकर खुली आँखों से इस विश्व को देख रहे हैं। कभी आँखें मूंदकर अन्दर भी झाँकते हैं। अब आप विमर्श अपनाइये। पूछिये अपने से ? परमात्मा के पर-प्रकाश में यह अप्रकाश जड़ जगत् कैसे प्रकाशित हो रहा है ? प्रकाश में क्या प्रकाश ही प्रकाशित है। भेद भिन्नता प्रकाश की जंभाई के समान मालूम होने लगेगी।

सोच की गहराई में और उतरें। केवल एक पर-प्रकाश की दृढ़ता रहे। जिज्ञासा और आगे बढ़ती रहे। पूछिये—यह शक्ति क्या है ? यह शक्तिमान् क्या है ? यह ध्येय, ध्याता और ध्येय क्या हैं ? पूज्य कौन पूजा करने वाले कौन ? ये वर्ण, पद और मन्त्र क्या हैं ? किसके उल्लास हैं ? मन्त्र का जापक कौन ? यह दीक्षा और ये दीक्षक ? यह देश, यह काल, यह आवाहन और विसर्जन ! यह सत् और असत् भाव ! यह अवभास और आभास—यह सब क्या है ? इन प्रश्नों में डूबने से ये सभी स्वयं डूब जाते हैं। एक नया आयाम उभरने लगता है। लहराते समुद्र की अनन्त लहरों के उद्दाम उत्थान और पतन में जैसे एक अखण्ड ऊर्मिल अपरम्पार पारावार ही लहराता है, उसी तरह एक अखण्ड भैरवीय पर-प्रकाश की यह सारी भेद भिन्न उपाधियाँ उसी अखण्ड का अद्वय-बोध कराने लगती हैं।

तब प्रतीत होने लगता है कि यहाँ भाव अभाव जैसा कोई द्वन्द्व नहीं, सर्वभावभव्य भूतभावन ही भैरवीय पथ पर प्रकाश रूप से प्रकाशमान हैं। उक्त ऊहापोहों का स्वतः निराकरण हो जाता है। शक्तिगर्भ शिव का शक्तिपात होने लगता है। शक्तिपात-पवित्र उपासक स्वतः विमर्शबोध का दिव्य अद्वय भाव प्राप्त कर लेता है। यह अनुग्रह का प्रकार है। ऐसा अनुगृहीत उपासक धन्य हो उठता है। ऐसे विज्ञान को अनुपाय विज्ञान कहते हैं। प्रथम आह्निक में विज्ञान भेद प्रकाशन के सन्दर्भ में भुवन, विग्रह, ज्योति, आकाश, शब्द और मन्त्र भेद से छः प्रकार के शिव का वर्णन है[1]। 'यह पूरा शैव विज्ञान जान लेने पर मोक्ष हो जाता है।' यह घोषणा भी यह शास्त्र करता है[2]। यह ध्यान देने की बात है कि यह जानकारी भी तदात्मकता निष्ठ भाव से पूरी विधि के अनुसार होनी चाहिए। ध्यान योग की यह प्रक्रिया साधना से ही सिद्ध होती है। इसीलिए यह घोषणा भी तन्त्र करता है कि "शिवं ध्यात्वा तु तन्मयः" ॥

---

१. श्रीत० १।६३ पृ० ११० प्रथम भाग। २. श्रीत० १।६५ पृ० ११२ प्र० भा०।

तृतीय आह्निक—परोपयिक माना जाता है। परोपाय ही अनुत्तर रूप होता है। भैरवीय पर प्रकाश का सर्वोत्कृष्ट वैशिष्ट्य उसका स्वातन्त्र्य है। अपने इसी स्वातन्त्र्य स्वभाव से परमेश्वर स्वात्म व्योम में ही सृष्टि और संहार की प्रसरात्मक और विलयात्मक लीला का उल्लास करते हैं। निरन्तर अनतिरिक्त रहते हुए भी अतिरिक्त की तरह ये सारी विश्ववृत्तियाँ उसी चैतन्य फलक पर पुलकित हो रही हैं, जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब। इसी स्वातन्त्र्य शक्ति से स्वात्म में ही मुकुर की तरह स्वात्म को प्रतिबिम्बित करने की परमेश्वर की कला के विमर्श से वैचारिक जगत में स्वातन्त्र्यवाद और बिम्ब प्रतिबिम्बवाद का उदय होता है। विभिन्न दर्शन स्वातन्त्र्य का अपने अनुरूप विश्लेषण करते हैं। बिम्ब-प्रतिबिम्ब के सिद्धान्त का विवेचन करते हैं। आचार्य ने इन सिद्धान्तों का अपनी पद्धति से प्रतिपादन किया है।

स्वातन्त्र्य स्वभाव परमेश्वर की अनुत्तर प्रतिभाशक्ति, अनुत्तर रूप अकुल और कौलिकी शक्ति, परामृत बीज में समावेश की विधि से निरञ्जनत्व की उपलब्धि, परमेश्वर की नर, शक्ति और शिवात्मकता के सन्दर्भों में शाम्भवोपाय की सर्वोत्कृष्ट हठपाक विधि के कृत्यक्रियावेश का निर्देश—कुलमिलाकर एक साधनात्मक पृष्ठभूमि उपासक को प्राप्त करा देने के बाद ही इस चतुर्थ आह्निक की अवतारणा की गयी है।

वास्तविकता यह है कि वह चिन्मात्र अनुत्तर तत्त्व काल से अकलित, देश से अपरिच्छिन्न, उपाधियों से अम्लान, आकृतियों से अनियन्त्रित, शब्दों से असन्दिष्ट आनन्दघन स्वतन्त्र तत्त्व है। वह अपने 'स्व'भाव में शाश्वत विलसित है। अतः उसे स्वरूपोपलब्धि की कोई आवश्यकता नहीं होती। वह स्वतः प्रकाशमान है। इसलिए उसकी ज्ञप्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उसके ऊपर आवरण पड़ ही नहीं सकते क्योंकि वह निरावरण परम तत्त्व है। इसलिए उसके आवरण को हटाने की बात करना भी व्यर्थ है।

इन समस्त प्रक्रियाओं की अपेक्षा और आवश्यकता तब होती है, जब अपने स्वातन्त्र्य के प्रभाव से वह प्रकाशवपुष् परमेश्वर स्वात्म का प्रच्छादन कर लीला विलास करने लगता है। इसी प्रच्छादन को हटाने के लिये साधक इच्छोपाय, ज्ञानोपाय या क्रियोपाय अपनाता है। भेद, भेदाभेद और अभेदोपाय का आश्रय लेता है। यह अभेदोपाय ही शाम्भव उपाय है। भेदाभेदोपाय शाक्तोपाय है। इस द्वितीय भाग का चतुर्थ आह्निक शाक्तोपाय से पारमेश्वर प्रकाश में अनुप्रवेश की विधि का निर्देश करता है।

चतुर्थ आह्निक—सर्वप्रथम ग्रन्थकार यही कह कर इस आह्निक का आरम्भ करते हैं कि शाम्भवोपाय से जिस पारमेश्वर स्वभाव में प्रतिष्ठा मिलती है, सामान्य साधक को उस स्वभाव में प्रवेश पाने की आकांक्षा से अपने संस्कारों का परिष्कार करना चाहिये। इसमें जितना भी विलम्ब होगा परमेश्वर 'स्व' भाव में अनुप्रवेश में भी विलम्ब होगा। जीवन का सदुपयोग करने के लिये अविलम्ब क्रिया में उतरना चाहिये।

सामान्य जनों के संस्कार प्रायः असंस्कृत ही रहते हैं। अस्फुट रहते हैं। इसके लिये श्रुति कहती है कि 'श्रोतव्य और मन्तव्य परमेश्वर का निदिध्यासन करो'। इस में उपदेश का पुट प्रधान है। तन्त्र कहता है कि जो कुछ तुम इस विश्व में देख सुन रहे हो, उसको गुनो। इसको श्रुत-दृष्ट चिन्तन कहते हैं। चिन्तन की प्रक्रिया में आने पर इधर ज्यों ज्यों प्रवृत्ति बढ़ेगी, जितना ही साधक इसमें समय लगायेगा, उसकी दृष्टि के आवरण विगलित होने लगेंगे।

शिव को विश्वमय कहते हैं। विश्वमय शिव ही विश्वोत्तीर्ण भी होता है। विश्वमयता अनन्त विकल्पों में व्यापृति है। सकल, प्रलयाकल, विज्ञानाकल पुरुषों में इन विकल्पों का महाप्रभाव स्वाभाविक रूप से दीख पड़ता है। जीव का लक्ष्य विश्वोत्तीर्ण होना है, विश्वमयता स्वात्म गोपन प्रक्रिया की खेल है। परमेश्वर के लिये यह खेल है। पर जीव के लिये यह जीवन मरण का प्रश्न बनकर उपस्थित है। प्रायः संसार इस खेल का खिलाड़ी अपने को ही मानता है। यही माया का महाप्रभाव है। इस दशा में रहकर सांसारिक जीव शिव से पृथक् हो जाता है। विविध विकल्पों के ऊहापोह का आश्रय बन जाता है। विकल्पों को पहचान कर उन्हें संस्कृत करना, निर्विकल्प दशा के प्रशस्त पथ पर अग्रसर होना ही साधना और उपासना का उपक्रम हो जाता है।

पार्थक्य प्रथा के चाकित्य से मुग्ध मनुष्य अपने पारमैश्वर्य को विस्मृत कर बैठा है। कभी कभी ऐसा होता है कि किसी को यह भ्रम हो जाने पर कि मुझे साँप ने काट खाया है। इस भ्रम के प्रभाव से उस पर शङ्का का जहर चढ़ने लगता है, उसे मूर्छा भी आ जाती है, और कभी ऐसे लोग मृत्यु के मुँह में भी समा जाते हैं। ठीक यही दशा सांसारिक विषयों से विमुग्ध मनुष्य की हो गयी है। जैसे कछुवा संकोच का शिकार होकर कमठ में छिप जाता है उसी तरह हम सभी अपना शैव वैभव भूल कर भेदवाद की भूमि पर कराहने

के लिये विवश हो गये हैं। यही संसार है। संसार ही विकल्प है। ऐसे लोगों के
भाव जड़ हो जाते हैं। शास्त्र की भाषा में इस वैचारिक जड़ता को अख्याति
अवस्था कहते हैं। इसको हटाने के लिये इसका मर्म, इसका रूप और इसकी
गतिविधि जानना जरूरी होता है।

विकल्पों की चार अवस्थायें उपासना के क्रम में सामने आती हैं। जैसे,

१—पहले भावना अस्फुट होती है। घनी जड़ता से दबी होती है। उसमें
विकास की सम्भावना समाप्त हो जाती है।

२—दूसरी अवस्था में उसमें स्फुटता की सम्भावना का आसूत्रण हो
जाता है।

३—तीसरी अवस्था में स्फुटता का उन्मेष काल के लवों का क्रमिक
स्पर्श करता हुआ प्रवर्त्तमान रहता है और

४—चौथी अवस्था में मुकुल प्रसून की तरह स्फुटता स्पष्ट हो जाती
है। इसके आन्तरालिक भेद भी होते हैं। अस्फुट दशा से लेकर स्फुटता पर्यन्त
के अन्तराल में विविध विकल्पों के परिष्कार भी वे अवस्थायें भी महत्त्वपूर्ण होती
हैं। जैसे,

१—पहले वह अवस्था आती है, जब अस्फुटता विनष्ट होने लग
जाती है।

२—दूसरी अवस्था में अस्फुटता स्फुटता की सूक्ष्म परिधि का स्पर्शमात्र
करती है।

३—तीसरी अवस्था में स्फुटता के अङ्कुर का रूप ग्रहण करती है।

४—चौथी अवस्था में स्फुटता का अङ्कुर आगे बढ़ता है। उसमें कोरक
किसलय की आकृतियाँ उभरने लगतीं है।

५—और पाँचवीं अवस्था में स्फुटता का विकास हो जाता है।

उक्त परिवेश में विकल्पों को क्रमिक रूप से विकसित करने वाला
साधक संस्कार सम्पन्न हो जाता है। स्फुटता अब स्फुटतर और स्फुटतम हो
जाती है। एक उदात्त भाव जागृत होता है। वह संवित् शक्ति की विकल्प भूमि
से उठने वाली अत्यन्त स्वच्छ और उन्मुक्त अवस्था होती है। निर्मलता की
चमक से दीप्तिमन्त वह वैकल्पिकी संवित् निर्विकल्पकता का आलिङ्गन कर

लेती है। संविदैक्य संभूति से साधक भर उठता है। बोध का प्रकाश उसे भैरवीय परामर्श प्रदान करता है। ऐसे विमर्श शील पर ही शक्तिपात हो जाता है। भैरवीय तेज भी विमर्श के बल पर निखर कर उसे दीप्तिमन्त बना देता हैं। साधक शांभव आवेश से आनन्द के उन्मुक्त आकाश में विचरण करता है और स्वात्मसाक्षात्कार हो जाता है।

विमर्श ही यह चमत्कार है। सत्तर्क से विमर्श की शक्ति से विकल्पों का संस्कार होता है। सत्तर्क की पराकाष्ठा ही भावना बन जाती है। भावना वह कामधेनु है, जो वाङ्मनसातीत तत्त्व का साक्षात्कार करा देती है। इसी की शक्ति से योगी जो चाहता है, उसकी सिद्धि कर लेता है।

सम्पूर्ण चतुर्थ आह्निक इसी पृष्ठ भूमि पर विमर्श की सोपान परम्परा का प्रवर्त्तन करता है। सामान्य मायीय स्तर से उठाकर भेद के ऊबड़ खाबड़ मार्गों को पारकर यह उस अनामय अभेद सौध में प्रतिष्ठित करता है, जो इस जीवन का लक्ष्य है। उसे ही मोक्ष कहते हैं।

मोक्ष मार्ग के सम्बन्ध में शास्त्रों के स्वतन्त्र दृष्टिकोण हैं। इस आह्निक में मोक्ष सम्बन्धी अपने दार्शनिक विचार की स्थापना तन्त्रालोक करता है। गुरुद्वारा, शास्त्रद्वारा और स्वतः साधना द्वारा साधक इस मार्ग पर अग्रसर होता है। अन्तर्मुख साधक को अपनी ही संवित्ति देवी दीक्षित करती है और और साधक को सांसिद्धिक गुरुत्व प्रदान करती है।

साधक की करणेश्वरी देवियाँ उसे सम्बुद्ध बनने का बल प्रदान करती हैं। वह तपस्या, आराधना, ध्यान योग, जप और मन्त्रविद्या को प्रक्रिया को पारकर 'कुल' का ज्ञान प्राप्त करते हुए कौलिकी सिद्धि प्राप्त कर लेता है। तन्त्रालोक का चतुर्थ आह्निक भेद से अभेद की अद्वय भूमि पर प्रतिष्ठापित करने का एक सफल सारस्वत उपक्रम है। यह कहता है कि 'तत्त्व में अपने चित्त को प्रतिष्ठित कर लो।' यह जैसे भी हो, होना चाहिये।

इदन्ता और अहन्ता के ऊहापोह से, शुद्धविद्या के प्रभाव से, मायीय विकल्पों के भेदवाद को ध्वस्त कर देने से ही व्यक्ति का व्यवहार बदल जाता है। उसकी पूजा की परिभाषा बदल जाती है। उसका स्नान वह स्नान नहीं नहीं रह जाता, जो वह पहले करता था। उसके होम, ध्यान, अर्चन, जप सब दूसरे परिवेश में समाहित हो जाते हैं।

प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय की पृष्ठभूमि में साधक की संवित् सृष्टि, स्थिति, संहार और अनाख्य भाव से १२ प्रकार से अवभासित होती है। काल ज्ञान का प्रवर्त्तन होता है। कुल से अकुल धाम में अनुप्रवेश मिल जाता है। इस तरह यह निश्चय हो जाता है कि जो व्यक्ति इस प्रकार सतत अभ्यास द्वारा खण्ड खण्ड में परिदृश्यमान अखण्डित सद्भाव परमेश्वर का दर्शन करता है, वह निश्चय अखण्डित सद्भाव स्वात्म तत्त्व का साक्षात्कार कर धन्य हो जाता है। पूरा आह्निक भेद से अभेद-अद्वय भाव की उपलब्धि में हो चरितार्थ है।

पाचवाँ आह्निक—पाँचवाँ आह्निक आणवोपाय का प्रकाशन करता है। परमेश्वर की प्राप्ति किसी भी उपाय से अवश्य हो सकती है। जैसे शाम्भवोपाय से स्वात्म साक्षात्कार रूप मोक्ष की प्राप्ति अनिवार्य हो सकती है। उसी तरह भेदाभेदोपाय से भी परमात्मा की प्राप्ति अवश्य सम्भाव्य है। आणवोपाय भी स्वात्मसाक्षात्कार का एक अच्छा माध्यम है।

मनुष्य का यह शरीर मर्त्यलोक का एक वरदान है। देह में संविद् प्राण रूप से परिणत होकर इसे प्राणवान् बनातो है। बुद्धि इसे व्यवहार क्षम बनाती हैं। ये तीनों अर्थात् देह, प्राण और बुद्धि पारमार्थिक नहीं हैं। अणु पुरुष विमर्श के बल पर इन्हीं में परमार्थ का अनुसन्धान करता है और उसे परमार्थ प्रकाश की उपलब्धि हो जाती है। इस अनुसन्धान से देहादिमे जडत्व का अपारमार्थिक भाव तिरोहित होने लगता है और अद्वय भाव का उदय हो जाता है।

दर्पण में जैसे मुख की छाया दर्पण के अतिरिक्त भासित होती है, उसी तरह देह प्राण बुद्धि में भी अतदात्मक विशुद्ध चैतन्य भासित होने लगता है। अनुसन्धान का काम ध्यानात्मिका बुद्धि करती है। प्राण तो उच्चार रूप होता है। आणवोपाय में 'उच्त्रार' 'करण', 'ध्यान' 'वर्ण' और 'स्थान प्रकल्पन' का अलग-अलग महत्त्व है। पूर्ण अहम्भाव के परामर्श से शून्य अपने को शरीर-वान् मानने वाला संकुचित-बोध पुरुष ही अणु कहलाता है। उसकी दशा आणव दशा है। जिस आणव भूमि पर जीव गिर पड़ा है। इसी से उसे उठना है। अनात्म में ही आत्मभाव और आत्म में अनात्मभाव के अभिशाप से यह अभिशप्त हो जाता है। इसी अभिशाप को वरदान में बदलने का उपाय आणवो-पाय है। आणव दशा में सर्वप्रथम महत्त्व 'उच्चार' का है। प्राण व्यापार को ही उच्चार करते हैं। इसमें प्राणवाह अपानवाह का साक्षी बनकर कैसे प्राण

ग्रास किया जा सकता है—यह सारी विद्या आती है। यह प्राणना शक्ति आन्तरोद्योगदोहृदा मानी जाती है। शरीर, इन्द्रियों और प्राणना वृत्ति इनका पिण्डीभाव ही देह प्रमाता होता है।

देह प्रमाता को बुद्धि चलाती है। यह अनुसन्धानात्मिका और ध्यान मयी होती है। इसलिये बुद्धि के सन्दर्भ में ध्यान योग का आणवोपाय में स्वतः महत्त्व सिद्ध हो जाता है। ध्यान एक अनुत्तर स्थिति मानी जाती है। इससे वस्तु सत्य का उद्घाटन होता है। ध्यान से हृदय स्थित चित्स्वभाव परमेश्वर के प्रकाश का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो जाता है। कदली पुष्प के आवरण में उसका प्रकाश मात्र जैसे शेष रहता है वैसे ही विश्व के अन्तराल का अनुसन्धान करने पर केवल स्वान्तःस्थ प्रकाश का निर्विकल्प साक्षात्कार हो जाता है।

हृदय की इस आन्तरिक खोजबीन के लिये श्री तन्त्रालोक ने विधि में उतारने का उपक्रम इस आह्निक में किया है। शास्त्रकार कहते हैं कि ध्यान में सूर्य, सोम और अग्नि के संघट्ट का ध्यान आवश्यक है। अणु साधक के लिये प्रकाश में अनुप्रवेश की यह पहली शर्त्त है। सूर्य, सोम और अग्नि का संघट्ट सहस्रार में होता है। शुचि नामक वह्नि से द्रवित सोम का अमृत अणु साधक को धन्य बना देता है। इसके लिये चक्रभेदन की प्रक्रिया को अपनाना पड़ता है। इससे भैरवीय महाचक्र में विश्वाध्वपटल का विलीनीकरण सरल हो जाता है। संस्कार रूप से भी हृदय में (भावना में) विद्यमान विश्वात्मकता का शमन हो जाता है। एक शान्त शुद्ध संवित् तत्त्व का उल्लास हो जाता है।

यह सब ध्यान योग से हो सम्भव होता है; स्वात्म संवित्ति में विश्व का विलापन करना और विसृष्ट करना प्राणापानवाह के माध्यम से सरल हो जाता है। इस भूमिपर प्रतिष्ठित साधक सहस्रार से भी आगे असंख्यात चक्रों का आकलन करता है। प्राणना वृत्ति की प्रधानता में उच्चार के उल्लास में निजानन्द, निरानन्द, परानन्द, ब्रह्मानन्द, महानन्द, चिदानन्द और जगदानन्द नामक आनन्द की सात पीयूषवर्षी संवित्ति को साधक स्वयम् अनुभूत कर लेता है।

उच्चार में प्राणदण्ड-प्रयोग, लम्बिका-सौध में प्रवेश तथा इच्छा, ज्ञान और क्रिया के सामरस्य में अवस्थान सरल हो जाता है। आज्ञा के ऊपर एकादश पदिका देवी के विन्दु से समनातक की पावन सोपान मालिका पर आरूढ साधक स्पन्दनोदर सुन्दर विसर्ग में विश्रान्ति प्राप्त कर लेता है। वहीं उसका अनुत्तर विमर्श स्फुरित हो जाता है।

वैसर्गिक तत्त्व भूमि पर अनुत्तर भट्टारक की कुलनामिका कौलिकी शक्ति का कादि हान्त विस्तार ऐसे साधक के लिये अनुकूल बन जाता है। वह वर्ण वर्ण में संजीवनी कला का आकलन करता है। विसर्गानन्द के अग्निसोमात्मक धाम का उद्रेक इसी दशा में होता है। योगिनी हृदय में विश्रान्ति, नादावस्था की अनुभूति और सृष्टि संहार बीजों की परामृत आस्वाद संभूति का भरपूर आनन्द वह पा लेता है। इसी स्थूल शरीर की सीमा में वह बोध महा सिन्धु के असीम विस्तार को समेट लेता है।

अपने हृदय देश में एक ऐसी अग्नि प्रज्वलित करता है, जिसकी लपटों में विश्व वेद्य की आहुतियों को नित्य अर्पित करता है। उसका संसार दूसरों के लिये तो वैसा ही लगता है, पर उसके लिये वह भस्म की विभूति बन कर उसे चमक प्रदान करता है। अमा और पौर्णमास कलाओं के मध्य में वह चैतन्य की चिन्मय मरीचियों से अर्चित होने लग जाता है।

उसे दश 'राव' दशाओं की राविणी शक्ति का वरदान मिल जाता है। महाव्याप्ति की आनन्द, उद्भव, कम्प, निद्रा और घूर्णि की चक्रेश्वरता को प्राप्त कर लेता है। नर, शक्ति और शिव की अविभाग भूमि पर वह समाधि साधन करता है। सुख, सीत्कार, सत्, सम्यक् और साम्य की तृतीय ब्रह्ममयी अनुभूतियों से भर जाता है। प्राण के उच्चार से, करणेश्वरी देवियों की कृपा से, ध्यान के अनुधावन से और प्राणसाम्य सहित बीजवर्णों की वेदनात्मकता से अणु उपासक भी अनुत्तर में प्रवेश करने में समर्थ हो जाता है। इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैसे शाम्भवोपाय और शाक्तोपाय परम स्वात्म संविदैक्य साक्षात्कार में समर्थ हैं, उसी तरह आणवोपाय के माध्यम से भी अनुत्तर में विश्रान्ति का चरम-परम उद्देश्य सिद्ध हो जाता है। इसीलिये इसे आणव प्रवेशोपाय कहते हैं। पाँचवें आह्निक का यह निष्कर्ष है। इसमें उच्चार, करण, ध्यान और वर्ण नामक चार प्रमेयों का प्रतिपादन किया गया है।

छठाँ आह्निक—आणवोपाय के प्रमेय चतुष्टय के वर्णन के उपरान्त केवल स्थान प्रकल्पन का सफलता पूर्वक प्रतिपादन करता है। स्थान प्रकल्पन परम-प्रमेय माना जाता है। यह आणवोपाय का ही एक अंग है। इसे बाह्य अभ्युपाय भी कहते हैं।

स्थान के तीन भेद हैं। १—प्राण, २—देह और ३—बाह्य। प्राण पाँच प्रकार (प्राण-अपान-व्यान-उदान और समान) के होते हैं। देह में ये दो प्रकार से स्थित हैं। १—बाह्य प्राण और आन्तर प्राण। इसी तरह स्थान के भी १—मण्डल, २—स्थण्डिल, ३—पात्र, ४—अक्षसूत्र, ५—पुस्तक, ६–लिङ्ग, ७—तूर, ८—पट, ९—पुस्त १० –प्रतिमा और ११ मूर्त्ति ये ग्यारह भेद होते हैं। पूरा छठाँ आह्निक इनके विश्लेषण में ही चरितार्थ है।

जहाँ तक प्राण का प्रश्न है, सारा अध्वमण्डल इस में ही प्रतिष्ठित है। समस्त अध्वामण्डल का आकलन क्रम और अक्रम दो प्रकार से किया जाता है। काल भी क्रमाक्रमात्मक ही माना जाता है। कालशक्ति योगिनी संवित् क्रम और अक्रम का अवभासन करतो हुई प्राणना वृत्ति के रूप में शाश्वत परिस्फुरित है। शुद्ध संवित् परमार्थतः प्रकाशरूप होती है। स्वतन्त्र होती है। अपने स्वातन्त्र्य के प्रभाव से स्वात्म में ही अपूर्णता के अवभासन की आकांक्षा से अविविक्त विश्वमेय को विविक्त की तरह विसृष्ट करती है और स्वयम् विश्वोत्तीर्ण रूप से निरावण शाश्वत परिस्फुरित रहती है। इसी आधार पर निरावरण शुद्ध संवित् को कुछ लोग शून्य रूप ही स्वीकार करते हैं।

यही शून्य प्रमाता है। बाह्य प्रमेयोल्लास में यही प्राण प्रमाता बन जाता है। शून्य प्रमाता में अपूर्णं मन्यता रूप आणवमल का समावेश होता है। मेय में उन्मुख होने पर कुछ कुछ चंचलता का विमर्शमय आद्य स्पन्द उल्लसित होता है। वही प्राण कहलाता है। इस स्पन्द में लहरें उत्पन्न होने लगती हैं। एक स्पन्दनात्मक अमर लहराव लहराने लगता है। यही कारण है कि आगम, कहता है कि 'संवित् पहले प्राणरूप में परिणत हुई।' बुद्धि अन्तःकरण की सार रूपा होती है। इसके पहले ही प्राण का स्पन्दोल्लास होता है। प्राणना शक्ति को ही 'स्पन्द' 'स्फुरत्ता', 'विश्रान्ति', 'जीव', 'हृदय' और 'प्रतिभा' आदि शब्दों से व्यपदिष्ट करते हैं। यह शरीर इसी प्राणना वृत्ति के चैतन्य से चलता है। इसे देखकर कुछ मन्दबुद्धि लोग शरीर को ही आत्मा मानने लगते हैं। वही चार्वाक कहलाते हैं।

प्राण में प्रतिष्ठित अध्वा क्रिया के वैचित्र्य से कालाध्वा और मूर्त्ति के वैचित्र्य से देशाध्वा नामक दो भागों में विभक्त हो जाता है। इसे ही देश और काल जन्य भेद कहते हैं। कालाध्वा में वर्ण, मन्त्र और पद नामक, तीन अध्वा

काम करते हैं। देशाध्वा के भी तीन भेद होते हैं। १—कला २—तत्त्व और ३—भुवन। कालाध्वा में सूक्ष्म और स्थूल वर्ण, सूक्ष्म स्थूल मन्त्र और सूक्ष्म स्थूल पद के अनुसार छः भेद हो जाते हैं। इसी तरह सूक्ष्म कला, स्थूल कला, सूक्ष्म तत्त्व स्थूल तत्त्व तथा सूक्ष्म भुवन स्थूल भुवन भेद से देशाध्वा भी छः तरह का होता है।

कालाध्वा अपने छः भेदों के साथ प्राण में प्रतिष्ठित है। समय की परिभाषा के पर्याय काल शब्द से यह काल अलग है। यह परमेश्वर की विश्व को अवभासित करने वाली क्रिया शक्ति के वर्चस्व का वाचक काल शब्द है। कालात्मक क्रिया शक्ति से विश्व की कलना होती है। विश्व क्रिया शक्ति का बहिर्मुख रूप माना जाता है। यहाँ दो स्थितियाँ होती हैं। १—बहिरौन्मुख्य और २—बाह्यावभास। बहिरौन्मुख्य अभेदात्मक तथा बाह्यावभास भेदात्मक होता है। अतः क्रिया शक्ति की यह भेदाभेद दशा मूलतः विचारणीय होती है। परमात्म परिवेश में क्रिया शक्ति का प्रातिनिध्य कालात्मक ईश्वर करता है। मायीय परिवेश में वही कञ्चुक रूपी काल होता है।

शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध विद्या शिव के स्वात्म वपुष् हैं। पाशबद्ध पुरुष के लिये वही पाँच कंचुक माया के सन्तान रूप से आवरण का चोगा तैयार करते हैं। इस तरह प्राण की प्राणवत्ता के प्रवाह में विश्व का आकलन साधक के लिये अनुभूति के नये आयाम का द्वार खोल देता है। प्राण शरीर में ओत प्रोत है। इसकी यत्नज और अयत्नज दो अवस्थायें होती हैं। अयत्नज आठ प्रकार का और यत्नज प्राण संचार हृदय (नाभिरूपी मातृकेन्द्र) से होता है और बाह्य द्वादशान्त की अमाकला के चिति केन्द्र तक की यात्रा पूरी करता है। योगी लोग इसे ऊर्ध्व द्वादशान्त के सहस्रार धामतक ले जाते हैं। यही प्राण का पथ है।

यहाँ तीन शक्तियाँ काम करती हैं। १—प्रभुशक्ति, २—आत्मशक्ति, और ३—प्राण शक्ति। प्रभु शक्ति वामा, ज्येष्ठा और रौद्री शक्ति के रूप में व्यापृत है। आत्मशक्ति योगियों की अश्विनी मुद्रा से कुण्डलिनी के जागरण आदि में प्रयुक्त होती है। वहीं प्राण शक्ति प्राणापान चार के आमावस्य-पौर्णमास चक्र में चंक्रमण कर विश्व और विश्वातीत के सम्पर्क सूत्र का काम करती है। शरीर में अशरीर को मिलाने में पुल का काम करती है। यही जीवन है।

प्राण की इस यात्रा को योगियों ने पैमाने में नापने का एक गणित लगाया है। प्राणचार ३६ अंगुल श्वास लेने और ३६ अंगुल श्वास छोड़ने के आदि अन्त विन्दुओं के बीच ७२ अंगुल का होता है। सवा दो अंगुल की एक तुटि और ७२ अंगुल में ३२ तुटियाँ १६ साँस लेने और १६ साँस छोड़ने में होती हैं। इसी तरह ११/५ अंगुल का एक चषक होता है। ३६ अंगुल में ३० चषक तथा ७२ अंगुल में साठ चषक की एक नाली (घड़ी) होती है। यह एक अहोरात्र माना जाता है। श्वास लेना रात और साँस छोड़ना दिन होता है। ९ अंगुलों यानी ४ तुटियों का एक पहर तथा ४ प्रहर की रात और ४ प्रहर के दिन को मिलाकर ८ प्रहर का एक श्वास चार का एक अहोरात्र सिद्ध होता है।

योगियों के सारे प्राण प्रयत्न इसी प्राण चार पर आश्रित होते हैं। श्वासात्मक १ अहोरात्र में एक मास ही नहीं ६० वर्षों तक की कलना योगी कर लेते हैं। इसी में निमेष से कल्पतक की काल कलना की जा सकती है। इसी में ग्रहण, सूर्य चन्द्र अग्नि संघट्ट, पक्ष सन्धियाँ और सारा आकाशीय ज्योति चक्र चलता है। इसी में सूर्य प्रमाण, सोम प्रमेय और राहु प्रमाता की तिकड़ी अपने तिकड़म करती है और महा ग्रहण की विलक्षण परिणति होती है।

अमा केन्द्र से मातृकेन्द्र और मातृकेन्द्र से अमाकेन्द्र के बीच ६, ६ अंगुल की गणना में ३६ अंगुल में ६ संक्रान्तियाँ होती है। माघ नाभिकेन्द्र की मकर संक्रान्ति फिर ६ अंगुल के क्रम से फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़ तक का उत्तरायण काल बीत जाता है। हृदय में मकर, छः अंगुल के अन्तर पर कुम्भ, कण्ठ के २ अंगुल पर मीन का उदय और तालु तक मीन, नासिका के अन्त पर मेष की विषुवत्संक्रान्ति, फिर वृष और मिथुन तक उत्तरायण समाप्त हो जाता है और अमा विश्रान्ति हो जाती है। अब दक्षिणायन शुरू होता है। यह कर्क से चलकर सिंह कन्या होते हुए नासिका के अग्रभाग से तालु तक तुला संक्रान्ति काल होता है। वृश्चिक और धन के १२ अंगुल पार कर प्राण सूर्य पुनः माघ मकर संक्रान्ति का संक्रमण करता है। यह सारी एक श्वास चार की तान्त्रिक यात्रा का क्रम है। इसी में पितरों और देवों के पित्र्य और दिव्य वर्षों का आकलन भी सम्भव है। इसी में वैष्णव रौद्र और ब्राह्म काल सृष्टि का आकलन! और समस्त तत्त्वों का उदयास्त क्रम, सभी प्रतिभा में प्रतिफलित हो जाते हैं।

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि यह सृष्टि का उदय और विलय, प्रसर और संहार प्राण के परिवेश में ही उल्लसित है। मानव का यह शरीर कन्द से उन्मना पर्यन्त शक्ति समुल्लास का शाश्वत प्रतीक है। इसी के माध्यम से साधक सब कुछ स्वत: आकलित करता है और स्वात्मज्ञान पाकर जीवन्मुक्त हो जाता है। इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना और कुण्डलिनी नाडियों से ७२ नाड़ियों का ज्ञान भी एक आधार प्रदान करता है। पाँचों प्राण शक्तियाँ अनुग्रह के अमृत से सराबोर हो जातो है और मोक्ष हस्तामलकवत् सरलतया समुपलब्ध हो जाता है।

इसी प्राणाचार में सर्वप्रथम एक नादात्मक वर्ण उत्पन्न होता है। वह अनाहतवर्ण होता है। इसो से सूर्य स्वर, सोम स्वर और संयुक्त स्वरों की उत्पत्ति होती है। इसी से जीवनात्मक दन्त्य सकार, पूरक, हकार और प्रकाशात्मक विन्दु से अजपाजाप का बोज मन्त्र 'सोहम् रूप में व्यक्त होता है। एकाशीति पदा देवी का उल्लास होता है और चक्रेश्वर क्षकार प्रत्यक्ष हो जाता है। इस तरह पूरा छठवाँ आह्निक कालतत्त्व के प्रकाशन में चरितार्थ हो जाता है।

सातवें आह्निक की अवतारणा चक्रोदय प्रकाशन के लिये की गयी है। प्राण के अयत्नज व्यापारों का आकलन छठें आह्निक में करने के बाद यत्नज प्राणचार के चक्र कैसे चलते हैं—इसके लिए मन्त्र जप का चक्र चलाना आवश्यक होता है। सामान्यतया सिंचाई के लिए रहट यन्त्र का पहले प्रयोग होता था। उसे यन्त्रोदय प्रक्रिया कहते थे। यह मन्त्रोदय प्रक्रिया होती है। माला में जप करते समय मन्त्रों का एकानुसन्धान करना और मनियों का फेरना एक हो जाता है।

इसी तरह प्राणचार की माला में १०८ की कालावधि में अपने प्राण को संयमित करने पर २१६०० साँसों की जगह केवल २०० साँसे रह जायेंगी और क्रमश: साधक प्राणजेता बनता जायेगा। फल स्वरूप स्वात्म संवित् तादात्म्य की आनन्दात्मक अनुभूति की अवधि निरवधि होने की दिशा में अग्रसर हो जायेगी।

क्रमश: अभ्यास करते-करते योगी का प्राणग्रास हो जाता है। काल जनित ज्ञान भेद की परिच्छिन्नता छिन्न भिन्न हो जाती है। अखण्ड ज्ञान प्रकाश में साधक समाहित हो जाता है। काल भेद का व्यपोहन हो जाता है।

प्राणसाम्य में जप आदि अजप बन जाते हैं। कुण्डलिनी शक्ति समना के कमल पर विराजमान विसर्ग के प्रस्पन्द का स्पर्श कर उन्मना के परिसर में प्रवेश पा लेती है।

जहाँ तक माला मन्त्रों का प्रश्न है, उनमें प्राणसाम्य नहीं चल पाता। उनका उपांशु जप करना चाहिए। मन्त्र चक्रोदय का जानकार विद्या चक्र का वेत्ता हो जाता है। प्राणचार के प्रवेश, ऐकात्म्य और निर्गम से ९ भाग कर सामान्य साधक सफलता के शिखर चूमने की शक्ति पा लेता है। इस प्रकार हम पाते हैं कि सारा काल वैभव प्राण में प्रतिष्ठित है। प्राण चेतना में और चेतना शिव शक्ति में प्रतिष्ठित है। इन उक्त विषयों का प्रतिपादन यह सातवाँ आह्निक करता है।

इन आह्निकों में जितनी जानकारियाँ दी गयीं हें, उनके अन्तर में अनुप्रवेश की विधि का निर्देश भी साथ ही साथ दिया हुआ है। एक तथ्य का प्रतिपादन सशक्त भाव से ग्रन्थकार करते हैं। उसको प्रमाणित करने के लिए विभिन्न आगम प्रामाण्य दिये गये हैं। ग्रन्थकार ने कारिकाओं में आगमों के नाम स्वयं प्रस्तुत किये है। उनके शिष्य मनीषी चिन्तक और विवेक व्याख्याकार राजानक जयरथ ने विविध-शास्त्रों, आगमों और आकर ग्रन्थों के उद्धरणों से अपने विवेक भाष्य का शृंगार किया है।

इन प्रमाणों को प्रस्तुत करने के बाद जहाँ साधना की विधि में उतरने की आवश्यकता होती है, वहाँ सर्वत्र कारिकाओं में क्रिया विधि लिङ् में दी गयी है। जहाँ-जहाँ क्रिया योग आवश्यक है, वहाँ-वहाँ क्या करना चाहिए, उसकी ओर संकेत कर दिया गया है। जिस युग परिवेश में यह ग्रन्थ लिखा गया था वह समय दशवी शताब्दी का था। उस समय देश में त्रिक, कुल, क्रम और मत आम्नायों की गौरव शाली परम्परा थी। आचार्य सुमति नाथ, श्री शम्भुनाथ, सोमानन्द सदृश आचार्यों की साधना पद्धतियों का मठिकाओं और सन्ततिक्रम में सक्रिय रूप प्रचलित था। साधना के आधार पर सिद्धान्तो को गुरु परम्परा की कसौटी पर कसे जाने का अवसर और सुयोग था।

आज उस परम्परा का पूरी तरह लोप हो गया है। कई ऐसे रहस्य स्थल हैं, जहाँ ऊहापोह की स्थिति में वस्तुसत्य का निर्णाय नहीं हो पाता। रहस्य में अनुप्रवेश की विधियों का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। मैंने इन विधियों

में अनुप्रवेश की साधना स्वयं की। गायत्री के मन्त्रदर्शन सर्ग की रचना के लिए मैंने ऐसे गुरुजनों से कुछ जानने का प्रयास किया। मेरे पितृचरण स्वयं 'भुँइधरा' में घण्टों समाधिनिष्ठ रहते थे। हठयोग साधना में उन्हें अच्छा अभ्यास था। उन का वरदान मुझे अनायास ही प्राप्त था। वे मेरे दीक्षा गुरु थे। घर में रहते हुए भी विरक्त सत्पुरुष थे।

परमहंस आश्रम, बरहज बाजार, देवरिया में 'अनन्त प्रभु' नामक एक परम योगीश्वर का उपासना स्थल आज भी विद्यमान है। उनके शिष्य बाबा राघव दास नामक एक सन्त थे। उन्हें देवरिया जनपद की जनता के उत्थान के लिये राजनोति का क्षेत्र भी अपनाना पड़ा। प्रसिद्ध सन्त विनोबा भावे उन्हें वीर हनुमान् कहा करते। उनके साथ भी मुझे रहने के अवसर मिले। बलिया जनपद के प्रसिद्ध योगी चन्दाडीह के बाबा उनके गुरु भाई थे और ये दोनों सन्त अनन्त महाप्रभु के ही शिष्य थे। इन दोनों से मुझे साधना के संस्कार मिले।

बाबा राघवदास के अनन्य शिष्य सन्तशिरोमणि ब्रह्मचारी सत्यव्रत जी महाराज के मेरे ऊपर वात्सल्य भाव थे। वे मुझे अपना पट्ट शिष्य बनाना चाहते थे। उनकी साधना स्थली हनुमान् गुफा थी, जहाँ बिठा कर मुझे हनुमत् मन्त्र का जप करने की व्यवस्था उन्होंने की थी। कुछ दिनों के बाद उन्होंने मुझे राममन्त्र की दीक्षा दी। राम की भक्ति धारा में मैं कुछ दिनों बहता भी रहा। पर मेरे ऊपर पितृचरण की निराकार उपासना का प्रभाव था। वहीं पर एक ऐसे साधु जिनकी आकृति तो मेरी आँखों में है। पर उनका नाम विस्मृत है, उन्होंने मुझे चक्र साधना की प्रारम्भिक जानकारी दी। यह घटना सन् १९३८ की है। जब कि मैं केवल १९-२० वर्ष का संस्कृत का बरहज विद्यालय का एक छात्र था। वहाँ के आचार्य प्रवर मुनीश्वर जी की मुझपर कृपा थी और श्री मङ्गलदेव शास्त्री का मैं अन्तेवासी था।

इसके बाद मेरा साधु समुदाय से संसर्ग टूट गया। मैं राजनीति में आ गया। बलिया जनपद से संस्कृत जगत् का मैं प्रतिनिधि सत्याग्रही था जो व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन (१९४०-४१) में गिरफ्तार हुआ। पुनः सन् १९४२ में पुलिस के चंगुल से निकलकर फरार हो गया और १९४७ तक लाहौर में भूमिगत रहा। यद्यपि इससे मेरी साधना बाधित हुई पर मुझे देश के लिये जीवन को अर्पित करने के उत्साह पर सन्तोष है।

मेरे सुषुप्त संस्कार सन् १९५८ में जागृत हुए। मेरे ही नाम के उपाध्याय प्रवर ने जो शेरपुर निवासी हैं, उन्होंने मेरे ऊपर आये संकट से उद्धार के लिये माँ की उपासना के लिये प्रेरित कर दिया। मैं उनको अपना अन्तर गुरु मानता हूँ। मैं संकट की आग से झुलसने ही वाला था कि भगवती सप्तशती के सम्पुट पाठ की मेरी आर्त्त अन्तर्मुखता ने परमाम्बा के सिंहासन को आन्दोलित सा कर दिया। माँ ने मुझे गोद में उठा लिया। पुचकारा, दुलराया। मेरे आँसू पोंछे और अपने दरबार का एक कृपापात्र बना लिया। मुझे नई जिन्दगी मिली। नये आयाम मिले। वाराणसी में भूतभावन का भैरवभाव मिला और वह सब मुझे प्राप्त है, जिसका मैं अधिकारी नहीं था।

मुझे १९६८ से १९८६ तक एक ऐसे सन्त का वात्सल्य मिला, जिनकी गुफा आज भी जनपद मीरजापुर के विन्ध्याचल मार्ग के शाहीपुल के पास की रेलवे क्रासिङ्ग के पास है। उन्होंने एकान्त साधना बतायी। माँ के साथ बात करने का मन्त्र दिया और अनवरत वात्सल्य से मुझे साधन की समृद्धि दी। उनका नाम क्या था—नहीं पता। बस उन्हें टाट बाबा कह लेते थे। आज उनका शरीर नहीं रहा—पर उनका आन्तर अस्तित्व आज भी मेरे ऊपर वरदान की वर्षा करता है। ये कुछ सन्दर्भ हैं, जिनसे मेरे संस्कार निर्मित और परिष्कृत हुए।

श्री तन्त्रालोक के नीर-क्षीर-विवेक हिन्दी भाष्य के लिये माँ ने मुझे लगाया। मैं भौतिक भूमि का भ्रमर कौन होता था इस साधनात्मक रहस्य में प्रवेश कर 'हंस' बनने वाला? माँ ने मुझे आज्ञा दी। उसके नेत्रों से वात्सल्य बरस पड़ा। अधरों से फूट पड़ने वाली मुसकान की मनोज्ञता ने मुझ मतिमन्द की मनीषा का मधुमती भूमिका में ला बिठलाया। भाष्य लिखा जाने लगा और इसने माँ की व्यवस्था के अनुसार सर्वोच्च प्रकाशन संस्थान पा लिया। मैं तो प्रकाशक के विषय में सोच ही रहा था। इसी सोच को मैंने संकुचित होते हुए पूर्व कुलपति डॉ० विद्या निवास मिश्र जी के समक्ष व्यक्त किया। वह तो मेरे आश्चर्य, मेरे आत्यन्तिक हर्ष और मातृचरण स्मरण का वरदानी क्षण था, जब श्री मिश्र जीने प्रकाशन का आश्वासन दिया और तान्त्रिक साहित्य प्रकाशन योजना की जानकारी दी। यह सब अलक्ष्य व्यवस्था है।

श्री पं० हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी जैसे सहृदय प्रकाशनाधिकारी को परमाम्बा के अनुग्रह का ही मैं प्रतीक मानता हूँ। संस्था से बाहर के एक

अपरिचित और व्यवहार शून्य व्यक्ति की इस कृति का उन्होंने आदर किया। अच्छे प्रेस की व्यवस्था की। यथावसर इसके सुन्दर प्रकाशन के लिये वे सजग सन्नद्ध रहे। इसी का परिणाम है कि प्रथम भाग के प्रकाशन के तुरत बाद यह द्वितीय भाग भी साहित्य की शोभा बढ़ाने और वाङ्मय पुरुष का शृङ्गार करने को प्रस्तुत हो रहा है। मैं उन्हें आशीर्वाद के अमृत से अभिषिक्त कर रहा हूँ। साथ ही मुद्रण के माध्यम से इस कृति को रूप प्रदान करने वाले श्री गिरीशचन्द्र को हार्दिक आशीर्वाद देता हूँ।

संस्कृत जगत् के विश्रुत विद्वान् रचनाकार और साहित्य-प्रणेता आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय ने मेरी कृति को देखकर हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त की। मुझे आशीर्वाद दिया और मेरा उत्साह संवर्द्धन किया। एतदर्थ में उनका आभारी हूँ। डॉ० भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी 'श्री वागीशास्त्री' शनिदेशक अनुसन्धान विभाग, सं० सं० वि० वि० वाराणसी ने मेरी जिज्ञासाओं का सहृदयता पूर्ण समाधान किया और मुझे निरन्तर प्रेरणा दी, श्री युत पं० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते तन्त्रवाङ्मय के पारम्परिक विद्वान् हैं। श्री भास्करराय की उपासना परम्परा के साथ ही ये पितृपरम्परा से प्राप्त रहस्य में अनुप्रवेश के योग्यतम अधिकारी विद्वान् हैं। इन्होंने कुछ रहस्य की बातें भी मुझे बतायीं हैं! उनका इस ग्रन्थ में यथावसर प्रयोग भी किया है।

श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथ (श्री पं० सीताराम जी कविराज) की मुझपर असीम कृपा है। उनकी सम्मतियों से सदा प्रभावित हुआ हूँ। श्री युत पं० देवस्वरूप जी मिश्र, अध्यक्ष वेदान्त विभाग, सं० सं० वि० वि० वाराणसी ने बड़ी सहृदयता के साथ सान्दर्भिक अर्थों के समायोजन में सहायता दी है। मैं इन कृपालु मनीषियों के सद्भाव का आभारी हूँ। श्री पं० रामजी मालवीय, प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष योगतन्त्र विभाग सं० सं० वि० वि० की प्रसन्नता ने मुझे विभोर कर दिया। इस कृति के प्रथम भाग को देखकर वे आनन्द आमोद से विह्वल थे। यथा समय इनसे सदा प्रेरणा मिलती है। पं० प्रवर श्री व्रजवल्लभ जी द्विवेद का का सद्भाव ही मेरा धन है।

आचार्य शीतला प्रसाद उपाध्याय तो मेरे हृदयांश ही हैं। सं० सं० वि० वि. वाराणसी में योगतन्त्र विभाग के अध्यापन में व्यापृत रहते हुए भी इन्होंने इस ग्रन्थ को रूपायित करने में अहम् भूमिका का निर्वाह किया है। आगम-परम्परा में नैपुण्य प्राप्त करनै का इनका अध्यवसाय अप्रतिम है। मैं इनको भविष्यत् उत्कर्ष का आशीर्वाद देता हूँ।

मेरे जीवन के ऐसे अनेक सन्दर्भ हैं, जहाँ मैं आँखों में रहता हूँ—संप्रेषणमयी नायन रश्मियों के बरसते अमृत-स्पर्श से पुलकित होता हूँ—पर संकोचवश अपने परिचय परिवेश संवर्द्धन से वंचित रह जाता हूँ। सं० सं० वि० वि० के वर्त्तमान कुलपति सम्मान्य डॉ० श्री वी० वेङ्कटाचलम् जी मेरे लिये ऐसे ही परिवृढ पुरुष हैं। यह एक सुखद सुयोग है कि उन्हीं के तत्त्वावधान में श्री तन्त्रालोक का यह द्वितीय भाग प्रकाशित हो रहा है। 'तन्त्रसार' के दोनों खण्डों को देखकर उन्होंने मुझे आशीर्वाद दिया था। अब उनकी मध्यमा वाक् इस कृति के पृष्ठों पर रूप ग्रहण करेगी-यह मेरे लिये सौभाग्य का विषय है। मैं उनके मङ्गलमय भविष्य और शैव महाभाव-संभूति की समीहा करता हूँ।

परमाम्बा की परानुकम्पामयी यह कृति उन्हीं को अर्पित है।

॥ सौः ॥

❀

डॉ० परमहंस मिश्र
ए ३६, बादशाह बाग
वाराणसी

महाशिवरात्रि वै० २०४९

विषयानुक्रमः

गुरुजनस्मृतिः

आसन्मे पितरः सदागमविदः पूर्णार्थ-पारङ्गताः
आसीन्मे प्रपितामहः परिवृढः प्राज्ञः प्रयागोऽभिधः।
विप्रर्षिः यदुमिश्रवर्यतनयः सावित्र-विज्ञानवित्
पुण्यात्मा फउदार मिश्र विबुधः दीक्षागुरुर्मे पिता ॥ १ ॥

गोपीनाथ वचश्चारु-चमत्कार-चमत्कृतः ।
मधु-विद्योऽपि हंसोऽयं चिनोति चिति-मौक्तिकान् ॥ २ ॥

शैवः शैवपरम्परा-प्रचलितान् तान् संप्रदायागतान्
सिद्धान्तान् समवाप्य सन्ततिसुधासारान् समग्रान् गुरोः।
बोधस्यार्षमगाधसिन्धुमभितस्तीर्त्वा स सांसिद्धिकः
झोपाह्वः मममार्गदर्शकगुरुः रामेश्वरः स्मर्यते ॥ ३ ॥

आराध्या-पादपद्मेषु हंसोयं श्रद्धया स्थितः।
शक्तिपातामृतैस्तृप्तोऽदीक्षितोऽपि च दीक्षितः ॥ ४ ॥

दृष्ट्वा समयिनं हंसं सौम्यं स्वात्म्यैक्य-संविदम्।
कृपया करणैश्वर्यैः दीक्षितं व्यदधुः स्वयम् ॥ ५ ॥

कश्मीरे गुप्तगंगायां गुरुःदृष्टः स्वयं शिवः।
लक्ष्मणः शक्तिपातेन कृतार्थमकरोज्जनम् ॥ ६ ॥

सोयं 'हंसः' समन्तात् स्वयमिह सरणौ श्रद्धयाभ्यासजुष्टः
दर्शं दर्शं समाधावभिनवमहितं सद्गुरुं शक्तिपूतः।
तन्त्रालोकस्य भाष्यं जयरथविहितं मार्गमालोड्य सम्यक्
नीरक्षीरं विवेकं प्रणयितुमकरोन्निश्चयं व्यक्तमेतत् ॥ ७ ॥

विवेकाख्येन भाष्येण तन्त्रालोकस्य पद्धतिम्।
यः प्रकाशितवान् वन्दे वन्द्यं जयरथं च तम् ॥ ८ ॥

मातरं पितरं सर्वान् सद्गुरून् प्रणमाम्यहम्।
'हंसं' ये व्यदधुर्हंसं नीरक्षीरविवेकिनम् ॥ ९ ॥

डॉ० परमहंस मिश्र
ए ३६, बादशाह बाग
वाराणसी

महाशिवरात्रि वै० २०४९

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितः
श्रीराजानकजयरथाचार्यकृतविवेकव्याख्यया विभूषितः
डॉ० परमहंसमिश्रकृत-नीर-क्षीर-विवेक-हिन्दीभाष्यसंवलितश्च

श्रीतन्त्रालोकः

[द्वितीयो भागः]

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते

श्रीतन्त्रालोके

श्रीमदाचार्यजयरथकृतोद्योताभिख्यव्याख्योपेते
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक
हिन्दीभाष्यसंवलिते

चतुर्थमाह्निकम्

यो दुर्विकल्पविघ्नविध्वंसे सद्विकल्पगणपतिताम् ।
वहति जयताज्जयन्तः स परं परमन्त्रवीर्यात्मा ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तपादाचार्यविरचित
श्रीराजानक जयरथकृतोद्योताभिख्यव्याख्योपेत
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीरक्षीरविवेक
हिन्दीभाष्यसंवलित

श्रीतन्त्रालोक

चतुर्थ आह्निक

दुर्विकल्प-विष-विघ्नहर सुविकल्पेश गणेश ।
जय जयन्त परमन्त्रमय वीर्यवर्य परमेश ॥

दुर्विकल्प साधक की साधना के विघ्न हैं। विकल्प संस्कृत होकर सुविकल्प बन जाते हैं। सद् विकल्प हो जाते हैं। सद्विकल्पों के गणपतिका उत्तरदायित्व स्वयं शिव ही वहन करते हैं। सिद्ध साधक भी स्वयं रहस्य गर्भ मन्त्रों के वीर्य का आधार बन कर गणपतित्व का निर्वाह करने में समर्थ हो जाता है। जयनशील ऐसे परभैरव और परभैरव रूप गुरुवर्य दोनो की जय हो।

इदानीं शांभवोपायानन्तरं क्रमप्राप्तं शाक्तोपायं कथयितुमपरार्धेन प्रतिजानीते

अथ शाक्तमुपायमण्डलं कथयामः परमात्मसंविदे ॥ १ ॥

'उपायमण्डलम्' इति विकल्पसंस्क्रियादीनामानैक्यात् ॥ १ ॥

तत्र प्रथममनुजोद्देशोद्दिष्टां विकल्पसंस्क्रियां तावदभिधातुमुपक्रमते

अनन्तराह्निकोक्तेऽस्मिन्स्वभावे पारमेश्वरे ।
प्रविविक्षुर्विकल्पस्य कुर्यात्संस्कारमञ्जसा ॥ २ ॥

'अस्मिन्स्वभाव' इति निर्विकल्पैकरूपे, तेनास्य शांभवोपाय एव विश्रान्तिः, इत्यावेदितम्। संस्कारमिति—पौनःपुन्येन श्रुतचिन्तादिवशात् अस्फुटत्वादिक्रमेण स्फुटतमत्वाद्यापत्तिपर्यन्तं गुणान्तराधानं, येन निर्विकल्पस्वरूपानुप्रवेशो भवेत्। अञ्जसेति शीघ्रम्, अन्यथा हि विरुद्धविकल्पान्तरोत्पादात् संस्कारस्य प्ररोहो न स्यात् ॥ २ ॥

शाम्भवोपाय के वर्णन के उपरान्त ग्रन्थकार क्रम प्राप्त शाक्तोपाय के वर्णन की अवतारणा इस दूसरी अर्धाली से कर रहे हैं। इसकी पहली अर्धाली तृतीय आह्निक का उपसंहार करती है ॥ १ ॥

परा स्वात्मसंविद् की उपलब्धि के लिये शाक्त उपायों का वर्णन आवश्यक है। विकल्पों के संस्कार अनगिनत हैं और उनके उपाय भी बहुत से हैं। इसी भाव को उपायमण्डल शब्द व्यक्त करता है। ग्रन्थकार यही कहने जा रहे हैं।

अनुज उद्देश के अन्तर्गत भेदप्रभेद का वर्णन होता है। इस शैली के अनुसार विकल्पों के संस्कार की विभिन्न और विविध दशाओं का वर्णन स्वाभाविक है।

परमेश्वर के 'स्व' भाव में प्रवेश की इच्छा विकल्पों के संस्कार से ही जागृत होती है। इसलिये साधक शिष्य सर्वप्रथम वही प्रक्रिया अपनाये जिससे उसके विकल्प संस्कृत हो जाँय और यथाशीघ्र वह सद्विकल्प का गणपति बन सके। इसी में उसका कल्याण है। इसके लिये सबसे पहले शास्त्र का स्वाध्याय, चिन्तन और मनन करना चाहिये। इससे व्यक्तित्व का विकास होता है। पुष्टि

ननु ज्ञानस्य क्षणिकत्वे सर्वेषामविवादः—तद्विकल्पस्यापि ज्ञानरूपत्वेन क्षणिकत्वात्, उत्पादसमनन्तरमेव अन्तर्हितस्वरूपस्य कथं नाम संस्कारः प्ररोहमियात् स हि स्थिरे स्यात्, यथा,—तिलादौ सुमनोभिः, तत् कथमेतदुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

विकल्पः संस्कृतः सूते विकल्पं स्वात्मसंस्कृतम् ।
स्वतुल्यं सोऽपि सोऽप्यन्यं सोऽप्यन्यं सदृशात्मकम् ॥ ३ ॥

इह यथा—नीलविकल्पान्नीलविकल्पस्यैव उत्पादो, न पीतविकल्पस्य, तथैव अस्फुटत्वेऽपि स्फुटीभावाय भाव्यमानत्वात् भ्रश्यदस्फुटत्वाद्यापत्तेः आहितसंस्कारो विकल्पः स्वात्मवत् संस्कृतमेव विकल्पान्तरं जनयेत्—कारणानुरूपेणैव हि प्रायः कार्यस्योत्पादो भवेत् इति भावः । एवं विकल्पान्तरेष्वपि ज्ञेयम् । सोऽपि इति संस्कृताद्विकल्पाज्जातो द्वितीयः-सोऽप्यन्यमिति तृतीयः, पुनः सोऽप्यन्यमिति चतुर्थः । अत्र स्वतुल्यत्वस्य संम्बन्धसहिष्णुत्वेऽपि 'सदृशात्मकम्' इत्युक्त्या दूरदूरत्वेऽपि विकल्पमालायाः सादृश्यस्य न काचिद्धानिः, इत्यावेदितम् ॥ ३ ॥

और तुष्टि मिलती है। मुकुल में उल्लास आता है। स्वात्म कुसुम खिल उठता है, और सुषमा के संसार का शृङ्गार हो जाता है। इस कार्य में विलम्ब नहीं करना चाहिये अन्यथा संस्कारों के सुधार में विलम्ब की सम्भावना हो जाती है ॥ २ ॥

प्रश्न है कि शास्त्र के स्वाध्याय से ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान से संस्कार शुद्ध होते हैं। पर सोचने की बात है कि ज्ञान तो स्वयं क्षणिक होता है। उत्पत्ति के समय ही इसका विनाश हो जाता है। विकल्प भी ज्ञानरूप होते हैं। अतः ये भी क्षणिक हैं। ऐसे क्षणस्थायी पदार्थ का संस्कार कैसा ? वह तो स्थिर पदार्थ का होता है। जैसे तिल में फूलों की सुगन्धिका संस्कार। इस जिज्ञासा का समाधान कर रहे हैं—

संस्कार से शुद्ध विकल्प पुनः स्वात्म संस्कृत शुद्ध विकल्प उत्पन्न करता है। वह अपने ही समान दूसरे, वह तीसरे और वह चौथे सदृश विकल्पों को जन्म देता है। विकल्प की शुद्धि के क्रम में स्वात्म सदृशता में रोक नहीं लगती। यह नियम है कि कारण के अनुरूप ही कार्य की उत्पत्ति होती है। नील से नील और पीत से पीत विकल्पों की तरह एक शुद्ध विकल्प अपनी

ननु एकस्मात् संस्कृताद्विकल्पात् यदि तादृशस्यैव द्वितीयस्योत्पादः तदास्तां, तृतीयादेः पुनरेवमेवोत्पत्तावानर्थक्यं स्यात्, विशेषे वा सादृश्यस्य हानिः ? इत्याशङ्क्याह

चतुर्ष्वेव विकल्पेषु यः संस्कारः क्रमादसौ ।
अस्फुटः स्फुटताभावी प्रस्फुटन्स्फुटितात्मकः ॥ ४ ॥

स्फुटताभावीति स्फुटनयोग्यः, प्रस्फुटन्निति उद्गच्छत्स्फुटत्वः, स्फुटितात्मक इति सिद्धस्फुटत्वः, क्रमादिति अभ्यासातिशयतारतम्यात् अत एव अत्र यथायथमतिशयदर्शनात् नानर्थक्यं, नापि सादृश्यस्य हानिः—विसदृशस्य प्रत्ययान्तरस्यानुत्पादात्, आद्य एव हि संस्कारो यथायथमभ्यासातिशयात् प्ररोहमुपगत इत्येवमुक्तम् ॥ ४ ॥

न च इयानेव अस्य संस्कारः संभवेत् ? इत्याह

ततः स्फुटतरो यावदन्ते स्फुटतमो भवेत् ।

अस्फुटता नष्ट हो जाने पर स्फुट और शुद्ध विकल्पों को उत्पन्न करता है। एक ओर भ्रश्यदस्फुटत्व और दूसरी ओर भाव्यमान स्फुटीभाव। यही स्फुटता की परम्परा है, जिसमें आगे चलकर निर्विकल्प भाव उदित हो जाता है ॥ ३ ॥

एक संस्कृत विकल्प से उसी प्रकार का दूसरा उत्पन्न होता है। यह उक्ति है। इसी तरह तृतीय चतुर्थ आदि उत्पत्ति मानने से अनर्थ की संभावना है। यदि विशेष उत्पत्ति मानेंगे तो सदृशता नहीं रह सकती ? इन समस्याओं का समाधान कर रहे हैं—

संस्कृत विकल्पों की क्रमिक उत्पत्ति में न कोई अनर्थ होता है और न ही कोई बाधा। पहले विकल्प अस्फुट होता है। दूसरी अवस्था में भविष्य में स्फुटता की प्रक्रिया होती है। इसे भविष्यत्स्फुटत्व कह सकते हैं। तीसरी अवस्था में प्रस्फुटता का प्रवर्त्तन होता है। यह प्रस्फुटता की शतृप्रययान्त अवस्था है। चौथी अवस्था में पूरा प्रस्फुटन सम्पन्न हो जाता है। जैसे पहले कली, मुकुल, विकसदवस्थ सुम और चौथी अवस्था में कुसुम।

इस चार क्रमिक विकास प्रक्रिया में स्फुट ही स्फुटतर और स्फुटतम रूप में विकसित होता है ॥ ४ ॥

तत इति चतुर्भ्योऽनन्तरम् ॥

ननु अभ्यासातिशयतोऽपि अस्फुटत्वादिरूपो विकल्पः कथं शीघ्रमेव स्फुटताभाव्यादिरूपतामेति ? इत्याशङ्क्याह

अस्फुटादौ विकल्पे च भेदोऽप्यस्त्यान्तरालिकः ॥ ५ ॥

भेद इति बिशेषः, आन्तरालिक इति मध्यवर्ती, तथाहि अस्फुटस्फुटताभाविनोरन्तराले भ्रश्यदस्फुटत्वः, एवमीषत्प्रस्फुटत्वः अङ्कुरितस्फुटितत्वः आसूत्रितस्फुटतरत्वः उद्गच्छस्फुटतमत्वश्चेति ॥ ५ ॥

ननु एवं-कृते सति किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

ततः स्फुटतमोदारताद्रूप्यपरिबृंहिता ।
संविदभ्येति विमलामविकल्पस्वरूपताम् ॥ ६ ॥

ततो—यथोक्तात् संस्काराद्धेतोः, स्फुटतमम्, अत एव उदारं निर्विकल्पकसमानकक्ष्यतया महत्, यत्ताद्रूप्यं--विकल्पकत्वं तेन परिबृंहिता-संस्कारान्तरनिरपेक्षीकृता सती विकल्परूपा संवित्, विमलां--संकोचकलङ्का-

---

इस संस्कार प्रक्रिया में अभ्यास के प्रभाव से अन्तर अवकाश अर्थात् बीच क्रम में भी अनेक भेद सम्भव हैं—

विकल्प इतने शीघ्र विकसित नहीं होते। इनमें अन्तराल में पड़ने वाले भी अनेक भेद होते हैं। जैसे अस्फुट और स्फुटताभावी के बीच में भी एक ऐसी अवस्था है जिसे भ्रश्यदस्फुटत्व कहते हैं। इसी तरह ईषत्प्रस्फुटत्व के बाद अंकुरित प्रस्फुटत्व भेद भी होता है। आसूत्रित स्फुटतत्व, उद्गच्छत्स्फुटत्व आदि भेद भी इसमें होते ही हैं। ये सभी अभ्यास के बीच में सम्भव हैं ॥ ५ ॥

इस विकास प्रक्रिया के परिणाम की ओर संकेत कर रहे हैं—

इस प्रकार संस्कार प्रक्रिया के क्रमिक विकास की सोपान परम्परा को पार कर लेने पर अत्यन्त उदार (मानो वह निर्विकल्पवत् ही हो गयी है ऐसी) अत्यन्त स्फुटतम वैकल्पिक तद्रूपतामयी एक संवित् शक्ति उल्लसित होती है। वही इतनी स्वच्छ हो जाती है कि अविकल्पकता के 'स्व' रूप को प्राप्त कर लेती है। उस दशा में संकोच का कलङ्क मिट जाता है। इसीलिये "विकल्पमात्र में विश्रान्त रहने की बात भी नहीं सोचनी चाहिये।" यह

पहस्तनेन शुद्धामविकल्पस्वरूपतामभ्येति—पूर्णाविकल्पज्ञानमयतया परिस्फुरती-त्यर्थः। अतश्च 'विकल्पमात्रे एव न विश्रान्तव्यम्' इत्यपि अनेन उक्तम् यदाहुः

'परमार्थविकल्पेऽपि नावलीयेत पण्डितः।
को हि भेदो विकल्पस्य शुभे वाप्यथ वाशुभे ॥' इति ॥ ६ ॥

एतदेव प्रकृते योजयति

अतश्च भैरवीयं यत्तेजः संवित्स्वभावकम्।
भूयो भूयो विमृशतां जायते तत्स्फुटात्मता ॥ ७ ॥

अतो—विकल्पसंविद एव तत्तत्संस्कारबलादविकल्पसंविद्रूपतया परि-स्फुरणाद्धेतोः, यद्भैरवीयं ज्ञानक्रियाख्यं संवित्स्वभावं तेजः तद्रूप एव 'अहमिति' भूयो भूयः अस्फुटत्वादिक्रमेण उद्गच्छत्स्फुटतमत्वाद्यापत्तिपर्यन्तेन परामृशतां तीव्रतीव्रशक्तिपातवतां महात्मनां, तस्य परामृश्यस्य संविदात्मकस्य भैरवीयस्य तेजसः स्फुटात्मता जायते--शांभवावेशवशेन तत्साक्षात्कारो भवतीत्यर्थः ॥७॥

ननु संविदः प्रमात्रेकरूपत्वात् परामर्शकत्वमेव युज्यते, न परामृश्यत्वं, तथात्वे ही नीलादिवत् अस्या जाड्यं प्रसज्येत ? इत्याशङ्कां दर्शयति

गुरुजनों की उक्ति है। कहा गया है "पारमार्थिक विकल्पावस्था में भी विज्ञ साधक लीन न रहे। चाहे शुभ हो या अशुभ, विकल्प तो विकल्प ही होता है।" इसलिये इसमें नहीं रमना चाहिये। अभ्यास करते हुए निर्विकल्पात्मक भाव प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है ॥ ६ ॥

इसी तथ्य को प्रस्तुत प्रसङ्ग में विनियोजित कर रहे हैं—

विकल्प संविद् के संस्कार से और अविकल्प संविद् रूप में क्रमशः स्फुरित होने से स्वात्म में ही ज्ञान क्रियात्मक संविद्रूप भैरवीय तेज का विमर्श होने लगता है। इस विमर्श में 'मैं स्वयं भैरव शिव हूँ' यह महानुभूति उदित होने लगती है। इससे अस्फुटता की स्थिति से क्रमशः ऊँचे उठते हुए स्फुटतम अवस्था को साधक प्राप्त कर लेता है। यहीं शाम्भव समावेश की आनन्द भूमि है। इसे ही प्रस्फुटित विमर्श भूमि का आवेश भी कहते हैं ॥ ७ ॥

प्रश्न है कि संवित् परामर्शमयी होती है। वह परामृश्य कैसे कही जा सकती है?

ननु संवित्परामृष्टो परामर्शमयी स्वतः ।
परामृश्या कथं ताथारूप्यसृष्टौ तु सा जडा ॥ ८ ॥

ताथारूप्येति परामृश्यत्वस्येत्यर्थः ॥ ८ ॥

एतदेव समाधत्ते

उच्यते स्वात्मसंवित्तिः स्वभावादेव निर्भरा ।
नास्यामपास्यं नाधेयं किंचिदित्युदितं पुरा ॥ ९ ॥

इह स्वात्मरूपा संवित् तावत् अतिरिक्तस्य अपेक्षणीयस्याभावात् स्वत एव निर्भरा नान्याकाङ्क्षेति, नित्योदितत्वात् अस्यां स्वात्मसंवित्तौ न किंचिदस्फुटत्वादि अपास्यं, नापि स्फुटतमत्वादि आधेयमिति पुरा— अनुपायाह्निके

'अत्र तावत्क्रियायोगो नाभ्युपायत्वमर्हति ।'

इत्यादिनोक्तम् । यदभिप्रायेणैव अतो बाह्यैरपि

'नापनेयमतः किंचित्प्रक्षेप्तव्यं न किंचन ।
द्रष्टव्यं भूततोद्भूतं भूतदर्शी विमुच्यते ॥'

इत्याद्युक्तम् ॥ ९ ॥

संविद् शक्ति तो प्रमातास्वरूप है। वह परामर्शक हो सकती है, परामृश्य नहीं। परामृश्य मानने पर नील आदि पदार्थों को तरह इसमें भी जाड्य दोष हो जायेगा। इस तथ्य का समाधान कर रहे हैं—

स्वात्म संवित्ति किसो की अपेक्षा नहीं रखती। वह स्वभाव निर्भर शक्ति है और नित्योदित है। इसमें कभी अस्फुटता आदि दोष या संकोच नहीं होते। इस लिए इससे किसी वस्तु का अपासन या इसमें किसी वस्तु का आधान नहीं किया जा सकता। अस्फुटता है ही न हीं तो हटाने का या नित्योदित होने से स्फुटतमत्व के आधान का प्रश्न ही नहीं उठता। अनुपाय नामक आह्निक में "यहाँ क्रिया योग उपाय नहीं हो सकता।" यह तथ्य पहले ही कहा गया है। इसी अभिप्राय से अन्य ग्रन्थकारों ने भी कहा है कि—

"इससे किसी वस्तु को हटाया नहीं जा सकता। न ही किसी वस्तु का इसमें प्रक्षेप हो सकता है। यह स्वतः पूर्ण, स्वतन्त्र और निरपेक्ष शक्ति है।

ननु यद्येवं तत् इयान् अस्फुटत्वादिरूपः संविदः कुतस्त्योऽयं स्फारः ? इत्याशङ्क्याह--

किं तु दुर्घटकारित्वात् स्वाच्छन्द्यान्निर्मलादसौ ।
स्वात्मप्रच्छादनक्रीडापण्डितः परमेश्वरः ॥ १० ॥

किं पुनर, असौ परमेश्वरः परः प्रकाशः-स्वरूपगोपनात्मकदुर्घटकारित्व-लक्षणात् शुद्धात् स्वाच्छन्द्यात् हेतोः, परप्रमात्रेकस्वभावस्यापि स्वात्मनः प्रच्छादनं--ग्राह्यग्राहकाद्युल्लासात्तथात्वेनाभासनं, सैव क्रीडा-प्रतिनियतफलाननुसंधानेन प्रवृत्तिः, तत्र पण्डितः--प्रवीण इत्यर्थः। इयमेव हि तस्य स्वातन्त्र्यरूपा मायाख्या शक्तिः—यदनावृतमपि स्वं रूपमावृतत्वेनैव आभासयति, यतोऽयमियान् ग्राह्यग्राहकाद्यात्मा भेदावभासः ॥ १० ॥

तदाह

अनावृते स्वरूपेऽपि यदात्माच्छादनं विभोः ।
सैव माया यतो भेद एतावान्विश्ववृत्तिकः ॥ ११ ॥

हमें केवल यह देखना चाहिए कि उत्पत्ति की यह परम्परा कैसी है ? यह भूत-भाव और उद्भूति भाव क्या है ? सत्ता के भूतभाव का दर्शन करने वाला विज्ञ पुरुष अवश्य ही विमुक्त हो जाता है" ॥ ८-९ ॥

यदि यही सत्य है तो यह अस्फुटादि से लेकर स्फुटतमादि स्फार कहाँ से सम्भव है ? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

वह पर प्रकाश परमेश्वर स्वात्म गोपन रूप दुर्घट कार्य भी करता है। वह स्वतन्त्र है, निर्मल है। अतः वह अपने रूप का प्रच्छादन भी करता है। ग्राह्य ग्राहक आदि रूपों में अभिव्यक्त होने वाले खेल का खिलाड़ी भी वही है। उसका यही पाण्डित्य है कि अनावृत स्वात्मसत्ता को आवृत की तरह आभासित करता है। उसका पाण्डित्य ही उसका स्वातन्त्र्य है। परमेश्वर की स्वातन्त्र्यमयी संविद् शक्ति में अस्फुटता से लेकर स्फुटतम होने तक की सारी प्रक्रिया भी स्वात्म क्रीड़ा का ही वैचित्र्य है ॥ १० ॥

सर्वतन्त्र स्वतन्त्र परमेश्वर का 'स्व' रूप आवृत नहीं हो सकता। इस पर भी वह स्वात्म को आवृत कर लेने में समर्थ है। इस तरह वह विश्वरूप में अवभासित होने लगता है। यहीं से द्वैत का मायामय आभास प्रारम्भ हो

एवमस्य विश्वरूपतयावभासनमेव द्वैतमुच्यते, यद्वशादयं दुरन्तः संसार-बन्धः, तदपासनायैव च अयं परामर्शो--यत् संविदेव पुनः पुनः परामृश्यमाना स्फुटतामियात् इति ॥ ११ ॥

तदाह

तथाभासनमेवास्य द्वैतमुक्तं महेशितुः ।
तदद्वयापासनेनायं परामर्शोऽभिधीयते ॥ १२ ॥

तत्द्वयापासनेति--कार्यकारणयोरभेदोपचारात् ॥ १२ ॥

ननु इह 'नहि भातमभातं भवति' इति सर्वेषामविवादः, देहनीलादि चेदं भेदेनावभासते, तत् कथमुक्तं 'तदपासनेन संविद एव अवभासो भवेत्' ? इत्याशङ्कामपाकर्तुं विकल्प-संस्क्रियानन्तर्येण अनुजोद्देशोद्दिष्टं तर्कतत्त्वमव-तारयति

दुर्भेदपादपस्यास्य मूलं कृन्तन्ति कोविदाः ।
धारारूढेन सत्तर्ककुठारेणेति निश्चयः ॥ १३ ॥

बन्धैककारणत्वात् दुष्टो योऽसौ ग्राह्यग्राहकाद्यात्मा भेदः, स एव दुरुन्मूल्यत्वात् पादपः, तस्य अस्य अनुभूयमानस्य, कोविदाः प्रत्यभिज्ञातस्वात्मानः,

---

जाता है। इसी से संसार का यह दुरन्त बन्धन मिलता है। बन्धन प्रदात्री शक्ति माया है। यह भेद, यह विश्व का व्यवहार और इसमें प्रवृत्ति की यह परम्परा अत्यन्त दुरन्त है। इसका निराकरण मात्र शैव परामर्श से ही सम्भव है। स्वयं संविद् ही परामृश्यमान होकर स्फुटतम अवस्था में पहुँचती है और निर्विकल्प संविदैक्य संभूति से साधक को संवलित कर देती है ॥ ११ ॥

इस प्रकार का आभासन ही द्वैत है। द्वैत भाव का अपासन ही अद्वैत सामरस्य का कारण है। कार्यकारण रूप भेदवाद में अभेद-अद्वय भाव का चिन्तन ही सत्-परामर्श है ॥ १२ ॥

सिद्धान्त है कि भात पदार्थ अभात नहीं होता। देह, नील, पीत भेद पूर्वक ही भासित होते हैं। यहाँ उक्त सिद्धान्त कैसे लागू होगा ? भेदभाव के अपासन से संविद् का अवभास होता है, यह कैसे माना जाय ? इन शङ्काओं के समाधान हेतु सत्तर्क प्रकरण की अवतारणा कर रहे हैं—

सन्—साक्षात्तत्त्वनिष्ठः, अत एव तर्कान्तरविलक्षणो योऽसौ परां कोटिं प्राप्तस्तर्कः—शुद्धविद्यांशस्पर्शपवित्रिताया बुद्धेरुदीयमानः स्वात्मप्रत्यभिज्ञापन-पररूपः स एव समुत्तेजितधारः कुठारः, तेन मूलम्—अख्यातिलक्षणं कारणमेव कृन्तन्ति, यथास्य पूर्णपरसंविन्मात्रख्यातेः पुनरुत्थानमेव न भवेत, इत्ययं निर्णयः, स एव हि महात्मनां देहाद्यालोचनेन यथायथमभ्यासातिशयात् विकल्पशुद्धि-मादधानः, परां काष्ठामुपागतः सन्, भावनात्मकतां यायात्, येन अस्फुटमपि संविद्रूपं स्फुटतामासादयेत् ॥ १३ ॥

अत आह

तामेनां भावनामाहुः सर्वकामदुघां बुधाः ।
स्फुटयेद्वस्तु यापेतं मनोरथपदादपि ॥ १४ ॥

यस्तर्कः, तां भावनामाहुः, इति विधीयमानलिङ्गानुवेधः तर्क एव हि परां काष्ठामुपगतो भावनेत्युच्यते, तदुक्तम्

'तदेव परमं ज्ञानं भावनामयमिष्यते ।' इति ।

ग्राह्य ग्राहक आदि अनन्त भेदात्मकता की वृत्ति ही जागतिक बन्धन प्रदान करती है। इसीलिये इसे दूषणमयी मानते हैं। इसका उन्मूलन वृक्ष की तरह कठिन है। इस लिये इस दूषित भेदवाद को पादप कहते हैं। कोविद पुरुष इसके मूल में ही कुठाराघात करते हैं। स्वात्मप्रत्यभिज्ञान सम्पन्न साधक प्रत्य-भिज्ञा द्वारा शुद्ध विद्यास्तरीय परामर्श से परिष्कृत सत्तर्क रूपी तीक्ष्णधार कुठार का प्रयोग करते हैं। दुर्भेद पादप की जड़ सत्तर्क के कुठार से कट जाती है। भेद का मूल अख्याति रूप कारण है। उसे ही काट डालते हैं। परिणामतः पूर्ण संवित् की ख्याति हो जाती है। फिर यह कटा पेड़ पनप नहीं पाता। यह निश्चय ही उनका सम्बल होता है। सतत अभ्यास से विकल्प शुद्ध हो जाते हैं। अस्फुटता की जगह स्फुटतम अवस्था से निर्विकल्प सामरस्य का महाभाव प्राप्त हो जाता है ॥ १३ ॥

गुरुजन उस सत्तर्क को भावना कहते हैं! यह कामधेनु है। यह इच्छा से भी अतीत वस्तु को स्फुट करने में समर्थ है। तर्क अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचता है तो भावना हो जाता है। कहा गया है कि,

अत एव एनामित्यन्वादेशेनास्य कथनं, तस्यां च परिनिष्पन्नायामभीप्सितफलावाप्तिर्भवेत् इत्युक्तं—सर्वकामदुघामिति, तदुक्तम्

'मुहूर्तादेव तत्रस्थः समाधिं प्रतिपद्यते।
तत्रापि च सुनिष्पन्ने फलं प्राप्नोत्यभीप्सितम् ॥' इति।

या भावनैव हि मनोरथादपि अपेतं—स्वतन्त्रविकल्पानामपि अविकल्प्यत्वादगोचरं, वस्तु—पारमार्थिकं परप्रमात्रेकलक्षणं संविद्रूपं, स्फुटयेत्—अविकल्पवृत्त्या साक्षात्कुर्यात्, यन्महिम्ना किं नाम न योगिनः सिद्धयेत् ॥ १४ ॥

अतश्च 'इदमेव उत्तमं योगस्याङ्गम्' इत्यस्मद्दर्शने उच्यते, इत्याह

श्रीपूर्वशास्त्रे तत्प्रोक्तं तर्को योगाङ्गमुत्तमम्।
हेयाद्यालोचनात्तस्मात्तत्र यत्नः प्रशस्यते ॥ १५ ॥
मार्गे चेतः स्थिरीभूतं हेयेऽपि विषयेच्छया।
प्रेर्य तेन नयेत्तावद्यावत्पदमनामयम् ॥ १६ ॥

यद्यपि

'प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ॥'

"वह परम ज्ञान भावनामय ही होता है।" इस उक्ति से अन्वादेश के माध्यम से कही गयी यह बात समर्थित होती है। यह भावना समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली कामधेनु है, कहा गया है कि,

"मुहूर्त्त मात्र भी उस उच्च स्तर पर विराजमान साधक यदि समाधिस्थ हो जाता है और यदि उसकी स्थिति सिद्ध हो तो वह अभिलषित की प्राप्ति कर लेता है।" इस उक्ति से भी भावना का महत्त्व स्पष्ट है। यह भावना मनोरथ की सीमा से भी दूर वस्तु को अर्थात् पारमार्थिक संविद् रहस्य को स्फुट कर देती है, अर्थात् अविकल्प दशा का साक्षात्कार करा देती है ॥ १४ ॥

इस लिये भावनारूपी तर्क को योग का उत्तम अंग कहते हैं—

"प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा, तर्क और समाधि इन छः अंगों वाले शास्त्र को योग कहते हैं।" इस उक्ति के अनुसार तर्क भी योग के अन्य

इत्यादिनीत्या तर्कस्य प्राणायामादिभिर्योगाङ्गत्वे साम्यं, तथापि हेयाद्यालोचनात् असौ उत्तममन्तरङ्गं योगस्याङ्गं, तर्केण हि 'इदं हेयम् इदमुपादेयम्' इति विचारयन् योगी झटित्येव तत्त्वज्ञो भवेत्, तदुक्तम्

> 'ऊहोऽन्तरङ्गं योगस्य तेन चाऽव्यवस्थितेः ।
> साधारणोऽप्यसौ मुक्तेर्भूयसोपकरोति हि ॥' इति ।

तथा

> 'स्वसिद्धान्ताविरुद्धेन यस्तर्केण विचारयेत् ।
> धर्मज्ञानापवर्गार्थं स तत्त्वं वेद नापरः ॥' इति ।

अतश्च—अत्रैव मुख्यया वृत्त्या यतितव्यम् इत्युक्तं 'तस्मात्तत्र यत्नः प्रशस्यते' इति, तत्र हि कृतप्रयत्नो योगी सांख्यादिशास्त्रान्तरोदिते हेये मोक्षोपायलक्षणे मार्गे 'ममेदमेव आकाङ्क्षणीयं तत्त्वम्' इत्याद्यभिमानोदयात् स्थिरीभूतमपि चेतः, तेन तर्केण प्रेर्य—ततो हेयान्मार्गात् पराङ्मुखीकृत्य, तावन्नयेत्—उपादेये मार्गे विश्रामयेत्, यावत् पदमनामयं—सर्वोत्तीर्णपरप्रकाशात्मतया प्रस्फुरेदित्यर्थः ॥ १५–१६ ॥

अत्र च विषमत्वात् स्वयमेव पदचतुष्टयं व्याचष्टे

मार्गोऽत्र मोक्षोपायः स हेयः शास्त्रान्तरोदितः ।
विषिणोति निबध्नाति येच्छा नियतिसंगतम् ॥ १७ ॥

अंगों के ही समान है फिर भी हेयोपादेय विज्ञान में उपयोगी होने के कारण इसे सर्वोत्तम कहा गया है। उक्ति है कि—

"योग का अन्तरङ्ग 'ऊह' होता है। इसलिए इस मार्ग के पथिक को सामान्य सा लगने वाला यह अङ्ग अत्यन्त उपकारी हो जाता है।" और भी "अपने सिद्धान्त के अनुकूल तर्क के माध्यम से जो विचार करता है, धर्म, ज्ञान और अपवर्ग रूप पुरुषार्थों के रहस्य को वही जानता है, दूसरा नहीं।" ऐसे योगाङ्ग समर्थक वाक्य हैं। इस लिये सत्तर्क रूपी हेयोपादेय विज्ञान में परम उपयोगी अङ्ग के माध्यम से साधनायत्न प्रशस्त होता है। इस लिए विषयासक्त पुरुष जो हेय में ही स्थित हो चुका होता है, उसको भी प्रेरित कर यह अनामय पद की प्राप्ति कर देता है ॥ १५–१६ ॥

रागतत्त्वं तयोक्तं यत् तेन तत्रानुरज्यते ।

शास्त्रान्तरोदितस्य मार्गस्य हेयत्वं प्रागेवोपपादितम्, इति नेह पुनरायस्तं 'षिञ् बन्धने' इत्यस्य विपूर्वस्य अचि विषयशब्दः, तेन विषयरूपा बन्धयित्री येयमिच्छा—'इदमेव मे स्यात्' इत्यादिरभिमानविशेषः, तया नियतिसंगतं रागतत्त्वमुक्तं सामान्येन, सर्वविषयमभिलाषमात्रं हि रागतत्त्वस्य रूपं, तदेव नियतविषयतयोद्यत् नियतितत्त्वस्य, इति तद्युक्तं रागतत्त्वमस्य अभिधेयम्, यत्—यस्माद्धेतोः तत्र नियतेः हेये मार्गे तेन रागेण चेतोऽनुरज्यते—स्थिरीभवेत् इत्यर्थः । ननु सर्वत्रैव अन्यत्र

> **'गुरुदेवाग्निशास्त्रस्य ये न भक्ता नराधमाः ।**
> **असद्युक्तिविचारज्ञाः शुष्कतर्कावलम्बिनः ॥**
> **भ्रमयत्येव तान्माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया ।, इति ।**

तथा

> **'हेतुशास्त्रं च यल्लोके नित्यानित्यविडम्बकम् ।**
> **वादजल्पवितण्डाभिर्विवदन्ते ह्यनिश्चिताः ॥**

साधक हेय और उपादेय के ऊहापोह में पड़कर जिस विषमता का अनुभव करता है, उसी के विषय में चार श्लोकों की अवतारणा कर रहे हैं—

अन्य शास्त्रों के अनुसार मोक्ष के उपाय हमारी दृष्टि से हेय हैं ? षिञ् बन्धन अर्थ में प्रयुक्त धातु है । इसमें वि उपसर्ग और अच् प्रत्यय लगाने से विषय शब्द निष्पन्न होता है । विषय की इच्छा संसार से बाँधती है । यह इच्छा नियति कञ्चुक से मिलकर राग तत्त्व बन जाती है । सभी विषयों को पाने की प्रबल लोलुपता इसमें होती है । राग से चित्त रंग जाता है । हेय मार्ग में ही वह स्थिर हो जाता है । दूसरी जगह तो सर्वत्र कहा गया है कि,

"गुरु, देव, अग्नि, और शास्त्र इनके प्रति श्रद्धा न रखने वाले अधम-कोटि के मनुष्य होते हैं । सत्य से परे की झूठी युक्तियों से भरे विचारों से प्रभावित, रूखे तर्कों का आश्रय लेने वाले, अमोक्ष में ही मोक्ष की भावना रखने वाले ऐसे लोगों को माया भ्रम में उलझे रहने के लिये विवश कर देती है ।" तथा

हेतुनिष्ठानि वाक्यानि वस्तुशून्यानि सुव्रते ।
ज्ञानयोगविहीनानि देवतारहितानि तु ॥
धर्मार्थकाममोक्षेषु निश्चयो नैव जायते ।
अज्ञानेन निबद्धानि त्वधर्मेण निमित्ततः ॥
निरयं ते प्रयच्छन्ति ये तत्राभिरता जनाः ।'

इत्यादिना भगवतास्य तर्कस्य निन्दां विदधता अधमत्वमवद्योतितम्, यदभिप्रायेणैव तद्वेदकस्य गुरोरपि परिहार्यत्वमुक्तम्, यदुक्तम्

'तार्किकं न गुरुं कुर्यात्.................. :' इति ।

तथा

'..................तार्किके वधबन्धनम् ।' इति ।

एतदनुवेधेनैव अभियुक्तैरपि

'वस्तुनिर्णयशून्याभिर्बोधिताभिः परस्परम् ।
अभिमानैकसाराभिर्जिह्मीमस्तर्कबुद्धिभिः ॥'

"लोक में नित्य अनित्य आदि विडम्बनापूर्ण मान्यता वाले जितने हेतुशास्त्र हैं, वे अनिश्चयपूर्ण हैं। ये वाद, जल्प और वितण्डा के चक्कर में पड़े रहते हैं। वे किसी कारण विशेष के लक्ष्य की सिद्धि में निष्ठा रख कर प्रवृत्त होते हैं। वस्तु शून्य, तथ्यविहीन, ज्ञान और योग की वास्तविकता से अलग, दिव्यशक्तियों के अनुग्रह से रहित हैं। उन्हें पुरुषार्थों का सही ज्ञान भी नहीं होता। अज्ञान से निबद्ध, अधर्म से प्रेरित ऐसे शास्त्रोंकी सरणी में फँसे हुए लोग नरक के ही भागी होते हैं।" इत्यादि उद्धरणों के द्वारा असत्तर्क की निन्दा ही की गयी है। उनको अधम ही कहा है। एक विशेष गुरु का निषेध भी किया गया है—"तार्किक विद्वन्मन्य को गुरु नहीं बनावे" तथा "............... तार्किक मान्यता में वध ही है और बन्धन भी है।" इस सत्य के अनुरोध पर ही आप्त गुरुजनों ने कहा है कि—

"वस्तुगत तथ्य की निर्णयात्मकता से शून्य, अभिमान मूलक, पारस्परिक विवाद बुद्धि से युक्त तार्किक ऊहापोहों से दूर ही रहना श्रेयस्कर है।" इसलिये इसे किसी अर्थ में उत्तम नहीं कहा जा सकता है। इस तरह यहाँ तर्क को हेय कहा गया है। जबकि श्लोक १५ में तर्क को उत्तम योगाङ्ग कहा गया है। फिर कौन बात मानी जाय ?

इत्याद्युक्तम्, तत् कथमस्य इहोत्तमत्वमुक्तम्, एवं हि श्रुतिविरोधः स्यात्, न च उभयत्रापि एकस्यैव प्रामाण्यकारणस्य सद्भावात् एकत्रापि अप्रामाण्यमुद्भावयितुं शक्यम्, इति किमत्र प्रतिपत्तव्यम्? विषयभेदोऽत्र प्रतिपत्तव्यो, येन सर्वं स्वस्थं स्यात्, द्विविधो हि तर्कः–कश्चिद्धि वस्तुनिर्णयशून्यश्छलादिप्रधानः परपराजयमात्रपर्यवसानो जल्पप्रायः, कश्चित् हेयोपादेयविवेककारितया वस्तुनिर्णयफलः छलादिशून्यो वादप्रायः, तत्राद्यस्य वस्तुनिर्णयशून्यत्वात् गर्हणीयत्वम्, अत एव

'..........................वस्तुशून्यानि...... ।' इति ।

तथा

'.........................निश्चयो नैव जायते ।'

इत्याद्युक्तम्, अत एव तद्वेदकानामपि वस्तुज्ञत्वाभावात् परिहार्यत्वमभिहितम्, यस्तु हेयाद्यालोचनेन वस्तुपरिशुद्धिमादधानो हेयमपहाय उपादेये विश्रामयेत् स परमुत्तमं योगस्याङ्गम्, इति न कश्चिद्दोषः, तत आस्माकः सत्तर्को, दर्शनान्तरीययस्त्वसत्तर्कः इति विभागः ॥ १७ ॥

इस पर विचार कर रहे हैं—तर्क दो प्रकार का होता है। १–वस्तुनिर्णय शून्य, छलादि प्रधान और दूसरे को हरा कर अपनी उत्कृष्टता सिद्ध करने वाला और २—हेयोपादेय विवेक पूर्ण वास्तविकता का निर्णायक, छल आदि से शून्य और वाद प्रधान तर्क। इसमें पहला तर्क वस्तुनिर्णय शून्य है। अतएव निन्दनीय है। इसीलिये "..........वस्तुनिर्णय से शून्य......... ।" तथा "......निश्चयहीन...होता।" तर्क को भ्रान्त कहा गया है।

वस्तुतः क्या हेय है और क्या उपादेय है? इस प्रकार आलोचना कर वस्तु शुद्धि के प्रति जो सावधान होता है और हेय का परित्याग कर उपादेय में विश्रान्ति प्राप्त करने में कारण बनता है, वही तर्क उत्तम योगाङ्ग कहा जा सकता है। इसलिये हम कह सकते हैं कि अद्वयशास्त्र प्रतिपादित तर्क ही सत्तर्क है। इसलिये उत्तम है। अवान्तर दर्शनों में प्रतिपादित तर्क असत्तर्क है। इसलिये निन्दनीय है ॥१७॥

ननु स्वार्थतत्परो लोकः स्वयमेव अनपेक्षितशास्त्रो हेयमपहातुमुपादेयं च उपादातुं प्रवर्तते, नहि बुभुक्षितस्याशने मलिनस्य वा स्नाने शास्त्रमुपयुज्यते, तत्किम् अत्र तर्केण ? इत्याशङ्क्याह

यथा साम्राज्यसंभोगं दृष्ट्वादृष्ट्वाथवाधमे ॥ १८ ॥
भोगे रज्येत दुर्बुद्धिस्तद्वन्मोक्षेऽपि रागतः ।

यथा खलु अज्ञः कश्चन—हेयोपादेयविवेकमजानानः, साम्राज्यसंभोगं सम्यगुपभोगयोग्यतया परिज्ञाय अपरिज्ञाय वा, अधमे—दुर्गतजनोपभोग्ये, भोगे रागतो रज्येत—चिरतरप्ररूढप्राक्संस्कारपरिपाकवशात् आसक्तो भवेत्, तथैव साक्षान्मोक्षमपहाय असन्मोक्षेऽपि, इति वाक्यार्थः, तेन हेयहानाय उपादेयोपादानाय च अवश्यं तर्कस्योपयोगः, इति युक्तयुक्तम् 'तर्को योगाङ्गमुत्तमम्' इति ॥ १८ ॥

ननु स्वभावत एवायं सर्वो जनस्तत्तद्दर्शनासक्तः स्यात् यदभिप्रायेण

'रिक्तस्य जन्तोर्जातस्य कार्याकार्यमपश्यतः ।
विलब्धा वत केनामी सिद्धान्तविषमग्रहाः ॥'

प्रश्न है कि अपने स्वार्थ में लगा लोक शास्त्र की अपेक्षा को बिना ही हेय को छोड़ता और उपादेय को अङ्गीकृत करता है । भूखे के भोजन और मलिन के नहाने आदि में शास्त्र उपयोगी नहीं । फिर इस मार्ग में तर्क की क्या उपयोगिता है ? इसका समाधान कर रहे हैं—

एक अज्ञ व्यक्ति है । वह हेय और उपादेय विज्ञान से अपरिचित है । वह देखता है—सम्राट् सामाज्य का उपभोग कर रहा है । देख देख कर वह उस आकर्षक भोगवाद में आसक्त हो जाता है । उसे कोई बुद्धिमान् नहीं कह सकता । उसी प्रकार सांसारिक भोग में रागानुरक्त पुरुष की तरह मोक्ष में भी यदि राग हुआ और इसमें कोई साधक आसक्त हुआ तो उसे सुबुद्ध कैसे कहा जा सकता है ? वह साक्षात् मोक्ष की महानुभूति से दूर असत् मोक्ष में ही रागानुरक्त हो जाता है । इसलिये हेय के ज्ञान और उपादेय के उपादान के लिये तर्क का अनिवार्य उपयोग है । तभी तर्क को उत्तम योगाङ्ग कहा गया है ॥१८॥

यह तो नितान्त स्वाभाविक है कि वस्तु को देखने पर उसमें आकर्षण हो, अनुराग हो । इसी अभिप्राय से—

इत्यादि अन्यत्रोक्तं, तत् तदुचित एव मोक्षोऽपि अस्य भवेत्, इति कोऽयं रागो नाम ? इत्याशङ्कयाह

स एवांशक इत्युक्तः स्वभावाख्यः स तु स्फुटम् ।। १९ ।।
सिद्धचङ्गमिति मोक्षाय प्रत्यूह इति कोविदाः ।

स—राग एव हि 'स्वभावाख्योंऽशक' इत्यागमेषूक्तम्, तथाहि श्रीस्वच्छन्दशास्त्रे

'अंशकं षड्विधं देवि कथयाम्यनुपूर्वशः ।' इत्युपक्रम्य
'भावांशकः स्वभावाख्यः पुष्पपातांश एव च ।' इत्युद्दिश्य
'स्वभावश्च भवेच्चेष्टा कथयाम्यनुपूर्वशः ।
ब्रह्मांशो वेदभक्तस्तु रुद्रांशं च निबोध मे ।।
रुद्रभक्तः सुशीलश्च शिवशास्त्ररतः सदा ।'

इत्यादिना असौ लक्षितः । ननु यद्येवं तत् सर्वोऽयं जनः स्वाभावशादेव स्वोचितं मोक्षमासादयेत्, इति को नाम अस्य हेयोपादेयविभागः ? इत्याशङ्कयाह 'स तु' इत्यादि, स—एवंविधः स्वभावः पुनः स्फुटम्

'पौरुषं चैव सांख्यानाम्..................।'

इत्याद्यागमप्रमाणसिद्धत्वेन अपरिम्लानतया तत्त्वोचितभोगात्मिकायाः सिद्धेरङ्गमपि

"रिक्त, कार्य अकार्य के विवेक से शून्य सांसारिक प्राणी पता नहीं कैसे इन सैद्धान्तिक विषम आकर्षणों में फँस जाते हैं ।" यह कहा गया है। यदि मोक्ष में भी यह आकर्षण हो तब तो यह उचित ही है। यह राग क्या वस्तु है ? इस पर अपना विचार प्रकट कर रहे हैं—

वह राग ही है जिसे शास्त्रों ने स्वभाव और अंशक नाम दिये हैं। स्वच्छन्द शास्त्र के अष्टम पटल के १–४ श्लोकों में भावांशक, स्वभावांश, पुष्पपातांश, मन्त्रांश, सहजांश आदि रूपों में व्यक्त किये गये हैं ? बीच में यह प्रश्न उठता है कि यदि स्वभावतः सभी मोक्ष पा सकें तो इस हेयोपादेय विज्ञान की क्या आवश्यकता ? इसका उत्तर है कि यह स्वभावगत बात है— "सांख्यवादियों का स्वभाव पुरुष के प्रति है।" आगम प्रमाण सिद्ध तथ्य के

'स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ।'
(यो० सू० ३-५१)

इत्याद्युक्तिवन्मोक्तुं विघ्न इत्यागमज्ञाः एवंस्वभावो हि तत्तत्त्वावाप्तिलक्षणां सिद्धिमेव मुक्तिमभिमन्यते, इति मुक्त्याभासरूपायां हेयायां तस्यामेव विश्रान्तः ॥ १९ ॥

एवमेवंस्वभावत्वादेव साक्षान्मोक्षोपायमपहाय अन्यत्रासक्तो भवेत्, इत्याह

शिवशासनमाहात्म्यं विदन्नप्यत एव हि ॥ २० ॥
वैष्णवाद्येषु रज्येत मूढो रागेण रञ्जितः ।

ननु असौ साक्षान्मोक्षोपायतया शिवशासनस्य प्रभावातिशयं चेज्जानीते किमित्यन्यत्र आसक्तो भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

प्रति सजग रहना योगी का कर्त्तव्य है। प्रत्येक तत्त्व के भोगात्मक आकर्षण बड़े प्रबल होते हैं। योगसिद्ध को सिद्धि के ये अङ्ग भी विघ्न प्रद हो जाते हैं। पातंजल योग सूत्र ३।५२ के अनुसार 'देवपद प्राप्त योगिजन भी साधक के मन में सङ्ग और स्मय पैदाकर भोग के प्रति उपनिमन्त्रित करते हैं'। इससे अनिष्ट की सम्भावना रहती है।" यह सब मोक्ष के विघ्न हैं। अपक्व स्वभाववान् विशिष्ट व्यक्ति भी प्राप्ति रूप सिद्धि को ही मुक्ति मान लेता है। परिणामतः मुक्त्याभासरूप हेय दशा में ही विश्रान्त रह जाता है और मुख्य लाभ से वंचित रह जाता है ॥ १९ ॥

यही कारण है कि अधिसंख्य विज्ञ साधक भी राग रंजित होकर तथा वैष्णव आदि आवतारिक आकर्षणों में आसक्त होकर मोक्षाभास को ही मोक्ष मानने लग जाते हैं। यह नहीं है कि ये शैवागम के साक्षात् रहस्योपाय से परिचित नहीं हैं। राग से रंजित होना एक प्रकार की मूढता है। इस मूढ़ता में जानकार लोग भी फँस जाते हैं। इसमें सावधानी आवश्यक है ॥२०॥

शिवशासन के साक्षात् मोक्षोपाय के प्रभावातिशय को जानते हुए भी अन्यत्र आसक्त होने के कारण के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त कर रहे हैं—

यतस्तावति सा तस्य वामाख्या शक्तिरैश्वरी ॥ २१ ॥
पाञ्चरात्रिकवैरिञ्चसौगतादेर्विजृम्भते ।

तावतीति — तत्तन्नियतसिद्धिमात्रप्रदे, वामाख्येति

'वामा संसारवमनात्……………।'

इत्याद्युक्त्या संसाराविर्भाविका तिरोधानशक्तिरित्यर्थः, वैरिञ्चाः ब्रह्मवादिन ॥ २१ ॥

ननु शिवशासनमाहात्म्यमजानन् चेदन्यत्र आसक्तो भवेत् तत् भवतु नाम, को दोषो, जानन् पुनः कथमेवम् ? इत्याशङ्क्याह

दृष्टाः साम्राज्यसंभोगं निन्दन्तः केऽपि बालिशः ॥ २२ ॥
न तु संतोषतः स्वेषु भोगेष्वाशीः प्रवर्तनात् ।

इह खलु केऽपि बालिशप्राया अत्युत्कृष्टतया स्पृहणीयत्वेन परिज्ञायापि साम्राज्यसंभोगं बालिशत्वादेव निन्दन्तो दृष्टाः, न पुनः संतुष्टत्वात्, तेषां हि भोगाभिलाषस्य दूरापास्तत्वात् तन्निन्दायामौचित्यमित्याशयः, बालिशानां पुनः संतोषस्तावन्नास्ति, यतः—स्वेषु अधमेषु भोगेष्वपि 'पुनः पुनरेतत् स्यात्'—इत्येवंरूपमाशीर्वादं प्रवर्तयन्ते — भोगाभिलाषस्यानपास्तत्वात्, एवं

यह सब परमेश्वर की वामा शक्ति की क्रीड़ा है। "संसार का वमन करने के कारण यह शक्ति वामा कहलाती है।" ऐसी वह वामेश्वरी देवी उन-उन विशिष्ट सिद्धि के मार्गों में ही अग्रसर कर देती है। पाञ्चरात्र नय, ब्रह्मवाद और सौगतादि इसी मार्ग के अधूरे पड़ाव हैं ॥२१॥

प्रश्न है कि शैवाद्वयवाद के वैशिष्ट्य से अपरिचित व्यक्ति ऐसा हो जाय, यह तो स्वाभाविक सा लगता है पर जानकार विभ्रान्त हो, यह कुछ अटपटा-सा प्रतीत होता है ! इसी पर कह रहे हैं—

यहाँ ऐसे पुरुष हैं जो बुद्धिक्षेत्र में बालक हैं। वे साम्राज्य सुख के भोग-विलास की निन्दा करते हैं। इसे उनका बालकपन ही कहा जा सकता है। यदि सन्तोष है और परम संतुष्टि में ऐसा कहते हैं तब तो वे साधिकार ऐसा कह सकते हैं। सामान्य लोग तो अपने सामान्य कार्य में भी आशीर्वाद और ईश्वर

विदन्तोऽपि शिवशासनमाहात्म्यं मूढाः तन्निन्दामारभमाणा अन्यत्रासक्ता दृश्यन्ते, यद्वशात् तेषां वामाधिष्ठितत्वात् पुनः पुनः संसारे एव निमज्जनं भवेत् ॥ २२ ॥

तदाह

एवंचिद्भैरवावेशनिन्दातत्परमानसाः ॥ २३ ॥
भवन्त्यतिसुघोराभिः शक्तिभिः पतिता यतः ।

अतिसुघोराभिरिति

'विषयेष्वेव संलीनानधोधः पातयन्त्यणून् ।'

इत्यादिलक्षिताभिः घोरतर्यभिधानाभिरपराभिरित्यर्थः ॥ २३ ॥

अत एव च अस्य मूढजनस्य संसारादुन्मज्जनमेव नास्ति, इत्याह

तेन शांभवमाहात्म्यं जानन्यः शासनान्तरे ॥ २४ ॥
आश्वस्ता नोत्तरीतव्यं तेन भेदमहार्णवात् ।

आश्वस्तहृदयत्वात् तन्निष्ठो, न पुनः

'अन्तः कौलो बहिः शैवो लोकाचारे तु वैदिकः ।'

की कृपा का प्रवर्त्तन करते हैं। ऐसे लोग वस्तुतः मूढ़ ही हैं, जो शैवशासन के माहात्म्य को जानते हुए भी अन्यत्र आसक्त होते हैं। ऐसे लोग वामो विमुग्ध हैं और आवागमन के शिकार हैं।।२२।।

इस प्रकार चिद् भैरव समावेश की निन्दा में ही ये लोग जुट जाते हैं। "विषयों में संलग्न पुद्गल अणु पुरुषों को माया रूप अपरा घोरा शक्तियाँ नीचे और नीचेही गिराया करती हैं।" इस उक्ति के अनुसार पतन के प्रतीक अत्यन्त क्षुद्र लोकों में भेजने का कार्य ये घोर और घोरतर शक्तियाँ करती रहती हैं ॥ २३ ॥

शाम्भव समावेश के माहात्म्य को जानते हुए भी अन्य शासनों में आश्वस्त होकर उसी में अपनी निष्ठा रखने वाले लोग भेद समुद्र में डूब जाते हैं। लहरों से उबर नहीं पाते।

"भीतर से कौल, बाहर से शैव और लोकाचार की दृष्टि से वैदिक

इत्यादिनोक्त्या लोकसंग्रहरक्षापरत्वेन उत्तानतया, इति नास्य संसारार्णवादुत्तारः स्यात्—तदन्तरेव उन्मज्जननिमज्जनानुभवस्याविच्छेदात् ॥ २४ ॥

न च एतदस्माभिः स्वोपज्ञमेवोक्तमित्याह

श्रीकामिकायां प्रोक्तं च पाशप्रकरणे स्फुटम् ॥ २५ ॥

तदेव पठति

वेदसांख्यपुराणज्ञाः पाञ्चरात्रपरायणाः ।
ये केचिदृषयो धीराः शास्त्रान्तरपरायणाः ॥ २६ ॥
बौद्धार्हताद्याः सर्वे ते विद्यारागेण रञ्जिताः ।
मायापाशेन बद्धत्वाच्छिवदीक्षां न विन्दते ॥ २७ ॥

धीराः—वेदादिविषय एव स्थिरप्रज्ञाः, शास्त्रान्तरं वेदान्तादि, विद्या च रागश्चेति समाहारे द्वन्द्वः, विद्या चात्र रागशब्दसंन्निधेरशुद्धविद्योच्यते, अत एव वेदादिशास्त्रनिष्ठा मायान्तःपातात् तदुत्तीर्णं शैवं ज्ञानं न लभन्ते, इत्युक्तम् 'मायापाशेन बद्धत्वाच्छिवदीक्षां न विन्दते।' इति ॥ २६–२७ ॥

पूर्वं च यदस्माभिः श्रीपूर्वशास्त्रीये संवादग्रन्थे विषयेच्छाशब्देन वेदादिशास्त्रान्तरोदिते मोक्षोपाये अभिष्वङ्गप्रदं नियतितत्त्वोपेतं रागतत्त्वं व्याख्यातं, तत् न निर्मूलम्, इत्यभिद्योतयितुम् अत्रत्यमपि रागशब्दं व्याचष्टे

रहते हुए लोक संग्रह परायण होकर ऊर्ध्व गतिशीलता का दृष्टिकोण नहीं अपनाते, इस आवागमन चक्रमय महासमुद्र में ही डूबते उतराते रहते हैं ॥ २४ ॥

अन्य आगम भी यही कहते हैं—

श्रीकामिक शास्त्र के पाश प्रकरण का उद्धरण देकर अपनी बात का समर्थन कर रहे हैं। वहाँ लिखा है कि वेद सांख्य पुराण के विज्ञ, पाञ्चरात्र सिद्धान्तवादी विद्वान्, उन शास्त्रों में अभ्यास के बल से स्थितप्रज्ञ ऋषि, वेदान्त आदि निष्ठ पुरुष, बौद्ध और जैन आदि सभी अशुद्ध विद्या और राग से ही रंजित हैं। परिणामतः ये मायापाश से बद्ध हैं। ये शैवी दीक्षा नहीं प्राप्त कर पाते। फलतः इसी मायामहार्णव के मीन बनकर रह जाते हैं ॥ २५–२७ ॥

रागशब्देन च प्रोक्तं रागतत्त्वं नियामकम् ।
मायीये तच्च तं यस्मिञ्छास्त्रे नियमयेदिति ।। २८ ।।

अत्र च रागशब्देनेति—वक्ष्यमाणेन हेतुना, नियामकं रागतत्त्वमुक्तमिति समन्वयः, नियामकमिति नियत एव कस्मिश्चिद्विषयेऽभिष्वङ्गदमित्यर्थः, यतस्तद्रागतत्त्वं तस्मिन्नियते मायीये शास्त्रे वेदादौ, तं मूढं जनं नियमयेत् 'इदमेव ममाकाङ्क्षणीयम्' इति संकुचितत्वेनावस्थापयेत्, यद्यपि सामान्येन सर्वविषयाभिलाषमात्रमयत्वं नाम रागतत्त्तस्य स्वरूपं तथापि नियतविषयोपारोहमन्तरेण तत् नाभिव्यक्तिमियात्, इत्यवश्यमेव तन्नियतितत्त्वमाक्षिपेत्, इति युक्तमुक्तं 'रागतत्त्वं नियामकम्' इति ।। २८ ।।

ननु प्राप्तेऽपि वैष्णवादिशास्त्रान्तरोदिते मोक्षे किमिति नाम अयं जनः संसारात् नोन्मज्जति ? इत्याशङ्क्याह

मोक्षोऽपि वैष्णवादेर्यः स्वसंकल्पेन भावितः ।
परप्रकृतिसायुज्यं यद्वाप्यानन्दरूपता ।। २९ ।।

इसके पहले विषय और इच्छा आदि शब्दों द्वारा अन्य शास्त्रीय मोक्षोपाय के प्रसङ्ग में आसक्तिप्रद नियति युक्त रागतत्व की व्याख्या की गयी है। वह निर्मूल नहीं है। यही कह रहे हैं—

यहाँ पर राग शब्द नियामक राग तत्त्व के रूप में प्रयुक्त है। नियामक का तात्पर्य है किसी नियत विषय में आसक्ति-प्रद। यही कारण है कि नियत राग मायीय वेदादि शास्त्रों में मूढ़जनों को आकृष्ट कर लेता है। यद्यपि सभी विषयों की इच्छा राग का विषय है, पर किसी निश्चित विषयगत प्रवृत्ति में ही यह अंकुरित दीख पड़ती है। अतः राग शब्द के कथन के साथ ही किसी निश्चित विषय की उपस्थिति ज्ञात-सी हो जाती है। ऐसा रागतत्त्व नियति युक्त होता है ॥२८॥

प्रश्न है कि वैष्णवादिशास्त्रोदित मोक्ष की उपलब्धि हो जाने पर संसार से वे उन्मुक्त क्यों नहीं होते ? यही कह रहे हैं—

आत्म संकल्पित भावनावश मोक्ष की विभिन्न परिभाषायें की जाती हैं। जैसे वैष्णव कहता है कि 'पर प्रकृति सायुज्य ही मोक्ष है'। ब्रह्मवादी कहता है—

विशुद्धचित्तमात्रं वा दोपवत्संततिक्षयः ।

स सवेद्यापवेद्यात्मप्रलयाकलतामयः ॥ ३० ॥

यः खलु वैष्णवादीनां मते मोक्षः, सोऽपि अस्मद्दर्शने प्रलयाकलतामयः इति सम्बन्धः, तत्र वैष्णवानां 'परप्रकृतिसायुज्यं मोक्षः' तन्मते हि भगवद्वासुदेवाभिधानस्य महाविभूतेश्चेतनाचेतनविधातृत्वात् परप्रकृतिरूपस्य परस्य ब्रह्मणः स्वस्वभावात् क्रमविचित्रतया तथा तथाभावनात् विश्वरूपतयानेकात्मनोऽपि

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ।'

इत्यादिश्रुतेः तत्त्वज्ञानाभ्यासात् परिशुद्धसंविद्रूपैकतत्त्वाव्यभिचारात् अनैक्यस्यापारमार्थिकत्वात् उपशान्तविकारग्रन्थेरैक्यात्मावगमो मोक्षः, यत् श्रुतिः

'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।' इति ।

'....ततः सर्गो बुदबुदत्वेनाभिव्यज्यते' । इति च ।

आनन्दरूपता ही मोक्ष है । विज्ञानवादी विशुद्ध चित्त मात्र को ही मोक्ष मानता है । वैभाषिकों के अनुसार दोपवत् कर्म संततिक्षय ही मोक्ष है । ये मुख्यतः ४ पक्ष हैं । इनमें पहले दो हमारे दर्शन के अनुसार सवेद्य प्रलयाकल और शेष दो पक्ष अपवेद्य प्रलयाकल अवस्था की अनुभूतियाँ हैं ।

वैष्णव पक्ष—वैष्णव मत के अनुसार 'परप्रकृति से सायुज्य ही मोक्ष है । भगवान् वासुदेव की महाविभूति ही परप्रकृति है । ब्रह्म का यह 'स्व' भाव है । क्रम विचित्रता के सिद्धान्त के अनुसार विश्वरूपता की भावना उसमें होती है । वह एक है । 'एक ही वह अद्वितीय ब्रह्म है ।' इस श्रुति के तत्त्वज्ञान के अभ्यास से परिशुद्ध संविद्रूप एक तत्त्व में कोई विकार नहीं अनुभूत होता है । अनैक्य हमेशा अपारमार्थिक होता है । विकार की गाँठ के खुल जाने पर अविकार ऐकात्म्य का अवगम होता है । यह अवगम ही मोक्ष है । श्रुति कहती है—'ब्रह्म का चतुर्थांश विश्व और तीन चौथाई अमृत है । वह द्युलोक है । वह स्पर्शरहित पुरुष ही है । सायुज्य उसी की शक्ति से होता है ।

"..........सर्ग बुद्बुद की तरह अभिव्यक्त होता है ।"

इस श्रुतिवचन से भी वैष्णव सायुज्य सिद्ध होता है ।

ब्रह्मवादिनाम् 'आनन्दरूपता मोक्षः' तन्मते हि संसारदशायामविद्यावरणवशेन अनुभूयमानस्य आत्मनः

'आत्मा श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।'

इत्यादिश्रुतेः तत्त्वज्ञानाभ्यासादविद्यावरणापगमे निरवधिकनिरतिशयस्वप्रकाशनैसर्गिकानन्दसुन्दरतया संवेदनं मोक्षः यत् श्रुतिः

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ।' इति ।

विज्ञानवादिनां विशुद्धचित्तमात्रं मोक्षः' तन्मते हि स्वभावतः प्रभास्वरस्वरूपस्य चित्तसंतानस्यानाद्यविद्याबलात् रागादिभिरागन्तुकैर्मलैरावृतत्वेऽपि नैरात्म्यादिभावनाभ्यासात् तत्तदागन्तुकमलप्रहाणेन आश्रयपरावृत्तिबलादविनश्वरज्योतोरूपस्वस्वरूपसाक्षात्कारो मोक्षः, यदाहुः,

प्रभास्वरमिदं चित्तं प्रकृत्यागन्तवो मलाः ।
तेषामपाये सर्वार्थं तज्ज्योतिरविनश्वरम् ॥' इति ।

ब्रह्मवादी पक्ष—ब्रह्मवादी विद्वान् आनन्दरूपता को ही मोक्ष कहते हैं। इनके अनुसार संसार की अवस्था में अविद्या का आवरण आत्मा पर छा जाता है।

"आत्मा श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है।" इस श्रुति के अनुसार तत्त्वज्ञान के श्रवण, मनन और निदिध्यासन के अभ्यास से अविद्या के आवरण का निराकरण हो जाता है। फलतः शाश्वत, निरतिशय, स्वप्रकाश, नैसर्गिक आनन्द के अनिवर्चनीय अनिन्द्य सौन्दर्य का संवेदन होने लगता है और यही मोक्ष है। श्रुति कहती है—

"विज्ञान और आनन्द ही ब्रह्म है।" आनन्द में सायुज्य भाव पुलकित होता है। इस तरह आनन्दवादी सायुज्य भाव को 'मोक्ष कहते हैं।'

विज्ञानवादी पक्ष—विज्ञानवादियों के अनुसार विशुद्ध चित्तमात्र ही मोक्ष' है। चित्त की चिन्तन परम्परा में आदिविद्या के प्रभाव से राग आदि आगन्तुक मलों से आवृत रहने पर भी नैरात्म्य आदि की भावना के बल से आगन्तुक मलों का निराकरण प्रारम्भ हो जाता है। इसे आश्रयपरावृत्ति[1] कहते हैं। इसमें एक अविनश्वर ज्योति रूप से स्वात्म का साक्षात्कार हो जाता है।

---

१. श्रीतन्त्रालोक आ-१।३३

वैभाषिकाणां 'दीपवत् संततिक्षयो मोक्षः । तन्मते हि क्लेशकर्मादिहेतु-समुत्थं तत्फलरूपं रूपादिस्कन्धपञ्चकम्, इति तदुभयात्मायं संसारः यदाहुः

'हेतुफले संसारः ।' इति ।

मोक्षः पुनर्दीपस्य यथा स्नेहादिकारणक्षयात् पुनरुत्पादायोगात् निरोधः, तथैव नैरात्म्यादिभावनाभ्यासात् क्लेशकर्मादिप्रहाणेन रूपादीनां पञ्चानामपि स्कन्धानाम् इति, यदाहुः

'दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
देशं न कंचिद्विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥'
'योगी तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
देशं न कंचिद्विदिशं न कांचित् क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥' इति ।

यह साक्षात्कार ही मोक्ष है। कहते हैं कि—"चित्त स्वभावतः प्रभास्वर होते हैं। मल प्रकृति से या अविद्या से ही आते हैं। उनके अपाय की अवस्था में अविनश्वर ज्योति का साक्षात्कार हो जाता है और यही मोक्ष है।

वैभाषिक पक्ष—दीप की तरह संतति क्षय ही मोक्ष है। यह है वैभाषिकों का सिद्धान्त। क्लेश रूप कर्म के फलस्वरूप होने वाले रूप आदि स्कन्ध-पञ्चक उत्पन्न होते हैं। इस तरह यह जगत् "हेतु और फल ही संसार है" इस उक्ति के अनुसार उभयात्मक सिद्ध होता है। जिस तरह दीपक तेल और वर्त्तिका रूप कारण के क्षय होने पर स्वतः अनुत्पन्न होता है और अपने आप उसका निरोध हो जाता है, उसी तरह नैरात्म्य भावना के अभ्यास क्लेशकर्मादिके क्षय होने पर रूप आदि स्कन्ध पञ्चक भी स्वतः समाप्त हो जाते हैं।

५ स्कन्ध—१—रूप २—वेदना, ३—संज्ञा, ४—संस्कार और ५—विज्ञान रूप हैं। ये सभी दुःख हैं। कहा गया है कि,

"जैसे दीप बुझ जाने पर न तो पृथिवी पर और नहीं अन्तरिक्ष पर अपना प्रकाश फैला सकता है। न देश में न दिशा में ही कहीं कुछ कर सकता है। तेल के चुक जाने पर केवल शान्ति पा लेता है, उसी तरह योगी भी निर्वृतिकी अवस्था में क्लेश के क्षय हो जाने पर केवल शान्ति प्राप्त कर लेता है"।

प्रलयाकलानां 'सवेद्यापवेद्यात्मेति' विशेषणोपादाने च अयमभिप्रायः- अत्राद्ये पक्षद्वये ब्रह्मण आनन्दमयत्वात् स्वात्मपरामर्शकतया सवेद्यप्रलया कलप्रायत्वम्, इतरत्र पुनरेकस्य नित्यस्य कस्यचिद्वेदकस्य अनभ्युपगमात् अपवेद्यप्रलयाकलप्रायत्वम्, पाशचतुष्टयस्य अस्य पक्षान्तरोपलक्षणत्वात् अक्षपाद-मतादावात्मनः सर्वगुणोच्छेदात्मनि अपवर्गेऽपि अपवेद्यप्रलयाकलप्रायत्वमेवाव-सेयम्, प्रलयाकलानां च मलद्वयावशेषात् संसारकारणस्याप्रक्षयात् संसारित्वमेव, इति--एतत्प्रायस्य मोक्षस्यापि हेयत्वमुक्तम्, एवं च व्यर्थ एव तैस्तत्तत्तत्त्व-प्रलयात् स्वारसिक्यामपि प्रलयाकलतायां यत्नः कृतः इति भाव.। अत एव 'स्वसंकल्पेन भावितः' इत्यनेन च अस्य पक्षचतुष्टयस्य काल्पनिकत्वात् अवास्तवत्वं प्रकाशितम् ॥ २९–३० ॥

उक्त चार साम्प्रदायिक अनुभूतियों के साथ शिवाद्वयवादकी प्रलयाकल दशा के अनुभवोंको मिलाकर देखा जा सकता है। जहाँ स्वात्म परामर्शकता रहती है वहाँ सवेद्य प्रलयाकलता होती है और जहाँ कोई एक भी वेदक नहीं होता वहाँ अपवेद्य प्रलयाकलता होती है। उक्त ४ पक्षों में से पहले दो ये स्वात्म-परामर्श की आनन्दमयता के ही उल्लास हैं। अतः यह वेद्य प्रलयाकलता का आकलन है। शेष दो पक्षों में नैरात्म्य और निर्वाण में स्वात्मपरामर्श शून्यता की स्थिति है। अतः यहाँ अपवेद्य प्रलयाकलता का आकलन है। अर्थात् उक्त चारों मोक्ष की परिभाषायें यह संकेत करती हैं कि इन्हें माया मोक्ष लिप्सा से अमोक्ष में ही भ्रान्त करती है।

जहाँ तक उपलक्षण वश अक्षपाददर्शन के मोक्ष की परिभाषा का प्रश्न है—वे मानते हैं कि आत्मा से सभी गुणों के उच्छिन्न हो जाने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह गुणों की उच्छिन्नता स्वात्मपरामर्श के अन्तर्गत आती है। प्रलयाकल अवस्था में अभी दो मल रह जाते हैं। संसार के कारण अभी अवशिष्ट रहते हैं। इसलिये इस अवस्था में मोक्ष की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। इस प्रकार का मोक्ष भी हेय श्रेणी में ही आता है। यह भी कहा जा सकता है कि इन लोगों ने स्वारसिक प्रलयाकलता में जो उक्त यत्न किये हैं ये सारे यत्न निष्फल हैं। ये सभी काल्पनिक पक्ष हैं और अवास्तविक हैं परिणामतः ये लोग मोक्ष से वंचित रह जाते हैं ॥२९-३०॥

ननु इह 'बन्धप्रक्षयो नाम मोक्षः' स च

'…………अन्धात्तैमिरिको वरः।'

इतिन्यायेन त्रिमलबद्धं सकलमपेक्ष्य द्विमलबद्धस्य प्रलयाकलस्य वृत्तः—इति किमिति नामास्य तत्प्रायस्यापि मोक्षस्य एकान्ततो हेयत्वम्? इत्याशङ्क्याह

तं प्राप्यापि चिरं कालं तद्भोगाभोगभुक्ततः।
तत्तत्त्वप्रलयान्ते तु तदूर्ध्वां सृष्टिमागतः॥ ३१॥
मन्त्रत्वमेति संबोधादनन्तेशेन कल्पितात्।

वैष्णवादिः खलु अयं जनः, तं--प्रलयाकलप्रायं मोक्षं चिरं कालमासाद्यापि प्रलयाकलसंबन्धिमोहादिरूपभोगाभोगभुक् सन्, समनन्तरं तस्य प्रलयाकलभोगभूमेर्मायादेस्तत्त्वस्य प्रलयान्ते, पुनः सृष्टिप्रारम्भे

'…………प्रबुध्यन्ते मन्त्रत्वाय भवाय।'

इत्यादिनीत्या आयातशक्तिपातत्वे सति अनन्तेशेन कृतात् ज्ञानक्रियोत्तेजनलक्षणात् संबोधात्, तदूर्ध्वां—मायोपरिवर्तिनीं शुद्धां सृष्टिं प्राप्तः सन्

प्रश्न है कि 'बन्ध के प्रक्षय को ही मोक्ष' कहते हैं। वह भी 'अन्धे से तैमिरिक अच्छा है' इस उक्ति के अनुसार तीन मलों से बद्ध सकल की अपेक्षा दो मलों से बद्ध प्रलयाकल को ऐसा मोक्ष लाभ हो रहा है। ऐसे मोक्ष को सर्वथा हेय कहने का क्या कारण है? इस आशङ्का का उत्तर दे रहे हैं—

इस प्रलयाकल स्तरीय मोक्ष को पाकर भी, चिरकाल पर्यन्त इसका आनन्द लेकर भी, जो भोग प्रलयाकल भोगता है, जिस प्रकार का सुख दुःख वह अनुभव करता है, वैसा ही स्वयम् अनुभव करता हुआ वैष्णव वर्ग भी माया भूमि के प्रलयसात् होने पर अनन्तेश द्वारा प्रलयाकल स्तर से ऊर्ध्व-स्तरीय मन्त्र आदि पद पर आसीन होता है। कहा गया है कि पुनः सृष्टि होने पर "……केवल मन्त्रत्व प्राप्ति के लिए प्रबुद्ध हो उठते हैं।" इस उक्ति के अनुसार शक्तिपात की स्थिति में अनन्तेश भट्टारक उसकी ज्ञान प्रक्रिया और क्रिया-प्रक्रिया को उत्तेजित करते हैं। परिणामतः उन्हें माया के स्तर से भी ऊपर की शुद्ध सृष्टि का वरदान मिल जाता है। हाँ यह ध्यान देने की बात है कि इस

मन्त्रत्वमेति, अन्यथा पुनः संसारित्वम्—इति सिद्धम्, अत एव प्राप्तायामपि वैष्णवादिदर्शनान्तरोक्तायां मुक्तौ संसारस्य प्रक्षयो न जायते, इति तत्र हेयत्वमुक्तम् ॥ ३१ ॥

ननु समानेऽपि प्रलयाकलत्वे केषांचिन्मन्त्रत्वं केषांचित् संसारित्वम्, इत्यत्र किं निमित्तम्? इत्याशङ्क्याह

एतच्चाग्रे तनिष्याम इत्यास्तां तावदत्र तत् ॥ ३२ ॥

अग्र इति—नवमाह्निकादौ, यद्वक्ष्यति

'एतत्कार्ममलं प्रोक्तं येन साकं लयाकलाः ।
स्युर्गुहागहनान्तःस्थाः सुप्ता इव सरीसृपाः ॥
ततः प्रबुद्धसंस्कारास्ते यथोचितभागिनः ।
ब्रह्मादिस्थावरान्तेऽस्मिन्संसरन्ति पुनः पुनः ॥
ये पुनः कर्मसंस्कारहान्यै प्रारब्धभावनाः ।
भावनापरिनिष्पत्तिमप्राप्य प्रलयं गताः ॥
महान्तं ते तथान्तःस्थभावनापाकसौष्ठवात् ।
मन्त्रत्वं प्रतिपद्यन्ते चित्रं चित्राच्च कर्मतः ॥' इति ।

'इत्यास्ताम्' इति प्रकृते तर्कतत्त्वेऽस्यानुपयोगात् ॥ ३२ ॥

शुद्ध दशा में पहुँचने पर भी संसार नष्ट नहीं होता। मोक्ष की तो कोई बात ही नहीं ॥३१॥

प्रलयाकल की समान अवस्था में किसी साधक को मन्त्रत्व और किसी को संसारित्व प्राप्ति का क्या कारण है? इसका उत्तर दे रहे हैं—

इस विषय का विस्तार आगे के प्रकरणों में करेंगे। इस लिये यहाँ इसका उपसंहार कर रहे हैं। आगे का अर्थ आह्निक ९ के श्लोक १३८ से १४१ तक में वर्णित विषय से है। उसमें कहा गया है कि "यह कार्म मल है, जिससे लयाकल कैसे सुषुप्त होते हैं। संस्कार शुद्ध होने पर फिर आवागमन के चक्र में कैसे पड़ जाते हैं। क्रमशः भावना भावित होकर वे मन्त्रत्व की प्राप्ति कर लेते हैं।" इसी लिए इस सन्दर्भ को यहाँ स्थगित कर प्रस्तुत मुक्ति विषयक प्रसङ्ग हो उपस्थित कर रहें हैं ॥३२॥

ननु यदि नाम दर्शनान्तरोक्तया मुक्त्या संसारस्य प्रक्षयो न जायते, तत् कस्मादयं वैष्णवादिजनैस्तत्र अनुरज्यते ? इत्याशङ्क्याह

तेनाज्ञजनताक्लृप्तप्रवादैर्यो विडम्बितः ।
असद्गुरौ रूढचित्तः मायापाशेन रञ्जितः ॥ ३३ ॥

यः खलु वैष्णवादिर्जनोऽज्ञजनतया—कपिलादिना उपदेष्टृसमूहेन, कल्पितैः—प्रकृतिपुरुषविवेकादिभिः प्रवादैः मोहितः, स यतस्तेन सकललोकप्रसिद्धेन भगवता परमेश्वरेण, मायापाशेन—वामाख्यया शक्त्या, तत्रैव गाढानुरक्तीकृतः, अत एवासद्गुरौ तत्त्वोपदेष्टरि आचार्यविशेषे रूढचित्त आश्वस्तो, न तु जिज्ञासामात्रवान्, सद्गुरौ पुनराश्वस्तस्य साक्षादेव मोक्षो भवेदित्यर्थसिद्धो व्यतिरेक, अत एव चानेन तर्कतत्त्वानन्तर्येण अनुजोद्देशोद्दिष्टं तदनुषक्तमेव गुरुसतत्त्वमपि प्रतिपादयितुमुपक्रमः कृतः ॥ ३३ ॥

ननु यद्येवं तर्हि अस्य वैष्णवादेर्वामाधिष्ठितत्वात् सद्गुरावेवाश्वासो न जायते, इति का कथा साक्षान्मोक्षावाप्तौ ? इत्याशङ्क्याह

सोऽपि सत्तर्कयोगेन नीयते सद्गुरुं प्रति ।
सत्तर्कः शुद्धविद्यैव सा चेच्छा परमेशितुः ॥ ३४ ॥

प्रश्न है कि यदि अन्य दर्शन प्रतिपादित मुक्ति से संसार का प्रक्षय नहीं होता तो ये वैष्णव आदि उसमें कैसे अनुरक्त होते हैं ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

जो पुरुष चाहे वह वैष्णव हो, सांख्यवादी हो, अज्ञ गुरुनामधारी कपिल सदृश जनों की कल्पना प्रसूत प्रकृति पुरुषादि विवेक सदृश प्रवादों से प्रभावित हो, वह वस्तुतः माया पाश द्वारा ही अर्थात् परमेश्वर की वामा शक्ति के प्रभाव से ही उस असद् गुरु की भेदभरी बातों में भ्रान्त होकर वहीं अनुरक्त हो जाता है। अपनी जिज्ञासा से नहीं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सद्गुरु की सच्ची वाणी में आश्वस्त होने वाले को ही साक्षात् मोक्ष प्राप्त होता है ॥३३॥

यदि ऐसा है और वामा शक्ति से अधिष्ठित होने से सद्गुरु में ऐसे लोग आश्वस्त नहीं होते तो उन्हें साक्षात् मोक्ष कैसे मिल सकता है ? यही कह रहे हैं—

सोऽपीति—असद्गुरौ रूढचित् वैष्णवादिः, ननु युक्तियुक्ते वस्तुनि तर्केण प्ररोहः क्रियते शिवशक्त्या च सद्गुरुप्राप्तिः, इति सर्वत्रैवोक्तम्

'यत्र रूढिः प्रजायेत युक्तियुक्ते विनिश्चयात्।
शुद्धविद्याप्रसादोऽसावित्याह भगवाञ्छिवः ।।' इति ।

सेति शुद्धविद्या, इच्छेति सद्गुरुप्राप्तिपर्यवसायिनी अनुग्रहरूपा ॥ ३४ ॥

न च एतत् स्वोपज्ञमेवोक्तम्, इत्याह

श्रीपूर्वशास्त्रे तेनोक्तं स यियासुः शिवेच्छया ।
भुक्तिमुक्तिप्रसिद्ध्यर्थं नीयते सद्गुरुं प्रति ।। ३५ ।।

सः—रुद्रशक्तिसमाविष्टः स्वस्वरूपं प्राप्तुमिच्छुः, ज्येष्ठाख्यशक्तिरूपया शिवेच्छया सद्गुरुं प्रति नीयते सद्गुर्वाभिमुख्येन प्रवर्त्यते, येनास्य भुक्ति-मुक्ती सिध्यतः, तेन सत्तर्कशिवशक्त्योरभेदात् यत् सत्तर्केण सद्गुर्वाभिमुख्येन प्रवर्तनं तत् शिवशक्त्यैव, इति सिद्धम् ॥ ३५ ॥

ननु 'सर्वस्य शिवेच्छयैव असद्गुरौ सद्गुरौ वा आभिमुख्यमभिजायते' इत्युक्तं, तत् सद्गुरावेव तदस्तु, किं क्रमेण ? इत्याशङ्क्याह

शक्तिपातस्तु तत्रैष क्रमिकः संप्रवर्तते ।
स्थित्वा योऽसद्गुरौ शास्त्रान्तरे वा सत्पथंश्रितः ।।३६।।

यद्यपि वे वैष्णवादि वामाधिष्ठित हैं किन्तु सत्तर्क के योग से वे भी सद्-गुरु को प्राप्त कर सकते हैं। सत्तर्क से सद्वस्तु में प्रवृत्ति होती है। यह सत्तर्क शुद्ध विद्या ही है। वह परमेश्वर की इच्छा रूप होती है। इससे सद्गुरु की प्राप्ति अनिवार्य है ।।३४।।

यह स्वोपज्ञ मत नहीं अपितु आगम भी यही कहते हैं—

वह सद्शक्तिसमाविष्ट ज्ञान-पिपासु स्वात्मभाव को उपलब्ध होने की इच्छा से संवलित होता है। जहाँ वामा शक्ति बाँधती है, वहीं ज्येष्ठा नामक शिव की इच्छा शक्ति मुक्ति और भुक्ति दोनों अर्थों को सिद्ध करने की कृपापूर्ण भावना से सद्गुरु के पास पहुँचा देती है। अर्थात् सत्तर्क द्वारा सद्गुरु की ओर प्रवृत्ति शिव के अनुग्रह का ही सुपरिणाम है ।।३५।।

शास्त्रान्तरे इति—अर्थादसत्पथे वैष्णवाद्ये, सत्पथं शैवगुरुशास्त्रलक्षणम्, असद्गुर्वाद्याश्रयानन्तरं सद्गुर्वाद्याश्रिते ॥ ३६ ॥

ननु अयं लोकश्चेत् सद्रूपमसद्रूपं वा गुरुं शास्त्रं च शक्तिपातवशादाश्रयेत तदस्तु, को नाम दोषः, तयोरेव पुनरसत्त्वे सत्त्वे वा किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

गुरुशास्त्रगते सत्त्वेऽसत्त्वे चात्र विभेदकम् ।
शक्तिपातस्य वैचित्र्यं पुरस्तात्प्रविविच्यते ॥ ३७ ॥

अत्रेति-समनन्तरोक्ते, पुरस्तादिति—शक्तिपाताह्निकादौ, विभेदकं—विशेषे हेतुः, एवं वामाख्यया मायाशक्त्या अधिष्ठिता दर्शनान्तरीया गुर्वाद्याः, ज्येष्ठाशक्त्या पुनरास्माकाः, तेन तच्छक्त्यैवाधिष्ठितोऽयं लोकः तत्राश्वस्तः स्यात् ॥ ३७ ॥

चाहे सद्गुरु या असद्गुरु के प्रति रुझान हो, सब शिव की इच्छा से ही होता है, वह मात्र सद्गुरु के प्रति ही हो, इसका क्या निश्चय ? इस पर शक्तिपात की क्रमिकता की चर्चा कर रहे हैं—

परमेश्वर में आभिमुख्य शक्तिपात का ही प्रतिफल है। इसमें क्रम अनिवार्य होता है। पहले साधक असद् पथ पर रहता है। असद्गुरु का आभिमुख्य रहता है और शास्त्रान्तर की भूल भुलैया में भ्रमित होता है। क्रमशः रुद्रसमावेश से साधक सत्पथ पर आता है। शैव शास्त्र का स्वाध्याय करता है। परिणामतः क्रमशः शैव सद्गुरु को प्राप्त करता है ॥३६॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि सद्रूप या असद्रूप गुरु या शास्त्र दोनों का सम्पर्क क्या शक्तिपात पर निर्भर होता है ? उन दोनों के सत्व और असत्व पर प्रकाश डाल रहे हैं—

गुरु और शास्त्र के सत्त्व और असत्त्व में विभेद के कारण हैं। यह शक्तिपात की विचित्रता है। इसे शक्तिपात प्रकरण में कहा जायेगा। इतना तो निश्चित है कि असद् पक्ष की प्रवृत्ति में निमित्त वामा शक्ति है और सत्पक्ष की प्रवृत्ति की निमित्त ज्येष्ठा शक्ति है। सबके मूल में यह बात है कि यह समग्र विश्व शिव-शक्ति वामा और ज्येष्ठा से अधिष्ठित है ॥३७॥

न च एतदप्रमाणकम्, इत्याह

उक्तं स्वच्छन्दशास्त्रे तत् वैष्णवाद्यान्प्रवादिनः ।
सर्वान्भ्रमयते माया सामोक्षे मोक्षलिप्सया ॥ ३८ ॥

भ्रमयते इति अतस्मिंस्तद्ग्रहात्, तदाह 'अमोक्षे मोक्षलिप्सया' इति, अत्र चार्थद्वारेण पाठे अयमाशयो—यत् तत्र बहुधोक्तमिति, तदुक्तं

'अतः परं भवेन्माया सर्वजन्तुविमोहिनी ।
निर्वैरपरिपन्थिन्या यया भ्रमितबुद्धयः ॥
इदं तत्त्वमिदं नेति विवदन्तीह वादिनः ।
सत्पथं तु परित्यज्य नयति द्रुतमुत्पथम् ॥
गुरुदेवाग्निशास्त्रस्य ये न भक्ता नराधमाः ।
असद्युक्तिविचारज्ञाः शुष्कतर्कावलम्बिनः ॥
भ्रमयत्येव तान्माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया ।' इति ।

तथा

'सांख्यवेदपुराणज्ञा अन्यशास्त्रविनिश्चये ।
न तांल्लङ्घयितुं शक्ता यदान्ये मोक्षवादिनः ॥
क्लिश्यन्ते मायया भ्रान्ता अमोक्षे मोक्षलिप्सया ।' इति ॥३८॥

इस बात की प्रामाणिकता प्रस्तुत कर रहे हैं—

स्वच्छन्द शास्त्र के पटल १० के ११३८ से ११४१ तक के श्लोकों तथा १२।७८ से ८२ तक में तथा अन्यत्र भी प्रवादरत वैष्णवों और सांख्यों के असत्व का वर्णन किया गया है। जिसका निष्कर्ष यही है कि माया इन्हें मोक्ष लिप्सा से अमोक्ष में भ्रान्त कर देती है। माया सर्वजन्तु विमोहिनी निर्वैर परिपन्थिनी है। अतः इनकी बुद्धि को वही भ्रान्त कर देती है। यह वास्तविक है और यह वास्तविक नहीं है—इसी प्रकार के विवाद में ये पड़े रहते हैं। सत्पथ से उन्हें उत्पथ में माया ही प्रवृत्त कर देती है।

गुरु शास्त्र आदि में जिनकी आस्था नहीं, व्यर्थ की युक्तियों में समय बरबाद करने वाले ये लोग नीरस तार्किकता का आश्रय लेते हैं"। "ऐसे सांख्य, वेद और पुराणों की सीमा में बँधे लोग सच्चे शास्त्रीय रहस्यों से वंचित रह जाते हैं। मोक्ष की जगह अमोक्ष में ये भ्रान्त रह जाते हैं ॥ ३८ ॥

ननु यदि वैष्णवादिरयं जनो मायया भ्रमितः तत् तस्य तत्रैव संस्कार-प्ररोहात् असन्मार्गादवरोहो न स्यात्, इत्यस्य कदाचिदपि सन्मार्गारोहो न भवेत्? इत्याशङ्क्याह

यस्तु रूढोऽपि तत्रोद्यत्परामर्शविशारदः ।
स शुद्धविद्यामाहात्म्याच्छक्तिपातपवित्रितः ॥ ३९ ॥
आरोहत्येव सन्मार्गं प्रत्यूहपरिवर्जितः ।

यः पुनस्तत्र वैष्णवादौ संस्कारदार्ढ्यात् जातप्ररोहोऽपि उद्यन्योऽसौ सत्तर्कात्मा परामर्शः तेन विशारदः–सारेतरविभागकुशलः, अत एव स सत्तर्कात्मशुद्धविद्यामाहात्म्यात् ज्येष्ठाशक्त्यधिष्ठानपवित्रीभूतः सन् निर्विघ्न-मेव सन्मार्गमारोहति, अस्मद्दर्शननिष्ठो भवेत्, येनास्य साक्षात् मोक्षः स्यात् ॥ ३९॥

ननु अस्य परामर्शोदये किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

स तावत्कस्यचित्तर्कः स्वत एव प्रवर्तते ॥ ४० ॥
स च सांसिद्धिकः शास्त्रे प्रोक्तः स्वप्रत्ययात्मकः ।

यदि वैष्णवादि माया से भ्रान्त हैं तो क्या इनको कभी सन्मार्ग नहीं मिल सकता ? इसी का उत्तर दे रहे हैं—

संस्कार की दृढ़ता से वैष्णव आदि अमोक्ष पथ पर भ्रान्त होते हैं; उनमें भी यदि कोई सत्तर्क रूप सद्विचार में कुशल हो जाय, सत्तर्क और शुद्ध विद्या के माहात्म्य से उनमें संविदुल्लास अंकुरित होने लगे तो उनके ऊपर ज्येष्ठा शक्ति की कृपा हो जाती है। इस शक्ति की अमृत कला उस व्यक्ति को अभिषिक्त करती है और वह पवित्र हो जाता है। उस समय निर्विघ्न रूप से वह सन्मार्ग पर आरूढ हो जाता है। शिवाद्वयवाद में उसकी निष्ठा हो जाती है। परिणामतः साक्षात् मोक्ष का वह अधिकारी हो जाता है ॥ ३९ ॥

प्रश्न है कि ऐसे परामर्श के उदय का कारण क्या है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

सामान्य गुरुजनों के उपदेशों से, निरपेक्ष किसी गुरु की कृपासे, किसी भाग्यशाली साधक में सत्तर्क स्वतः भी उल्लसित हो उठता है। भले ही वह

स्वत एव-लोकप्रसिद्धगुरूपदेशादिनिमित्तानपेक्षं, न तु सर्वसर्विकया निर्निमित्तमेव, वस्तुतः पारमेश्वरशक्तिपातादेर्निमित्तान्तरस्यापि संभवात्, अत एव चास्य यौगिकमपि नाम अस्मद्दर्शनेऽभिहितम्, इत्याह 'स च' इत्यादि स इति—स्वयं प्रवृत्ततर्कः, सांसिद्धिक इति तर्केण स संसिध्या जन्मनागत इत्यर्थः, उक्तं च

'गुरुशास्त्रानपेक्षं च यस्यैतत्स्वयमुद्भवेत् ।
स सांसिद्धिक इत्युक्तस्तत्त्वनिष्ठो महामुनिः ॥' इति ।

अत एव स्व आत्मीयो, न तु गुर्वादिपरापेक्षः, इदमेवेति सुनिश्चितं ज्ञानमात्मा स्वभावो यस्य स तथोक्तः ॥ ४० ॥

ननु अन्यत्र परतत्त्वाधिगमे गुर्वाद्यन्यदपि कारणतयोक्तम्, इह पुनः कथं स्वत एव इति 'एकमेव' इत्याशङ्क्याह

किरणायां यदप्युक्तं गुरुतः शास्त्रतः स्वतः ॥ ४१ ॥
तत्रोत्तरोत्तरं मुख्यं पूर्वपूर्व उपायकः ।

यदपि किरणाख्यायां संहितायां मायाधर्मैः शून्यं परं तत्त्वं ज्ञातुम्—

'शून्यमेवं विधं ज्ञेयं गुरुतः शास्त्रतः स्वतः ।'

शक्तिपात पवित्र न हुआ हो । ऐसे स्वप्रत्यय से सत्पथ पर आरूढ साधक सांसिद्धिक योगी कहलाते हैं । वे सत्तर्क के बलपर और साधना के बलपर योगनिष्ठ हो जाते हैं । इसलिये उन्हें यौगिक भी कहते हैं । कहा गया है—

"गुरु और शास्त्र की अपेक्षा किये बिना जिस साधक में पारमेश्वर शक्तिपात हो जाता है, वह महामुनि है, वह वस्तुतः तत्त्व निष्ठ है और वह सांसिद्धिक कहलाने लगता है।" उसे सुनिश्चित आत्मज्ञान हो जाता है ॥ ४० ॥

उस परम तत्त्व की प्राप्ति में गुरु आदि अन्य कई कारण हैं, यहाँ पर केवल एक 'स्वतः' रूप कारण दिया गया है ? यह क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

किरणा नामक संहिता ग्रन्थ में मायात्मकता से शून्य सर्वोत्कृष्ट परम तत्त्व को जानने के विषय में लिखा है कि "माया से शून्य पर तत्त्व को जानने के तीन कारण हैं। १—गुरु, २—शास्त्र और ३—स्वयम् । इन तीनों में

इत्यादिना कारणत्रयमुक्तं, तत्र उत्तरोत्तरं मुख्यं विवक्षितं, यथा–गुरुतः शास्त्रं, ततोऽपि स्वपरामर्शः, यतः पूर्वपूर्वो यथा गुरुः शास्त्रे उपायः, तदपि स्वपरामर्शे । एवम्

उपादायापि ये हेयास्तानुपायान्प्रचक्षते ।'

इत्याद्युक्त्या गुरुशास्त्रयोरुपायत्वादमुख्यत्वम्, इति स्वपरामर्शस्यैव प्राधान्यं, येन अत्रास्यैव उपादानम् ॥ ४१ ॥

तेन यस्य स्वत एव परामर्श उद्भवेत् स एव सर्वत्र अधिकृतः, इत्याह

यस्य स्वतोऽयं सत्तर्कः सर्वत्रैवाधिकारवान् ॥ ४२ ॥

अभिषिक्तः स्वसंवित्तिदेवीभिर्दीक्षितश्च सः ।

यस्य स्वतो-गुर्वादिनैरपेक्ष्येण, अयं समनन्तरोक्तः सत्तर्क उदेति, स सर्वत्रैव-योगज्ञानादावधिकारवान्भवेत् ॥ ४२ ॥

उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। गुरु शास्त्र ज्ञान में उपाय है। शास्त्र स्वतः ज्ञान में उपाय है। इस प्रकार उपायों में भी कुछ हेय हैं।" वस्तुतः 'स्वतः' सर्वश्रेष्ठ उपाय है। इसी से यहाँ उसी का उल्लेख किया गया है ॥ ४१ ॥

इसलिये इस मार्ग में जिसे स्वतः परामर्श का उद्भावन होता है—वही इसमें अधिकृत है। यही कह रहे हैं—

गुरु आदि की कृपा से जिस पुरुष में स्वयम् इस प्रकार का सत्तर्क उदित होता है, वही इस अद्वय मार्ग का अधिकारी है। वह स्वयं स्वात्म संवित्ति देवियों से अभिषिक्त होता है। वही देवियाँ उसे दीक्षा भी देती हैं और दीक्षित बना लेती हैं। क्योंकि कहा गया है कि "इस शांकर योग में बिना दीक्षा के किसी का अधिकार नहीं।" अपनी इन्द्रिय वृत्तियाँ ही "जो बहिर्मुख व्यक्ति के लिये वृत्तियाँ हैं, वही अन्तर्मुख साधक के लिये संवित्ति देवियाँ बन कर उसे दीक्षा दे देती हैं। वह पुरुष उन देवियों की कृपा से ज्ञान और क्रिया दोनों क्षेत्रों में उत्कर्ष प्राप्त कर स्वातन्त्र्य सुखानुभूति को उपलब्ध हो जाता है ॥ ४२ ॥

ननु

'न चाधिकारिता दीक्षां विना योगेऽस्ति शांकरे।'

इत्याद्युक्त्या दीक्षादिकमपहाय कथमस्य सर्वत्रैवाधिकारः ? इत्याशङ्क्योक्तं 'स्वसंवित्तिदेवीभिर्दीक्षितोऽभिषिक्तश्चेति—स्वा आत्मीया याः संवित्तय इन्द्रिय-वृत्तयः ता एव

'बहिर्मुखस्य मन्त्रस्य वृत्तयो याः प्रकीर्तिताः।
ता एवान्तर्मुखस्यास्य शक्तयः परिकीर्तिताः ॥'

इत्याद्युक्त्या प्रमात्रैकात्म्यमभिद्योतयन्त्यो देव्यः, ताभिर्ज्ञानक्रियोत्तेजनेन सर्वत्रैव स्वातन्त्र्यमापादितः, इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

अतश्च स एव परमुत्कृष्ट इत्याह

स एव सर्वाचार्याणां मध्ये मुख्यः प्रकीर्तितः ॥ ४३ ॥
तत्संनिधाने नान्येषु कल्पितेष्वधिकारिता।

सर्वाचार्याणां वक्ष्यमाणानामकल्पितकल्पकादीनां मुख्यत्वादेव च तत्सं-निधावन्येषां न परानुग्रहादावधिकारः, इत्युक्तं 'तत्संनिधाने न' इत्यादि, यद्वक्ष्यति

'यथा भेदेनादिसिद्धाच्छिवान्मुक्तशिवा ह्यधः।
तथा सांसिद्धिकज्ञानादाहृतज्ञानिनोऽधमाः ॥
तत्संनिधौ नाधिकारस्तेषां मुक्तशिवात्मवत्।
किन्तु तूष्णींस्थितिर्यद्वा कृत्यं तदनुवर्तनम् ॥' इति ॥ ४३ ॥

इसलिये स्वतः ज्ञाता प्रमाता सर्वोत्कृष्ट है। यही कह रहे हैं—

इसलिये आगे वर्ण्य सभी आचार्यों में वह मुख्य आचार्य हो जाता है। उसके सामने दूसरे को अनुग्रह का भी अधिकार नहीं होता। आगे भी कहा गया है कि "जैसे भेद के कारण आदिसिद्ध शिवसे मुक्त शिव निचली श्रेणी के हैं, वैसे ही सांसिद्धिक ज्ञानी से आहृत ज्ञानी नीचे हैं। मुक्त शिव की तरह उसके समक्ष किसी का अनुग्रह करने में अधिकार नहीं है। इसलिये मौन या उनका अनुवर्त्तन ही श्रेयस्कर है" ॥ ४३ ॥

ननु गुरुतः शास्त्राधिगमः—इत्यत्र सर्वेषामविवादः, तद्यस्य गुरुरेव नास्ति तस्य शास्त्राधिगमे कः वार्ता ? इत्ययं स्वयं प्रवृत्ततर्कोऽपि दीक्षाद्यारभमाणः

'शास्त्रहीने न सिद्धिः स्याद्दीक्षादौ वीरवन्दिते ।'

इत्याद्युक्त्या का नाम सिद्धिमासादयेत् ? इत्याशङ्क्याह

स समस्तं च शास्त्रार्थं सत्तर्कादेव मन्यते ॥ ४४ ॥

मन्यते, इत्यवबुद्धयते ॥ ४४ ॥

ननु गुर्वादिनैरपेक्ष्येण कथमेतावतैव समस्तशास्त्रावबोधो भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

शुद्धविद्या हि तत्रास्ति सत्यं यद्यन्न भासयेत् ।

न च एतद्युक्तिमात्रेणैव सिद्धम्, अपि त्वागमेनापि इत्याह

सर्वशास्त्रार्थवेत्तृत्वमकस्माच्चास्य जायते ॥ ४५ ॥

इति श्रीपूर्ववाक्ये तदकस्मादिति-शब्दतः ।

तत्—सत्तर्कनिमित्तकं समस्तशास्त्रावबोधलक्षणं वस्तु, 'अकस्मादिति-शब्दात्' उक्तमिति सम्बन्धः ॥

गुरु से शास्त्र ज्ञान की बात निर्विवाद है। जिसके गुरु नहीं, उसे शास्त्रज्ञान नहीं। यदि स्वतः ज्ञानी दीक्षा आदि कार्य शुरूकर दे, जबकि "शास्त्रहीन से दीक्षा सिद्धिप्रद नहीं होती" यह निर्देश है, तो फिर सिद्धि कैसे होगी ? गुरु आदि की अपेक्षा के बिना सत्तर्क से ही ज्ञान कैसे हो जाता है ? इसपर कह रहे हैं—

वह शुद्ध विद्या ही नहीं कही जा सकती जिसके द्वारा सर्वसत्यार्थरहस्य का आभास न हो जाय। यह मेरी अपनी बात नहीं, अपितु आगमों द्वारा समर्थित भी है। यही कह रहे हैं—

श्री पूर्वशास्त्र में इस पर बल दिया गया है कि सत्तर्क से होने वाला समस्त शास्त्र ज्ञान रूपी रहस्य उसे सद्विद्या की कृपा से 'अकस्मात्' प्राप्त हो जाता है" ॥ ४४-४५ ॥

ननु 'अकस्मात् इति' शब्दमात्रादेव कथमेतदुक्तं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

लोकाप्रसिद्धो यो हेतुः सोऽकस्मादिति कथ्यते ॥ ४६ ॥

स चैष परमेशानशुद्धविद्याविजृम्भितम् ।

अकस्मादिति हि निर्निमित्तत्वमुच्यते, नचैतद्युज्यते, तथात्वे हि—नित्यसतत्त्वमतत्त्वं वा स्यात् ॥ ४६ ॥

तदत्र केनचित् हेतुना अवश्यभाव्यं, स च न लोकप्रसिद्धो, गुरूपदेशादेः साक्षाददृष्टत्वात्, तेन पारिशेष्याल्लोकाप्रसिद्धः, स चैष फलानुमेयः पारमेश्वरः शुद्धविद्यासमुल्लासो, यद्वशादेव अस्य गुरुशास्त्रानपेक्षं सर्वविषयं प्रातिभं महाज्ञानमुदियात्, यद्वक्ष्यति

'मध्यतीव्रात्पुनः सर्वमज्ञानं विनिवर्तते ।
अयमेव यतो याति बन्धमोक्षतथात्मताम् ॥
तत्प्रातिभं महाज्ञानं शास्त्राचार्यानपेक्षि यत् ।' इति

उपाधिभेदाच्च अस्य नानात्वम्, इत्याह

अस्य भेदाश्च बहवो निर्भित्तिः सहभित्तिकः ॥ ४७ ॥
सर्वगोंऽशगतः सोऽपि मुख्यमुख्यांशनिष्ठितः ।
भित्तिः परोपजीवित्वं परा प्रज्ञाथ तत्कृतिः ॥ ४८ ॥

अकस्मात् शब्द के प्रयोग का कारण बतला रहे हैं—

जो कारण लोक प्रचलित नहीं होता उसे अकस्मात् अर्थात् निर्निमित्त कहते हैं। यह कार्य परमेश्वर की शुद्ध विद्याका ही प्रताप है ॥ ४६ ॥

पारमेश्वर शुद्ध विद्या के समुल्लास तथा मध्य तीव्र शक्तिपात के आधार पर स्वयं प्रज्ञके भेदों का वर्णन कर रहे हैं—

सांसिद्धिक योगी के बहुत भेद होते हैं। जैसे—१. निर्भित्तिक २. सहभित्तिक। सर्वग और अंशग ! अंशग भी मुख्यांशग और अमुख्यांशग भेद से दो प्रकार का होता है। सहभित्तिक के तीन और निर्भित्तिक को लेकर चार भेद होते हैं। अंशांशिक भेद से अनेक भेद हो सकते हैं। भित्ति की परिभाषा है—परोपजीव्यमानता यह एक भित्ति है। परा प्रज्ञा अर्थात् स्वात्मविमर्श और सांसिद्धिक गुरु द्वारा प्रतिभा के बल पर निर्मित शास्त्र भी भित्ति कहलाते हैं।

भित्तेर्निष्क्रान्तो निर्भित्तिः, सह भित्त्या वर्तते इति सहभित्तिकः इत्यस्य सांसिद्धिकस्य मुख्यं भेदद्वयं, सहभित्तिकश्च सर्वामेव भित्तिं गतः स्यात् अंशेन वा, इत्युक्तं 'सर्वगोऽशंगतश्च' इति, सोऽपि अंशगतः मुख्यांशनिष्ठितः स्यात् अन्यथा वा, इति सहभित्तिकस्य त्रयो भेदाः, निर्भित्तिना सह अस्य चत्वारः, बहुत्वं च—भित्तेस्तदंशानां च नानात्वात्, अत्र यद्भावाभावाभ्यां भेदोल्लासः तं भित्तिशब्दं व्याचष्टे 'भित्तिः' इत्यादिना, परोपजीवित्वमिति उपजीव्यमानः परो भित्तिरित्यर्थः, कः परः ? इत्याशङ्क्योक्तं 'परः प्रज्ञाथ तत्कृतिः' इति, प्रज्ञा—स्वविमर्शः तत्कृतिः—तत्तत्कर्माभिधायकं परकृतं शास्त्रम् । ननु अस्य स्वत एव ज्ञानोदयादुपजीव्यमानतया परो नास्ति, इत्यतोऽस्तु नाम निर्भित्तिकत्वं, को दोषः, सहभित्तिकत्वे पुनरस्य उच्यमाने सांसिद्धिकत्वमेव न स्यात्—परोपजीवित्वेन कल्पितत्वापत्तेः, न च असंभवत्तत्सामान्यः तद्विशेषो नाम, इति कथमस्य सहभित्तिकत्वमुक्तम् ? उच्यते—इह खलु स्वत एव सत्तर्कोदयात् खिलीकृतनिखिलबन्धनस्य भैरवीभावपूर्णस्य सांसिद्धिकस्य गुरोः स्वात्मनि कृतकृत्यत्वात् शेषवृत्तौ परानुग्रह एव परं प्रयोजनम्, यदुक्तं प्राक्

'समस्तयन्त्रणातन्त्रत्रोटनाटङ्कधर्मणः ।
नानुग्रहादृते किंचिच्छेषवृत्तौ प्रयोजनम् ॥' इति ।

तथा

'स्वं कर्तव्यं किमपि कलयंल्लोक एष प्रयत्ना-
न्नो पारक्यं प्रति घटयते कांचन स्वात्मवृत्तिम् ।
यस्तु ध्वस्ताखिलभवमलो भैरवीभावपूर्णः
कृत्यं तस्य स्फुटमिदमियल्लोककर्तव्यमात्रम् ॥ इति च ।

प्रश्न है कि जिसे स्वतः ज्ञानोदय हुआ है—उसका कोई दूसरा उपजीव्य नहीं होता । अतः इसे ही निर्भित्तिक क्यों न कहा जाय ? इसे यदि सहभित्तिक कहा जायेगा तो इसे सांसिद्धिक कैसे कहा जा सकेगा ? स्वतः सत्तर्क के उदित हो जाने पर सारे बन्धन व्यर्थ हो जाते हैं। उसमें भैरवीभाव पूर्णतया व्यक्त हो जाता है। ऐसा सांसिद्धिक गुरु स्वात्म भाव में कृतार्थ हो जाता है । उसका दूसरे शिष्यों को अनुगृहीत करना ही जीवन का लक्ष्य रह जाता है । इसमें कहा गया है कि "ऐसा साधक जिसने समस्त विधि निषेध की मर्यादायें पार कर ली हैं, उसके जीवन में अनुग्रह के अतिरिक्त कोई काम शेष नहीं रह जाता ।"

तत्रास्य निर्मलसंविदोऽनुग्राह्यान् प्रति निरुपकरणमेव अनुग्रहकारित्वम्—इत्यसौ निरनुसंधानदर्शनमात्रेणैव स्वसंवित्संक्रान्तेः स्वसाम्यापादनेन ताननुगृह्णाति, यदुक्तं प्राक्

'तं ये पश्यन्ति ताद्रूप्यक्रमेणामलसंविदः।
तेऽपि तद्रूपिणस्तावत्येषास्यानुग्रहात्मता॥' इति,

यदभिप्रायेणैव परानुग्रहेऽपि परानपेक्षित्वात् 'निर्भित्तिकः' इत्ययमुच्यते। अनिर्मलसंविदः प्रति पुनरस्य सोपकरणमेव अनुग्रहकारित्वम्—इति 'असावित्थं मयायमनुग्राह्यः' इत्याद्यनुसंधानेन अत्र प्रवृत्तेः सर्वमेव बाह्यमुपकरणजातमपेक्षते, येनास्य परानुग्रहः सिद्ध्येत्, यदुक्तं प्राक्

"इस जागतिक आकर्षण में आकृष्ट लोग अपने कर्त्तव्यों के निर्धारण में सारा जीवन लगा देते हैं। परार्थ के प्रति उनमें कोई रुचि नहीं दीख पड़ती। जो साधक साधना के बल पर अपने समस्त मलों का निराकरण कर भैरवी भाव से परिपूर्ण हो जाता है, उसके लिये यहाँ कोई कार्य शेष नहीं रह जाता। वह मात्र लोक संग्रह के लिए ही अपने जीवन का उपयोग करता है।"

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ऐसे विशुद्ध संविद् योगीजन बिना निमित्त के ही अनुग्राह्य शिष्यों पर अनुग्रह करते हैं। उनमें इतनी सामर्थ्य हो जाती है कि अपने समक्ष उपस्थित शिष्य को देखकर ही अपनी संविद् शक्ति को उसमें प्रति संक्रान्त कर देते हैं। साथ ही उसे भी अपने सदृश ही गुरु पद का अधिकार देने की आनुग्रह शक्ति प लेते हैं।

कहा गया है—

अनुग्राह्य दो प्रकार के होते हैं। १. निर्मल संविद् और २. अनिर्मल-संविद्। प्रथम कोटि के अनुग्राह्य में किसी अनुसंधान की आवश्यकता नहीं होती। इस शिष्य पर कृपा दृष्टि के माध्यम से ही अपनी संवित् का प्रति संक्रमण करने से शिष्य को अपने समान बना लेने की क्षमता गुरु में होती है।

शिष्य भी तद्रूप हो जाता है। कहा गया है कि—

"यदि शुद्ध संविद् साधक अपने ऊपर अनुग्रह करने वाले गुरु को तद्रूपता प्राप्त करने की इच्छा से देखें और उनके व्यक्तित्व का अनुदर्शन करें, तो वे निश्चय ही ताद्रूप्य प्राप्त कर सकते हैं। पूज्य गुरुदेव में उतने मात्र में कृपा करने की क्षमता होती है।"

'सोऽपि स्वातन्त्र्यधाम्ना चेदप्यनिर्मलसंविदाम् ।
अनुग्रहं चिकीर्षुस्तद्भाविनं विधिमाश्रयेत् ।।' इति ।
'तदर्थमेव चस्यापि परमेश्वररूपिणः ।
तदभ्युपायशास्त्रादौ श्रवणाध्ययनादरः ।।' इति च ।

अनिर्मलचित्त्वेऽपि अनुग्राह्याणां वैचित्र्यात् तत्तदाशयानुसारेण उपकरणानामपि आनन्त्यम्—इति तदभिधायकं शास्त्रमपि सर्वेषामेवापेक्षणीयम्, अन्यथा हि परानुग्रहो न सिद्ध्येत्, यदुक्तम्

'चित्तभेदान्मनुष्याणां शास्त्रभेदो वरानने ।
व्याधिभेदाद्यथा भेदो भेषजानां महौजसाम् ।।
यथैकं भेषजं ज्ञात्वा न सर्वत्र भिषज्यति ।
तथैकं हेतुमालम्ब्य न सर्वत्र गुरुर्भवेत् ।।' इति ।

इसी अभिप्राय से परम कृपालु गुरु के प्रति अन्य-निरपेक्ष शब्द का प्रयोग किया गया है। जिन साधकों की संविद् शक्ति अभी पूरी तरह शुद्ध नहीं हुई है, उनके प्रति उपकार का रूप कुछ दूसरा ही होता है । इसमें उपकरणों की अपेक्षा रहती है। गुरु यह जानता है कि यह मेरे द्वारा अनुग्राह्य है। यह विमर्श उसे बाह्य उपकरणों की आवश्यकता पर बल प्रदान करता है क्योंकि उपकरणों पर ही शिष्य पर अनुग्रह और दीक्षा दोनों निर्भर हैं। इसी से इस विषय में पहले ही कहा गया है—

"गुरु अनिर्मल चित्त वाले शिष्य को भी अपनी कृपा दृष्टि से अनुग्रहीत करता है। ऐसा करने वाला गुरु भावी विधि का आश्रय लेता है।' तथा "परमेश्वर स्वरूप गुरुदेव केवल कृपा के लिए ही अथवा शिष्यों के उत्कर्ष के लिये ही ईश्वर प्राप्ति के उपाय स्वरूप शास्त्रों के श्रवण और स्वाध्याय का उपदेश करते हैं।"

चित्त के निर्मल हो जाने पर गुरु और शिष्य के लिये कोई समस्या नहीं रहती। जब चित्त शुद्ध न हो तो समस्या होती है। अनुग्राह्य शिष्य के स्तर के अनुसार, उनके आशय-वैचित्र्य के अनुसार अनन्त उपकरणों की आवश्यकता होती है। इन साधनों के निर्देशक शास्त्रों की इसी लिये महत्ता होती है। उनके विना अनुग्रह की सिद्धि नहीं हो सकती। कहा गया है कि—

यदभिप्रायेणैवास्य सर्वगतत्वमुक्तम् । कश्चिदपि असावेकमेव नियतशास्त्रमधिकृत्य तदुचितानेव अनुग्राह्याननुगृह्णाति—इत्यंशगतत्वम् अस्योक्तम् यद्वक्ष्यति—

'कल्पवित्तत्समूहज्ञः शास्त्रवित्संहितार्थवित् ।
सर्वशास्त्रार्थविच्च ································ ॥ इति ।
यो यत्र शास्त्रे स्वभ्यस्तज्ञानो व्याख्यां चरेत्तु सः ।
नान्यथा ·· ॥' इति च ।

तत्तच्छास्त्रात्मनामंशानामपि

'वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम् ।
ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम् ॥'

इत्याद्युक्त्या यथोत्तरं मुख्यत्वम्, इतरेषां चामुख्यत्वम्—इति मुख्यामुख्यरूपत्वमुक्तम् । न च अस्य एवमपि परमुखप्रेक्षित्वात् सांसिद्धिकत्वं खण्ड्यते स्वात्मनि स्वत एव कृतकृत्यत्वात् परार्थमेतदपेक्षणात्, यदुक्तं प्राक्

"हे सुमुखि मनुष्यों के चित्तों में भिन्नता के कारण ही शास्त्रों में भी भेद स्वाभाविक हैं । जैसे व्याधियों की दृष्टि से चिकित्सा में और शक्तिवर्द्धक ओषधियों के प्रयोग में भी भेद होते हैं । एक भेषज की जानकारी रखने वाला भिषक् सर्वत्र चिकित्सा नहीं कर सकता । उसी तरह एक हेतु या एक विधि अपना कर नियत शास्त्रगत विधि से तदनुरूप शिष्य को ही दीक्षित कर सकता है । यही अंश के अनुसरण का परिणाम है । कहा गया है कि "कल्प का जानकार; उसके अनेक रूपों का जानकार, शास्त्रों और संहिताओं का जानकार और सर्वशास्त्रपारङ्गत विद्वान् [सबके उत्तरोत्तर विशिष्ट महत्त्व हैं]····। अथवा "जो जिस शास्त्र का ज्ञानी है तदनुसार ही व्याख्या कर सकता है । अन्यथा नहीं·······।" इसी लिये उन शास्त्रों या उनके अंश रूप शास्त्र परम्पराओं में भी उत्तरोत्तर उत्तमता का उल्लेख मिलता है । जैसे "वेदों से शैव, शैवमत से वाम, वाम से भी दक्षिण इससे भी कुल, कुल से भी मत और मत से भी त्रिक शास्त्र उत्तम है ।" इस प्रकार एक सर्वोत्कृष्ट शास्त्र हो जाता है और अन्य अमुख्य माने जाते हैं ।

एक शङ्का उठती है कि इस प्रकार गुरु भी परमुखापेक्षी हो जाता है और उसकी सांसिद्धिकता खण्डित हो जाती है ? पर तथ्य यह है कि गुरु

'नहि तस्य स्वतन्त्रस्य कापि कुत्रापि खण्डना ।
नानिर्मलचितः पुंसोऽनुग्रहस्त्वनुपायकः ॥' इति ।

तेनास्य स्वात्मन्यन्यानपेक्षणात् सांसिद्धिकत्वमेव—इति यथोक्तमेव युक्तम् ॥ ४७-४८ ॥

न च एतत् स्वोपज्ञमेवोक्तम्, इत्याह

अदृष्टमण्डलोऽप्येवं यः कश्चिद्वेत्ति तत्त्वतः ।
स सिद्धिभाग्भवेन्नित्यं स योगी स च दीक्षितः ॥ ४९ ॥

एवं यो वेत्ति तत्त्वेन तस्य निर्वाणगामिनी ।
दीक्षा भवेदिति प्रोक्तं तच्छ्रीत्रिशकशासने ॥ ५० ॥

परशक्तिपातानुगृहीतत्वात् गुर्वाद्यनपेक्षणेन, अदृष्टं—बाह्यदीक्षोपकरणोपलक्षणभूतं, मण्डलं—यागादि येन स, तथाविधोऽपि, अत एव तिलाज्याहुतिवर्जिताम्, असंदिग्धां निर्वाणगामिनीं दीक्षां भजमानो, यः कश्चित् एवमेव—स्वत एव तात्त्विकेन रूपेण विशेषानुपादानात् स्वात्मानं वेत्ति, स दीक्षितः स्वसंवित्तिदेवीभिरेव पाशक्षपणपुरःसरं स्वात्मज्ञानपात्रतामापादितः, अत एव स नित्यं योगी—व्युत्थानकालेऽपि परमेश्वरैकात्म्यवान्, अत एव स सिद्धिभाक्—जीवन्नेव मोक्षलक्षणां सिद्धिं भजमानः—इत्येतत् श्रीत्रिशकाशास्त्रे प्रोक्तं—नैतन्निष्प्रमाणकमित्यर्थः । तत्र च

तो स्वात्म स्तर पर स्वयं कृतार्थ है। वह तो दूसरे अनुग्राह्यों के हित के लिये ही शास्त्रों में समादर रखता है। कहा गया है कि "उस सर्वतन्त्र स्वतन्त्र परम गुरु के लिये कहीं भी कोई भी निषेध और बाध नहीं है। चित्त के नैर्मल्य की दशा में सहज ही अनुग्रह हो जाता है। वहाँ उपायों की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती।" इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि स्वात्म परिवेश में निरपेक्ष गुरु की सांसिद्धिकता में कोई अन्तर नहीं आता है ॥ ४७-४८ ॥

यह स्वोपज्ञ कथन नहीं है अपितु शास्त्र समर्थित है। यही कह रहे हैं—

श्रीत्रिशका शास्त्र में प्रतिपादित सिद्धान्त भी इसी तथ्य के समर्थक हैं। पराशक्ति स्वयं यदि साधक को अपने अमृत से अभिषिक्त कर दे, तो किसी गुरु आदि की कोई अपेक्षा नहीं रह जाती। न तो बाह्य दीक्षा के उपकरणों और

'अदृष्टमण्डलोऽप्येवम्.................।'

इत्यादिश्लोकानन्तरम्

'अनेन ज्ञातमात्रेण.....................।'

इत्यादिग्रन्थान्तरं संभवदपि प्रकृतानुपयोगात् न पठितम्, अदृष्टमण्डलत्वादेव च 'तिलाज्याहुतिवर्जितत्वादि' अवसीयते, इति तदपि न पठितम् ॥४९-५०॥

अस्य च व्यपदेशान्तरमपि अस्ति, इत्याह

अकल्पितो गुरुर्ज्ञेयः सांसिद्धिक इति स्मृतः ।

य एष गुरुः 'सांसिद्धिकः' इत्यस्मच्छास्त्रे स्मृतः, स आचार्यान्तरेण अनिष्पादितत्वात् 'अकल्पितो' ज्ञेयः—अकल्पितशब्दव्यपदेश्योऽपि भवेदित्यर्थः ।

एवमकल्पितं गुरुमुक्त्वा तत्संबन्धतया गुर्वन्तरमपि आह

यस्तु तद्रूपभागात्मभावनातः परं विना ॥ ५१ ॥
शास्त्रवित्स गुरुः शास्त्रे प्रोक्तोऽकल्पितकल्पकः ।

यः पुनः सांसिद्धिकरूपभागपि स्वयमुदिते ज्ञाने तावता पारिपूर्ण्यस्याभावात्

मण्डल आदि की आवश्यकता होती है। वह साधक योगी हो जाता है। रहस्य का द्रष्टा बन जाता है। सिद्धि का अधिकारी ही नहीं, स्वयं सिद्ध और शैवी दीक्षा से दिव्य हो जाता है। उसी की दीक्षा निर्वाणगामिनी होती है। उसकी संवित्ति देवियाँ उसके समस्त बन्धनों को छिन्न-भिन्न कर देती हैं। स्वात्म संविद् प्रकाश से वह देदीप्यमान बन जाता है। इस तरह हमारा मत प्रमाणित और साधार है, यह सिद्ध हो जाता है ॥ ४९ ५० ॥

इस तथ्य को दूसरी तरह कह रहे हैं—

वस्तुतः शिष्य तो गुरु द्वारा अनुशासित परम्परा में उत्पन्न होता है। वही सिद्धि प्राप्त कर गुरु बनता है। जहाँ ऐसा नहीं होता अर्थात् स्वयं परशक्तिपातसिद्ध सांसिद्धिक होता है, उसे 'अकल्पित' गुरु कहते हैं।

अकल्पित के अतिरिक्त अन्य गुरुजनों की चर्चा कर रहे हैं—

जो भाग्यशाली साधक सांसिद्धिक तो होता है पर उतना परिपूर्ण नहीं होता, तथा शास्त्र का ज्ञाता होता है, वह अकल्पितकल्पक गुरु कहलाता

'अहमेव परो हंसः..............................।'

इत्याद्युक्तेरात्मभावनाबलात्, परं गुर्वादिकमनपेक्ष्य शास्त्रवित्, स गुरुज्ञानस्य सांसिद्धिकत्वेनाकल्पितत्वात् आत्मभावनातः शास्त्रवेदनक्रमेण कल्पनाच्च 'अकल्पितकल्पकः' इत्यस्मच्छास्त्रे प्रोक्तः ॥ ५१ ॥

सांसिद्धिकवदस्यापि बहवो भेदाः, इत्याह

तस्यापि भेदा उत्कृष्टमध्यमन्दाद्युपायतः ॥ ५२ ॥

उपायः शक्तिपातः ॥ ५२ ॥

ननु अस्य स्वयं प्रवृत्तज्ञानपारिपूर्ण्याय किमात्मभावनैव निमित्तम्, उतान्यदपि किंचित् ? इत्याशङ्कयाह

भावनातोऽथ वा ध्यानाज्जपात्स्वप्नाद्व्रताद्धुतेः ।
प्राप्नोत्यकल्पितोदारमभिषेकं महामतिः ॥ ५३ ॥

अयं खलु महाज्ञानी भावनाद्यनन्तोपायमाहात्म्यात् गुर्वादिना परेणाकृतत्वात्, अकल्पितम् अत एवोदारं—महान्तम्, अभिषेकं प्राप्नोति—शास्त्रज्ञानादावधिकारवान्भवति, इत्यर्थः ॥ ५३ ॥

है। वह स्वयं यह भावना करता है कि "मैं वही परमहंस हूँ"। परिणामतः वह भावना के बल से सांसिद्धिक 'गुरु' के रूप में कल्पित न होने के कारण तथा अपने को 'हंस' कल्पित करने के कारण अकल्पितकल्पक कहलाता है ॥५१॥

सांसिद्धिक की तरह इसके भी बहुत से भेद होते हैं। इसके भेदों चर्चा कर रहे हैं—

उत्कृष्ट, मध्य और मन्द शक्तिपात के आधार पर इसके भी कई भेद होते हैं ॥५२॥

प्रश्न है कि स्वयं प्रवृत्त ज्ञान की परिपूर्णता के लिये क्या स्वात्मभावना ही पर्याप्त उपाय है या दूसरे उपाय भी हैं ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

ऐसा महासुबुद्ध ज्ञानी भावना के अतिरिक्त ध्यान, जप, स्वप्न, व्रत अथवा हवन आदि प्रक्रियायोग के माध्यम से भी स्वात्म संवित्ति देवता के अनुग्रह के अमृत से अभिषिक्त हो जाता है अर्थात् स्वात्म संवित् बोध बुद्ध हो उठता है ॥५३॥

ननु एव ज्ञानावाप्तौ भावनादिनिमित्तानन्त्ये किं प्रमाणम् ? इत्याशङ्कयाह

श्रीमद्वाजसनीये श्रीवीरे श्रीब्रह्मयामले ।
श्रीसिद्धायामिदं धात्रा प्रोक्तमन्यत्र च स्फुटम् ॥ ५४ ॥

इदमिति—भावनादीनां निमित्तानामानन्त्यम् ॥ ५४ ॥

एवमनेकागमोक्तावपि निदर्शनार्थं प्रथमं श्रीसर्ववीरग्रन्थं पठति

तस्य स्वेच्छाप्रवृत्तत्वात्-कारणानन्ततेष्यते ।
कदाचिद्भक्तियोगेन कर्मणा विद्ययापि वा ॥ ५५ ॥
ज्ञानधर्मोपदेशेन मन्त्रैर्वा दीक्षयापि वा ।
एवमाद्यैरनेकैश्च प्रकारैः परमेश्वरः ॥ ५६ ॥
संसारिणोऽनुगृह्णाति विश्वस्य जगतः पतिः ।

तत्र हि

'अनादिमति संसारे कारणं परमेश्वरः ।
स्वभावेनैव जन्तूनामनुग्रहपरः सदा ॥'

इत्यादिना परमेश्वरस्य स्वस्वान्त्र्यादेव अनुग्रहकारित्वमुपक्रम्य

'तया बद्धाञ्छिवो जन्तूंस्वेच्छया मोचयत्यतः ।'

भावनादि निमित्तों की प्रामाणिकता का कथन कर रहे हैं—

श्री वाजसनीय, वीर, ब्रह्मयामल, श्री सिद्धातन्त्र आदि इन ग्रन्थों में और अन्यत्र भी भावनादि निमित्तों के भेद प्रभेद का सविस्तर वर्णन किया गया है ॥५४॥

अनेक आगमों के सन्दर्भ के उपरान्त यहाँ श्रीसर्ववीर शास्त्र का उद्धरण दे रहे हैं—

साधक स्वेच्छा से शिवत्व की उपलब्धि के लिये प्रवृत्त होता है, इसमें बहुत सारे निमित्त होते हैं। परमेश्वर शिव ऐसे साधक को भक्तिसे, सुकर्म से, विद्या से, ज्ञान और धर्म के उपदेश से मन्त्र और दीक्षा से अनुगृहीत करता है।

इत्यादिना तदेव निर्वाह्य, अनेन ग्रन्थेन भगवतः स्वातन्त्र्येऽपि परानुग्रहे निमितान्तरोपलक्षितत्वमुक्तम्, तथाहि—तस्य परमेश्वरस्यैव भगवतः

'इच्छैव कारणं तस्य ....।'

इत्याद्युक्त्या स्वेच्छाया एवानुग्रहादिप्रवृत्तौ कारणत्वेऽपि अनुग्राह्यभेदात् तस्या अपि वैचित्र्यात् कारणानामानन्त्यमुच्यते, वस्तुतस्तु तदतिरेक्यन्यत् अस्यापेक्षणीयं नास्ति—इति बहुशः प्रागुक्तम्, तेन निखिलस्य जन्मवतो जन्तुचक्रस्य पालनादियोगात् पतिः' परमेश्वरोऽसौ तत्तदाशयानुसारेण कदाचिद्भक्त्या कदाचिद्योगेन –इत्येवमाद्यैरनेकैः कारणप्रकारैः संसारिणः—संकुचितं प्रमातृवर्गमनुगृह्णाति, संकोचापहस्तनेन पूर्णज्ञानरूपतया प्रथयतीत्यर्थः। 'एवमाद्यैः' इत्यनेन तपोजपादेर्ग्रहणम्, एवं—पूर्णज्ञानावाप्तावनेके उपायाः संभवन्ति, इति तात्पर्यार्थः ॥ ५५-५६ ॥

एवमुपदर्शितेऽपि निमित्तानन्त्यसाधनाय प्रमाणेऽधिकावापं कर्तुं श्रीब्रह्मयामलग्रन्थं पठति

मातृमण्डलसंबोधात्-संस्कारात्तपसः प्रिये ॥ ५७ ॥

ध्यानाद्योगाज्जपाज्ज्ञानान्मन्त्राराधनतो व्रतात् ।
सम्प्राप्यं कुलसामान्यं ज्ञानं कौलिकसिद्धिदम् ॥ ५८ ॥

मातॄणां—चक्षुरादिकरणेश्वरीणां, मण्डलस्य सम्यक् वृत्तिरूपतापरिहारेण शक्तिरूपतया परिज्ञानान्मातृमण्डलकर्तृकात् प्रियमेलापादिक्रमेण संबोधनाद्वा-- इत्येवमाद्यैरनन्तैर्निमित्तैः

'......................कुलमुत्पत्तिगोचरम् ।'

"अनादि अनन्त विश्व का कारण परमेश्वर है । वह अकारण कृपालु है।" यहाँ से "पाशबद्ध पशुजनों को परमेश्वर ही मुक्त करते हैं।" यहाँ तक उसी सिद्धान्त का निर्वाह किया गया है। इसीलिये परमेश्वर को 'जगत्पति' शब्द से विभूषित करते हैं ॥५५–५६॥

श्री ब्रह्मयामल ग्रन्थ का मत है कि, साधक मातृ-रूपिणी करणेश्वरी देवियों के सम्बोध से, ज्ञान से, संस्कार, तप ध्यान, योग, मन्त्र, आराधना, व्रत

इत्याद्युक्त्या कुले—स्वस्वरूपादतिरेकायमाणतया उत्पत्स्यमाने प्रमातृप्रमेयात्मनि विश्वत्र, सामान्यम्—अनुगामितया वर्तमानम्, अन्यथा हि अस्य भानमेव न भवेदिति भावः, अत एव कुले–आत्मनि भवा येयं सिद्धिः तां ददाति—स्वात्ममात्ररूपतया प्रस्फुरत्परप्रमात्रात्म ज्ञानमवश्यं प्राप्यते इत्यर्थः, संस्कारात्–दीक्षादेः ॥ ५७-५८ ॥

ननु यद्येवं, तर्हि अकल्पितकल्पकस्य गुरोः भावनादिहेतुजालनिष्ठत्वं नाम मुख्यं लक्षणम् ? इत्याशङ्कां ग्रन्थकृदेव स्वयं निराकर्तुमाह

तत्त्वज्ञानात्मकं साध्यं यत्र तत्रैव दृश्यते ।
स एव हि गुरुस्तत्र हेतुकालं प्रकल्प्यताम् ॥ ५९ ॥

यत् खलु स्वात्मलक्षणं सिसाधयिषितं परतत्त्वात्मकं पूर्ण ज्ञानं तदेव नाम यत्र क्वापि दृश्यते स एव अकल्पितकल्पको गुरुर्ज्ञेयो, न पुनर्भावनादिहेतुजालमात्रनिष्ठः, एवं हि

'नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति ।'

इतिन्यायेन भावनादौ हेतुजाले कृतप्रयत्नोऽपि कश्चित् कदाचित् पूर्णं ज्ञानं नासादयेत्—इति कथमिव अस्य अकल्पितकल्पकत्वं स्यात्, एवंरूपस्य ज्ञानस्य कादाचित्कत्वात् केनचित् कारणेन भाव्यम्, इत्युक्तं 'तत्र हेतुजालं प्रकल्प्यताम्' इति, तेनेह फलभूतं पूर्णज्ञानवत्त्वमेवास्य मुख्यं लक्षणम्–इति तात्पर्यार्थः ॥५९॥

आदि उपायों से भी कौलिक सिद्धि प्राप्त करता है । परिणामतः इसे कौलिकसिद्ध स्वात्म सम्बोध हो जाता है ॥५७–५८॥

आकल्पिक कल्पक गुरु और भावनादि हेतु जालनिष्ठ गुरुजनों के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त कर रहे हैं—

स्वात्मसंबोध साधना के द्वारा साधक जिस ज्ञान को पाना चाहता है, वही तत्त्वज्ञान है । वह जैसे भी हो, उसके होने पर साधक गुरु बन जाता है । हेतुओं के बाहुल्य की कल्पना कोई करता रहे । "कारण कार्यरूप में परिणत होते ही हों, यह अनिवार्य नियम नहीं है ।" इस उक्ति के अनुसार भावना इत्यादि के अनन्त भेद प्रभेदों में लगातार लगा साधक भी तत्त्वज्ञानी हो ही यह जरूरी नहीं । यह ज्ञान तो कभी भी किसी भी कारण से हो सकता है । इस लिए गुरुत्व का पूर्णज्ञान ही मुख्य लक्षण हो सकता है । हेतु जाल की प्रकल्पना मुख्य नहीं ॥५९॥

न च एतदस्मदुपज्ञमेव, इत्यर्थद्वारेण संवादयति

तत्त्वज्ञानादृते नान्यल्लक्षणं ब्रह्मयामले ।

'भावितः सुप्रसन्नात्मा जपहोमरतः सदा ।'

इत्यादि अन्यत् शास्त्रान्तरोक्तं लक्षणमपहाय, तत्वज्ञानमेव मुख्यं लक्षणं श्रीब्रह्मयामले गुरोरुक्तम्, इति वाक्यार्थः, यदभिप्रायेणैव

'सर्वलक्षणहीनोऽपि ज्ञानवान्गुरुरुत्तमः ।'

इत्यादि अन्यत्रोक्तम् ॥

ननु भावनादौ कृतप्रयत्नस्यापि न किंचित्फलं जायते इत्येतदागमेन विरुद्धयते ? इत्याशाङ्कां गर्भीकृत्य पुनरपि अर्थद्वारेण संवादयति

तत्रैव चोक्तं सेवायां कृतायामविकल्पतः ॥ ६० ॥
साधकस्य न चेत्सिद्धिः किं कार्यमिति चोदिते ।
आत्मीयमस्य संज्ञानक्रमेण स्वात्मदीक्षणम् ॥ ६१ ॥
सस्फुरत्वप्रसिद्ध्यर्थं ततः साध्यं प्रसिद्ध्यति ।

तत्र—श्रीब्रह्मयामले एव च—अविकल्पतः,

'......................संशयानो न सिद्ध्यति ।'

इत्याद्युक्त्या, विकल्पः—संशयः, तदभावात्—स्वपक्षदार्ढ्येन स्वकल्पाम्नातायां लक्षजपादिरूपायां सेवायां कृतायामपि, साधकस्य केनापि वैगुण्येन तत्फलभूता मनीषितार्थसंपत्तिलक्षणा सिद्धिः, न चेत्स्यात्, तदा किं तेन कार्यम्, इति

यह स्वोपज्ञ कथन नहीं है। आगम भी इसका समर्थन करता है—

ब्रह्म यामल भी "भावना भावित हो और सदा जप-हवन में लगा रहे।" इत्यादि दूसरे शास्त्रोक्त लक्षणों को महत्त्व नहीं देता। तत्त्वज्ञान को ही मुख्य लक्षण मानता है—इसी अभिप्राय से "सभी लक्षणों से हीन होने पर ज्ञानी गुरु ही सर्वोत्कृष्ट है।" यह दूसरे शास्त्र भी मानते हैं।

साध्य की सिद्धि के लिये शास्त्रीय तर्क प्रस्तुत कर रहे हैं कि, निश्छल सेवा से भी यदि साध्य की सिद्धि न हो तो संज्ञान क्रम से संविद् प्रत्यवमर्श रूप स्वात्मदीक्षा ही एक मात्र उपाय है—

भगवत्या चोदिते—प्रश्निते सति, आत्मीयम्—आत्मसंबन्धि, सं सम्यक्-संशयविषर्यासरहितम् 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्येवमात्म, यत् ज्ञानं, तस्य क्रमो-यथायथमभ्यासातिशयात् परधाराधिरोहः, तेन सस्फुरत्वप्रसिद्ध्यर्थम्, अर्थात्-जप्यस्य मन्त्रादेः स्वरूपोत्तेजनाय निमित्तान्तरभूतं, स्वात्मनो दीक्षणम्—पर-संविद्रूपतया प्रत्यवमर्शनं नाम, भगवतोत्तरमुक्तं, येन सिसाधयिषितं वस्तु साधकस्य प्रसिद्ध्यति—फलपर्यन्तां निष्पत्तिं यायादित्यर्थः ॥ ६०-६१ ॥

अत्रैव तात्पर्यार्थं व्याचष्टे

अनेन स्वात्मविज्ञानं सस्फुरत्वप्रसाधकम् ॥ ६२ ॥
उक्तं मुख्यतयाचार्यो भवेद्यदि न सस्फुरः ।

अनेन-श्रीब्रह्मयामलग्रन्थेन, साधकस्य स्वात्मीयमेव विज्ञानं जप्यस्य मन्त्रादेः सस्फुरत्वे निमित्तमुक्तं, यदि नाम मुख्यत्वेनाचार्यः परमेश्वरैकात्म्या-योगात् सस्फुरो न स्यात्, तेन सस्फुरे पुनराचार्ये सति तमेव स्वात्मनि दीक्षां कारयेत्, येनास्य मन्त्रोऽपि सस्फुरः स्यात् ।। ६२ ।।

ननु आचार्यः सस्फुरो भवतु अस्फुरो वा, किमनेन नः प्रयोजनं, सम-न्तरेण पुनः स्वयमेव दीक्षा न भवेत्, एवं हि आगमविरोध आपतेत्, तद-पव्याख्यानमेतत् ? इत्याशङ्कयाह

ब्रह्मयामल में ही देवी प्रश्नोत्तर के क्रम में यह निर्विवाद सत्य स्वीकृत है। यह भी कहा गया है कि "........संशयात्मा सिद्ध नहीं होता।" वस्तुतः संशय ही विकल्प है। इसे हटा देने पर अविकल्प दशा प्राप्त हो जाती है। लाखों जप करने पर भी यदि सिद्धि न हो तो स्वात्म दीक्षा के महान अभ्यास से 'संशय विपर्यास रहित आत्मा ही सब कुछ है।' ऐसा निर्विकल्प ज्ञान हो जाता है ॥६०-६१॥

इसी का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

ब्रह्मयामल में यह प्रतिपादित है कि जप्य मन्त्र आदि के सिद्ध होने में स्वात्मविज्ञान ही प्रमुख कारण है। आचार्य का मन्त्र-सिद्ध होना आवश्यक है। यदि ऐसा स्फुट गुरु न मिले तो साधक स्वात्मविज्ञान का आश्रय ले और सस्फुर आचार्य से ही दीक्षा लें ॥६२॥

तत्रैव च पुनः श्रीमद्रक्ताराधनकर्मणि ॥ ६३ ॥
विधिं प्रोक्तं सदा कुर्वन् मासेनाचार्य उच्यते ।
पक्षेण साधकोऽर्धार्धात् पुत्रकः समयी तथा ॥ ६४ ॥

तत्रैव–श्रीब्रह्मयामले, पुनः–समनन्तरोक्तप्रश्नोत्तरानन्तरं, श्रीमद्रक्तायाः–श्रीचण्डिकाया विधाने, प्रकर्षेण—गुर्वादिनैरपेक्षेण, उक्तं बिधिं तन्मन्त्र ग्रहणजपध्यानादिरूपं सदा–प्रत्यहं, साधकः कुर्वन्, मासेन अभिषेकादिपरिहारेण 'आचार्यः' उच्यते–तदुचितमधिकारमारभमाणो न प्रत्यवैतीत्यर्थः । एवं पक्षेण 'साधकः' सार्धेन—दिनसप्तकेन 'पुत्रकः' पादोनेन दिनचतुष्टयेन 'समयी' इति ॥ ६३–६४ ॥

ननु दीक्षामन्तरेण कथं समय्यादिरूपत्वं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

दीक्षयेज्जपयोगेन रक्तादेवी क्रमाद्यतः ।
गुरोरलाभे प्रोक्तस्य विधिमेतं समाचरेत् ॥ ६५ ॥

दीक्षयेदित्यनेन सर्वमेव गुरुकर्तृकं कर्मोपलक्षितम्, यदुक्तम्

'जुहोति जपति प्रेद्धे सर्वत्रैवात्र चण्डिका ।' इति ।

आचार्य भले ही सस्फुर हो या अस्फुर, यह तो सत्य है कि उसके विना दीक्षा नहीं हो सकती। विना दीक्षा के मन्त्र सस्फुरत्व का प्रकाश शिष्य में कैसे होगा ? इस तरह के आगमिक वैरस्य का निराकरण कर रहे हैं—

श्री ब्रह्मयामल शास्त्र में रक्तादेवी की आराधना विधि वर्णित है। एक मास तक वह विधि पूर्णतया अपनाने पर आचार्य, एक पक्ष में साधक, सात दिन में 'पुत्रक' तथा तीन दिन में 'समयी' हो जाता है ॥६३–६४॥

दीक्षा के विना 'समयी' आदि कैसे ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

सामयी आदि क्रम से ही दीक्षा होनी चाहिये। रक्ता देवी की निर्दिष्ट विधि का उपयोग आवश्यक है। गुरु के न मिलने पर इन विधियों के अनुसार आचरण से स्वात्मसंविद् का परिष्कार होता है, अणुत्व का निराकरण होता है और शिवत्त्व का संयोजन होता है। कहा गया है—

क्रमादिति—समय्यादिरूपात्। ननु एवं तर्हि गुरुप्रशंसाभिधायिनो निखिलस्यैव आगमस्यानर्थक्यमापतेत्? इत्याशङ्क्याह 'गुरोरलाभे' इत्यादि, प्रोक्तस्य—अकल्पितकल्पकादेः सस्फारस्य गुरोरलाभे सति, एतं—समनन्तरोक्तं, स्वयमेव मन्त्रग्रहणादिरूपं विधिं समाचरेत्—अनुतिष्ठेत्, अन्यथा पुनराचार्यमेव सर्वं कारयेत्, इति भावः ॥ ६५ ॥

ननु यद्येवं

'स्वयं गृहीतमन्त्राश्च क्लिश्यन्ते चाल्पबुद्धयः ।'

इत्यादिना पुस्तकाधीतविद्यानां क्लेशभागित्वाद्यात्मा दोषः कस्मादन्यत्रोक्तः? इत्याशङ्क्याह

मते च पुस्तकाद्विद्याध्ययने दोष ईदृशः ।
उक्तो यस्तेन तद्दोषाभावेऽसौ न निषिद्धता ॥ ६६ ॥

मते इति—श्रीसिद्धामते, यद्वक्ष्यति

'पुस्तकाधीतविद्याश्चेत्युक्तं सिद्धामते यतः ।' इति ।

तेनेति-भगवता, ईदृश इति—समनन्तरोक्तः स्फुरत्त्वाभावलक्षणः, पुस्तकावस्थिता हि मन्त्रा निर्वीर्या इति ततो गृहीतानां तेषां, न स्वसिद्धिसाधनाय निजं तेजः स्फुरेत्, इति—पुस्तकाधीतविद्यानां सिद्ध्यभावात् क्लेशमात्रभागित्वमुक्तम्, यद्वक्ष्यति

"चण्डिका देवी इस परिवेश में स्वयं जप और होम आदि का सम्पादन करती हैं।" चण्डिका देवी की कृपा से ही स्वयं मन्त्र ग्रहण रूप महत्त्वपूर्ण कार्य करना भी सफल होता है। अन्यथा आचार्य से ही यह कार्य होना चाहिये ॥६५॥

पुस्तक से स्वाध्याय के बल पर मन्त्र या विद्या ग्रहण करने के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त कर रहे हैं—

श्री सिद्धामत में भी पुस्तक से विद्या के स्वाध्याय में दोष का निर्देश है। वहाँ भगवान् ने कहा है कि "विद्या यदि पुस्तक से ही पढ़ी जायेगी तो उससे सिद्धि नहीं होगी। इससे स्वात्म तेज का प्रस्फुरण नहीं होगा। तथा

'लिपिस्थितस्तु यो मन्त्रो निर्वीर्यः सोऽत्र कल्पितः ।
संकेतबलतो नास्य पुस्तकात्प्रथते महः ।।' इति ।

स एव चेद्यदा दोषो न स्यात् तदा नायं कश्चिन्निषेधः, 'पुस्तकामन्त्रा नाध्येयाः' इति, पुस्तकाधीतानां हि मन्त्राणां समनन्तरोक्तया युक्त्या केषांचन निजं तेजः प्रस्फुरेत्, यद्वक्ष्यति

'ये तु पुस्तकलब्धेऽपि मन्त्रे वीर्यं प्रजानते ।
ते भैरवीयसंस्काराः प्रोक्ताः सांसिद्धिका इति ।।' इति ।।६६।।

एतदभिप्रायावेदकं च तत्रत्यमेव ग्रन्थं पठति

मन्त्रद्रव्यादिगुप्तत्वे फलं किमिति चोदिते ।
पुस्तकाधीतविद्या ये दीक्षासमयवर्जिताः ॥६७॥

तामसाः परहिंसादि वश्यादि च चरन्त्यलम् ।
न च तत्त्वविदुस्तेन दोषभाज इति स्फुटम् ।।६८।।

इह खलु

"लिपि में लिखित मन्त्र निर्वीर्य होता है। संकेत के प्रभाव से भी उसमें उद्दीप्ति नहीं होती।" 'पुस्तक से मन्त्र नहीं पढ़ना चाहिए' यद्यपि यह सिद्धान्त है किन्तु यदि स्वतः प्रेरणा हो और "भगवत्कृपा से मन्त्र से स्वात्म शक्ति का उल्लास परिलक्षित हो तो उसमें किसी प्रकार के दोष की सम्भावना नहीं होती है। ऐसे साधक भैरवीय संस्कार सम्पन्न होते हैं। उन्हें सांसिद्धिक गुरु कहते हैं।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सामान्यतया गुरु से विद्या गृहीत करना उत्तम है। शास्त्र से और स्वतः भी सिद्धि सम्भव है। इसमें निषिद्धता नहीं है ।।६६।।

इन्हीं तथ्यों के समर्थक सन्दर्भ उद्धृत कर रहे हैं—

मन्त्र ओर द्रव्य के गोपनीय रखने के सम्बन्ध में मातृशक्ति के प्रश्न के उत्तर में श्री भगवान् ने कहा कि जो व्यक्ति पुस्तक मात्र से विद्या का अध्ययन कर लेते हैं तथा दोक्षा और समय चर्चा आदि से वंचित रहते हैं, वे तामस ज्ञाता होते हैं। वही लोग मारण वशीकरण आदि प्रयोग करते हैं। वे वास्तविक तत्त्ववेत्ता नहीं होते। स्फुट है कि वे दोष के भागी होते हैं।

'कथितं गोपितं तेभ्यस्तस्माल्लेख्यं न पुस्तके ।
गुरुवक्त्रात्तु लभ्येत अन्यथा न कदाचन ।।' इति ।

तथा—

'स्वमन्त्ररक्षणं यत्नात्सर्वदा कारयेत्सुधीः ।'

इत्यादि भगवदुक्तं बहुशोऽवधार्य, मन्त्रादीनां पुस्तकाद्यलिखनेन 'गोपने किं प्रयोजनम्' । इति देव्या प्रश्निते, भगवता 'पुस्तकाधीतविद्या' इत्यादिनोत्तरं दत्तं, मन्त्राणां हि पुस्तकादौ लिखने केचन 'दीक्षासमयवर्जिताः' अत एव 'तामसाः' तमो–बौद्धपौंस्नत्वेन द्विप्रकारमज्ञानं, तत्र भवा ज्ञानशून्याः, ततस्ता-नधीत्य 'परहिंसाद्यर्थं चरन्ति' न पुनस्तत् सिद्ध्येत्, यतस्ते मन्त्रादीनां तत्वं न जानते गुरुमुखाभावात्, ततश्च स्फुटमेव तेषां निरयपातादिदोषभागित्वं स्यात्, यतस्ते पुस्तकाधीतत्वेन मन्त्राणां निर्वीर्यत्वात्, तत्तद्वश्याद्यारम्भमाणा-स्तत्सिद्ध्यभावात्, शास्त्रे स्वयं शिथिलितास्थाः सन्तः, परेषामपि तत्र अनादरमुत्पादयन्ति—इति शास्त्रप्रक्रियोत्सादे निमित्तत्वमासादयेयुः ।।६७–६८।।

अत्रैव वैषम्यात् पदयुगं व्याचष्टे

पूर्वं पदयुगं वाच्यमन्योन्यं हेतुहेतुमत् ।

स्वयं शिव ने "कहा और उसे गुप्त भी रखा । इसी से पुस्तक में ऐसी गोपनीय बात नहीं लिखनी चाहिये । केवल गुरु मुखारबिन्द से मन्त्र ग्रहण करें । किसी अवस्था में दूसरी तरह नहीं ।" तथा "बुद्धिमान् मनुष्य हर तरह अपने मन्त्र की रक्षा करे ।" इस प्रकार की भगवान् की वाणी को अच्छी तरह सावधानी पूर्वक अवधारणा कर मन्त्रों के सम्बन्ध में जागरूक रहना चाहिये । बौद्ध और पौंस्न दोनों अज्ञान ही तम हैं । उनसे प्रभावित पुरुष तामसिक होते हैं । शास्त्र के प्रति उनमें श्रद्धा नहीं होती । दूसरों के मन पर उनका प्रभाव नहीं पड़ता । वे उल्टे शास्त्र का अनादर ही करने लगते हैं । इससे शास्त्रीय और साम्प्रदायिक परम्पराओं के उच्छिन्न होने का भय भी बना रहता है ।।६७-६८।।

श्लोक ६७ की द्वितीय अर्धाली में प्रयुक्त दोनों पदों की व्याख्या कर रहे हैं—

उक्त दोनों पद एक दूसरे के कारण रूप हैं । जैसे—जिसने पुस्तक से

अन्योन्यमिति—यतः पुस्तकाधीतविद्या अतो दीक्षासमयवर्जिताः, यतश्च दीक्षासमयवर्जिताः अतश्च पुस्तकाधीतविद्या इति ॥

एवमकल्पितकल्पकं गुरुमभिधाय कल्पितमपि अभिधातुमुपक्रमते

यस्तु शास्त्रं विना नैति शुद्धविद्याख्यसंविदम् ॥६९॥
गुरोः स शास्त्रमन्विच्छुस्तदुक्तं क्रममाचरेत् ।

यः कश्चित् पुनः शास्त्रपरामर्शमन्तरेण सत्तर्कात्मिकां शुद्धविद्याख्यां संविदं नाभ्येति यस्य स्वत एव सत्तर्को नोदियात्, स कस्यापि अकल्पितादेर्गुरोः सकाशात् शुश्रूषादिना शास्त्रमन्वेष्टुमिच्छुः सन् वृद्धव्यवहाराद्यधिगतं शास्त्रोक्तमेव 'इदं कृत्वा इदं कुर्यात्' इत्येवमात्मकं क्रममाचरेत्, येनास्य गुर्वाराधनक्रमेण शुद्धविद्योदयः स्यादिति ॥६९॥

तदाह

येन केनाप्युपायेन गुरुमाराध्य भक्तितः । ७०॥

विद्या का स्वाध्याय किया है, वह दीक्षा के समय से (नियमित ब्रह्माचरण से) रहित होता है। साथ ही जो दीक्षा के नियमित क्रिया योग से वंचित होता है, वही पुस्तक से विद्या का स्वाध्याय करने को विवश होता है।

इस प्रकार अकल्पित कल्पक गुरु का कथन कर कल्पित गुरु के वर्णन का उपक्रम कर रहे हैं—

शास्त्र परामर्श के विना शुद्ध विद्यात्मिका संवित् के उदित न होने पर गुरु से शास्त्रीय रहस्य जानने का यत्न करें।

जब तक शुद्ध विद्या का उदय नहीं होता, साधन अधूरा और माया के आवरण से आवृत अणु ही बना रह जाता है। इसके लिये गुरु का आश्रय अनिवार्य है। सत्तर्क रूप शुद्ध विद्यात्मिका संविद् को प्राप्त करने के लिये किसी अकल्पित आदि गुरु की सेवा में जाकर उसके आदेशानुसार क्रमिक रूप से सारी जानकारी लें। इस प्रकार सारी प्रक्रिया के आचरण के बाद ही उसे शुद्ध विद्यात्मिका (श्लोक २४) संविद् की उपलब्धि होती है। वहीं कह रहे हैं—

जिस किसी तरह गुरु की उपासना करे। उसके सन्तुष्ट हो जाने पर शांकरी दीक्षा पाकर साधक सारा शास्त्र रहस्य जान जाता है। पहले गुरु की

तद्दीक्षाक्रमयोगेन शास्त्रार्थं वेत्त्यसौ ततः ।
अभिषेकं समासाद्य यो भवेत्स तु कल्पितः ॥७१॥
सन्नप्यशेषपाशौघविनिवर्तनकोविदः ।

इह खलु

'तमाराध्य ततस्तुष्टाद्दीक्षामासाद्य शांकरीम् ।'

इत्यादिशास्त्रोक्तक्रमेण प्रथमं गुरोरेव तावदाराधनं कार्यं, तच्च नोपायमन्तरेण भवेत्—इतितराम् तत्स्वीकारे यतितव्यम्, स च नैकः—आराधनीयानामानैक्यात्, कश्चिद्धि शुश्रूषया, कश्चिद्धनेन, कश्चिच्च प्रतिविद्यादिना आराध्यते, इति येन केनाप्युपायेन' इति सामान्येनोक्तं यस्य हि यथाराधनं सिद्ध्यति तस्य तथा कार्यमिति भावः, तच्च न दृष्टतत्कार्यार्थमेत्र कार्यम्, इत्युक्तं 'भक्तित' इति आराधिताच्च तस्माद्दीक्षाक्रमसम्बन्धो भवेत्—येनास्य शास्त्राधिगमः सिद्ध्येत्, अन्यथा हि शास्त्रश्रवणमात्रेऽपि अधिकारो न स्यात्, तदधिगमे पुनः का नाम संभावनेति भावः, यदुक्तम्

'अदीक्षितानां पुरतो नोच्चरेच्छिवसंहिताम् ।' इति ।

तदनन्तरं च

'संहितापारगस्येह सेकः कार्योऽन्यथा नहि ।'

इत्याद्युक्तदृशा 'अभिषेकम्' अर्थात् तस्मादेव गुरोः सम्यक् पूर्णज्ञानादिरूपत्वेनासाद्य, यः सर्वत्रैव परानुग्रहादावधिकृती भवेत्, स पुनराचार्यान्तरेण निष्पादित-

---

उपासना और आराधना करनी चाहिये । आराधना के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं । यह प्रयत्न करना चाहिये कि गुरु इसे स्वीकार कर ले । शुश्रूषा धन, विद्याप्रतिदान इत्यादि से गुरु की आराधना होती है । जैसे भी हो उसकी स्वीकृति अनिवार्य है । यह मात्र दिखाने के लिये और स्वार्थ सिद्धि के लिये नहीं अपितु भक्तिभावना से होना चाहिये । आराधना से दीक्षा का सुयोग होता होता है । इससे शास्त्रीय रहस्य का उद्घाटन होता है । इसके विना शास्त्र में अधिकार भी नहीं मिलता । कहा गया है—"दीक्षा रहित साधक के समक्ष शिव संहिता का उच्चारण भी नहीं होना चाहिये ।" इसके बाद भी "संहिता में पारङ्गत होने पर ही उसका अभिषेक करना चाहिये अन्यथा नहीं ।" इस

त्वात् कल्पितोऽपि सन्, अशेषस्य पाशौघस्य, विशेषेण—निःसंस्कारं, निवर्तने कोविदः—प्रगल्भते इत्यर्थः। अनेन कल्पितत्वेऽपि अस्य फलतः कश्चिदकल्पितान्न विशेषः—इत्यावेदितम्। परमेश्वर एव हि आचार्यमूर्तिमाश्रित्य अशेषपाशौघविनिवर्तनं कुर्यात्, तदुक्तम्

'यस्मान्महेश्वरः साक्षात्कृत्वा मानुषविग्रहम्।
कृपया गुरुरूपेण मग्ना प्रोद्धरति प्रजाः ॥' इति।

एकत्र किं वस्तुतः कल्पिताकल्पितविभागेन इति भावः ॥७०–७१॥

एवमकल्पितत्वेऽपि कस्यचिद्यथा स्वात्मज्ञानपारिपूर्ण्याय भावनादिना कल्पितत्वमपि संभवेदिति 'अकल्पितकल्पकः' उक्तः, तथा कल्पितस्यापि गुर्वाद्यनपेक्षमेव स्वप्रतिभाबलात् क्वचिच्छास्त्रेऽधिगमो जायते–इत्यकल्पितत्वं भवेत्, इति कल्पिताकल्पिताख्यं गुरुमप्यभिधातुमाह

यो यथाक्रमयोगेन कस्मिंश्चिच्छास्त्रवस्तुनि ॥७२॥
आकस्मिकं व्रजेद्बोधं कल्पिताकल्पितो हि सः।

यः कश्चित्कल्पितो गुरुः, कस्मिंश्चित्-लोकोत्तरे शास्त्रीये पारमार्थिकप्रमेयरूपे वस्तुनि, आकस्मिकं–गुर्वाद्यनपेक्षमेव, यथाक्रमयोगेन-यथावस्तु, बोधमासादयेत्, स कल्पितत्वेऽपि स्वयमेव बोधप्रवृत्तेरकल्पितः ॥७२-॥

उक्ति के अनुसार अभिषेक प्राप्त कर वह कल्पित होते हुये भी समस्त पापराशि के विध्वंस में समर्थ हो जाता है। यहाँ कल्पित अकल्पित का भेद समाप्त हो जाता है। यह ध्यान देने की बात है कि—"साक्षात् परमेश्वर ही आचार्य का शरीर धारण कर गुरु रूप में प्रत्यक्ष होते हैं और भवसिन्धु में डूबते उतराते सांयात्रिकों का उद्धार करते हैं।" ॥७०–७१॥

गुरु आदि की अपेक्षा के बिना अपनी प्रतिभा के बल पर शास्त्र का अधिगम और शुद्धविद्योदय हो जाने पर वह साधक अकल्पित गुरु कहलाने लगता है। इस तरह वह कल्पिताकल्पक सिद्ध गुरु हो जाता है। उसे गुरु दीक्षा की आवश्यकता नहीं होती। यही कह रहे हैं—

जो कल्पित गुरु किसी लोकोत्तर पारमार्थिक शास्त्रीय वस्तु रूप प्रमेय में अनुप्रवेश कर स्वयं, गुरु की अपेक्षा के विना आकस्मिक बोध प्राप्त कर लेता है वह कल्पिताकल्पक गुरु है ॥ ७२ ॥

ननु कल्पितस्य गुरोः क्वचिदंशे यद्यकल्पितत्वं भवेत् तावता किम् ? इत्याशङ्कयाह

तस्य योऽकल्पितो भागः स तु श्रेष्ठतमः स्मृतः ॥७३॥

उत्कर्षः शुद्धविद्यांशतारतम्यकृतो यतः ।

श्रेष्ठतमत्वे शुद्धविद्यातारतम्यकृत उत्कर्षो हेतुः–शुद्धविद्याया एव तरतमभावो हि अकल्पितत्वादौ निमित्तमिति भावः ॥७३-॥

ननु 'कल्पितस्याकल्पितस्य वा गुरोः फले न कश्चिद्विशेष' इति समनन्तरमेवोक्तं, तदकल्पितस्य कल्पितापेक्षया श्रेष्ठतमत्वे किं निमित्तम् ? इत्याशङ्कयाह

यथा भेदेनादिसिद्धाच्छिवान्मुक्तशिवा ह्यधः ॥७४॥

तथा सांसिद्धिकज्ञानादाहृतज्ञानिनोऽधमाः ।

तत्संनिधौ नाधिकारस्तेषां मुक्तशिवात्मवत् ॥७५॥

किं तु तूष्णीं-स्थितिर्यद्वा कृत्यं तदनुवर्तनम् ।

यद्यपि भेदेश्वरवादे

प्रश्न है कि यदि कल्पित गुरु को आंशिक रूप से अकल्पितत्व भी प्राप्त हो जाय तो इससे क्या अन्तर पड़ता है ? इसी का उत्तर दे रहे हैं—

ऐसे गुरु का अकल्पित अंश ही श्रेष्ठ माना गया है। यह उत्कर्ष शुद्धविद्यांश के तारतम्य से ही सम्भव है ॥ ७३ ॥

कल्पिताकल्पित गुरु में भी फल की दृष्टि से कोई वैशिष्ट्य नहीं प्रतीत होता। ऐसी स्थिति में कल्पित गुरु से अकल्पित गुरु को श्रेष्ठ मानने का क्या कारण है ? इसी प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

भेदवाद में जैसे आदि सिद्ध शिव से मुक्त शिव की श्रेणी कम है, वैसे ही सांसिद्धिक ज्ञान से आहृत ज्ञान अधम श्रेणी का होता है। सांसिद्धिक गुरु के समक्ष अन्य गुरुओं का मुक्त शिव की तरह कोई अधिकार नहीं होता। इसलिये उनके सामने मौन रहना ही अच्छा है अथवा उनका अनुवर्त्तन ही उचित है।

'......................परेह शिवसमता।'

इत्याद्युक्तेः अणूनां सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वाद्यभिव्यक्तेरविशेषात् 'शिवसाम्यं नाम मुक्तिरिष्यते' तथापि मुक्ताणुभ्योऽस्यास्ति विशेषो—यदयमनादिसिद्ध इति, तेषां पुनः सर्वज्ञत्वादि तदुपाधिकम्, इति तथा सर्वज्ञत्वाद्यविशेषेऽपि तस्मान्मुक्तशिवा न्यूनाः तथैव अकल्पितादपि गुरोः कल्पितादयः, अस्य हि स्वत एवं प्रवृत्तेरनुपाधिकं ज्ञानम्, एषां पुनः परोपाधिकमिति, अत एव यथा परशिवसंनिधौ मुक्तशिवानां सृष्ट्याद्यधिकारित्वे नाधिकारः, तथैव सांसिद्धिकस्य गुरोः संनिधाने कल्पितादीनां दीक्षादौ, इति युक्तमुक्तम् 'अकल्पितः श्रेष्ठतमः' इति । ननु यद्येवं तत् किं तत्संनिधौ मुक्ताणुवत् कल्पितादयोऽपि किंचित् कुर्वन्ति न वा ? इत्याशङ्क्योक्तं 'किं तु तूष्णींस्थितिः' इत्यादि ॥७४-७५॥

ननु इह स्वतः प्रवृत्ततर्कस्यापि अकल्पितस्य यन्नाम शास्त्रादिसापेक्षत्वं प्रागुक्तं तत् किमस्य दूषणमुत भूषणम् ? इत्याशङ्क्याह

यस्त्वकल्पितरूपोऽपि संवाददृढताकृते ॥७६॥

अन्यतो लब्धसंस्कारः स साक्षाद्भैरवो गुरुः ।

यः पुनरकल्पितरूपोऽपि स्वानुभवमात्रगोचरस्य स्वयंप्रवृत्तस्य ज्ञानस्य परत्रापि तथोपलभ्यमानत्वात्मना संवादनेन 'एवमेतत् नान्यथा' इत्येवं-रूपं

भेदेश्वरवादी कहते हैं कि "शिव साम्य ही परा मुक्ति है।" ऐसी स्थिति में अणु, मुक्ताणु और आदि शिव की भेदवादिता स्पष्ट है।

तीनों यद्यपि शिव की ही अवस्थायें हैं फिर भी भेदेश्वरवाद श्रेणी विभाजन करता है और उच्च तथा अधम स्थिति की कल्पना करता है। उसी तरह ज्ञान में भी अनुपाधिक और सोपाधिक भेद से और ज्ञानी में भी अकल्पित कल्पित गुरु आदि भेद दृष्टि स्वाभाविक है। इसीलिये अकल्पित को श्रेष्ठतम गुरु कहते हैं ॥ ७४–७५ ॥

अकल्पित या सांसिद्धिक का सत्तर्क स्वतः प्रवृत होता है (श्लोक ४०) इसे शास्त्र की भी अपेक्षा होती है। प्रश्न है कि उसका यह दूषण है या भूषण ? यही कह रहे हैं—

अकल्पित रूप गुरु में स्वानुभव की मुख्यता होती है। दूसरे मस्तिष्कों में भी यह सम्भव है—इस प्रकार का संवादात्मक विमर्श उनमें स्फुरित

दार्ढ्यं कर्तुम्, अन्यतो—गुरुशास्त्रादेः समस्तात्, गुरुतः शास्त्रतो वा व्यस्तात् प्राप्तातिशयः स स्वात्मनि नैराकाङ्क्ष्येण 'साक्षाद्भैरवः'—पूर्णपरसंविदाविष्ट इत्यर्थः ॥७६-॥

ननु कथं संवादमात्रादेव एतत्स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

यतः शास्त्रक्रमात्तज्ज्ञगुरुप्रज्ञानुशीलनात् ॥७७॥
आत्मप्रत्ययितं ज्ञानं पूर्णत्वाद्भैरवायते ।

यतः शास्त्राधिगमक्रमेण शास्त्रज्ञगुरुप्रज्ञाया अनुशीलनाच्च 'इत्थमिदं, नानित्यम्' इत्येवंरूपात् पर्यालोचनात् ससंवादं सत् ज्ञानम् आत्मनि संजात-प्रत्ययम् 'एवमेवैतत्, नान्यथा' इत्येवंनिश्चयोत्पादात् दार्ढ्यं प्राप्तम्, अत एव नैराकाङ्क्ष्यात् पूर्णं सत् भैरवायते—निराशंसानुत्तरपरज्ञानरूपतया प्रस्फुरति, इत्यर्थः ॥७७॥

अत एवागमोऽप्येवम्, इत्याह

तेन श्रीकिरणोक्तं यद्गुरुतः शास्त्रतः स्वतः ॥७८॥
त्रिप्रत्ययमिदं ज्ञानमिति यच्च निशाटने ॥
तत्संघातविपर्यासविग्रहैर्भासते तथा ॥७९॥

होता है। उनमें यह तथ्य ऐसा ही है—इस प्रकार की दृढ़ता भो होती है। साथ ही गुरु से या शास्त्र से या दोनों से वह संस्कारातिशय सम्पन्न होता है। ऐसा गुरु साक्षाद् भैरव ही है ॥ ७६ ॥

स्वात्म संवाद के सम्बन्ध में कह रहे हैं—

शास्त्र के चिन्तन और शास्त्रकार की प्रज्ञा के अनुशीलन से 'यह ऐसा ही है' यह शाश्वत है, यह अनित्य नहीं है—इस प्रकार के पर्यालोचन का अवसर मिलता है। यह विचारक और प्राज्ञ के स्वात्म संवाद का एक अनुभव-गम्य स्वरूप है। इससे स्वात्म विमर्श को दृढ़ता मिलती है और आत्मविश्वास बढ़ता है। ऐसा ज्ञान निरपेक्ष और पूर्ण होता है। यही अनुत्तर ज्ञान साक्षाद् भैरवज्ञान की तरह शाश्वत स्फुरित सा होने लगता है ॥ ७७ ॥

त्रिप्रत्ययमिति, यदुक्तं तत्र

'त्रिप्रत्ययमिदं ज्ञानमात्मा शास्त्रं गुरोर्मुखम् ।'

इति, तेनाकल्पितस्यापि गुर्वाद्यपेक्षणेन हेतुना, श्रीकिरणादौ यत् परतत्त्वज्ञाने गुर्वादि कारणत्रयमुक्तं तत् संघातादिरूपत्वेन, तथा—उक्तेन प्रकारेण, भासते—सर्वस्यैव अनुभवसिद्धतया प्रस्फुरतीत्यर्थः, संघातः—समस्तत्वं, विपर्यासः—उक्तक्रमान्यथाभावः, कस्यचित् स्वतः प्रवृत्तेऽपि ज्ञाने गुरुशास्त्राभ्यां पूर्णता भवेत्, इति भावः, विग्रहो—व्यस्तत्वं—कस्यचिद्धि गुर्वादिभिरेककैरेव ज्ञानं जायते, इत्याशयः ॥ ७८–७९ ॥

ननु यदि नाम परतत्त्वज्ञाने गुर्वादीनां समस्तानामेव कारणत्वं, तत् कथं व्यस्तानामप्युक्तं, व्यस्तत्वेऽपि वा एकस्मादेव कार्यसिद्धेः किमन्येन ? इत्याशङ्क्याह

करणस्य विचित्रत्वाद्विचित्रामेव तां छिदम् ।
कर्तुं वासीं च टङ्कं च क्रकचं चापि गृह्णते ॥८०॥
तावच्च छेदनं ह्येकं तथैवाद्याभिसंधितः ।

तक्षादयो हि करणस्य छिदिक्रियायां साधकतमस्य वास्यादेर्विचित्रत्वात् तथाविधामेव तां छिदं—द्वैधीभावं कर्तुं समस्तमसमस्तं वा तदुपाददते इति

आगमिक विज्ञान भी यही कहता है—

"स्वात्म, शास्त्र और गुरु इन तीनों से ज्ञान होता है। इसलिये इसे त्रिप्रत्यय ज्ञान कहते हैं।" इस प्रकार श्रीकिरण या निशाटन की उक्तियों के अनुसार यह ज्ञान कभी इन तीनों के संघात से होता है, कभी स्वतः प्रवृत्तज्ञान की पूर्णता शास्त्र और गुरु से या विग्रह से अर्थात् इन सबसे या एक से ही हो जाती है। संघात, विपर्यास या विग्रह तीनों अवस्थायें अनुभव सिद्ध हैं ॥७८-७९॥

प्रश्न उपस्थित होता कि यदि परतत्त्व के ज्ञान में सभी गुरु निमित्त हैं, तो व्यस्त और उनके भेदों के उल्लेख की आवश्यकता ही क्या है ? इसी का उत्तर दे रहे हैं—

कार्यसिद्धि के साधन भी विचित्र होते हैं। उदाहरण स्वरूप एक बढ़ई शिल्पी एक ही छेदन प्रक्रिया के लिये बसुली, रखानी, टाँकी, पकड़, छेनी

वाक्यार्थः । लोके हि सरले यथा महति दारुणि वास्यादिभिर्व्यस्तैरवच्छेदः क्रियते वक्रकोटरादौ च समस्तैरित्याशयः । ननु करणवैचित्र्यात् कार्यवैचित्र्ये नास्ति विवादः, तत् वास्यादेः करणस्य भेदाच्छिदिक्रियापि भिन्नभिन्नैव, इति—व्यस्तैः समस्तैर्वा कथमेभिरेकमेव कार्यं क्रियते ? इत्याशङ्क्याह 'तावच्च' इत्यादि, तावत्—तत्तद्वास्यादिकरणनिर्वर्त्यमियत् यच्छेदनं तद्धयेकं न भिन्नभिन्नं, तथैव चिच्छिदिषात्मन एकस्यैव आद्यस्याभिसंधानस्य भावात्—परामर्शभेदादेव हि परामृश्यभेदो भवेदिदि भावः, एकमेकस्यामपि छिदिक्रियायां वास्यादीनां समस्तानां व्यस्तानां च करणत्वे न कश्चिद्दोषः ॥ ८० ॥

एतदेव प्रकृते योजयति

इत्थमेव मितौ वाच्यं करणस्य स्वकं वपुः ।।८१।।

न स्वतन्त्रं स्वतो मानं कुर्यादधिगमं हठात् ।

प्रमात्राश्वासपर्यन्तो यतोऽधिगम उच्यते ।।८२।।

आश्वासश्च विचित्रोऽसौ शक्तिपातवशात्तथा ।

प्रमितेऽपि प्रमाणानामवकाशोऽस्त्यतः स्फुटः ।।८३।।

करणस्य गुर्वादेः, स्वकम्—अनन्यसाधारणं, वपुः—स्वरूपं, तर्कज्ञानात्मिकायां मितौ, इत्थम्—उक्तेन व्यस्तसमस्तात्मना प्रकारेणैव वाच्यं,

---

और आरी आदि विचित्र साधनों को अपनाता है। उसी प्रकार गुरु भी जड़ता के छेदन के लिये साधन बनता है। साधक शिष्य के ऊपर निर्भर करता है कि वह समस्त व्यस्त किसी प्रकार के गुरुजनों द्वारा संदेह पादप को काटने में समर्थ हो। कारण और कार्य के फलवैचित्र्य की ओर ध्यान नहीं देना है। परामर्श और परामृश्य का दृष्टिकोण ही यहाँ महत्त्वपूर्ण है। आद्य अभिसंधि रूप संशय के उच्छेद की आकांक्षा ही प्रधान होती है ॥ ८० ॥

इसी तथ्य को स्वात्म परामर्श पर चरितार्थ कर रहे है—

शिष्य की सत्तर्कात्मिका शुद्ध विद्याविभाकी स्थिति और इस प्रकार की प्रमिति में करण रूप समस्त व्यस्त गुरु का महत्त्वपूर्ण उपयोग है। इनका विनियोग वहाँ पूरा हो जाता है और तत्त्व की जानकारी पूरी हो जाती है। यह सिद्धान्त सत्य है कि मान स्वयं में स्वतन्त्र नहीं है। यहाँ तो हठ पूर्वक

यद्यपि गुर्वादेरेकैकस्यापि तत्त्वाधिगमेऽस्ति साधकतमत्वं, तथापि यावता प्रमातुराकाङ्क्षा विरमेत् तावदेव एषां व्यस्तानां समस्तानां वा विनियोगः, इत्याकूतम्, अत एव न मानं नाम मानत्वात्स्वतन्त्रम् इत्येव बलात्कारेण प्रमात्रपेक्षां विना अधिगमं विदध्यात्, अधिगमो हि नाम 'ज्ञातोऽयं मयार्थः' इत्येवंपर्यवसानः प्रमातुराश्वासः, स एव चेन्नोपन्नः, को नाम अधिगमार्थः, स च आश्वासः शक्तिपातस्य तीव्रतमत्वादिभेदात् तथा तीव्रतमत्वादिनैव क्रमेण विचित्रो, येन—गुर्वादिर्व्यस्यात् समस्ताद्वा उत्पद्यते इत्याशयः, अत एव बहिः प्रमितेऽपि अर्थे प्रमातुरा श्वासानुत्पादात् प्रमाणान्तराणामस्ति निर्बाध उपयोगः ॥ ८१–८३ ॥

ननु अर्थालोकादिरूपा सामग्री चेन्न संघटिता, तत् ज्ञानमेव नोत्पद्यते, इति कस्तत्र अधिगमार्थः, अथ चेत् संघटिता, तत् प्रथमाक्षसंनिपात एव प्रत्ययान्तरानपेक्षिणः प्रमातुरनधिगतार्थविषयोऽधिगमः स्यात्, एवमपि उत्तरकालं धारावाहीनि विज्ञानानि तत्र चेत्प्रवर्तन्ते, तत् प्रवर्तन्तां नाम, को दोषः, तेषां पुनस्तत्रैव प्रमाणत्वं न भवेत्—आद्येनैव ज्ञानलक्षणेन अपूर्वस्यार्थस्य प्रकाशनात्, अपूर्वार्थप्रकाशत्वमेव हि नाम प्रमाणत्वम्, यदाहुः

'अनधिगतविषयं प्रमाणम् अज्ञातार्थप्रकाशो वा ।'

तत्त्व का अधिगम ही लक्ष्य है। अधिगम साभिप्राय प्रयुक्त शब्द है। जानकारी ऐसी हो जिस पर पूरा अधिकार हो। ऐसी जानकारी में ही भरोसा पैदा होता है। अपने ऊपर पूरा विश्वास! इसे ही प्रमाता का आश्वास कहते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो वह अधिगम अधूरा ही हो सकता है। भरोसेमन्द जानकारी एक प्रकार का शक्तिपात ही है। चाहे वह तीव्र हो, तीव्रतर हो अथवा तीव्रतम। आन्तरिक बोध के इस विचित्र आश्वासन में आनन्दवाद का उल्लास होता है। यहाँ प्रमाणों की कोई आवश्यकता नहीं होती पर बाह्य बोध में तो प्रमाणों के लिये हमेशा अवकाश रहता ही है॥ ८१-८३ ॥

विषय वस्तु हो और प्रकाश हो, तो यह जान पड़ता है कि यहाँ क्या है। दृष्टि में ही जो कुछ दीख पड़ता है, उसमें किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। पहले प्रमाता जिस विषय को नहीं जानता था, उसे जानने लगा। यही अधिगम की स्थिति है।

इति, प्रमातुरपि एतावतैव फलवत्त्वं 'ज्ञातोऽयं मयार्थः' इत्येवंसंतोषाभिमानात्, न च एतत् औत्तरकालिकानां धारावाहिनां विज्ञानानां संभवति, इति कथमुक्तं 'प्रमितेऽपि प्रमाणानामवकाशः' इति ? इत्याशङ्क्याह

दृष्वा समाश्लिष्य चिरं संचर्व्य चेतसा ।
प्रिया यैः परितुष्येत किं ब्रूमः किल तान्प्रति ॥८४॥

दृष्ट्वा दृष्ट्वेति—आभीक्ष्ण्येनाश्लेषसंचर्वणयोरपि असौ अर्थाल्लभ्यते, चिरशब्दाद्वा—तेन रूपज्ञानात्मकैः स्पर्शज्ञानात्मकैस्तत्पृष्टभाविविकल्पज्ञानात्मकैश्च शतशः प्रवृत्तैः प्रमाणैः प्रमितायां प्रियायां येषामाश्वासलक्षणः परितोषो जायते, तान् प्रति किं ब्रूमः—प्रमात्राश्वासपर्यन्तस्याधिगमस्य आद्येनेव ज्ञानक्षणेन उत्पादेऽनुभवविरोधान्न किंचित् इति यावत्, अतश्च

इसके अनन्तर उत्तरोत्तर जानकारियाँ हों यह स्वाभाविक है। ज्ञान का पहला क्षण ही अपूर्वज्ञान का प्रकाश करने में समर्थ होता है। अपूर्व अर्थ का प्रकाशक ही प्रमाण होता है। कहा गया है कि "अज्ञात विषय का ज्ञापक ही प्रमाण होता है ।" प्रमाता को यह आश्वासन हो जाता है कि "यह विषय मैंने जान लिया ।" आगे की क्रमिक जानकारियों में यह बात नहीं होती।

उक्त स्थिति में भी ८३वें श्लोक में प्रमाण की अवकाश दशा पर बल दे रहे हैं—

प्रेमी और प्रेमिका परस्पर एक दूसरे के स्नेह के आवेश में हैं। प्रेमी बारम्बार आलिङ्गन, चुम्बन और स्नेहानुभूति के विचारों से प्रिया को परितृप्त करता है। यहाँ रूपदर्शन, स्पर्श और अनुभवात्मक प्रमाणों से प्रिया के परितोष का आश्वासन प्रेमी को मिलता है। इसी आधार पर 'प्रमिति के उपरान्त भी प्रमाणों को अवकाश रहता है'—यह कहा गया है। आदि ज्ञान क्षण में सामान्य स्तरीय अधिगम होता है। यह प्रमाता को आश्वासन देने में असमर्थ होता है। जो यह कहा गया है कि—"प्रत्यक्ष प्रत्यक्षीकृत वस्तु का परिचायक प्रमाण है। इसमें पदार्थ का ऐसा कोई भाग शेष नहीं रहता जिसको प्रमाणों की आवश्यकता हो" यह कथन युक्ति संगत नहीं हो सकता। इसलिये "जहाँ भी आगे प्रमाणों के लिये अवकाश रहता है, निश्चय ही वहाँ पूर्व प्रमाणों में अर्थ का अवधारण अधूरा रहता है।"

'एकस्यार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम् ।
कोऽन्यो न भागो दृष्टः स्याद्यः प्रमाणैः परीक्ष्यते ॥'

इत्याद्युक्तमयुक्तमेव, इति भावः, तेन

'यत्रापि स्यात्परिच्छेदः प्रमाणैरुत्तरैः पुनः ।
नूनं तत्रापि पूर्वेण सोऽर्थो नावधृतस्तथा ॥'

इत्याद्युक्तयुक्त्यापूर्वप्रमाणानधिगतः कश्चिदपूर्व एवांशः प्रमाणान्तरैरवश्यमधिगम्यते, येन पर्यन्ते प्रमातुः समाश्वासोत्पादः स्यात् । यत् पुनरन्यैः

'नैवाधिकपरिच्छेदः प्रमाणैरुत्तरैर्ध्रुवम् ।
धारावाहिषु बोधेषु कोऽधिकोऽर्थः प्रकाशते ॥'

इत्याद्युक्त्या गृहीतग्राहिणामपि धारावाहिनां विज्ञानानां प्रामाण्यमुक्तं, तन्न युक्तं–व्यर्थत्वादिदूषणशतोपनिपातात्, तस्मादेकस्मिन्नपि अर्थेऽनेकप्रमाणप्रवृत्यात्मनि संप्लवेऽपि नाधिगतस्यैव अर्थस्याधिगमः, इति—न प्रमाणान्तराणां निष्प्रयोजनत्वं, तैरपि—अपूर्वस्यार्थस्य प्रकाशनात्, यद्येवं तदौत्तरकालिकानां धारावाहिनां विज्ञानानां स्वारसिक्यां प्रवृत्तापूर्वार्थप्रकाशो न कदाचिदपि विरमेत्, इत्यनवस्थापि न स्यात्-प्रमात्रा श्वासलक्षणस्य अनुलङ्घनीयस्यावधेर्भावात् । एवमपि एकस्मिन्नेवार्थे प्रमातुरनेकैः प्रमाणैः प्रवृत्तैः संभूयापूर्वतया प्रकाशो जायते,—इत्येषां पूर्वापेक्षमुत्तरेषां प्रामाण्यम्, उत्तरापेक्षं च पूर्वेषाम्—इत्यन्योन्याश्रयतापि

इस युक्तियुक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि पहले प्रयुक्त प्रमाण के उपरान्त भी अर्थ में कोई ऐसा अपूर्व अंश रह जाता है, जो दूसरे प्रमाणों से जाना जाता है। अन्त में प्रमाता वहीं आश्वस्त हो पाता है।

किन्हीं विचारकों द्वारा जो यह कहा गया है कि "उत्तर कालीन प्रमाणों को भी अधिक अवकाश की गुंजाइश नहीं रहती, क्योंकि उत्तरकालीन धारावाही विज्ञान भी किन नये अधिक अर्थों का उद्‌भावन करते हैं।" इस उक्ति के द्वारा गृहीतार्थ–ग्राही धारावाही विज्ञानों की प्रामाणिकता प्रतीत होती है। पर यह विचारणीय है कि ऐसे व्यर्थ के धारावाही विज्ञान अनेक दूषण ही उत्पन्न करेंगे। इसलिये किसी एक विषय में जहाँ अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति होती है, वहाँ केवल अधिगत अर्थ की ही अधिगति नहीं होती। अतः अन्य प्रमाण भी वहाँ निष्प्रयोजन नहीं होते क्योंकि उनसे भी अपूर्व अर्थों का ही

न स्यात्, अत्रान्योन्यापेक्षस्यैव प्रामाण्यस्याभावात्, अपूर्वार्थप्रकाशाधीनं हि ज्ञानानां प्रामाण्यम्, स चापूर्वार्थविषयः प्रकाशः सर्वेषामेव पृथक्पृथवस्थितः, इति–को नाम अन्योन्याश्रयताया अवकाशः, संप्लवो हि धर्म्यभिप्रायेणोच्यते 'एकस्मिन्नेवार्थेऽनेकप्रमाणप्रवृत्तिः' इति, वस्तुतः पुनरेकधर्मविशेषिते धर्मिणि केनचित् कश्चिद्धर्मविशेषोऽपूर्वतया प्रकाशते, यद्वशात्—तत्तद्धर्माधिगतिपुरःसरीकारेण पूर्णेन रूपेण धर्मिणमधिगम्य प्रमातुः पर्यन्ते समाश्वासो जायते इति ॥ ८४ ॥

तदेतदाह—

इत्थं च मानसंप्लुत्यामपि नाधिगते गतिः ।
न व्यर्थता नानवस्था नान्योन्याश्रयतापि च ॥ ८५ ॥

प्रकाशन होता है। इस तरह आगे उत्पन्न होने वाली पारम्परिक जानकारियाँ भी स्वाभाविक रूप से स्वीकार्य होती हैं। अपूर्व अपूर्व अर्थों की परम्परा में अवरोध भी उत्पन्न नहीं होता। इसमें किसी प्रकार की अनवस्था भी नहीं होती। उसी तरह जैसे श्वास के क्षणों में अनवस्था उत्पन्न नहीं होती। श्वास की अवधि होती है, उसका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। एक के बाद दूसरी साँस स्वारसिक रूप से आती ही रहती है।

इसी तरह एक ही विषय में अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति के द्वारा सब मिलाकर एक 'अपूर्व' उद्घाटित होता है। इसमें पूर्व की अपेक्षा आगे के और आगे की अपेक्षा पहले की प्रामाणिकता का प्रश्न भी नहीं होता। यह ध्यान देने की बात है कि "ज्ञानों का प्रामाण्य अपूर्व अर्थों के प्रकाशन पर ही निर्भर करता है।" यह अपूर्वार्थ विषयक प्रकाश सभी प्रमाताओं को भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है। ये एक दूसरे पर आश्रित नहीं होते। एक विषय में विचारों की बाढ़ को संप्लव कहते हैं। यह धर्म से अधिक धर्मी पर निर्भर है। एक अर्थ में अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति में यही नियम काम करता है। अनेक धर्मों से विशिष्ट धर्मी में कभी किसी को किसी निमित्त अपूर्व धर्म का प्रकाशन भी हो जाता है। उसी के माध्यम से धर्मी की पूरी जानकारी होने पर प्रमाता की पूरी तृप्ति हो जाती है। यह तृप्ति, यह समाश्वास, यह अधिगम और विचारों का संप्लव सभी प्रमाता की अपूर्वार्थाधिगति विज्ञान का ही चमत्कार है ॥८४॥

इदानीं तर्कतत्त्वानुषक्तं गुरुसतत्त्वमुपसंहरन् तदानन्तर्येणानुजोद्देशोद्दिष्टं योगाङ्गानुपयोगित्वमपि वक्तुमुपक्रमते

एवं योगाङ्गमियति तर्क एव न चापरम् ।
अन्तरन्तः परामर्शपाटवातिशाय सः ॥ ८६ ॥

एवमियति—गुरुसतत्त्वात्मनि प्रमेये प्रतिपादिते, तर्क एव उत्तमं योगाङ्गं, न पुनरपरं यमादि किंचित्, इति पर्यवसितम्, यतः स एवान्तरन्तर्यथायथं संवित्संनिकर्षेण शुद्धविद्यात्मनः परामर्शस्य पाटवातिशयं जनयेत्, येन अन्ते योगिनः परसंवित्साक्षात्कारः स्यात्, तदुक्तं

'लब्धभूमेर्विरक्तस्य तज्जयोपायपेशलः ।
ऊहो नाम वितर्कोक्तिः प्रविचारेक्षणात्मकः ॥
यद्यत्सातिशयं स्थानं भोगेन समधिष्ठितम् ।
विनश्वरेण संन्देहमूलेन सुमलीमसम् ॥
किमनेन विकल्पोक्तिव्यवहारात्मना त्वलम् ।
अस्मदन्यद्विशिष्टेन भोगेन परिपूरितम् ॥' इत्यादि ।

इस प्रकार प्रमाणों द्वारा प्रमिति जन्य प्रमाणित ज्ञान अधिगत होता है। अधिगत ज्ञान तक ही गति नहीं रहती। अन्य प्रमाण आते हैं। विचारों का संप्लव होता है। वहाँ किसी प्रमाण या विचार की व्यर्थता भी नहीं होती। कोई अनवस्थाजन्य दोष भी नही होता। विचार एक दूसरे पर निर्भर भी नहीं होते, और शास्त्रीय रहस्य का उद्‌घाटन शास्त्रतः या स्वतः भी होता रहता है ॥ ८५ ॥

इस प्रकार तर्क ही उतम योगाङ्ग है अन्य यम आदि नहीं; इसका समर्थन कर रहे हैं--

पहले कहा गया है कि तर्क ही उतम योगाङ्ग है, यम नियम आदि इतने उपयोगी नहीं हैं। वही प्रथम अर्धाली में कहा गया है। उसी कथन का समर्थन कर रहे हैं। सत्तर्क ही तह तक जाकर संवित् शक्ति के रहस्य का उद्‌घाटन कर सकता है। शुद्ध विद्यात्म के इदन्ता और अहन्ता के परामर्श में उल्लास उत्पन्न करने में समर्थ होता है। इसी से अन्त में योगियों को स्वात्म साक्षात्कार होता है। कहा गया है कि—"उपासना की सहज भूमि पर बैठने

'पदं पदवतां श्रेष्ठं स्वतेजोगूढलोचनम् ।
तदेकं निर्वितर्कं स्यात्प्रभोः स्थानमनातुरम् ॥
शेषाणि सवितर्काणि संत्याज्यानि मुमुक्षुभिः ।
न वितर्कं विना तानि त्यक्तुं योगप्रयोक्तृभिः ॥'
'शक्यन्ते मुनिशार्दूल तस्मात्तर्कोऽपि युज्यते ।
योगिनोऽङ्गत्वमापन्नः स्वोपकाराय चेष्टते ॥'

इत्यन्तम् ॥ ८६ ॥

ननु समानेऽपि योगाङ्गत्वे तर्कस्यैवोत्तमं योगाङ्गत्वं, न पुनर्यमादीना-मित्यत्र किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

का अधिकारी विरक्त होता है। वह साधना के बल से बड़ी सुकुमार सरणी अपनाता है और लक्ष्य को जीत लेता है। वह सरणी तर्क ही है। वही ऊह है, वही वितर्क शान्त करने वाला सत्तर्क है। वही परामर्श की दार्शनिक दृष्टि का परिष्कार करता है। वह यह निर्देश करता है कि जगत् के जितने विशिष्ट स्थान हैं, वे भोग प्रद हैं। विनश्वर हैं, संशय और शङ्का के आतङ्क कलङ्क से कलुषित हैं। इनसे विकल्प के अतिरिक्त अन्य कुछ मिलने वाला नहीं। इनके व्यवहार से भी बस! इसलिये सावधान! उस अनुत्तर आनन्दवाद के लिये लग।" इत्यादि, तथा

"इस सर्जन परिवेश में जितने भी पद हैं, उन सबसे श्रेष्ठ अनुत्तर शाम्भव पद ही है। वह स्वात्म प्रकाश से शाश्वत आलोकित है। इसलिये उसी एक निर्वितर्क अनुत्तर परमेश्वर शिव को उपलब्ध हो। मोक्ष की इच्छा रखने वाले साधकों द्वारा अन्य अवशिष्ट वितर्कपूर्ण पदों का परित्याग कर देना चाहिये। योग मार्ग के प्रयोक्ता सोचें। सोचकर उन्हें छोड़ें जिनसे बाधायें ही बाधायें मिल रही होती हैं। बस तर्क की इतनी ही उपयोगिता है। योगाङ्ग के इस रहस्य का ज्ञाता अपने सर्वातिशायी उपकार के लिये सतत प्रयत्न करे।" ॥ ८६ ॥

तर्क को उत्तम योगाङ्ग और यम आदि को उत्तम न कहने का क्या कारण है? जबकि सभी योगाङ्ग समान हैं?—इसी का उत्तर दे रहे हैं—

अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः ।
इति पञ्च यमाः साक्षात्संवित्तौ नोपयोगिनः ॥ ८७ ॥
तर्कप्रभृतया ये च नियमा यत्तथासनम् ।
प्राणायामाश्च ये सर्वमेतद्बाह्यविजृम्भितम् ॥ ८८ ॥

प्रभृतिना शौचादय उक्ताः, यदुक्तम्

'शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।' इति,

एवमादायः सर्वे संवित्तौ साक्षान्नोपयोगिनः इति संबन्धः, साक्षाद्ग्रहणेन पारम्पर्येण पुनर्येषामुपयोगित्वं भवेदपि नाम—इति सूचितम्, एषां साक्षादनुपयोगित्वे हेतुः—'सर्वमेतद्बाह्यविजृम्भितम्' इति ॥ ८७-८८॥

न चैतद्युक्तिमात्रेणैव सिद्धं, यावदागमेनापि, इत्याह

श्रीमद्वीरावली चोक्तं बोधमात्रे शिवात्मके ।
चित्तप्रलयबन्धेन प्रलीने शशिभास्करे ॥ ८९ ॥
प्राप्ते च द्वादशे भागे जीवादित्ये स्वबोधके ।
मोक्षः स एव कथितः प्राणायामो निरर्थकः ॥ ९० ॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम हैं। इनका संवित्ति के मार्ग में साक्षात् उपयोग नहीं है। तर्क आदि जो नियम हैं, आसन और प्रणायाम हैं, ये सभी बाहरी हैं। आन्तरिक उल्लास के कारण नहीं हैं। प्रभृति शब्द से शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधान रूप नियम परिगृहीत हैं। वस्तुतः संवित्ति के परिष्कार में साक्षात् उपयोगी सत्तर्क ही है ॥ ८७-८८ ॥

यह मात्र मेरी उक्ति नहीं, आगम भी यही कहते हैं—

श्रीमद्वीरावली नामक ग्रन्थ का उद्धरण देकर तन्त्र की एक दार्शनिक रहस्य-प्रक्रिया का उल्लेख कर रहे हैं। शिव केवल बोध रूप है। चेत्य नील सुख आदि से चिति शक्ति अर्थग्रहणोन्मुखी होकर संकुचित हो जाती है और चित्त बन जाती है। चित्त भी चेत्य का ग्रास बन जाता है और चित्त

प्राणायामो न कर्तव्यः शरीरं येन पीड्यते ।
रहस्यं वेत्ति यो यत्र स मुक्तः स च मोचकः ।। ९१ ।।

चित्तस्य चेत्यग्रासीकरणक्रमेण चेतयितरि यः प्रलयो—विश्रान्तिः, स एव अनन्यगमनात्मा बन्धः, तेन शशिसहिते भास्करे—प्राणापानप्रवाहे प्रलीने, मध्यधामलयादुच्छिन्नस्ववाहे, अत एव जीवः—उदान एव आदित्यः तत्तत्प्रमेयादिदाह्यवस्तूपादानात् अग्निः, तस्मिन् मध्योर्ध्वंवाहक्रमेण द्वादशान्तं प्राप्ते सति—प्रमाणप्रमेयव्यवहारोच्छेदेन प्रमातर्येव परां काष्ठामधिरूढे, निःश्रेयसात्मपरश्रेयोरूपे स्वबोधके स्वप्रकाशे बोधमात्रे अर्थादुदिते, यः कश्चिदनुभवविशेषः स एव मोक्षः कथितः,

'शशिभास्करसंयोगाज्जीवस्तन्मात्रतां व्रजेत् ।
अत्र ब्रह्मादयो लीना मुक्तये मोक्षकाङ्क्षिणः ।।'

प्रलय की अवस्था प्राप्त हो जाती है। परिणामतः बोधात्मक प्रकाशरूप शिव की विश्रान्ति चेत्य के विश्रामालय में स्वभावतः घटित हो जाती है। यही बन्ध की स्थिति है। यही जीव का बन्ध है। इसमें प्राण अपान प्रवाह का आजीवन उल्लास चलता है। साधना के पथ पर अग्रसर साधक सुषुम्ना में इसे लीन कर आनन्द का उत्सव मनाता है। पूर्णिमा से चलकर अमा कला की द्वादशान्त स्थिति मं भी पहुँचता रहता है। पुनः जीवादित्य प्राण प्रवाह में प्रवेश करता है। जयरथ उदान को आदित्य कहते हैं। वस्तुतः जीवादित्य प्राण है और उदान अग्नि है। उदान वह्नि ही प्रमेय रूप बाह्य वस्तुओं को ग्रहण करता है। इन सब अवस्थाओं का स्वयं साक्षीभाव से अनुभव करने वाला साधक मुक्त हो जाता है और यही मोक्ष है। इसमें प्रमाण प्रमेयवाह उच्छिन्न सा हो जाता है।

उक्त विचारों के अनुसार मुक्ति के साधन और योग के अङ्ग रूप से प्राणायाम की कोई उपयोगिता नहीं। अतः इस साधना पथ में प्राणायाम वर्जित है। इससे शरीर पीडित होता है। जो इस रहस्य का वेत्ता है, उसे कहीं से इसके उद्घाटन हो जाने पर वहीं मुक्ति हस्तामलक की तरह स्वतः प्राप्त हो जाती है। कहा गया है—

इत्यादिना तत्रैव प्रागुपदिष्टो, न तु दर्शनान्तरवन्निमित्तान्तरसमधिगम्यः, अत एव रेचकादिरूपः प्राणायामो निरर्थकः—तेन न कश्चिन्मोक्षलक्षणोऽर्थः सिद्धयति इत्यर्थः। एवं भगवता प्रश्निते भगवतीप्रश्नार्थमेव सिद्धान्तीकर्तुम्

'सत्यमेतन्महाप्राज्ञ प्राणायामो न कारणम्।'

इत्युपक्रम्य

'प्राणायामो न कर्तव्यः शरीरं येन पीडयते।'

इत्यादिना परपक्षे बाधकं प्रमाणमुपन्यस्य स्वपक्षे साधकं प्रमाणं दर्शयति 'रहस्यं वेत्ति यो यत्र' इत्यादि, रहस्यं—प्रमाणाद्यप्रवृत्तेः सर्वजनागोचरं प्रमातृमात्र-**सतत्त्वं** परं तत्वं, योऽभिजानाति–साक्षात्कुर्यात्, स स्वयं मुक्तः सन्, अन्येषामपि मोचकः, प्राणायामस्य आनर्थक्याभिधाने यमादीनामपि दण्डापूपीयन्यायेन तत् अर्थसिद्धम्, इति पृथक् नोक्तम्, 'बोधमात्रे शिवात्मके' इत्यनेन पुनः प्राक् पटलद्वयोक्तमर्थजातं संक्षिप्योपक्षिप्तम् ॥ ८९-९१ ॥

ननु यमादि यदि बाह्यविजृम्भितत्वात् न संवित्तावुपयोगि, तदस्तु, को दोषः, प्रत्याहारादि पुनर्बाह्यात्प्रत्यावृत्तं सत्, अन्तरेव लब्धाप्ररोहम्, इति तदपि कथं न तत्रोपयुक्तम्? इत्याशङ्क्याह

"सूर्य और सोम रूप प्राण और अपान के संयोग की अवस्था में जीव शिव के समान ही रहता है। इस अवस्था में ब्रह्म आदि देव लीन रहते हैं और मोक्ष की आकांक्षा करते हैं।" यह कथन मूलाधार से विशुद्ध तक के देवों की ओर संकेत करता है। इसमें दूसरे दर्शनों की तरह किसी अन्य निमित्त का आश्रय नहीं लिया गया है। इसलिये रेचक कुम्भक जन्य व्यर्थ आयास रूप इस आयाम से कोई लाभ नहीं। इससे कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार शिवपार्वती के प्रश्नोत्तरात्मक संवाद में भगवती उमा की बात सिद्धान्ततः स्वीकृत है। कि "प्राणायाम मोक्ष के कारण नहीं है। अतः जिससे शरीर को पीडा हो उसके करने का निषेध कर दिया गया है।" इसीलिये यह घोषित कर दिया गया है कि जो इस रहस्य का साक्षात्कार कर ले वह स्वयं मुक्त है और वही अपने अन्य शिष्यों का भी मोचक बन सकता है। प्राणायाम के खण्डन से दण्डापूपिका न्याय से यम नियम का खण्डन भी अपने आप हो जाता है ॥ ८९-९१ ॥

प्रत्याहारश्च नामायमर्थेभ्योऽक्षधियां हि यः ।
अनिबद्धस्य बन्धस्य तदन्तः किल कीलनम् ॥९२॥
चित्तस्य विषये क्वापि बन्धनं धारणात्मकम् ।
तत्सदृग्ज्ञानसंतानो ध्यानमस्तमिता परम् ॥९३॥
यदा तु ज्ञेयतादात्म्यमेव संविदि जायते ।
ग्राह्यग्रहणताद्वैतशून्यतेयं समाहितिः ॥९४॥

अयं हि नाम प्रत्याहारो—यदर्थेभ्यो रूपादिभ्यः प्रत्याहृतानां चक्षुरादीन्द्रियज्ञानानाम् अन्तः कीलनं—चित्तस्वरूपानुकारायमाणतया स्वात्मायत्ततासादनम्, यदुक्तम्

प्रश्न है कि प्रत्याहार आदि संवित्तिरूपता की प्राप्ति में उपयोगी क्यों नहीं होते ? इसी का उत्तर दे रहे हैं—

प्रत्याहार की परिभाषा पतंजलि के अनुसार है:-–"इन्द्रियों का अपने विषयों से विमुख होकर या उन्हें छोड़ कर चित्त स्वरूप का अनुकरण ।" इस परिभाषा में ज्ञानेन्द्रियों का विषय वैमुख्य और चित्तस्वरूपानुकार इन दो स्थितियों पर बल दिया गया है। जैसे आँख ने रूप देखा। रूप का ज्ञान हुआ। इस इन्द्रिय ज्ञान का कीलन करना और इन्द्रियों का चित्त के वशीभूत होना ये दोनो बातें यहाँ आवश्यक हैं, तभी प्रत्याहार होता है। पहले इन्द्रियाँ विषय से हृत होती हैं। अब चित्त के प्रति आहृत है। यही प्रत्याहार है।

ग्रन्थकार एक नयी अवधारणा प्रस्तुत कर रहे हैं। वस्तुतः "शरीरधारण करने वाले जीव के रूप में विराजमान शिव के लिये यह संसार है ही नहीं। इसके बन्धन की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती।" इसके अनुसार अनिबद्ध के बन्ध की बात ही निर्मूल है। किन्तु प्रत्याहार में तो इसी बन्ध का कीलन करना होता है कीलन उसका जो कीलित है ही नहीं।

थोड़ा और सोचें-संविद् चिति की परा अवस्था है। उसमें शाश्वत स्वातन्त्र्य होता है। जब वह संकोच ग्रहण करती है और देश आदि से अवच्छिन्न हो जाती है, तो उसे बन्ध कहते हैं। इस प्रत्याहार की दशा में क्या

'स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।' (यो० सू० २—५४) इति,

तदेव च अनिबद्धस्य

'संसारोऽस्ति न तत्त्वतस्तनुभृतां बन्धस्य वार्त्तैव का।'

इत्यादिन्यायेन अलब्धप्ररोहस्यापि बन्धस्य, कीलनं—दार्ढ्यापादनम् 'परस्या हि संविदः स्वस्वातन्त्र्यात् गृहीतसंकोचाया देशाद्यवच्छिन्नत्वं नाम बन्धः' स एव चात्र कुतश्चित् प्रत्याहृतानामिन्द्रियाणां कुत्रचिदवस्थापनादुपोद्बलीकृतः, इति कथं नाम प्रत्याहारादेः संवित्साक्षात्कारायोपयोगः—व्यापिकाया हि संविदः कथं नाम कुत्रचिदेवोपलम्भो भवेत् इति भावः, यदुक्तम्

'यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्रैव धारयेत्।
चलित्वा कुत्र गन्तासि सर्वं शिवमयं यतः॥ इति।

एवं धारणादावपि अवसेयम्, तत्र हि कन्दादौ नियत एव देशे 'चित्तस्य बन्धो रूपम्' यदुक्तम्

'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।' (यो० सू० ३-१) इति।

ध्यानेऽपि सजातीयानामेव ज्ञानानां प्रवहद्रूपत्वं नाम रूपं, न विजातीयानाम्, इत्यत्र नियताकारावच्छिन्नत्वम् यदुक्तं

'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।' (यो० सू० ३-२) इति,

करते हैं ? कहीं से हटाकर कहीं नियोजित करते हैं। यहाँ तो संकोच का ही उपोद्बलन है। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि प्रत्याहार आदि का संविद्–साक्षात्कार में प्रत्यक्ष उपयोग नहीं है। संविद् व्यापिका शक्ति है। ज्ञानेन्द्रियों की चित्तानुकारिता से उसकी उपलब्धि में कोई लाभ नहीं होता। कहा गया है– "जहाँ जहाँ मन जाता है, वहीं वहीं इसे धारण करो। चल कर भी कहाँ जाओगे, सर्वत्र तो स्वयं परमेश्वर शिव वर्त्तमान हैं।"

यही नियम धारणा आदि में भी लागू होता है। योगसूत्र कहता है "चित्त को कहीं एक जगह बाँध रखना धारणा है।" (यो० सू० ३।१) नियत देश अर्थात् शरीर के ही कन्द आदि या किसी विन्दु आदि में मनको रोकना ही धारणा है। यह भी संकोच की ही दशा है। यही बात ध्यान की भी है। प्रत्यय

अत एव 'अस्तमिता परम्' इत्युक्तम्। समाधावपि ज्ञानज्ञेयाख्यरूपद्वयतिरस्कारेण ध्येयात्मज्ञेयमात्रप्रतिभास एव रूपम्, इत्यत्र नियत एवाकारोऽवच्छेदकः, यदुक्तम्

'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।'

(यो० सू० ३-३) इति ॥ ९२-९४ ॥

ननु यमादीनां पञ्चानामपि बहिरङ्गत्वात् यदि संवित्तौ नोपयोगः, तत् तावदास्ताम्

'त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः।' (यो० सू० ३-७) इति तेषां किमिति नाम न तत्रोपयोगः ? इत्याशङ्क्याह

रूप वस्तु विषयकज्ञान और उसकी एकतानता तो धारणा के बाद ही सिद्ध होती है। तत्सदृश ज्ञान की परम्परा में मन रमे तो वह ध्यान हो जाता है। मन की यह 'अस्तमिता' अन्यत्र से हट कर एक में डुबाव भी संवित्ति के साक्षात्कार में उपयोगी नहीं हो सकता।

यही बात योगमार्गीय समाधि की भी है। योगसूत्र कहता है कि ध्यान ही जब वस्तु स्वरूप शून्यता की स्थिति में पहुँच जाय और मात्र अर्थ रूप आभ्यन्तरिक संवेदनायें ही आभासित होती रहें तो समाधि हो जाती है।" इसमें ज्ञान और ज्ञेय रूप द्वैत का भान नहीं रहता। ध्येय रूप ज्ञेय का प्रतिभासमात्र अवशेष रहे, तो समाधि होती है। सोचने की बात है कि यह भी तो एक प्रकार का संकोच ही है। सर्वाकारता भासन की जगह यह एक नियत अवच्छिन्न अवभास ही है। इस तरह ये तीनों धारणा, ध्यान और समाधि संविद् साक्षात्कार में उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकते ॥ ९२–९४ ॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये पांचों बहिरङ्ग साधन हैं। धारणा, ध्यान और समाधि तीनों अन्तरङ्ग हैं (यो० सू० ३।७) किन्तु संविद् साक्षात्कार में इनकी भी साक्षात् उपयोगिता नहीं है, इसका वर्णन कर रहे हैं—

तदेषा धारणाध्यानसमाधित्रितयी परम् ।
संविदं प्रति नो कंचिदुपयोगं समश्नुते ।।९५।।

'अनिबद्धस्य बन्धस्य तदन्तः किल कीलनम्' इत्याद्युक्त्या बन्धकत्वादेर्हेतोः ॥ ९५ ॥

ननु यद्येवं तद्यमादीनामष्टानामपि योगाङ्गानां किमर्थमभिधानम् ? इत्याशङ्क्याह

योगाङ्गता यमादेस्तु समाध्यन्तस्य वर्ण्यते ।
स्वपूर्वपूर्वोपायत्वादन्त्यतर्कोपयोगतः ।।९६।।

अन्त्येति–अन्ते साधुः, अष्टानां यमादीनामङ्गानामुपेयत्वेन योग्य इति, यमो नियमानामुपायो; नियमाश्च आसनस्य–इत्यादिक्रमेण यमादीनामष्टानामपि पूर्वपूर्वोपायत्वेन योगाङ्गत्वं वर्णितम्, अथैषामुपेयरूपत्वात् पार्यन्तिके तर्के द्वारद्वारिभावेनोपयोगः स्यात्, यस्मादष्टाभिरपि एतैरङ्गैरुपस्कृतमतेर्योगिन एवं स्वपरामर्शो जायते, येनास्य झटित्येव स्वसंवित्तिसाक्षात्कारो भवेत्, यन्नाम अत्र योगस्य स्वदर्शनोक्तानि षडङ्गान्यपहाय पातञ्जलीयं यमाद्यङ्गाष्टकमुक्तं, तत्रायमाशयो—यत् क्वचिदपि एतदङ्गाष्टकातिरिक्तम् अन्यदङ्गान्तरं नास्ति, इति सर्वत्र तर्कस्यैवाङ्गान्तराण्युपायः, स च स्वसंवित्साक्षात्कारस्येति ॥९६॥

इस धारणा, ध्यान और समाधि त्रितयी की भी संविद् साक्षात्कार में कोई उपयोगिता नहीं। ये तीनों भी अनिबद्ध के बन्धन को मजबूत करने का व्यर्थ प्रयास करते हैं ॥ ९५ ॥

योगाङ्ग समाधि के उपाय मात्र हैं—और समाधि भी स्वात्म परामर्श का ही उपाय है—यही कह रहे हैं—

योग के यम आदि सातों अङ्ग समाधि के उपाय मात्र हैं, यम नियम के, नियम आसन के आदि क्रम से एक एक उत्तर उत्तर के उपाय होने के कारण योगाङ्ग हैं। समाधि भी स्वात्म परामर्श में उपयोगी है किन्तु यह भी सत्तर्क रूपी स्वात्मपरामर्श की उपाय ही है। अन्त में उक्त आठों अङ्ग सत्तर्क के लिए ही उपयोगी हैं। अष्टाङ्ग योग पातञ्जलीय योग है। इस दर्शन में मात्र ६ अंग मान्य हैं। इसमें तर्क को सर्वोत्तम योगाङ्ग मानते हैं क्योंकि इसी से स्वात्मपरामर्श और स्वात्म साक्षात्कार होता है ॥ ९६ ॥

एतदेवोपपादयति

अन्तः सविदि रूढं हि तद्द्वारा प्राणदेहयोः ।
बुद्धौ वाप्यं तदभ्यासान्नैष न्यायस्तु संविदि ॥९७॥

यतः खलु संविदि, अन्तर्–अभेदेन, जातप्ररोहं संवेद्यमानं सत् तद्यमादि, तद्वारा—संविन्मुखेनैव, नहि असंविदितं किंचिदपि वस्तु व्यवहारयोग्यं भवेत्, इति भावः, अभ्यासात्—पौनःपुन्येन सेवनात्, देहादावप्यं देहादि यथा शनैः शनैः संस्कारपाटवेन तथैव प्ररोहमियादित्यर्थं, तद्यथा आसनादि देहे, प्राणायामादि प्राणे, प्रत्याहारादि बुद्धाविति। संविदि पुनरेष देहादौ प्ररूढस्य यमादेः तद्द्वारेण अभ्यासबलात् प्ररोहोत्पादनात् स न्यायो न भवेत्, संविदि हि यमादेः प्ररोहः पटीयस्त्वमुच्यते, स एव च नाम संस्कारः न च संवित् संस्कार्या, संस्कारो हि अतिशयः, स च नास्यां संभवेत्–असंविद्रूपतापत्तेः, तेन पराद्वय-रूपायां नित्योदितायामस्यां यमादेर्न किंचित्प्रयोजनम्—इति तात्पर्यम्, यदुक्तम्

'अन्तः संविदि यन्निरूढमभितस्तत्प्राणधीविग्रहे
संचार्येत कथं तथेति घटते तत्राभ्युपायक्रमः ।

इसी सिद्धान्त का समर्थन कर रहे हैं—

संवित् तत्त्व में अभेद भाव से रूढ और संविद् शक्ति के द्वारा हो अभ्यास के बल पर यम आदि देह में, प्राण में बुद्धि में भी अर्पित करने योग्य हैं। संविद् नित्योदित पराद्वयदीप्त तत्त्व है। उसमें किसी प्रकार के परिष्कार संस्कार की आवश्यकता नहीं होती या अभ्यास की आवश्यकता नहीं होती। यमादिका यह अभ्यास और उससे होने वाले संस्कार देह; प्राण और बुद्धि के संस्कृत होने के लिये ही उपयोगी हैं। आसन आदि से देह संस्कृत होता है। प्राणायाम से प्राण संस्कृत होते हैं। प्रत्याहार आदि से बुद्धि संस्कृत होती है। संवित् में यह बात नहीं। उसके लिए सत्तर्क ही पर्याप्त है। उसी से स्वात्म-परामर्श होता है, उसी से स्वात्म साक्षात्कार होता है और स्वात्म साक्षात्कार ही मोक्ष है। कहा गया है—

संवित्तत्त्व में निरूढ यमादि का संचार शरीर, प्राण और बुद्धि में करते हैं। ये सभी संस्कार परिष्कार कर इन्हें ही शुद्ध करते हैं। संवित् को परिष्कृत करने की बात करने और सोचने वालों की बुद्धिमत्ता पर भी सन्देह होता है।

ये त्वभ्यासपथेन संविदमिमां संस्कर्तुमभ्युद्यता-
स्ते किं कुत्र कथं नु वा विदधतामित्यत्रसंविद्महे ॥' इति ॥९७॥

अथ वा देहादिद्वारेण संविद्यभिव्यक्तिलक्षणोऽतिशयो भवेत्, इत्याह

अथ वास्मद्दृशि प्राणधीदेहादेरपि स्फुटम् ।
सर्वात्मकत्वात्तत्रस्थाऽप्यभ्यासोऽन्यव्यपोहनम् ॥९८॥

यद्वा पराद्वयदर्शने

'प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तश्चाविकल्प्यश्च ।'

इत्यादिनीत्या देहादेरपि संविद्रूपत्वेन सर्वात्मकत्वात्, तत्र प्राणादाववस्थितोऽपि यमादीनामभ्यासः, अन्येषां भेदनिष्ठानामयमादिरूपाणां हिंसादीनामपोहनम्, एवं हि यथात्मनि हिंसा न कार्या, तथा परत्रापि—इति स्वपरयोरात्मरूपतयाव-भासनेन भेदविगलनात् संविद एवाभिव्यक्तिर्भवेत्, इति भावः ॥ ९८ ॥

ननु यद्यत्र अभ्यस्यते तच्चेत् तत्र संस्कारदार्ढ्यात् पाटवातिशयं यायात्, इत्यस्तु को दोषः, तत् पुनरन्यव्यपोहनमाधातुं कथमुत्सहते—येन कार्यान्तरमपि उत्पद्येत ? इत्याशङ्कां शमयितुं दृष्टान्तयति

यह संभव है कि संस्कृत देह आदि द्वारा संवित् तत्त्व की अभिव्यक्ति में कुछ आतिशय्य हो जाय । यही कह रहे हैं—

पराद्वय दर्शन में "ब्रह्म के सर्वरूप और सर्व व्यापक होने के कारण ब्रह्म को अतिक्रान्त कर कोई भी 'प्रदेश' नहीं रह सकता' अथवा 'उसके अतिरिक्त अणु मात्र की कल्पना भी नहीं की जा सकती" । इस नियम के अनुसार देह आदि भी संविद् रूप ही हैं क्योंकि संवित् तत्त्व तो सर्वात्मक है । इसमें अभ्यास से विपरीत का अपोहन सम्भव है । एक ओर प्राण देह बुद्धि में यमादि का अभ्यास और उसके विरुद्ध अयम आदि की हिंसा ? यह भेद दृष्टि नितान्त हेय है । हिंसा तो हिंसा ही है । जैसे आत्म हिंसा निन्द्य है, उसी तरह अयम आदि की हिंसा भी निन्द्य है । स्व और पर रूप आभास भेद-दृष्टि का परिणाम है । मात्र संविदवस्थान ही श्रेयस्कर है ॥ ९८ ॥

जहाँ जहाँ अभ्यास होता है, वहाँ संस्कार की दृढता उत्पन्न होती है । एक प्रकार का कौशल उल्लसित होता है । इसमें तो कोई दोष नहीं । इससे

देह उत्प्लुतिसंपातधर्मोज्जिगमिषारसात् ।
उत्प्लाव्यते तद्विपक्षपाताशङ्काव्यपोहनात् ॥९९॥

उत्प्लुतिः—ऊर्ध्वं प्लवनं, तस्याः पौनःपुन्येन संभवात् यः संपातस्तद्धर्मा येयमुद्गन्तुमिच्छा तस्या रसः—पुनःपुनरभ्यासादादरातिशयः ततो हेतोः, यथा देहः तस्योज्जिगमिषारसस्य विपक्षभूतो यस्तिर्यगधश्च पातः तदाशङ्काया व्यपोहनमधिकृत्य, उत्प्लाव्यते—अङ्कश्रमादिनोर्ध्वप्लवने योग्यः क्रियते इत्यर्थः,–तेन ऊर्ध्वं प्लावनाभ्यासेन अधःपातादि देहे व्यपोह्यते—इत्यन्यदभ्यस्यतोऽपि अन्यनिवृत्तिर्भवेदिति भावः ॥ ९९ ॥

एतदेव प्रकृते योजयति

गुरुवाक्यपदामर्शसदृशे स्वविमर्शने ।
प्रबुद्धे तद्विपक्षाणां व्युदासः पाठचिन्तने ॥१००॥

एवं शिष्यस्य पाठचिन्तनादौ विषये पुनः पुनरभ्यासातिशयात्, गुरुवाक्यपरामर्शानुगुणे स्वपरामर्शे उदितस्य स्वपरामर्शस्य, विपक्षभूतानां मौढ्यादीनामपि व्युदासः ..... ॥ १०० ॥

अन्य का व्यपोहन (हिंसा) कैसे संभव है ? इससे कार्यान्तर की उत्पत्ति भी कैसे ? इन्हीं प्रश्नों का समाधान दृष्टान्त द्वारा कर रहे हैं—

ऊँची कूद कूदना एक सुखदायक खेल है। कूदने में गिरना स्वाभाविक है। बाजी लगती है। खिलाड़ी अधिक से अधिक ऊपर कूदकर धन और नाम कमाने का सुख पाना चाहता है। इसके लिये अभ्यास कराया जाता है। इसमें संपात भी होता है। ऊर्ध्व के साथ अधःपात भी उसका एक पक्ष है। उसकी निवृत्ति होती है। एक क्रिया से दूसरी क्रिया का व्यपोहन हो जाता है। यही यम और अयम आदि में भी होता है। योग इसे भले स्वीकृत करे, तन्त्र इसे स्वीकार नहीं करता ॥ ९९ ॥

इसी तरह शिष्य पाठ के चिन्तन में बारम्बार अभ्यास करता है। गुरु द्वारा उक्त वचनों के अनुकूल ही उसमें स्वात्मविमर्श उत्पन्न होता है। इसके फलस्वरूप उसकी मूर्खता आदि दोषों का नाश भी होता ही है ॥ १०० ॥

ननु गुरुवाक्यबलादेवास्य मौढ्यादीनामपि व्युदासः सिद्ध्येदिति अन्तर्गडुप्रायेण स्वविमर्शेनापि कोऽर्थः ? इत्याशङ्क्याह

नह्यस्य गुरुणा शक्यं स्वं ज्ञानं शब्द एव वा ।
धियि रोपयितुं तेन स्वप्रबोधक्रमो ध्रुवम् ॥१०१॥

नहि नामास्य शिष्यस्य स्वबलादेव गुरुणा चिन्ताद्यात्म स्वं ज्ञानं, पाठ्यमानो वा स्वः शब्दः तद्बुद्धौ प्ररूढं कर्तुं शक्यं, यावदस्य स्वपरामर्शो न स्यात्, यतः स्वविमर्श विना हि असौ गुरुवाक्यमवधारयितुमपि नालं, का पुनर्मौढ्यादिनिवृत्तौ संभावनापि भवेत्, तस्मान्निश्चितमेव स्वस्यात्मीयस्य शुद्धविद्यारूपत्वात् प्रकृष्टस्य परामर्शात्मनः बोधस्य क्रमोऽस्तीति शेषः ॥ १०१ ॥

यन्माहात्म्यादवधानशालिनां स्वप्नानुभूतमति वस्तु अर्थक्रियापर्यन्तां साक्षात्काररूपतामेति, इत्याह

अत एव स्वप्नकाले श्रुते तत्रापि वस्तुनि ।
तादात्म्यभावनायोगो न फलाय न भण्यते ॥ १०२ ॥

गुरु के वचनों के प्रभाव से ही मूढता आदि का (व्युदास) विनाश हो जाता है । इस अन्तर्गडु (व्यर्थ) विमर्श से क्या ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

गुरु अपने बल पर ही शिष्य को अपना ज्ञान अथवा अपने शब्द उसकी बुद्धि में आरोपित नहीं कर सकता । इसमें शिष्य का अपना विमर्श आवश्यक है । उसके विना शिष्य गुरु वचनों का अवधारण भी नहीं कर सकता । इसलिये अपने शुद्ध विद्यात्मक उत्तम कोटि के स्वात्मविमर्श की अनिवार्यता होती है । इसी से स्वभावतः दोनों काम एक साथ होते हैं । १—गुरु वाक्यों का अवधारण होता है । और २—उसकी मूर्खता अज्ञता आदि दोषों का निराकरण भी होता है ॥ १०१ ॥

उसी परामर्श के माहात्म्य से अवधानशाली साधकों को स्वप्नानुभूत अर्थ भी साक्षात्कृत हो जाते हैं ।

आत्म परामर्श के सद्भाव के कारण ही स्वप्नकाल में भी श्रुत अनुभूत या दृष्ट वस्तु में तादात्म्य की भावना हो जाती है । यह नहीं कहा जा सकता

अतः—स्वपरामर्शस्य सद्भावादेव, तत्र असदर्थोपलम्भात्मन्यपि स्वप्नसमये कस्मिंश्चित् श्रुतेऽपि वस्तुनि विषये स्त्र्यादाविव ताद्रूप्येण पुनःपुनरभ्यासात्मा भावनायोगः क्रियमाणः फलाय न भण्यते—जागरोचितार्थक्रियाकारितया साक्षात्क्रियते इत्यर्थः ॥ १०२ ॥

ननु यद्विषयोऽयं नाम स्वपरामर्श इष्यते, तयोः पाठचिन्तनयोरेव किं स्वरूपम् ? इत्याशङ्क्याह

संकेतानादरे शब्दनिष्ठमामर्शनं पठिः ।
तदादरे तदर्थस्तु चिन्तेति परिचर्च्यताम् ॥ १०३ ॥

संकेतस्य—सांकेतिकस्यार्थस्यानादरः—उपेक्षा, अत एव 'शब्दनिष्ठम्' इत्युक्तं, न पुनरर्थनिष्ठमपि, तदादरे शब्दापेक्षायां शब्दप्रतीतिपुरःसरीकारेण हि अर्थप्रतीतिरिति भावः ॥ १०३ ॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवानुसरति

तदद्वयायां संवित्तावभ्यासोऽनुपयोगवान् ।
केवलं द्वैतमालिन्यशङ्कानिर्मूलनाय सः ॥ १०४ ॥

तदिति—ऊक्तोद्धेतोः, अभ्यास इति यमादीनाम् । ननु यदि नामायमनुपयुक्तः तत्किमर्थमुक्तः ? इत्याशङ्क्याह—केवलमित्यादि ॥ १०४ ॥

है कि उसका फल नहीं होता । अपितु अवश्य होता ही है । स्त्री आदि के न रहते हुए भी स्वप्न में वह सारी क्रियायें स्वप्नदर्शी करता है जो जागने पर करता है । इसमें स्वात्म परामर्श ही निमित्त है ॥ १०२ ॥

पाठ और चिन्तन ये दोनों शिष्य परामर्श के आधार हैं । उनमें घटित मानसिक प्रक्रिया का कथन कर रहे हैं—

जहाँ सांकेतिक अर्थ का अनादर या उपेक्षा होती है, वहीं शब्दनिष्ठ आमर्श होता है । यह, पाठ लगाना है इस संकेत के शब्द प्रतीति रूप ज्ञान के प्रति आदर से उसके रहस्य का अनुचिन्तन होता है । यह अर्थचिन्तन ही शब्द-साधना की मूल भित्ति है ॥ १०३ ॥

परासंविद् में ऐसे अभ्यास की अनुपयोगिता का समर्थन कर रहे हैं—

ननु यद्येवं तत्कथं स्वपरामर्शात्मनस्तर्कस्य द्वैतशङ्कानिर्मूलत्वं प्रागुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

द्वैतशङ्काश्च तर्केण तर्क्यन्त इति वर्णितम् ।
तत्तर्कसाधनायास्तु यमादेरप्युपायता ॥ १०५ ॥

वर्णितमिति तर्कतत्त्वचर्चावसरे, उक्तं च

'अनेन लक्षयेद्योगी योगसिद्धिप्रवर्तकम् ।
निवर्तकं च यद्वस्तु बहुधा संव्यवस्थितम् ॥' इति ।

तस्मात् यमादीनां यद्द्वैतशङ्कानिर्मूलकत्वमुक्तं तत् तर्कोपायत्वात्पारम्पर्येण, इत्येषां तदेव मुख्यतयाभिधानीयम्, इत्याह 'तत्तर्केत्यादि' तेन तर्कस्यैव संवित्तौ साक्षादुपायत्वं, नेतरेषाम् इत्युक्तम् भवेत् ॥ १०५ ॥

न चैतत् निष्प्रमाणकमित्याह

उक्तं श्रीपूर्वशास्त्रे च न द्वैतं नापि चाद्वयम् ।
लिङ्गपूजादिकं सर्वमित्युपक्रम्य शंभुना ॥ १०६ ॥

निष्कर्षतः यह कथ्य है कि अद्वयात्मिका परासंविद् में ऐसे अभ्यास की कोई उपयोगिता नहीं। इसकी चर्चा मात्र इसलिये की गयी है कि द्वैत के दूषण की द्विविधा का दारण किया जा सके ॥ १०४ ॥

द्वैत शङ्का और तर्क के सम्बन्ध पर प्रकाश डाल रहे हैं—

द्वैत सम्बन्धिनी सारी चर्चायें तर्क द्वारा ही विमर्श का विषय बनायी जाती हैं—यह तर्कतत्त्व के प्रसङ्ग में पहले ही उक्त है। "योगी योगसिद्धि प्रवर्त्तक और निवर्तक वस्तु को लक्षित करा दे"। इस उक्ति के अनुसार यम आदि द्वैत शङ्का के निर्मूलन करने वाले हैं—यह बात तर्कों के उपाय होने के कारण परम्परा की दृष्टि से कही गयी है। तर्क ही यमादिकों का अन्तिम कथ्य या लक्ष्य है। वस्तुतः तर्क ही संवित्ति का साक्षात् उपाय है, अन्य कोई नहीं ॥१०५॥

आगम से इसका समर्थन कर रहे हैं—

श्री पूर्व शास्त्र में स्वयं परम गुरु शंभु ने यह स्पष्ट कहा है कि 'न तो द्वैत है और न ही अद्वैत ! और न तो यह लिङ्ग की पूजा आदि ! वहाँ उपयोगी हैं ?

विहितं सर्वमेवात्र प्रतिषिद्धमथापि वा ।
प्राणायामादिकैरङ्गैर्योगाः स्युः कृत्रिमा यतः ।। १०७ ।।
तत्तेनाकृतकस्यास्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।

श्रीपूर्वशास्त्र इत्युपक्रम्य शंभुनोक्तम्, इति संबन्धः 'न द्वैतं नापि चाद्वैतम्' इत्येवंवृत्तानुरोधान्न पठितम्, 'लिङ्गपूजादिक सर्वम्' इत्यत्रापि नञा सम्बन्धः, यदुक्तं तत्र

'........................**लिङ्गपूजादिकं न च** इति ।

सर्वमित्यनेन लिङ्गपूजाद्यपरित्यागादेः स्वीकारः, यदुक्तं तत्र

'न चापि तत्परित्यागो निष्परिग्रहतापि वा ।
सपरिग्रहता वापि जटाभस्मादिसंग्रहः ।।
तत्त्यागो वा व्रतादीनां चरणाचरणं च यत् ।
क्षेत्रादिसप्रवेशश्च समयादिप्रपालनम ।।
परलिङ्गस्वरूपादि नामगोत्रादिकं च यत् ।
नास्मिन्विधीयते किंचिन्न चापि प्रतिषिध्यते ।।' इति ।

एवं हि तूष्णींभाव आपतेत्, इत्याशङ्क्य 'विहितम्' इत्याद्युक्तं, सर्वमिति विधीयमानं प्रतिषिध्यमानं च किंचिन्निषिद्धय, किंचिद्विधीयमानं

"न तो परित्याग और न ही परिग्रह ! जटा भस्म आदि का प्रयोग, व्रतों का आचरण या उपेक्षा, क्षेत्र विशेष में रह कर चातुर्मास आदि का उपक्रम, सम्प्रदाय के नियमानुकूल गुरु के तत्त्वाधान में दीक्षा पूर्व चर्या, अनेकानेक चिह्न धारण, नाम और गोत्र परिवर्त्तन इत्यादि इस शास्त्र में न तो विहित है न ही प्रतिषिद्ध ।"

इस प्रकार एक अकर्मभाव रूप मौन ही सत्य सिद्ध हो जाता है । क्रियमाण वस्तु भेद का ही आविर्भाव करता है । इसलिये संविदद्वैत-सिद्ध योगी के जीवन में कोई कार्य (करणीय) या अकरणीय नहीं होता । इस दृष्टि से प्राणायामादि सभी प्रक्रियायें अंग और इन्द्रियों से सम्पन्न होने के कारण कृत्रिम हो जाती हैं ।

हि भेदमेवाविर्भावयेत् तेन--संविदद्वैतशालिनो योगिनः कार्याकार्यविभागो नास्ति-इत्युक्तं स्यात्, अत एव प्राणायामाद्यङ्गकरणकतया कृत्रिमत्वात् स्वरससिद्ध-संविदद्वयात्मनो योगस्य स्वल्पेनापि अंशेन दर्शनान्तरीया योगाः साम्यमात्रमप्यधि-गन्तुं नोत्सहन्ते इत्युक्तं—प्राणायामादिकैरित्यादि ॥ १०७ ॥

ननु यद्येवं तत् अकृतकत्वेन निमित्तानपेक्षणादस्य नित्यं सत्वमसत्वं वा स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

किं त्वेतदत्र देवेशि नियमेन विधीयते ॥ १०८ ॥
तत्त्वे चेतः स्थिरं कार्यं तच्च यस्य यथास्त्विति ।

किं पुनरेतत् अत्र नियमेन विधातव्यं, यत्--'तत्त्वे स्थिरं चेतः स्यात्' इति, चेतसोऽपि अत्र स्थैर्यमाकस्मिकमेव न स्यात्, इत्यत्र केनापि निमित्तेनावश्यं भाव्यम्, इत्याशङ्क्य उक्तं 'तच्च यस्य यथास्त्विति' तच्च-स्थिरं चेतो, यस्य कस्यचन योगिनो यथा नियतनिमित्तानपेक्षित्वेन स्यादित्यर्थः, यदुक्तं तत्र

'तच्च यस्य यथैव स्यात्स तथैव समाचरेत्' इति ।

अत एव नियमाभावात् सर्वमेव विहितं प्रतिषिद्धं चेत्युक्तम् । अष्टादशस्य पटलस्यैकवाक्यतां दर्शयितुमालूनविशीर्णतया अयं ग्रन्थः संवादितः ॥ १०८ ॥

जहाँ तक तान्त्रिक योग का प्रश्न है, यही स्वारसिक रूप से संविदद्वैत भाव से संप्रतिष्ठित करने में समर्थ है । अन्य दर्शनों से सम्बद्ध योग आंशिक रूप से भी इसके सामने नहीं टिक सकते । इस तरह योग विषयक तान्त्रिक दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है ॥ १०७ ॥

भेदवादी दृष्टि की उपज ये यम नियम इस मार्ग में नितान्त अनुपयोगी हैं । तत्त्व के रहस्य में मन की पैठ ही यहाँ चाहिए । यही कह रहे हैं—

पार्वती को सम्बोधित कर भगवान् स्वयं कह रहे हैं कि इस उपासना मार्ग में आने वाले अद्वैतयात्री को नियम यम आदि के किसी भेद-साधक उपाय की कोई आवश्यकता नहीं । इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है—तत्त्व में चित्त को प्रतिष्ठित कर देना । यह जैसे भी हो—वही कार्य है । कहा गया है—

तदेवोपसंहरति

एवं द्वैतपरामर्शनाशाय परमेश्वरः ।। १०९ ।।
क्वचित्स्वभावममलमामृशन्निशं स्थितः ।

ननु शुद्धसंविन्मात्रात्मैव पारमेश्वरः स्वभावो यस्य 'अहमेव सर्वम्' इत्येवं-रूपः परामर्शः, न च अस्य क्वचित् कदाचित् कश्चिद्विशेषः सम्भवेत् इति कथमुक्तं—क्वचिदमलं स्वभावमामृशन् स्थितः ? इति, इत्याशङ्क्याह

यः स्वभावपरामर्श इन्द्रियार्थाद्युपायतः ।। ११० ।।
विनैव तन्मुखोऽन्यो वा स्वातन्त्र्यात्तद्विकल्पनम् ।

इह खलु इन्द्रियार्थाद्युपायनैरपेक्ष्येण अन्तरुल्लिखिताकारमात्रनिष्ठः, तन्मुखः–इन्द्रियार्थाद्युपायको निर्विकल्पपृष्ठभावी अन्यो वा यः स्वभावपरामर्श तदुभयरूपमपि क्षेत्रज्ञस्वातन्त्र्योल्लासितं विकल्पनं विकल्प इत्यर्थः ॥ ११० ॥

तच्च द्विधा, इत्याह

तच्च स्वच्छस्वतन्त्रात्मरत्ननिर्भासिनि स्फुटम् ।। १११ ।।

'वह जिसका जैसे भी हो, उसे वह उसी तरह चर्या का विषय बनावे।' इसलिए इसमें किसी को कुछ नहीं करना है । सभी कुछ विहित भी हैं और प्रतिषिद्ध भी आलून डठल को भूसा बनाने की अनियमित आलूनविशीर्णता विधि ही यहाँ उपयुक्त है ॥ १०८ ॥

इस प्रसंग का उपसंहार कर रहे हैं—

इसी प्रकार द्वैत परामर्श के निराकरण के लिये परमेश्वर सर्वत्र निर्मल स्वात्मभाव के परामर्श में शाश्वत स्थित हैं ।

इन्द्रियों के विषयों से निरपेक्ष, आन्तरिक सूक्ष्म स्पन्दनिष्ठ स्वात्मपरामर्श अथवा इन्द्रियार्थों के उपाय से ही निष्पन्न स्वभाव परामर्श ये दोनों विकल्प परमेश्वर-स्वातन्त्र्य के कारण सम्भव हैं और दोनों प्रकार की वैकल्पिकता स्वाभाविक है ॥ ११० ॥

यह विकल्प दो प्रकार के होते है—

आत्मा स्वयं प्रकाश है । दूसरे से भासित नहीं होता । अतः स्वच्छ है । अन्य सापेक्ष न होने के कारण स्वतन्त्र है । प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में समर्थ होने

भावौघे भेदसंधातृस्वात्मनो नैशमुच्यते ।
तदेव तु समस्तार्थनिर्भरात्मैकगोचरम् ।। ११२ ।।
शुद्धविद्यात्मकं सर्वमेवेदमहमित्यलम् ।

तच्च–विकल्पनं, परानवभास्यत्वात् स्वच्छः, अत एवानन्यापेक्षत्वात् स्वतन्त्रो, योऽसावात्मा प्रमात्रेकरूपः परः प्रकाशः, स एव प्रतिबिम्बग्रहणसहिष्णुत्वात् स्फटिकं, तत्राभेदेन निर्भासनशीलेऽपि प्रमातृप्रमेयात्मनि भावौघे, स्फुटं कृत्वा, स्वात्मनः सकाशादन्यापोहरूपत्वेन भेदसंधायकत्वात् नैशं–मायीयमुच्यते, इति सामान्येनोक्तेः सर्वैरेवाभिधीयते इत्यर्थः, तदेव विकल्पनं पुनः 'सर्वमिदमहमेव' इत्येवं रूपम्, अत एव समस्तार्थपरिपूर्णस्वात्मैकनिष्ठम्, अत एवालं—पर्याप्तं सत् शुद्धविद्यात्मकमुच्यते, इति प्राच्येन सम्बन्धः ।। १११-११२ ।।

ननु

'सर्वो विकल्पः संसारः.................. ।'

इत्यादिनीत्या विकल्पस्तावत् सर्व एव हेयः, तदनेनापि विभागेनाभिहितेन कोऽर्थः ? इत्याशङ्क्याह

इदं विकल्पनं शुद्धविद्यारूपं स्फुटात्मकम् ।। ११३ ।।
प्रतिहन्तीह मायीयं विकल्पं भेदभावकम् ।

के कारण वह रत्नवत् भासमान है। प्रमाता-प्रमेय मय भावसमूह रूप विश्व में स्वात्मतिरिक्त स्फुट भेदमय विकल्प का आभासन यही करता है। इस अवस्था में यह नैश अर्थात् मायीय कहलाता है। यह विकल्प की पहली अवस्था है। इसमें इदम्-इदम् और अहम् अहं की अनुभूति रहती है।

दूसरी अवस्था में इस विकल्प का स्तर 'इदम् अहम् एव' अर्थात् यह समस्त दृश्यमान मैं ही हूँ—रहता है। अतः इसमें समस्त जागतिक भेदवाद से परिपूर्ण स्वात्मभाव हो उल्लसित होता है। यह पर्याप्त विकसित अवस्था है। इसे शुद्ध विद्यात्मक अवस्था कहते हैं।

सारा विकल्प ही संसार है। इस नीति के अनुसार सारा विकल्प ही हेय है। ऐसी अवस्था में इसकी क्या उपयोगिता ? इसी प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

स्फुटात्मकमिति—प्रागुक्तविकल्पसंस्क्रियाक्रमणेन साक्षात्कारतां प्राप्त-मित्यर्थः, मायीयस्य विकल्पस्य प्रतीघाते भेदभावकत्वं हेतुः, अत एवाभेदभाव-कत्वादिदमुपादेयम्, इत्युक्तं स्यात् ॥ ११३ ॥

तच्च परामृश्यभेदादनेकप्रकारम्, इत्याह

शुद्धविद्यापरामर्शो यः स एव त्वनेकधा ॥ ११४ ॥
स्नानशुद्ध्यर्चनाहोमध्यानजप्यादियोगतः ।

ननु अयं शुद्धविद्यात्मा परामर्शः कथं नाम भेदनिष्ठं मायीयमेव विकल्पं प्रतिहन्यात् यत्प्रयोजकीकाराय अस्यापि प्रकारान्तरासूत्रणम्, इत्याशङ्क्याह

विश्वमेतत्स्वसंविर्त्तिरसनिर्भरितं रसात् ॥ ११५ ॥
आविश्य शुद्धो निखिलं तर्पयेदध्वमण्डलम् ।

इह खलु एवंपरामर्शवान् योगी वक्ष्यमाणक्रमेण स्वात्मचमत्कारपूर्णतया आदरातिशयात् विश्वमिदमाविश्य, अत एव परप्रमात्रेकरूपत्वात् शुद्धो निखिल-मध्वमण्डलं तर्पयेत्—स्वात्मसंवित्तिरसनिर्भरतया साक्षात्कुर्यादित्यर्थः। अनेन च

शुद्ध विद्यात्मक यह विकल्प अत्यन्त संस्कार सम्पन्न स्फुट विकल्प है। इसमें अहमात्मक साक्षात्कार की प्रक्रिया प्रारब्ध हो जाती है। इसमें वह शक्ति उल्लसित हो जाती है, जो मायीय विकल्प को, उसके भेदवाद को निरस्त कर देती है और उपादेय अभेदवाद की अनुभूति की भव्यता की आभा का प्रभाव परिलक्षित होने लगता है॥११३॥

परामृश्य भेद से इसकी अनेक प्रकारता का उल्लेख कर रहे हैं—

स्नान शुद्धि, अर्चना, होम, ध्यान और जप आदि के योग से शुद्धविद्या-परामर्श अनेक प्रकार के होते हैं॥११४॥

यह शुद्धविद्यात्मक परामर्श भेदनिष्ठ मायीय विकल्प को ही क्यों प्रतिहत करता है। इसी आशङ्का का उत्तर दे रहे हैं—

वस्तुतः शुद्धविद्यात्मक परामर्शनिष्ठ योगी स्वात्मसंविद् परामर्श के चमत्कार का अनुभव करता है। विश्व में समावेश की दशा में भी स्वयं शुद्ध रहता है। वह समग्र अध्व मण्डल का तर्पण करता है। स्वात्मसंविद् परामर्श

प्रतिनियतकल्पितबाह्यार्चनीयाद्यभावं कटाक्षयता योगाङ्गानुपयोगित्वानन्तर्येण उद्दिष्टस्य कल्पितार्चाद्यनादरस्य अवकाशो दत्तः ॥ ११५ ॥

ननु स्नानादेरपि भेदसंधायकत्वान्मायीयामर्शरूपत्वमेव युक्तं, तत् कथमस्य शुद्धविद्यापरामर्शकत्वमुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

उल्लासिबोधहुतभुग्दग्धविश्वेन्धनोदिते ॥ ११६ ॥
सितभस्मनि देहस्य मज्जनं स्नानमुच्यते ।

बाह्योन्मुखत्वादुल्लसनशीलः प्रमाणात्मा योऽसौ बोधः स एव प्रकाशत्वादग्निः, तेन दग्धं स्वात्मसात्कृतं यन्नीलसुखादिरूपं विश्वं तदेव दाह्यत्वादिन्धनं, तत उदिते—तदुभयसंघट्टेन लब्धप्रतिष्ठाने, सिते—निरुपाधिनि, भस्मनि अपरिमितप्रमात्रेकरूपे परे तत्त्वे, देहादेः—परिमितस्य प्रमातुर्यन्मज्जनं—स्वगुणीभावेन तत्रैव मुख्यतया समावेशः, तन्नाम स्नानमुच्यते, न पुनर्बाह्यजलादिरूपम्, इति अर्थसामर्थ्यलभ्यो व्यतिरेकः, यदभिप्रायेणैव

'यदि मुक्तिर्जलस्नानान्मत्स्यानां सा न किं भवेत् ।'

इत्यादि अन्यत्रोक्तम् ॥ ११६ ॥

के रस से वह सर्वदा सराबोर रहता है। उसके रसाल व्यक्तित्व से विश्व भी रसमय हो जाता है। इसलिये इस परामर्श में प्रकारान्तर की सम्भावना नहीं होती और भेदवाद भी पुलकित हो जाता है। कल्पित अर्चा आदि से यह परामर्श उत्कृष्ट है और अन्य योग भी इससे निकृष्ट हैं—यह सिद्ध हो जाता है ॥११५॥

स्नान आदि तो भेदवाद के पोषक और मायीय परामर्श रूप हैं। इन्हें शुद्धविद्यापरामर्शक मानने का कारण बतला रहे हैं—

जागतिक सारा ज्ञान बाहर की ओर ही उन्मुख है। यह वस्तुसत्ता का प्रमाण है। यह प्रकाश रूप भी है। इसलिये इसे अग्नि कहते हैं। इसमें सारा द्वन्द्व सुख-दुःख, नील-पीत आदि जलते रहते हैं। ये सभी इन्धन हैं। उस आग और इन इन्धनों के परस्पर संघट्ट से एक सित (अत्यन्त निर्मल) अपरिमित प्रमाता रूप परतत्त्वात्मक भस्म निष्पन्न होता है। इसमें परिमित प्रमाता रूप शरीर का मज्जन साधना की एक प्रक्रिया है। उसमें समावेश पा लेना ही साधक के लिये स्नान है। जल से स्नान मुख्य नहीं है। अर्थ के बल से उक्त

ननु बाह्येन स्नानेन नित्यादौ कर्मण्यधिकारो देहादौ च शुद्धिर्भवेत्, अस्य पुनरेवं विधस्य किं फलम् ? इत्याशङ्क्याह

इत्थं च विहितस्नानस्तर्पितानन्तदेवतः ॥ ११७ ॥
ततोऽपि देहारम्भीणि तत्त्वानि परिशोधयेत् ।

ननु

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'

इत्यादिनीत्या सर्वमिदं—देहादि परब्रह्मात्मकशिवस्वभावमेव, इति का नाम तत्र शुद्धिरशुद्धिर्वा ? इत्याशङ्क्याह

शिवात्मकेष्वप्येतेषु शुद्धिर्या व्यतिरेकिणी ॥ ११८ ॥
सैवाशुद्धिः पराख्याता शुद्धिस्तद्धीविमर्दनम् ।

व्यतिरेकिणी—भेदात्मा, तद्धीः—व्यतिरेकिणी बुद्धिः, यदुक्तम्

भस्म स्नान का महत्त्व स्वतः सिद्ध है । इसीलिए कहते हैं कि "यदि जल स्नान से मुक्ति मिलती तो मछलियों को वह अनायास मिल जाती ।" शैव सम्प्रदाय में भस्मलेपन का यही रहस्य है ॥ ११६ ॥

प्रश्न है कि बाह्यस्नान से कर्म में अधिकार और देह आदि की शुद्धि होती है । यह इसका प्रत्यक्ष फल है । इस भस्म स्नान का क्या फल है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

उक्त प्रकार का सुस्नात साधक अनन्त देव-शक्तियों को तृप्त कर लेता है । साथ ही कर्माशय परम्परा का परिशोधन भी करने में समर्थ हो जाता है ।

यह सारा दृश्यादृश्य अस्तित्व ब्रह्म ही है । इस दृष्टि से यह देह आदि सारा वस्तुतत्त्व भी परब्रह्मात्मक ही है । इसमें शुद्धि और अशुद्धि का कोई प्रश्न ही नहीं होना चाहिये । इसी आशङ्का का उत्तर दे रहे हैं—

सब के शिवात्मक होने पर भी यह भेदप्रदा बुद्धि ही अशुद्धि बन जाती है । इस प्रकार की बुद्धि का परिष्कार ही शुद्धि है ।

'अशुद्धं नास्ति तत्किंचित्सर्वं तत्र व्यवस्थितम् ।
यत्तेन रहितं किंचिदशुद्धं तेन जायते ॥' इति ॥ ११८ ॥

ततश्च किम्,—इत्याह

एवं स्वदेहं बोधैकपात्रं गलितभेदकम् ॥ ११९ ॥
पश्यन्संवित्तिमात्रत्वे स्वतन्त्रे तिष्ठति प्रभुः ।

एवम्—उक्तेन प्रकारेण अनात्मन्यात्माभिमानन्यक्कारेण आत्मनि स्वतन्त्रतादिधर्मप्रयोजकीकारेण, संविन्मात्ररूपतां साक्षात्कुर्यादित्यर्थः ॥११९॥

एवं स्नानादेरकल्पितत्वमभिधायेतरेषामपि अर्चनाङ्गानां दर्शयति

यत्किंचिन्मानसाह्लादि यत्र क्वापोन्द्रियस्थितौ ॥ १२० ॥
योज्यते ब्रह्मसद्धाम्नि पूजोपकरणं हि तत् ।

यस्यां कस्यांचिदिन्द्रियवृत्तौ, यत् किंचित्—अनियतं, मानसाह्लादि वस्तु, ब्रह्मरूपे शोभने सूर्याचन्द्रादिविलक्षणे तेजसि, योज्यते–बहीरूपतापरित्यागेन संविन्मात्रात्मना साक्षात्क्रियते, तन्नाम पूजोपकरणं—तावतैव पूजायाः परिपूर्ति-र्भवेदित्यर्थ ॥ १२० ॥

अन्यथा कहा गया है कि "कोई पदार्थ अशुद्ध नहीं है । यह सारा वस्तुवाद उसी परातत्त्व में उल्लसित है । यदि कोई वस्तु उससे रहित हो जाय, तो वह अशुद्ध हो जाती है ।" शुद्धि और अशुद्धि में यही अन्तर है ॥ ११८ ॥

इसका फलितार्थ कह रहे हैं—

इस तरह अशुद्ध अनात्म में ही आत्मभाव को समाप्त कर एकमात्र स्वात्म-बोध का ही आश्रय और अद्वय अस्तित्व का प्रतीक बन जाने वाला सिद्ध साधक स्वात्मसंविद् स्वातन्त्र्य को उल्लसित कर लेता है, उसी स्वातन्त्र्य भाव में विचरण करता है और प्रभुता सम्पन्न हो जाता है ॥ ११९ ॥

अर्चना के अन्य अंगों के सम्बन्ध में भी कह रहे हैं—

जिस किसी भी इन्द्रिय वृत्ति में जो कुछ भी अनियत और मन को आह्लादित करने वाली वस्तु उपस्थित होती हो, उसे यदि जागतिक ज्ञान के जड़ प्रकाश से विलक्षण ब्रह्म के शाश्वत तेज में योजित कर दिया जाय, तो

ननु अश्रुतपूर्वमिदं पूजालक्षणम् ? इत्याशङ्क्याह

पूजा नाम विभिन्नस्य भावौघस्यापि संगतिः ॥ १२१ ॥

स्वतन्त्रविमलानन्तभैरवीयचिदात्मना ।

विभिन्नस्यापि रूपरसादेर्भावौघस्य, देशकालाद्यनवच्छिन्ननिरुपाधिपूर्णपरसंविदात्मना, या संगतिः—एकीकारः, सा पूजेति संभाव्यते—नैतदस्मदुपज्ञमेवेत्यर्थः, यदुक्तम्

'पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा ।
निर्विकल्पे महाव्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः ॥' इति ।

एवं होमादीनामपि पूजोपकरणत्वादेव इदृक् रूपमर्थसिद्धम्, इति न साक्षादुक्तम्, तच्च प्राक् बहूक्तं वक्ष्यते च, इति—तत एवावधार्यम् ॥ १२१ ॥

ननु कथमन्यस्य अन्येनैकीकार एव भवेत् यदपि पूजादेर्लक्षणतयोच्येत ? इत्यशङ्क्याह

वही वस्तु वास्तविक पूजा का उपकरण बन सकती है । इस प्रक्रिया में पदार्थ के बाह्य स्वरूप का परित्याग और पदार्थ के संविद्रूप का साक्षात्कार हो जाता है ॥ १२० ॥

यह तो कभी न सुनी और न कभी जानी परिभाषा है ? इस आशङ्का का उत्तर दे रहे हैं—

विभिन्न रूप रस आदि से सम्बन्धित भावराशि का, देशकाल आदि परिच्छेदकों से ऊपर उठकर स्वतन्त्र, निर्मल, अनन्त, शाश्वत शैव महाभावमयी संवित्ति से यदि संगति हो जाय तो वही पूजा बन जाती है । इसमें भावक का तादात्म्य हो जाता है । यह बात मात्र इसी शास्त्रकार की नहीं है । अपितु अन्यत्र भी कही गयी है—

"फूल माला आदि के देवपूजन में प्रयोग से उसमें एकाङ्गी आस्था उत्पन्न होती है । वह पूजा नहीं है । वस्तुतः निर्विकल्प महाव्योम में आदर पूर्वक लीन होना और संविद्साक्षात्कार करना ही वास्तविक पूजा है ।" इसी प्रकार हवन आदि स्थूल पूजा की प्रक्रिया भी सामरस्य नहीं प्रदान करती ॥ १२१ ॥

तथाहि संविदेवेयमन्तर्बाह्योभयात्मना ॥ १२२ ॥
स्वातन्त्र्याद्वर्तमानैव परामर्शस्वरूपिणी ।

इयम्—उक्तस्वरूपा, संविदेव हि स्वस्वातन्त्र्यादन्तर्बहीरूपतया परिस्फुरति, इति—तदतिरिक्तमन्यत् नाम न किंचिद्वस्तुतोऽस्ति, इति युक्तमुक्तं—'विभिन्नस्यापि भावौघस्य चिदात्मनैकीकार' इति, ननु कथं नामास्या बहीरूपताभासनेऽपि अहंपरामर्शात्मकं स्वं रूपं स्यात् ? इत्याशङ्क्योक्तं 'परामर्शस्वरूपिण्येव' इति, एवमप्यस्या न स्वरूपात्प्रच्चाव इत्यर्थः ॥ १२१ ॥

इयदेव हि नामास्याः परामर्शरूपत्वं—यद्विश्वरूपतया प्रस्फुरति, इत्यत आह

स च द्वादशधा तत्र सर्वमन्तर्भवेद्यतः ॥ १२३ ॥
सूर्य एव हि सोमात्मा स च विश्वमयः स्थितः ।
कलाद्वादशकात्मैव तत्संवित्परमार्थतः ॥ १२४ ॥

सः—परप्रमातृरूपः परामर्शश्च द्वादशधा विश्वरूपतयोल्लसेदित्यर्थः, अनेन कल्पितार्चाद्यनादरानन्तर्येण अनुजोद्देशोद्दिष्टः संविच्चक्रोदयोऽप्युप-

---

बाहर-भीतर सर्वत्र व्याप्त संविद् के विषय में अपना मत व्यक्त कर रहे हैं—

भैरवीय चिन्मयी संविद् ही अन्तर और बाहर दोनों रूपों में वर्त्तमान है। यही उसका स्वातन्त्र्य है। वस्तुतः इसके अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ का अस्तित्त्व ही नहीं है। इसी आधार पर कहा गया है कि विभिन्न भावौघों का चिदात्मक एकीकार होता है। यहाँ यह विशेषतः विचारणीय है कि बाह्यावभास की अवस्था में भी उसका परामर्शात्मक स्वरूप ज्यों का त्यों बना रहता है, वह शाश्वत अविकृत रहता है और स्वरूप से उसका प्रच्याव नहीं होता॥ १२२ ॥

इसके परामर्श का ही यह चमत्कार है कि यह विश्वरूप में भी परिस्फुरित होती है—

वह परामर्श १२ प्रकार से विश्व में उल्लसित है । इन्हीं प्रकारों में सबका अन्तर्भाव हो जाता है। कहा गया है कि "यह वह्नि रूप परम तत्त्व भी

क्रान्तः । ननु विश्वस्य प्रमातृप्रमेयादिरूपत्वेनापि बहुधात्वमस्ति, इति कथं-द्वादशकलात्मसूर्यरूपेण प्रमाणमात्रेणैवोपात्तेन तत्संग्रहः सिद्ध्येत् ? इत्याशङ्क्याह 'तत्रेत्यादि' सर्वमिति–प्रमातृप्रमेयादि, इह खलु

'योऽयं वह्निः परं तत्त्वं प्रमातुरिदमेव तत् ।'

इत्याद्युक्त्या परसंविदात्मा प्रमाता तावत् भेदेन्धनदाहकत्वादग्निः, स एव च अहंप्रतीतिमात्रस्वरूपः स्वस्वातन्त्र्यात् बुद्धीन्द्रियाद्यात्मना द्वादशधा प्रस्फुरन् प्रमाणदशामधिशयानः 'सूर्य' इत्युच्यते, प्रमाणं च प्रमातुरेव बहिर्मुखं रूपम् इति-तत्र प्रमाता तावदन्तर्भावमियात्, प्रमाणं नाम च ज्ञानं, तच्चोपाश्रयशून्यं न क्वचिदपि संभवति–इत्यवश्यमेव मेयाक्षेपेण वर्तते, इति तदपि अत्रान्तर्भूतमेव, तदाह 'सूर्य एव' इत्यादि, 'सोमः' प्रमेयम्, यदुक्तं प्राक्

'सूर्यं प्रमाणमित्याहुः सोमं मेयं प्रचक्षते ।
अन्योन्यमवियुक्तौ तौ स्वतन्त्रावप्युभौ स्थितौ ॥' इति ।

विश्वमय इति विश्वस्य मेयात्मकत्वात्, अतश्च सर्वस्यैव अत्रान्तर्भावात् विश्व-रूपतया प्रस्फुरन्त्याः परस्याः संविदो द्वादशात्मकत्वमेव वस्तुतः संभवति, इति युक्तमुक्तं 'स च द्वादशधा इति, अत एवाह 'कलाद्वादशकेत्यादि' कलाः—प्रमात्रादिरूपाः अंशाः ॥ १२३-१२४ ॥

उसी परप्रमाता का रूप है ।" इस उक्ति के अनुसार परसंविद् रूप परप्रमाता भेदात्मकता को भस्म करने के कारण अग्निरूप है । यह अहमात्मक प्रतीति रूप होता है । अपने स्वा तन्त्र्य के माहात्म्य से बारह रूपों में स्फुरित होता है । इसे ही प्रमाण रूप से सूर्य भी कहते हैं । प्रमाता के बहिर्मुख रूप को ही प्रमाण कहते हैं । प्रमाता उसमें अन्तर्भूत रहता है । प्रमाण ज्ञान को भी कहते हैं । यह विना आश्रय के नहीं होता । इसलिए प्रमाण के साथ प्रमेय का भी आक्षेप होता है । पहले कहा गया है—"सूर्य प्रमाण और सोम प्रमेय माने जाते हैं तथा सूर्य हो सोमात्मक माना जाता है । ये दोनों एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते । ये दोनों स्वतन्त्र भी हैं ।"

विश्व मेय रूप है । अतः यह मेय विश्वरूप में उल्लसित परा संविद् के ही अन्तर्भूत माना जाता है । यह संविद् परमार्थतः बारह कला युक्त ही होती है ॥ १२३–१२४ ॥

ननु अस्यास्त्रयोदशात्मकत्वमपि अन्यैरुक्तं, तत् कथमिह द्वादशात्मकत्वमेवोच्यते ? इत्याशङ्कयाह

सा च मातरि विज्ञाने माने करणगोचरे ।
मेये चतुर्विधं भाति रूपमाश्रित्य सर्वदा ॥ १२५ ॥

विज्ञाने इति मानविशेषणम्, अन्येषां हि बोधाबोधरूपमपि प्रमाणलक्षणं विवक्षितं, करणगोचरे इति–प्रमाणविषयतां प्राप्ते इत्यर्थः, अन्यथा हि मेयं नाम स्वात्मनि न किंचिदेवेति भावः, चो हेतौ, यतः, सा-पारमार्थिकी संवित् सृष्टिस्थितिसंहारानाख्यत्वेन चतुर्विधं रूपमाश्रित्य प्रमातरि प्रमाणे प्रमेये च सर्वदा भाति–अविच्छिन्नत्वेन एकैकत्र चातुरात्म्येन द्वादशधा प्रस्फुरतीत्यर्थः, यदुक्तम्

'सोमार्कानलदीप्तीनां रूपं यः सर्वगोऽमितः ।
सृष्ट्यादिक्रमयोगेन व्यक्ततां नयति स्फुटम् ॥' इति ।

तथा

'यस्यां यस्यां बोधभूमौ समाविशति तत्त्ववित् ।
तस्यां तन्मयतां प्राप्य चातुरात्म्यं प्रपद्यते ॥' इति ।

ननु अस्या परस्याः संविदोऽन्यैरनयैव भङ्ग्या त्रयोदशात्मकत्वमुक्तम्, यदुक्तम्

कुछ विद्वद्वर्ग की मान्यता है कि यह तेरह प्रकार की होती है । आप क्यों १२ प्रकार ही कह रहे हैं ? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

वह पारमार्थिकी संवित् प्रमाता, प्रमाण और करण गोचर प्रमेय में सृष्टि, स्थिति संहार और तुरीय रूपों के आश्रय से सर्वत्र उल्लसित है । इसी कारण इसे ३ × ४ = १२ प्रकार का माना गया है । कहा गया है—"सोम, सूर्य और अग्निका का प्रकाशमान रूप ही सृष्टि आदि क्रम योग से अभिव्यक्त होता है ।" तथा "जिस बोध भूमि पर तत्त्ववेत्ता समावेश प्राप्त करता है, उसी में तन्मय होकर चार प्रकार का हो जाता है ।"

कुछ विद्वान् इसे तेरह प्रकार की मानते हैं । इस विषय में कहा गया है कि—एक एक रूप मान, मेय और प्रमाता सर्ग, स्थिति, संहार और अनाख्य को आक्रान्त कर अवस्थित होते हैं । अपने स्वरूप के अनुकूल ही कलना के आधार

'एकं स्वरूपरूपं हि मानमेयप्रमातृताः ।
सर्गावतारसंहारमयीराक्रम्य वर्तते ॥
स्वस्वरूपानुगुण्येन प्रत्येकं कलनावशात् ।
सृष्टिस्थित्यादिभिर्भेदैश्चतुर्धा ता अपि स्थिता ॥
कालग्रासान्तमुदयाच्चतुर्धा विभवो हि यः ।
तस्य विश्रान्तिरेकैव ततो देव्यस्त्रयोदश ॥
अनाख्यचक्रे प्राधान्यात्पूजनीयतया स्थिता ।' इति ।

इह च द्वादशात्मकत्वमुच्यते इति किमेतत् ? इति न जानीमः, अत्रोच्यते—इह खलु परैव संवित् स्वस्वातन्त्र्यात् तथोक्तयुक्त्या द्वादशधा प्रस्फुरिता इति तावदविवादः, तत्र यद्यसौ परैव संवित् तेभ्यो द्वादशभ्यो रूपेभ्यः पृथगवभासेत तदस्या भवेत्त्रयोदशत्वम्, अन्यथा तत् कस्यान्यस्य त्रयोदशत्वं स्यात्, संविदो हि अतिरेके द्वादश रूपाणि असंविद्रूपत्वात् न चकास्युरेव, इति—निराभासा संविदेकैव अवशिष्येत, इति को नाम त्रयोदशरूपत्वस्यावकाशः। अथातिरेकेऽपि संवित् सामान्यन्यायेन द्वादशापि रूपाण्यनुयन्ती स्वरूपेणापि अवभासते, इति स्थितमेव अस्यास्त्रयोदशत्वम् इति चेत्, असदेतत्, सामान्यं हि विशेषेभ्यो भिन्नं सत्ताननुगच्छति, येन गौगौरिति अभिन्नस्तदनुगतः प्रत्ययः स्यात् संविदि पुनस्तानि तान्यपि रूपाणि स्फुरन्ति, नातिरिच्यन्ते, तथात्वे हि तेषामवभास एव न स्यात्, तेन यन्नाम तानि तानि रूपाणि स्फुरन्ति तदेवोच्यते, 'संविदवभासते' इति तत् किं केनानुगम्यते—दृष्टान्तस्य वैषम्यात् यत्किंचिदेतत् यदभिप्रायेणैव

पर चार-चार प्रकार के और फलतः परा संविद् द्वादश प्रकार की होती है। इसमें कोई विवाद नहीं है। परा संविद् का इन बारह प्रकारों से अतिरिक्त भासित होना ही इसका तेरहवाँ प्रकार हो सकता है।

यह विचारणीय है कि संविद् के अतिरिक्त मानने पर ये १२ भेद तो असंविद् रूप हो जायेंगे। शुद्ध निराभासा संविद् तो एक ही और अव्यक्त होती है। इसका तेरहवाँ भेद कैसे माना जा सकता है ? सामान्यतः सविद् उक्त बारह रूपों में उल्लसित होते हुए भी अपने रूप का परित्याग नहीं करती। इससे उसका त्रयादशत्व सिद्ध हो ही जाता है। यह विचार मान्य नहीं है। सामान्य विशेषों से भिन्न रह उनका ही अनुगमन करता है। फलतः गाय गाय ही है, यह अभिन्न प्रतीति होती है।

'भावा भान्तीति संवित्तावात्मा भातीति भासते ।
आत्मा भातीति संवित्तौ भावा भान्तीति भासते ।।'

इत्यादि अन्यत्रोक्तम् । अथ परैवेयं संवित् द्वादशकात्मनारूषितेन रूपेण प्रस्फुरेत् शुद्धसंविन्मात्रात्मा त्रयादशेन चानारूषितेन ? इति चेत्, नैतत्' इह हि—निरुपाधिरनारूषिता निराभासा परैव शुद्धा संविदस्ति इति नः सिद्धान्तः' सा च स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् स्वं स्वरूपं गोपयित्वा विश्वरूपतामवभासयन्ती द्वादशकात्मनारूषितेनैव रूपेण प्रस्फुरेत्, नहि तदानीं तदतिरिक्तमनारूषितमपि अस्या रूपं भायात्' तथात्वे हि आरूषितमेव रूपं न चकास्यादित्युक्तं बहुशः । ननु विश्वमयत्वेऽप्यस्या विश्वोत्तीर्णमनारूषितं रूपं सम्भवेत्, अन्यथा हि अस्या जाड्यमापतेत्, नन्वस्य प्रश्नस्य क इवाशयः—किं विश्वमयत्वेऽप्यस्या गोश्रृङ्गन्यायेन तदरिक्तमनारूषितं रूपं सम्भवेदिति, उत स्वस्वातन्त्र्याद्विश्वरूपतामभासयन्त्या अप्यस्याः संविदद्वयात्मनः स्वस्वरूपात् प्राच्यावो न जायते इति ? तत्राद्यः पक्षो दूषितप्रायः–नहि वैश्वरूप्यमतिक्रम्य अस्याः स्फुरत्तैव स्यादित्युक्तमसकृत्, वक्ष्यति च

इसी तरह संविद् में उक्त विभिन्न रूप प्रस्फुरित होते हैं। किन्तु संविद् के अतिरिक्त नहीं होते। अतिरिक्त मानने पर वे आभासित नहीं हो सकते। इसलिये यही कहना श्रेयस्कर है कि जितने रूप आभासित होते हैं—उन रूपों में संविद् ही अवभासित है।

"समस्त भाव संवित्ति में भासित होते हैं। संविद् वपुष् आत्मा स्वयं प्रकाशित है। इससे समग्र अस्तित्व भासमान होता है। इसे दूसरी तरह भी कह सकते हैं कि आत्मा स्वयं प्रकाश है। उसी के प्रभाव से संवित्ति में समग्र भाव भासित होते हैं। यही भासमानता का रहस्य है।"

वस्तुतः संविद् शक्ति शाश्वत शुद्ध है। निरुपाधि है और अन्य से अनारूषित है। यह निराभासा और पराशक्ति है। यही मान्य शैव सिद्धान्त है। वह अपने स्वातन्त्र्य के माहात्म्य से अपने स्वरूप का गोपन करती है, विश्वरूप में अवभासित होती है, उन्हीं बारह रूपों में व्यक्त होती है। इनमें वही होती है। अनारूषित रूप की अलग सत्ता की कल्पना ही व्यर्थ है।

विश्वमयत्व और विश्वोत्तीर्णत्व की शङ्का भी व्यर्थ है। गो श्रृंग का अस्तित्व मात्र वितंडा है। यहाँ वह दृष्टान्त लागू नहीं होता। संविदद्वयात्मक आभास में भी स्वरूप का प्रच्याव नहीं होता। कहा गया है—

'न खल्वेष शिवः शान्तो नाम कश्चिद्विभेदवान् ।
सर्वेतराध्वव्यावृत्तो घटतुल्योऽस्ति कुत्रचित् ॥
'महाप्रकाशरूपा हि येयं संविद्विजृम्भते ।
स शिवः शिवतैवास्य वैश्वरूप्यावभासिता ॥
तथाभासनयोगोऽतः स्वरसेनास्य जृम्भते ।' इति ।

अनेनैवाभिप्रायेण श्रीतपस्विनापि

'परतरतयादिरूपं यद्यत्कलयामि तत्तदधरं ते ।
अधरतरापि न कलना सा काचिद्यत्र न स्थितास्यभितः ॥'

इत्याद्युक्तम् द्वितीयस्मिन् पक्षे पुनर्वस्तुतोऽनारूषितत्त्वेऽपि स्वस्वातन्त्र्योल्लासितेन तेन तेनारूषितेनैव रूपेण अस्या अवभासः, इति पुनरपि नास्यास्त्रयोदशरूपत्वं, तद्धि अयःशलाकाकल्पतया स्पर्धाबन्धेन परिस्फुरतोरनयोः स्यात्, तथाहि—नटस्तत्तद्भूमिकावलम्बनवेलायां वस्तुतो नटत्वेऽपि तत्तद्रूपतयैवाभासते, न पुनः नटत्वेनापि, तथैव संविदपि वस्तुतः शुद्धसंविन्मात्रत्वेऽपि विश्वमयतायां द्वादशकात्मनैव रूपेणावभासते, न पुनः शुद्धसंविन्मात्रात्मना त्रयोदशेनापि रूपेणावभासते, इति यथोक्तमेव युक्तम्, तस्माद्विश्वरूपतामवभासयन्ती संवित् द्वादशधैव प्रस्फुरेत्, अन्यथा पुनरेकैवेति पर्यवसितम् यदागमः

"निश्चय ही यह शान्त शिव अद्वयात्मक है। सभी अन्य अध्वाओं से व्यावृत्त कहीं घड़े के समान भी भासित है। यह महाप्रकाशरूपा संविद् शक्ति का महोल्लास भी शिव की शिवरूपता का ही उल्लास है। यह आभास ही संविद् स्वारस्य है।"

श्रीतपस्वी की उक्ति है कि "मैं अपनी छोटी दृष्टि से जिन रूपों में तुम्हारा आकलन करता हूँ, उन कल्पित रूपों के अतिरिक्त भी तुम्हारी सत्ता सर्वत्र है। कोई छोटी से छोटी कलना ऐसी नहीं जहाँ तुम न हो।"

यहाँ दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं। सायकिल का पहिया चलता है। तिल्लियाँ घूमती हैं। यह स्पर्धाबद्ध चक्र एक ही हो जाता है। पृथक् पृथक् तिल्लियाँ भी एक हो जाती हैं।

२—नट सभी रूपों के अभिनय में वही हो जाता है। नट नहीं प्रतीत होता। उसी तरह विश्वरूपता में अवभासित संवित् बारह रूपों में ही स्फुरित

'पृथक्पृथक्स्वकार्यस्था यावत्तिष्ठन्ति देवताः ।
तावत्क्रमकृता संज्ञा विद्यते नान्यथा पुनः ॥'
'एकीभावतया सर्वमनाख्यायां यदा स्थितम् ।
अक्रमस्तु तदा ज्ञेयः प्रोत्तीर्णः सर्वतो यतः ॥' इति ।

एवं चैकत्वमपि द्वयप्रतिपक्षभूतम्, इति तद्विशेषणत्वमपि न सहते, इति संविदेवेति स्यात्, एवकारश्च अन्ययोगव्यवच्छेदकः अन्यश्च कश्चिदपीह नास्ति, इति किं व्यवच्छिन्द्यात् इति तद्योगमप्यसहमाना संविदित्येवं स्यात्, संविच्च संवेद्यनिष्ठा, संवेद्यं नाम च स्वात्मातिरिक्तं न किंचिदप्यस्ति इति, यथा व्यपदेशमप्यलभमाना सर्वत्रैवाव्यपदेश्येति अनामकेति अनाख्येति चोद्घोष्यते, इत्यलं बहुना। ननु यद्येवं तत् कथमन्यत्र अस्यास्त्रयोदशरूपत्वमुक्तं युज्यते, नहि तन्नोपपद्यते इति वक्तु शक्यम्—आगमात्मनो निर्बाधस्य प्रमाणस्य भावात् कथमेतत् प्रतिसमाधीयते इत्युच्यताम् ? उच्यते—इह भेदाधिवासिता मायाप्रमातारस्तावदुपदेश्याः इति समानार्थचर्यावित् तदानुगुण्येन अत्र प्रवृत्त उपदेशः सुखेन प्ररोहमियात्, इति विकल्पबलोपनतं भेदमाश्रित्य संविदस्त्रयोदशरूपत्वमुक्तम्, इह पुनर्वास्तवमभेदमेवावलम्ब्य एवमुपदेशः इति सर्वमेव प्रतिसमाहितम्। ननु अस्याः परस्याः संविदः

'तस्य शक्तय एताश्च तिस्रो भान्ति परादिकाः ।
सृष्टौ स्थितौ लये तुर्ये तेनैता द्वादशोदिताः ॥'

है। है वह एक ही। आगम कहता है—"अलग अलग अपने कार्य में देवता जब तक लगे हैं तब तक उनकी सक्रम संज्ञा होती है। अन्यथा नहीं। सभी कुछ अनाख्या में एकीभाव से ही अवस्थित है। वही अक्रम दशा वास्तविक है और सर्वोत्तीर्ण भी।" यह एकत्व भी द्विधाभाव का प्रतिपक्ष सा हो जाता है।

वस्तुतः संविद् शक्ति संवेद्यनिष्ठ होती है। संवेद्य स्वात्म के अतिरिक्त क्या है ? इसी तरह संविद् को भी कैसे कहें ? इसीलिये इसे अनामिका, अनाख्या और अव्यपदेश्या इत्यादि शब्दों से उद्घोषित करते हैं। अतः विकल्प बलोपनीत भेदों की बात पर न जाकर इसको बारह प्रकार का ही स्वीकार करते हैं। कहा गया है—

इत्याद्युक्त्या प्रागन्यथा द्वादशधोदय उक्तः, इह चान्यथा, इति पूर्वापरव्याहतत्त्वमापतेत्, इति किमेतत्? अत्रोच्यते–इह यावता हि परस्याः संविदो द्वादशधोदयो विवक्षितः स चैवमस्तु, अनेवं वा—प्रक्रियाया विशेषे तस्याविशेषात्, एतदभिप्रायगर्भीकारेणैव च अन्यत्राप्यनेनैव

'ता एताश्चतस्रः शक्तयः स्वातन्त्र्यात्प्रत्येकं त्रिधैव वर्तन्ते--
सृष्टौ स्थितौ संहारे च इति द्वादश भवन्ति'

इत्याद्युक्त्या प्रक्रियान्तरेण अस्या द्वादशधोदय उक्तः इति सर्वं निरवद्यम् ॥ १२५ ॥

नन्वेवंरूपत्वेनावभासमानाया अस्या वैशिष्ट्यमवश्याश्रयणीयम्, अन्यथानैक्यमेव न स्यात् तत् पुनः कुत्र कीदृक्? इत्याशङ्क्याह

शुद्धसंविन्मयी प्राच्ये ज्ञाने शब्दनरूपिणी ।
करणे ग्रहणाकारा यतः श्रीयोगसंचरे ॥ १२६ ॥

इयं खलु परा संवित् प्राच्ये—प्रमातरि कथंचित्संकोचोल्लासेऽपि प्रमातृरूपत्वात् शुद्धा, न पुनः प्रमाणादिवदशुद्धैव, येयं संवित् संकुचितमविकल्पकं ज्ञानं तत्स्वभावा, बुद्धीन्द्रियाद्यात्मकरणलक्षणे प्रमाणे च, शब्दन-विकल्पस्तद्रूपिणी भेदामर्शमयीत्यर्थः, अत एव 'ग्रहणाकारा' इत्युक्तम्, ग्रहणं हि ग्राह्यग्राहकोभयापेक्षकम्। ननु प्रमाणदशायामपि परैव संवित् ग्रहणाकारा वर्त्तते, इत्यत्र किं प्रमाणम्? इत्याशङ्क्याह—यत इत्यादि 'यतः श्रीयोगसंचरे' इति वक्ष्यमाणमुक्तमिति शेषः ॥ १२६ ॥

"उसकी परा अपरा परापरा शक्तियाँ सृष्टि, स्थिति संहार और तुरीय रूपों में आभासित होने से १२ प्रकार की कही गयी हैं। यह कथन भी विवक्षाधीन है। कहीं इसी बात को "ये चार शक्तियाँ सृष्टि, स्थिति और संहार रूपों के आश्रय से १२ प्रकार की होती हैं।" इस प्रकार भी कहा गया है। अतः निष्कर्षतः यह बारह प्रकार की है—यही निरवद्य सिद्धान्त है ॥१२५॥

इसकी तीन अवस्थाओं का वर्णन कर रहे हैं—

प्रमाता में कुछ कुछ संकोच से उल्लसित होने पर भी संवित् शुद्ध रहती है। संकोच के प्रारम्भ में भी अविकल्प रूपा संवित् बोधमयी ही बनी

तदेवाह

ये चक्षुर्मण्डले श्वेते प्रत्यक्षे परमेश्वरि ।
षोडशारं द्वादशारं तत्रस्थं चक्रमुत्तमम् ॥ १२७ ॥

ये इति द्विवचनं गोलकद्वयापेक्षया, एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम्, ये श्वेते चक्षुर्मण्डले दृश्येते दृश्यमाने न तु रक्तमण्डलवद्गुप्ते तत्र विश्वक्रोडीकारादुत्तमं प्रमेयप्रमाणप्रमातृप्रमाणां सर्वसर्वात्मिकत्वात् षोडशारं चक्रं तिष्ठति—तद्रूपतया प्रस्फुरतीत्यर्थः, यदभिप्रायेणैव श्रीक्रमसद्भावभट्टारके 'अनाख्य चक्रे षोडशैव देव्यः पूज्यत्वेनोक्ताः,' यदुक्तं तत्र

रहती है पर जब बुद्धि और इन्द्रियों से प्रभावित प्रमाण की दशा में आती है तो भेद का परामर्श करने लगती है। ग्राह्यग्राहक भाव का शब्दन अर्थात् परामर्श होने लगता है। 'श्री योग संचर' में भी यही बात कही गयी है ॥१२६॥

यही कह रहे हैं—

ज्ञानेन्द्रियों की ग्रहणशीलता संवित् शक्ति की विमर्श दशा को ही प्रमाणित करती है। इसकी सबसे महत्त्वपूर्ण अनुभूति चक्षु इन्द्रिय के परिवेश में प्राप्त होती है। योगसंचर के उसी सन्दर्भ को यहाँ स्पष्ट कर रहे हैं। चक्षु इन्द्रिय के दो गोलक हैं। १—दक्षिण और २—वाम। इनमें दक्षिण नेत्र गोलक में प्रकाश चक्र है। वाम नेत्र गोलक में आनन्द चक्र की स्थिति मानी जाती है। इससे प्रमेय वर्ग का प्रकाशन होता है। प्रकाश चक्र को प्रमाण और जिसमें स्वात्म परमेश्वर के इदन्ता रूप प्रमेय का उल्लास होता है, उसे आनन्द चक्र कहते हैं। नेत्र में श्वेत, कृष्ण और रक्तवर्ण तीनों का उल्लास है। इनमें श्वेत मण्डल में प्रमेय, प्रमाण, प्रमा और प्रमाता रूप सोम सूर्य आदि सभी उल्लसित हैं। दाहिने नेत्र में १२ अरों वाला प्रकाश चक्र है। वे अरे हैं—१ मन प्रधान+५ ज्ञानेन्द्रियाँ तथा १ बुद्धि प्रधान + ५ कर्मेन्द्रियाँ। अहंकार सबमें व्याप्त है। इसलिये उसकी गणना नहीं होती। इसी तरह आनन्द चक्र सोम प्रधान है। इसमें १६ अरे हैं। वे हैं—१ मन + ५ कर्मेन्द्रियाँ और ५ ज्ञानेन्द्रियाँ+५ महाभूत। इन चक्रों को १- प्रमाणार्क चक्र और २ प्रमेय सोममय आनन्द चक्र भी कहते हैं। इसीलिये द्वादश आदित्य का वर्णन भी वैदिक परम्परा में किया गया है। इसो तथ्य को श्री क्रम भट्टारक में स्वीकार करते हैं। अनाख्य चक्र में १६ देवियों की पूजा

'षोडशातः समासेन शृणुष्वेकमना हर ।' इयादि

'सा सत्ता लीयते यस्याः काली द्व्यष्टकला स्मृता ॥' इत्यन्तम् ।

अत्र अनाख्यत्वेऽपि सृष्ट्यात्मनः प्रमेयस्य प्राधान्येनावस्थितेः सोमरूपत्वात् श्वेतत्वम् ॥ १२७ ॥

ननु यद्यत्र षोडशारं चक्रमवस्थितं, तत् कथं द्वादशारमपि ? इत्याशङ्क्याह

प्रतिवारणवद्रक्ते तद्बहिर्ये तदुच्यते ।
द्वितीयं मध्यगे ये ते कृष्णश्वेते च मण्डले ॥ १२८ ॥
तदन्तर्ये स्थिते शुद्धे भिन्नाञ्जनसमप्रभे ।
चतुर्दले तु ते ज्ञेये अग्नीषोमोत्मके प्रिये ॥ १२९ ॥
मिथुनत्वे स्थिते ये च चक्रे द्वे परमेश्वरि ।
संमीलनोन्मीलनं ते अन्योन्यं विदधातके ॥ १३० ॥

का उल्लेख है। "भगवती शक्ति ने हर को सम्बोधित करते हुए काली की द्व्यष्टकता अर्थात् १६ कलाओं के विलीनीकरण की चर्चा की है। अनाख्य दशा में अवस्थित रहने पर ही सृष्टि रूप सोमांश प्रधान प्रमेय का उल्लास होता है। आखो में श्वेत गोलक सोमांश के ही प्रतीक हैं ॥ १२७ ॥

षोडशार के साथ द्वादशार चक्र की अवस्थिति का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

आँखों में चारों ओर रक्तता का घेरा विद्यमान है। वह श्वेत कृष्ण का प्रतिवारक है। ये बाहर की ओर हैं। इसमें भी सृष्टिकाली आदि के १२ अरों का ही चक्र है। इसके मध्य में कृष्ण श्वेत मण्डल है, इसमें भी घने काले रंग के जो दो गोल मण्डल दीख पड़ते हैं, वे चतुर्दल माने जाते हैं। चतुर्दल में तीन देवियाँ और एक 'मातृ सद्भाव' हैं। इन्हें 'कुमारिका' भी कहते हैं। इस प्रकार 'श्वेत कृष्ण मण्डल' अग्नि सोमात्मक भी माना जाता है। अग्निसोम अर्थात् अग्निरूप प्रमाता और सोमरूप प्रमेय दोनों का मिथुन भाव यहाँ उल्लसित है।

तत्बहि:—श्वेतमण्डलबाह्ये, प्रतिवारणवत्—प्रतिमण्डलन्यायेन, रक्ते ये मण्डले स्थिते, तत् द्वितीयं—श्रीसृष्टिकाल्यादिरूपं द्वादशारं चक्रमुच्यते, अनाख्यत्वेऽपि अत्र स्थित्यात्मन: प्रमाणस्य प्राधान्याद्रक्तत्वं, तद्धि प्रमेयोपरञ्जितमेव भवेत्, अतश्च प्रमेयस्य तदभेदेनैवावस्थानात् तद्गतस्य रूपचतुष्कस्य पृथगभावात् द्वादशारत्वम्, अत एवास्य प्रमेयान्त:कारादबहिरप्यवस्थानं, मध्यगे—श्वेतेकृष्णमण्डलान्तर्गते, अत एव अन्तर्वर्तिना कृष्णेन मण्डलेन बहिष्ठेन च श्वेतेनाच्छुरणात् श्वेतकृष्णे धूसरप्राये ये पुनर्मण्डले तत्प्रमाणस्य प्रमातरि विश्रान्ते: तद्गतस्यापि रूपचतुष्कस्य पृथगभावात् संहारात्मप्रमातृप्रधानं 'भैरवत्रयं, देवीत्रयं, कुलेश्वरी' चेत्यष्टारं चक्रमुच्यते—इत्यर्थाविसेयम्, यद्वक्ष्यति

'षोडशद्वादशाराभ्यामष्टारेष्वथ सर्वश: ।' इति,

तस्य-श्वेतस्यापि मण्डलस्यान्तर् अतीव कृष्णे—कुमारिकाशब्दव्यपदेश्ये, ये मण्डले स्थिते ते पुन: प्रमासतत्वानाख्यचक्ररूपतया प्रस्फुरत इत्यर्थ:, अत एव चात्र सर्वसंहारकत्वात् निर्विभागतया तमोरूपत्वात् कार्ष्ण्यं, तदेवंचक्षुषि प्रतिनियतावयवरूपत्वेन सृष्ट्यादिक्रमचतुष्टयमवस्थितमित्युक्तम् तत्रापि अस्य यथासम्भवं स्वरूपं निरूपयति 'अग्नीषोम' इत्यादिना, एतच्चक्रचतुष्टयस्य मध्यादग्नीषोमात्मके प्रमातृप्रमेयमये षोडशाराष्टारे भोक्तृभोग्योभयात्मकतया मिथुनरूपे ये द्वे चक्रे स्थिते ते परस्परं सम्मीलनोन्मीलने विदधाते एव—विदधातके, संकोचविकासौ कुर्वाते इत्यर्थ:, प्रमाता हि स्वात्मनि सम्मीलनमादधान:

इन्हों के प्रभाव से साथ ही सम्मीलन और उन्मीलन भी होता है। पलकों का उठना गिरना इनसे ही होता है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमा इन चारों का परस्पर सर्वत्र उल्लास है।

प्रमाता की शक्ति को प्रमा, उसके उपकरण को प्रमाण तथा प्रमाता के वस्तु व्यवस्थापनात्मक उल्लास को प्रमेय कहते हैं। इन चारों का सामंजस्य नेत्रों में भी है। इन सबकी स्थिति अनाख्या चक्र में है। शून्य को अनाख्या कहते हैं। यह चौथी स्थिति है। सृष्टि, स्थिति और संहार के बाद आती है। सृष्टि प्रमेय है। स्थिति प्रमाण है। संहार (वह्नि) प्रमाता है। संहार में अष्टार चक्र होता है। इसमें तीन भैरव, तीन देवियाँ, कुलेश्वर तथा कुलेश्वरी मिलकर आठ अरे होते हैं।

प्रमेयमुन्मीलयेत् प्रमेयं च सम्मीलयन् स्वात्मानमुन्मीलयेत्, एवं प्रमेयमपि, इत्यन्योन्यशब्दार्थः एतदेव च सृष्टिसंहाररूपत्वमुच्यते, प्रमेयं च नाम प्रमाणोपारोहमन्तरेण प्रमातारि विश्रान्तिमेव न यायात्, इत्यत्र स्थितेरपि अर्थाक्षिप्तत्वम्, प्रमातापि प्रमेयौन्मुख्येन 'ज्ञातोऽयं मयार्थः' इति संतोषोत्पादान्निराकाङ्क्षः सन् स्वात्मनि विश्रान्तिमासादयेत्—इति प्रमातृप्रमेयसंघट्टादपि पूर्णायाः परस्याः संविदः समुल्लासः स्यात् ॥ १२८-१३० ॥

यथा योनिश्च लिङ्गं च संयोगात्स्रवतोऽमृतम् ।
तथामृताग्निसंयोगाद्द्रवतस्ते न संशयः ॥ १३१ ॥

'भोगसाधनसंसिद्ध्यै भोगेच्छोरस्य मन्त्रराट् ।
जगदुत्पादयामास मायामाविश्य शक्तिभिः ॥'

इत्यादिनीत्या परस्परावेशलक्षणं संयोगमासाद्य योनिः माया, लिङ्गं च—

'लिङ्गशब्देन विद्वांसः सृष्टिसंहारकारणम् ।
लयादागमनाच्चाहुर्भावानां पदमव्ययम् ॥'

ललाई में प्रमाण की प्रधानता होती है। यह प्रमेय से भी उपरंजित होती है। १६ अरों में से प्रमेय के चार अरे निकालने पर १२ अरे और इनमें से भी प्रमाण के चार अरे निकालने पर आठ अरे रह जाते हैं। वस्तुतः यह निकालने की स्थिति अनुभवात्मक होती है। प्रमाण से अभिन्न प्रमेय की अनुभूति में १६ – ४ = १२ की स्थिति स्वाभाविक है। प्रमाण के १६ अरों की चर्चा पहले आ चुकी हैं। इसी तरह १२ अरों में प्रमाता में प्रमाण की विश्रान्ति की स्थिति में १२ – ४ = ८ अरों की स्थिति रह जाती है। प्रमाता और प्रमेय के संग्रह में पूर्ण परा संविद् शाश्वत उल्लसित है ॥ १२८–१३० ॥

इसी आधार पर कहते हैं—

"भोग के अभिलाष से भरे भैरव के भोग साधनों की संसिद्धि के लिये मन्त्रराज ने अपनी शक्तियों के बल पर माया में अनुप्रवेश किया। इसी उद्देश्य से जगत् को उत्पन्न किया।" इस उक्ति के अनुसार दम्पति के परस्पर आवेश से संयोग की स्थिति में योनि और लिङ्ग ये दोनों अमृतक्षरण करते हैं। "लिङ्ग शब्द से (लि से लीन होना और 'ग' से गमागम करना इस अथ के आधार पर) सृष्टि और आवागमनादि महाभावों का अनोखा अर्थ विद्वान् लोग लगाते हैं।"

इत्याद्युक्त्या सृष्ट्यादिपञ्चविधकृत्यकारी परमेश्वरः, तौ यथा स्रवतः—सृष्टिं कुरुतः, तथा ते षोडशाराष्टारे, निःसंशयममृतस्य सोमात्मनः प्रमेयस्य, अग्नेश्च प्रमातुः परस्परौन्मुख्यलक्षणात् संयोगादमृतम् अकालकलितत्वात् अनादिनिधनं परं संवित्तत्वं द्रवतः—तद्रूपतया प्रसरत इत्यर्थः, संविदेव हि आश्यानीभूता नीलादिरूपतामधिशयाना प्रमाणोपारोहद्वारेण तद्रूपतां विलाप्य प्रमातरि विश्रान्तिमुपागच्छन्ती स्वेन प्रमात्रेकात्मना रूपेण प्रस्फुरतीत्याशयः ॥ १३१ ॥

ननु मातृमेयाद्यात्मा मायीयोऽयं व्यवहारः, तत् कथं तस्मिन् सत्यप्येवं भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

तच्चक्रपीडनाद्रात्रौ ज्योतिर्भात्यर्कसोमगम् ।
तां दृष्ट्वा परमां ज्योत्स्नां कालज्ञानं प्रवर्तते ॥ १३२ ॥

तयोः—प्रमातृप्रमेयात्मकयोः षोडशाराष्टारयोश्चक्रयोः पीडनात् सारार्थाकर्षणलक्षणान्निष्पीडनात्, रात्रौ-मायायामपि सत्याम्, अर्कसोमगं प्रमाणप्रेमेयाभ्यामप्यतिक्रान्तं, प्रमातृलक्षणं ज्योतिरवभासत एव, यत् प्रमाणाद्यपेक्षया परमं, विश्वाप्यायकारित्वादिना ज्योत्स्नाशब्दव्यपदेश्यं, दृष्ट्वा स्वात्मरूपतया निभाल्य

इससे यह स्पष्ट है कि सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रहरूप पांच कृत्य करने वाले परमेश्वर और माया के संयोग से ही सृष्टि होती है।

षोडशार आनन्द चक्र और अष्टार वह्नि चक्र में स्थित सोमात्मक प्रमेय तथा अग्नि रूप प्रमाता दोनों ही परस्पर उन्मुखता से अमृत रूप अकालकलित पदार्थ द्रवित करते हैं। निष्कर्षतः कह सकते हैं कि आह्लाद से उत्फुल्ल संवित् हो नील पीतादि रूपों में अधिष्ठित होकर प्रमाण के उल्लास के माध्यम से प्रमाता में विश्रान्ति प्राप्त कर प्रमात्रैकात्म्य भाव में स्फुरित होती है ॥१३१॥

चक्रपीडनरूप तान्त्रिक विधि की चर्चा कर रहे हैं—

उन प्रमातृ प्रमेय रूप चक्रों के उस तात्त्विक आकर्ष विकर्ष का ही यह परिणाम है कि रात में भी और माया में भी एक आलोक का उल्लास रहता है। वह ज्योति प्रमाण सूर्य रूप प्रकाशचक्र और प्रमेय सोम के आनन्द चक्र को भी अतिक्रान्त करती है। वस्तुतः वह वह्नि प्रमाता का ही अलौकिक प्रकाश होता

'भैरवरूपी कालः सृजति जगत्कारणादिकीटान्तम् ।'

इत्यादिनीत्या सृष्ट्याद्यात्मनो विश्वस्य कलनात्कालःपरप्रमात्रेकरूपः पूर्णः प्रकाशः, तस्य ज्ञानं प्रवर्तते–स एव तद्रूपतयावभासत इत्यर्थः ॥ १३२ ॥

ननु यद्येवं, तत् विश्वस्यावभास एव न स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

सहस्रारं भवेच्चक्रं ताभ्यामुपरि संस्थितम् ।

ताभ्यां—षोडशाराष्टाराभ्यामेव चक्राभ्यां सकाशात् सहस्रारं चक्रं भूत-भावभुवनादिरूपतयानन्तभेदं विश्वम्, उपरि संस्थितं भवेत् व्यतिरिक्तायमानत्वेऽपि स्वसंलग्नमेव प्रस्फुरेदित्यर्थः ॥

ततोऽपि विश्वलक्षणाच्चक्रादवान्तराणि चक्राणि उद्भूतानि, इत्याह

ततश्चक्रात्समुद्भूतं ब्रह्माण्डं तदुदाहृतम् ॥ १३३ ॥

ब्रह्माण्डमिति–प्रकृत्यण्डादीनामप्युपलक्षणम् ॥ १३३ ॥

ननु कथमनेकप्रकारमियदविच्छेदेनैव विश्वं स्फुरेत् ? इत्याशङ्क्याह

तत्रस्थां मुञ्चते धारां सोमो ह्यग्निप्रदीपितः ।

है । वह आभा विश्व का आप्यायन करती है । उसे ही ज्योत्स्ना कहते हैं । "उसमें भैरव रूपी काल अपना ही दर्शन करता है और जगत् का सर्जन करता है ।" अर्थात् विश्व की कल्पना करने वाला ही काल होता है । उस अवस्था में यह पर प्रमाता रूप से भासित भी होता है ॥ १३२ ॥

ज्योत्स्ना में विश्व के अवभासन के प्रसङ्ग में सहस्रार की चर्चा कर रहे हैं—

षोडशार और अष्टार चक्रों के ऊपर भूत, भाव और भुवन आदि अनन्त भेदों से संभृत सहस्रार चक्र अवस्थित है । अर्थात् इसके अवभासन में कोई बाधा नहीं । वह स्वतः स्वात्म संलग्न भाव से ही स्फुरित है । सहस्रार से भी अवान्तर चक्रों को उत्पत्ति के सम्बन्ध में कह रहे हैं कि उसी सहस्रार से ब्रह्माण्ड अथ च प्रकृत्यण्ड आदि उत्पन्न होते हैं ॥ १३३ ॥

अनेक प्रकार के विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस श्लोक की अव-तारणा कर रहे हैं—

यतः क्रियाशक्त्यात्मा सोमः परप्रमात्रेकरूपेणाग्निना स्वस्वातन्त्र्यात् प्रदीपितो बाह्यौन्मुख्ये समुत्तेजितः सन्, तत्रस्थां-विश्वत्र वर्तमानां, धारां मुञ्चति प्रमातृप्रमेयादिरूपत्वेनाविच्छिन्नेन प्रवाहेण परिस्फुरति, येनायम् इयान्विश्व-स्फारः ॥

न केवलमयं साधारणमेव विश्वं सृजति, यावदसाधारणमपि, इत्याह

सृजतीत्थं जगत्सर्वमात्मन्यात्मन्यनन्तकम् ॥ १३४ ॥

आत्मन्यात्मनि इति वीप्सायां प्रत्यात्ममित्यर्थ ॥ १३४ ॥

तच्च कथम् ? इत्याह

षोडशद्वादशाराभ्यामष्टारेष्वथ सर्वशः ।
एवं क्रमेण सर्वत्र चक्रेष्वमृतमुत्तमम् ॥ १३५ ॥
सोमः स्रवति यावच्च पश्चानां चक्रपद्धतिः ।

सोम क्रिया-शक्त्यात्मक होता है। परप्रमाता रूप अग्नि के सम्पर्क और स्वात्म स्वातन्त्र्य से सोम प्रदीप्त हो उठता है। उसकी यह उद्दीप्ति या उत्तेजना बाह्य की ओर उन्मुख होतो है। सोम स्वात्म में वर्त्तमान विश्व रूप प्रमेय वारि धारा का वर्षण करने लगता है। यह विश्वात्मक अविच्छिन्न प्रवाह परिस्फुरित हो जाता है। सोम को सामान्य और असामान्य विश्व के सर्जन की प्रक्रिया अपनानी पड़ जाती है। द्वितीय अर्द्धाली में यही कह रहे हैं कि

आत्म आत्म के क्रम से अनन्त विश्व का सर्जन सोम की स्वाभाविक विवशता है ॥ १३४ ॥

यह कैसे होता है—इसे स्पष्ट कर रहे हैं—

१६, १२ और ८ अरों वाले चक्रों के साथ चतुरार चक्र की भो गणना होती है। इसी क्रम मे चक्रों में अमृतत्व का उल्लास होता है। सोम इसको स्रवित करता है। यह ध्यान देने की बात है कि सोम क्रियाशक्त्यात्मक होता है। उसकी यह क्रिया बुद्धीन्दिय, कर्मेन्द्रिय, तन्मात्राओं और महाभूत इन चक्रों में पूर्ण हो जाती है। पृथ्वी इस क्रम का अन्तिम बिन्दु रूप आधार है। पृथ्वी पर्यन्त यह स्थूल प्रस्फुरण है।

अष्टारेष्विति बहुवचनादाद्यर्थो लभ्यते, इति चतुरारस्यापि आक्षेपात् षोडशद्वादशाराभ्यां सह सर्वत्र सर्वेषु चतुर्ष्वप्येतेषु चक्रेषु, एवम् उक्त्युक्त्या अवरोहात्मना क्रमेण, सर्वशः—सर्वप्रकारम् उत्तमममृतं—वहीरूपतात्मकं निजं सारं, क्रियाशक्त्यात्मा सोमः अर्थात् तावत् स्रवति यावत् पञ्चप्रकारा बुद्धीन्द्रियादीनां चतुर्णां चक्राणां पद्धतिः—परिपाटी, पृथ्वीतत्त्वपर्यन्तं प्रमेयप्रकृतिना स्थूलेन रूपेण प्रस्फुरेदित्यर्थः । परमेश्वरो हि स्वस्वातन्त्र्याद्विश्वरूपतामवविभासयिषुः संकुचितप्रमातृत्वाद्याभासनक्रमेण प्रमाणप्रमेयादिरूपतामधिशयानः कार्यकारणात्मपाञ्चभौतिकशरीरादिरूपतामवभासयति इति भावः ॥ १३५ ॥

न केवलमयं जगत् सृजत्येव यावत्संहरत्यपि, इत्याह

तत्पुनः पिबति प्रीत्या हंसो हंस इति स्फुरन् ॥ १३६ ॥
सकृद्यस्य तु संश्रुत्या पुण्यपापैर्न लिप्यते ।

अहं परप्रमातृरूपोऽपि सविश्वस्फारः, सविश्वस्फारोऽपि वा अहमेव, इत्यकृत्रिमेण सृष्टिसंहारकारिणा स्वभावभूतेन विमर्शेन सातत्येन प्रवृत्तत्वादविच्छिन्नतया स्फुरन्

'परमात्मा शिवो हंसः.............................।'

इत्याद्युक्त्या 'हंसो' हानसमादानधर्मा अग्निशब्दव्यपदिष्टः परप्रमाता, तत्प्रमातृप्रमेयाद्यात्मकं विश्वं, पुनः—सृष्ट्याद्युत्तरकालं, प्रीतिः—आनन्दः स्वातन्त्र्यं, तया

अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के बल पर विश्व रूपता के अवभासन का अभिलाषी परमेश्वर शिव संकुचित प्रमाता बन जाता है। फिर प्रमाण प्रमेयदि रूपों में अधिष्ठित हो जाता है। यह कार्यकारण भाव से व्यक्त पाञ्चभौतिक विश्व उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। शिव का ही यह स्थूल अवभासन मात्र है ॥ १३५ ॥

'हंस' यह शब्द सूर्य सोम का प्रतीक है। इसमें अहं सः, सोऽहं के प्रयोग से दो उपासनायें होती हैं। सोऽहं के मध्य की तुटि महत्त्वपूर्ण है। इसे हटा देने पर 'हं' और 'स' के स्वतन्त्र साक्षात्कार होते हैं। विशिष्ट रहस्यात्मकता को 'हंस' शब्द व्यक्त करता है। इसकी स्फूर्त्ति की सक्रियता में स्वयं परम शिव ही उल्लसित है। पर प्रमाता 'हं' विश्व विस्फार रूपी 'स' में उल्लसित होता है। 'स' रूपी विश्व विस्फार पुनः 'अह' में विलीन हो जाता है। यह शाश्वत

पिबति—स्वात्मसात्करोति संहरतीत्यर्थः, यस्य परमात्मनो हंसस्य, सकृत्—एकवारमपि, संश्रुत्या साक्षात्कारेण, अर्थात् सर्वो जनः पुण्यपापैर्न लिप्यते–स्वकृतैरपि शुभाशुभैः कर्मभिर्भोगं दातुं न स्पृश्यते, अपि तु अपवृज्यत एवेत्यर्थः, एतत्साक्षात्कारभाज एव जनस्य कार्तार्थ्यं, नेतरस्य, इत्युक्तं स्यात्, यदुक्तम्

'अकृतार्थो नरस्तावद्यावद्धंसं न विन्दति ।' इति ॥१३६॥

एवमस्य प्रसङ्गापतितं संहारकारित्वमभिधाय प्रकृतमेवानुबध्नाति

पञ्चारे सविकारोऽथ भूत्वा सोमस्रुतामृतात् ॥ १३७ ॥

धावति त्रिरसाराणि गुह्यचक्राण्यसौ विभुः ।

अथासौ—हंसशब्दव्यपदेश्यो, विभुः—परमात्मा शिवः स्वस्वातन्त्र्याद्गृहीतसंकोचः, पञ्चारे–पाञ्चभौतिके शरीरे, समनन्तरोक्तयुक्त्या सोमस्रुतेनामृतेनाप्यायितत्वात् सविकारो भूत्वा जन्मादिविकारयोगाद्वर्धमानः सन्, त्रिरसाराणि

'अम्बुवाहा वहेद्वामा मध्यमा शुक्रवाहिनी ।
दक्षस्था रक्तवाहा च.............................. ॥'

उपक्रम 'हंस' के माध्यम से ही स्पन्दित होता है। वही शिव आनन्दात्मक स्वातन्त्र्य शक्ति रूपी प्रीति से प्रेरित होकर विश्वात्मक प्रमेय पीयूष को पीता हुआ प्रसन्नता के परिवेश का सृजन भी करता है। यह एक महा मन्त्र है। इसके श्रवण मात्र से चाहे व्यक्त स्थूल वाक् के आश्रय से श्रुत हो अथवा विमर्श के स्तर पर वह उदित हो, साधक परमपद की प्राप्ति कर लेता है। कहा गया है कि 'साधक जब तक 'हंस' को नहीं जानता, तब तक वह कृतार्थ नहीं हो सकता है" ॥ १३६ ॥

पुनः मूल प्रसङ्ग को प्रस्तुत कर रहे हैं—

हंस शब्द से व्यपदिष्ट विभु सर्व समर्थ परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य के बल से संकोच ग्रहण कर पाँच अरों वाले इस पांचभौतिक शरीर में सोम से स्रवित अमृत का पान करता है और तृप्ति का अनुभव करता है। परिणामतः

इत्याद्युक्त्या त्रयोऽम्बुप्रभृतयो रसाः, तत्संख्या नाडिरूपाश्चारा येषां तथाविधानि यद्वा वियुतत्वे त्र्यराणि, यामलत्वे षडराणि, अप्रकाशत्वाद्गुह्यानि, अत एव रहस्यरूपाणि जन्मस्थानप्रभृतीनि चक्राणि, धावति—जगत्सिसृक्षया तदौन्मुख्येन प्रवर्त्तते इत्यर्थः ॥ १३७ ॥

ननु यदि नामायां जगत्सिसृक्षुः तत्तदौन्मुख्येन प्रवृत्त्यास्य कोऽर्थः ? इत्याशङ्कयाह

यतो जातं जगल्लीनं यत्र च स्वकलीलया ॥ १३८ ॥

यतो–येभ्यो गुह्यचक्रेभ्य एव, स्वकलीलया स्वस्वातन्त्र्यात्, जगज्जातम् अतिरेकायमाणतयोल्लसितं, तथात्वेऽपि अवभासनान्यथानुपपत्त्या तदनतिरिक्त-मेवेत्युक्तम् 'यत्रैव च लीनमिति एवमेतदेव जगत्सिसृक्षोः परमात्मनः परमेश्वरस्य परं कारणम् इति तात्पर्यार्थः ॥ १३८ ॥

न केवलमेषां बाह्यौन्मुख्य एव साधकतमत्वं यावत् स्वात्मविश्रान्तावपि, इत्याह

जन्म मरण आदि विकारों का आश्रय बन जाता है। तीन अम्बु आदि रसों से सरस अरों वाले गुह्य चक्रों में भ्रमण करने को वह विभु स्वयं बाध्य हो जाता है। "वामा अम्बुरस, मध्यमा शुक्र और दक्षिणा (पिंगला) रक्त वहन करने वाली तीन नाड़ियाँ है ········।" इन गुह्य चक्रों में चंक्रमण करता है अथवा 'एकात्म' भाव में तीन अरों वाले और यामल भाव में छः अरों वाले और अप्रकाश होने से गुह्य चक्रों वाले इस रहस्य गुह्य-रूप 'जन्म स्थान' आदि में संसार की सिसृक्षा से वह उनकी ओर उन्मुख हो जाता है ॥ १३७ ॥

'जगत् के निर्माण की उन्मुखता के सम्बन्ध में कह रहे हैं—

उन्हीं गुह्य चक्रों से ही अपनी लीला की अलौकिक स्वतन्त्रता के बल से जगत् अनतिरिक्त होते हुए भी अतिरिक्तवत् तरङ्गित होने लग जाता है। जहाँ वस्तु लीन है, वहीं से उसका उल्लसित होना स्वाभाविक है। उसमें उन्मुखता का यही कारण है ॥ १३८ ॥

वे केवल उन्मुखता के ही साधकतम कारण नहीं हैं अपितु स्वात्म विश्रान्ति के भी हेतु हैं। यही कह रहे हैं—

तत्रानन्दश्च सर्वस्य ब्रह्मचारी च तत्परः ।
तत्र सिद्धिश्च मुक्तिश्च समं संप्राप्यते द्वयम् ॥ १३९ ॥

सर्वस्येति—पामरादेरपीत्यर्थः, तत्परः-तदेकपरायणः, पुनः ज्ञानी योगी वा ब्रह्मचारी

'आनन्दो ब्रह्मणो रूपम् ………………।'

इत्याद्युक्त्या आनन्दरूपं ब्रह्म चरति-परब्रह्मैकात्म्येन प्रस्फुरतीत्यर्थः, अत एव सिद्धिः—ऐहिक्यानन्दरूपा, मुक्तिः—ब्रह्मचारित्वरूपा, सममिति आनन्दस्यैव ब्रह्मरूपत्वात् ॥ १३९ ॥

ननु एवं विश्वसृष्टिरेकस्मादेव अस्माज्जन्मस्थानाख्याद् गुह्यचक्रात्, अस्य सिद्ध्येत् इति किमर्थं 'गुह्यचक्राणि इति बहुवचनेनायं निर्देशः ? इत्याशङ्क्याह

अत ऊर्ध्वं पुनर्याति यावद्ब्रह्मात्मकं पदम् ।
अग्नीषोमौ समौ तत्र सृज्येते चात्मनात्मनि ॥ १४० ॥

अतो—यथोक्ताज्जन्मस्थानाख्याद्गुह्यचक्रात्, पुनरूर्ध्वं-ब्रह्मात्मकं परं पदं द्वादशान्तावस्थितं, शक्तिव्यापिनीसमनात्मकारात्रययोगि विसर्गशब्दव्यपदेश्यं

गुह्य चक्रों में आपामर आविद्वान् सबको आनन्द की अनुभूति होती है। अतः सभी उसी में लिप्त हो जाते हैं। ब्रह्म का आचरण करनेवाले ज्ञानी, योगी और ब्रह्मचारी को उस आनन्द के अतिरिक्त ब्रह्मानन्द में तृप्ति की अनुभूति होती है। ब्रह्मानन्द में सिद्धि भी है, और मुक्ति भी साथ ही साथ प्राप्त हो जाती है ॥ १३९ ॥

१३८ वें श्लोक में प्रयुक्त 'गुह्यचक्राणि' शब्द के बहुवचन निर्देश के रहस्य का उद्घाटन कर रहे हैं—

जन्मस्थान रूपी एक गुह्य चक्र के अतिरिक्त अन्य गुह्य चक्र भी हैं। जैसे ऊर्ध्व देश में अवस्थित ब्रह्मात्मक परम पद रूपी गुह्य चक्र। यह शक्ति, व्यापिनी और समना रूप तीन अराओं से युक्त चक्र है। इसे विसर्ग चक्र भी कहते हैं। यह द्वादशान्त में अवस्थित है। वहाँ अग्नि और सोम समानाधिकरण स्तर पर सृष्ट होते हैं। उसकी विधि है। 'हंस' मन्त्र तो स्वयम् आत्मा है, परमेश्वर है।

गुह्यचक्रं यावत्, याति–तदौन्मुख्येन प्रवर्तते इत्यर्थः, चो हेतौ, तत्र हि आत्मना हंसशब्दव्यपदेश्येन परमेश्वरेणात्मनि–स्वभित्तौ, अहन्तेदन्तास्वभावौ प्रमातृ-प्रमेयात्मानावग्नीषोमौ समौ सृज्येते,

'सामानाधिकरण्यं हि सद्विद्याहमिदंधियोः ।।'

इत्यादिन्यायेन तुल्यकक्ष्यतयावभास्येते इत्यर्थः ॥ १४० ॥

यदा पुनः सोमात्मनः प्रमेयस्योद्रेकस्तदा विश्वोल्लास इत्याह

तत्रस्थस्तापितः सोमो द्वेधा जङ्घे व्यवस्थितः ।

तत्र—साम्यावस्थायामवस्थितः, प्रमेयात्मा सोमो, द्वेधा भासितो—भेदेन समुत्तेजितः सन्, जङ्घे व्यवस्थितः—पृथ्वीतत्त्वपर्यन्तेन विश्वात्मना स्थूलेन रूपेणोल्लसित इत्यर्थः ॥

कथं चैतत् ? इत्यर्थः ॥

अधस्तं पातयेदग्निरमृतं स्रवति क्षणात् ।। १४१ ।।
गुल्फजान्वादिषु व्यक्तं कुटिलार्कप्रदीपिता ।
सा शक्तिस्तापिता भूयः पञ्चारादिक्रमं सृजेत् ।। १४२ ।।

अध इति–बहीरूपतायाम्, तमिति—सोमम्, अमृतं स्रवतीति–अर्था-दग्नितापितः सोमो, यतः सा प्राणकुण्डलिनीरूपत्वात् कुटिला सोमात्मिका

यह स्वयम् स्वात्मभित्ति में दो प्रकार से आभासित होता है। इसे अहन्ता और इदन्ता अथवा प्रमाता और प्रमेय या अग्नि और सोम रूप से जानते हैं। "सद्विद्या के स्तर पर अहम् और इदम् की सामानाधिकरण्य की अनुभूति स्वाभाविक होती है ॥ १४० ॥

सोमात्मक प्रमेयोद्रेक से ही अङ्गों का उल्लास होता है, यही कह रहे हैं—

वहाँ स्थित सोम जब अग्नि से तप्त हो जाता है तो अग्नि उसे नीचे पातित करता है। वह गुल्फों, जङ्घों और जानु आदि अंगों में व्यवस्थित हो जाता है।

यह कैसे होता है, यही कह रहे हैं—

क्रियारूपा शक्तिः, अर्केण प्रमात्रैव प्रमाणदशामधिशयानेन, प्रदीपिता बहिरुल्लिलासयिषया प्रबोधिता, अत एव भूयः—पुनस्तापिता बहीरूपत्वेनैवोत्तेजिता सती, पञ्चारादिक्रमं सृजेत्—पञ्चभूतात्म विश्वमवभासयेदित्यर्थः ॥ १४२ ॥

एतदिन्द्रियान्तरेष्वपि अतिदिशति

एवं श्रोत्रेऽपि विज्ञेयं यावत्पादान्तगोचरम् ।

पादान्तगोचरमित्यनेन कर्मेन्द्रियाणामप्येवंरूपत्वम्, इत्युक्तम् । न केवलं प्रमाणरूपेन्द्रियेष्वेवंरूपत्वमस्ति यावत्प्रमेयात्मसु पञ्चभूतेष्वपि, इत्याह

पादाङ्गुष्ठात्समारभ्य यावद्ब्रह्माण्डदर्शनम् ॥ १४३ ॥

पादाङ्गुष्ठादाराभ्य ब्रह्मरन्ध्रान्तं पञ्चभूतात्मके शरीरेऽप्येवं विज्ञेयम्, इति प्राच्येन सम्बन्धः । एवं मेयदशायामपि परैव संविद्ग्राह्याकारा वर्तते इत्यत्रापि एतदेव प्रमाणम् इत्यर्थसिद्धम्, अत एवोत्तरत्र संवादयिष्यते ॥ १४३ ॥

नन्विन्द्रियादीनामेवंरूपत्वेनाभिहितेन कोऽर्थः ? इत्याशङ्क्याह

इत्यजानन्नैव योगी जानन्विश्वप्रभुर्भवेत् ।
ज्वलन्निवासौ ब्रह्माद्यैर्दृश्यते परमेश्वरः ॥ १४४ ॥

प्राण कुण्डलिनी कुटिल होती है। अर्क प्रमाता जब प्रमाण दशा में सक्रिय होता है, उस समय सोमात्मिका क्रिया शक्ति तप्त हो जाती है। परिणामतः बाह्य उल्लास स्वाभाविक हो जाता है, तथा पञ्चार रूपी पञ्चमहाभूतात्मक चक्रों का और विश्व का सृजन हो जाता है ॥ १४२ ॥

अङ्गों की तरह इन्द्रियों में भी यही क्रम है—यही कह रहे हैं—

इसी तरह श्रोत्रेन्द्रिय और इसके अतिरिक्त कर्मेन्द्रिय रूप अङ्गों में भी यह उल्लिलासयिषा दृष्टि गोचर होती है:—

पैर के अंगूठे से लेकर ब्रह्म रन्ध्र पर्यन्त शरीर में समग्र उल्लसित ब्रह्माण्ड मण्डल के दर्शन होते हैं। यह निश्चित है कि इस प्रमेय उल्लास की दशा में परा संविद् भगवती चिति ही ग्राह्य ग्रहणाकारा रहती हुई अभिव्यक्त है ॥ १४३ ॥

ब्रह्माद्यैरिति—एतत्स्फार एव हि सर्वलोक इति भावः, अत्र चान्तरान्तरावस्थितोऽपि चर्याक्रमः सुस्पष्टत्वात् रहस्यत्वाच्च न तथा वितानितः—इति स्वयमेवावधार्यम् ॥ १४४ ॥

एवं संवादिते आगमे तात्पर्यार्थं व्याचष्टे

तत्र तात्पर्यतः प्रोक्तमक्षे क्रमचतुष्टयम् ।
एकैकत्र यतस्तेन द्वादशात्मकतादिता ॥ १४५ ॥

एकैकत्राक्षे इति—समस्तेष्विन्द्रियेषु इति यावत्, तेन सृष्ट्यादिक्रमचतुष्टयस्य मातृमानमेयगतत्वेन प्रत्येकमवस्थानेन हेतुना, यतो—यस्मात्, एकैकत्राक्षे द्वादशात्मकतोदिता—एकमेकमिन्द्रियं द्वादशमरीचिरूपमित्यर्थः ॥ १४५ ॥

ननु तात्पर्यार्थव्याख्यानमेव कस्मात्कृतम् ? इत्याशङ्क्याह

न व्याख्यातं तु निर्भज्य यतोऽतिसरहस्यकम् ।

न केवलं परैव संवित् प्रमाणदशायां ग्रहणाकारा यावत्प्रमेयदशायामपि ग्राह्याकारा, इत्याह

उक्त कथन का उद्देश्य स्पष्ट कर रहे हैं—

इस रहस्य को न जानने वाला योगी नहीं हो सकता । इसका जानने वाला शिव स्वरूपत्व का अधिकारी हो जाता है । उसकी दीप्ति में ऊर्जा और ओज की ज्वाला का उल्लास होता है । सभी देव उसे परमेश्वर के रूप में देखते हैं । शाम्भव समावेश सिद्ध वह स्वयं सर्वेश्वर के समान ही हो जाता है ॥ १४४ ॥

उसके १२ प्रकार की स्थिति के तात्पर्य का कथन कर रहे हैं—

सृष्टि, स्थिति, संहार और अनाख्या के चतुष्टय से मातृ, मान और मेय की गणना से एक एक इन्द्रिय १२ प्रकार की स्पन्दनशीलता से समन्वित है ॥ १४५ ॥

रहस्य होने के कारण इस की अधिक व्याख्या बन्द कर रहे हैं—

रहस्यात्मकता का उद्घाटन उचित नहीं । अतः यह प्रसङ्ग अधिक खोलकर नहीं कहा गया है ।

मेयेऽपि देवी तिष्ठन्ती मासराश्यादिरूपिणी ॥ १४६ ॥

आदिशब्देन द्वादशसंख्यावच्छिन्नानां स्वरादीनां ग्रहणम्, यदुक्तम्

'द्वादशैव स्वराः प्रोक्ता नपुंसकविवर्जिताः ।
आदित्या द्वादश प्रोक्ता द्वादशारव्यवस्थिताः ॥
माया द्वादश इत्युक्ताः कला द्वादशसंज्ञिताः ।' इति ।

तन्मेयदशायामपि अस्या द्वादशात्मकत्वमेव, इति भावः ॥ १४६ ॥

एवमेकैवेयं परा संवित् तत्तद्रूपतया सर्वत्रावभासते, इत्याह

अत एषा स्थिता संविदन्तर्बाह्योभयात्मना ।
स्वयं निर्भास्य तन्त्रान्यद्भासयन्तीव भासते ॥ १४७ ॥

अतो—यथोपपादितात् सर्वत्रैव अवस्थानाद्धेतोः, एषा—प्रत्यवर्शात्मा परा संवित्, स्वमाहात्म्यादन्तर्बाह्योभयात्मना प्रमातृप्रमेयादिरूपतया स्वात्मानभवभास्य स्थितापि, तत्र स्वात्मन्येव—अर्थात् प्रमातृप्रमेयादि अन्यद्व्यतिरिक्तमिवावभासयन्ती, भासते—सर्वस्यानुभवसिद्धोऽयमर्थ इत्यर्थः, यद्यपि वस्तुतः परा संविदेवावभासते तदतिरेके हि न किंचिद्भायात् तथाप्यामुखे तत्स्वातन्त्र्यादेव तदतिरिक्तमिव प्रमात्रादि अवभासते येनास्या द्वादशधात्वमुल्लसितम् ॥ १४७ ॥

प्रमेय दशा में परा संवित् का स्वरूप निर्दिष्ट कर रहे हैं—

प्रमाण दशा में परा संवित् ग्राह्य ग्राहक भाव ग्रहण करती है, यह बात श्लोक १२६ में कही गयी है। प्रमेय दशा में कैसे ग्राह्याकारा होती है, इसे स्पष्ट कर रहे हैं कि वह संविद्देवी मास, सूर्य, राशि और स्वर दशा में भी बारह रूपों में ही उल्लसित होती है। "षष्ठ स्वरों को छोड़कर स्वर और आदित्य भी १२ ही होते हैं ॥ १४६ ॥

एक होते हुए भी अनन्त रूपों में भासित संवित् के सम्बन्ध में कह रहे हैं—

प्रत्यवमर्शमयी यह संविद् शक्ति स्वातन्त्र्य के माहात्म्य से अन्दर बाहर प्रमाता और प्रमेय दोनों रूपों में भासित है। स्वात्म में ही अतिरिक्त की तरह भासित होती हुई यह स्वयं भी भासित होती है। इसके अतिरिक्त वस्तुतः कुछ भासित हो ही नहीं सकता। अपनी उसी शक्ति से यह मास, राशि और स्वरसरणी में द्वादश रूपों में भासित है ॥ १४७ ॥

तदेव चेदानीं विभज्य दर्शयन्, क्रमनयसोदरतामस्य दर्शनस्यावेदयति

ततश्च प्रागियं शुद्धा तथाभासनसोत्सुका ।
सृष्टिं कलयते देवी तन्नाम्नागम उच्यते ॥ १४८ ॥

ततः—परस्या एव संविदस्तत्तत्प्रमात्रादिरूपत्वेन परिस्फुरणाद्धेतोः—तथात्वेन स्फुरणात्प्राक्, शुद्धा—प्रमात्रादिनियतरूपानारूषिता इयं 'श्रीकालसंकर्षिणी' शब्दव्यपदेश्या परा संविद्देवीकालकलनाकलङ्कग्रसिष्णुतया द्योतमाना, तथा स्वात्मानतिरेकेऽपि अतिरेकायमाणतया यत् स्वातन्त्र्याद्भासनं, तत्र सोत्सुका—सिसृक्षायोगिनी सती, सृष्टिं कलयते—बहिरासूत्रितप्रायं भावजातं विमृशति, अत एव तन्नाम्ना–अन्वर्थेन 'श्रीसृष्टिकाली' शब्देन, आगमे—श्रीपञ्चशतिकादौ, उच्यते—अभिधीयते इत्यर्थः यदुक्तं तत्र

'मन्त्रोदया व्योमरूपा व्योमस्था व्योमवर्जिता ।
सर्वा सर्वविनिर्मुक्ता विश्वस्मिन्सृष्टिनाशिनी ॥
या कला विश्वविभवा सृष्टयर्थकरणक्षमा ।
यदन्तः शान्तिमायाति सृष्टिकालीति सा स्मृता ॥" इति ।

श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि

त्रिक दर्शन से क्रम दर्शन के साम्य का संकेत कर रहे हैं—

प्रमाता आदि रूपों में परिस्फुरण के पहले यह शुद्ध रहती है। उस दशा में प्रमातृ, प्रमेयादि विकारों से रहित और अनारूषित संविद्देवी "श्री कालसंकर्षिणी' कहलाती है। काल की क्रमात्मक कलना के कलङ्क को ग्रास बनाने की महाभिलाषमयी यह स्वतन्त्र अवभासन की उत्सुकता से ओत प्रोत रहती है। फलतः बाह्याभिव्यक्ति के उद्देश्य से अनन्त भाव राशि का विमर्श करती है। इसीलिये इसे श्री पंच शतिक आदि आगमों में 'श्री सृष्टि काली' कहते हैं। वहाँ कहा गया है कि वह मन्त्र से उदित है। आकाश रूपा, आकाशस्थिता और आकाशवर्जिता भी है। यह सृष्टि का संहार भी करती है। वह विश्व विभवात्मिका कला है। सृष्टि के संभार में समर्थ है। इन्हीं कार्यकलापों के कारण इसे सृष्टिकाली कहते हैं।" श्री क्रम स्तोत्र में भी कहा गया है कि

'कौलार्णवानन्दघनोर्मिरूपामुन्मेषमेषोभयभाजमन्तः ।
निलीयते नीलकुलालये या तां सृष्टिकालीं सततं नमामि ॥'

इति ॥ १४८ ॥

एवं प्रमेयगतं सृष्टिस्वरूपमभिधाय, स्थितिस्वरूपमप्यभिधातुमाह

तथा भासितवस्त्वंशरञ्जनां सा बहिर्मुखी ।
स्ववृत्तिचक्रेण समं ततोऽपि कलयन्त्यलम् ॥ १४९ ॥
स्थितिरेषैव भावस्य.................. ।

ततः—श्रीसृष्टिकाल्युदयानन्तरमपि, सा—परैव प्रमात्रेकरूपा संवित्, बहिर्मुखी—स्वस्वातन्त्र्यात् प्रमाणदशामधिशयाना, स्वात्मीयं यच्चक्षुरादीन्द्रिय-सम्बन्धि रूपाद्यालोचनात्मकं वृत्तिचक्रं, तेन समं—तथातिरेकायमाणतया भासितं यद्विश्वलक्षणं वस्तु, तस्य ये

'रूपादिपञ्चवर्गोऽयं विश्वमेतावदेव हि ।'

इत्याद्युक्त्या रूपाद्या अंशाः तत्कर्तृकां रञ्जनाम्, अलम्—अत्यर्थम्, आत्मविषयत-यापि कलयन्ती अविकल्पवृत्त्या जानाना सती 'मानं हि नाम मेयोप-रञ्जितमेव भवेत्' इत्यविवादः। मानात्मना च बहिर्मुखेन रूपेण मातैव

"कौल मत के महोदधि में उठने वाली उत्तालत्तरङ्गों की उद्दाम उमड़न माँ ही है। उन्मेष निमेषमय अवान्तर भावमयी वही है। इस नील 'कुल' रूपी आलय में निलीन रहने वाली उस माँ सृष्टि काली को सर्वतोभावेन शश्वत् प्रणति" ॥ १४८ ॥

अभी तक प्रमेय गत सृष्टि का स्वरूप कहा गया है। अब स्थिति स्वरूप की चर्चा कर रहे हैं—

सृष्टि के उदय के बाद वह परासंविद् अपने स्वातन्त्र्य स्वभाव के कारण बाह्य की ओर और भी उन्मुख हो जाती है। अपने इन्द्रिय रूपों का विमर्श करती है। एक नूतन विश्व वस्तु का अतिरेक हो जाता है।" और "रूप रस आदि पञ्चवर्गात्मक तत्त्वों का उल्लास हो जाता है।" परा संवित् इन सबका अपनापन भरा आकलन करती है। यह नियम है कि 'मान मेय से उपरंजित होता है।' मेय के अतिरिक्त मान रूप से यह संविद् मातृशक्ति स्फुरित होती है। वाह्यौन्मुख्य में ही मेयोपरंजन होता है। तभी रूप आदि

स्फुरेदिति, तस्यापि तद्द्वारेणैव मेयोपरञ्जनं, न पुनः—साक्षादिति भावः, एषैव रूपादेर्भावजातस्य स्थितिः—अवभासनात्मिका व्यक्तिरित्यर्थः, मेयं हि नाम स्वात्मनि न किंचिदिति प्रमाणोपारोहेणैव अस्य स्थितिः स्यात् इति—एवकाराशयः, एवंविधा चेयं मेये एवासक्त्या रक्तकालीशब्दव्यपदेश्या, इति अत्रापि तन्नाम्ना आगम उच्यते, इति प्राच्येन सम्बन्धः, तदुक्तं श्रीपञ्चशतिके

'न चैषा चक्षुषा ग्राह्या न च सर्वेन्द्रियस्थिता ।
निर्गुणा निरहङ्कारा रञ्जयेद्विश्वमण्डलम् ॥
सा कला तु यदुत्पन्ना सा ज्ञेया रक्तकालिका ।' इति ।

श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि

'महाविनोदार्पितमातृचक्र – वीरेन्द्रकासृग्रसपानसक्ताम् ।
रक्तीकृतां च प्रलयात्यये तां नमामि विश्वाकृतिरक्तकालीम् ॥' इति ।

ननु सर्वत्रैवान्यत्र श्रीसृष्टिकाल्यनन्तरं श्रीस्थितिकाल्या अभिधानम्, यदुक्तं श्रीसार्धशतिके

की अनुभूति होती है । यह स्थिति पाँचों तन्मात्राओं की है । प्रमेय वास्तव में प्रमाण से ही मेय होते हैं । मेय में आसक्ति प्रमाण के माध्यम से ही होती है । आसक्ति मयी ऐसी माँ काली ही रक्तकाली कहलाती है । श्री पञ्चशतिक शास्त्र में कहा गया है कि "यह चक्षुरिन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है । न ही अन्य इन्द्रियों से इसका साक्षत्कार हो सकता है । यह निर्गुण और निराकार है । यह विश्व का रञ्जन करती है । यह रञ्जिका कला से कलित देवी ही रक्तकालिका है ।" श्रीक्रम स्तोत्र में भी कहा गया है कि "आनन्दवाद से अनुप्रेरित 'वीर' शिरोमणि द्वारा अत्यन्त श्रद्धाभाव से अर्पित 'रक्त' के रस का पान करना इसे अच्छा लगता है । उसी में वह आसक्त रहती है । प्रलय में भी आसक्त विश्वरूपिणी माँ रक्तकाली को प्रणाम ।"

यहाँ सृष्टि काली के बाद रक्तकाली का वर्णन है । वस्तुतः सृष्टि काली के बाद स्थिति काली का वर्णन क्रमोचित है । सार्ध शतिक ग्रन्थ में कथित

'द्वादशारं महाचक्रं रश्मिरूपं प्रकीर्तितम् ।
नाम चैव प्रवक्ष्यामि रश्मीनां तु यदास्थितम् ॥
सृष्टिः स्थितिश्च संहारो रक्तकाली तथैव च ।
स्वकाली यमकाली च मृत्युकाली तथैव च ॥
रुद्रश्च परमार्कश्च मार्त्तण्डश्च ततः परः ।
कालाग्निरुद्रकाली च महाकाल्यभिधा पुनः ॥
महाभैरवशब्दश्च घोरशब्दस्ततः परः ।
चण्डकालीपदं चान्ते त्रयोदश उदाहृताः ॥' इति ।

तत्कथमिह तदनन्तरं श्रीरक्तकाल्यादिनिर्देशः कृतः, एवं हि आगमविरोधः स्यात् ? सत्य–किं तु आगमे संवित्क्रमगोपनार्थम् आलूनविशीर्णतयैवमभिधानं, यथा श्रीपञ्चशतिके स्थितिक्रमेऽपि, यदेव चानुसृत्य महागुरुभिः पूजाक्रमः प्रक्रान्तः, इह तु पूजाक्रमगोपनाय स्वशय्ययैव स्थापनं यदधिकृत्य सवित्क्रमः परिनिष्ठितिमियात् । अत एवागमैकशरणतया प्रवृत्तेऽपि श्रीक्रमस्तोत्रे ग्रन्थकृतां संवित्क्रममेव प्रदर्शयितुं तद्विवृत्तौ श्रीसष्टिकाल्यादिस्तुतिश्लोकव्याख्यानानन्तरं श्रीरक्तकाल्या भगवत्याः अतः परं स्थितिः सम्भाव्यते इत्याद्युक्तम्, इह पुनः संवित्क्रमाभिप्रायेणैव मुक्तकण्ठमेवमभिधानम्, इति न कश्चिद्दोषः ॥ १४९ ॥

है कि "द्वादशार महाचक्र प्रकाश की रश्मियों से भरापूरा चक्र है । उन रश्मियों के सृष्टि, स्थिति, संहार, रक्तकाली, स्वकाली, यमकाली, मृत्युकाली, रुद्र, परमार्क, मार्त्तण्ड, कालाग्निरुद्रकाली, महाकाली, महाभैरव और घोरचण्ड काली ये तेरह नाम कहे गये हैं।" इस क्रम के व्यतिक्रम से आगमिक विरोध नहीं होता है क्योंकि इसमें सम्प्रदाय प्रवर्त्तित उपासना के रहस्यों का गोपन किया गया हैं। गुरुजनों ने उपासना के विशिष्ट क्रम अपनाये हैं। पंचशतिक के स्थिति क्रम में भी यही किया गया है। आम तोड़ते हैं, पकाते हैं, विशीर्ण करते हैं, अमावट बनाते हैं और परिपक्वता के अनुसार उसे खाते हैं। खेती में डण्ठल काटते हैं। उसे बिखेर कर शीर्ण कर भूसा बनाते हैं। तब उसका उपयोग करते हैं। यह कटाई दवाँई का नियम है। इस व्यतिक्रम में स्वरूप-गोपन-आस्वाद का आनन्द अनुभव सिद्ध है। इसलिये यहाँ भी अपनी परम्परा के अनुसार क्रम अपनायागया है। सृष्टिकाली के बाद स्थिति में भी रक्तकालीभाव की उपासना का क्रम अनुभूति का विषय है। इसमें दोष दृष्टि अनावश्यक है ॥ १४९ ॥

एवं प्रमेयगतं स्थितिस्वरूपमभिधाय संहारस्वरूपमप्यभिधातुमाह

.... तामन्तर्मुखतारसात् ।

संजिहीर्षुः स्थितेर्नाशं कलयन्ती निरुच्यते ॥ १५० ॥

सैव परा संविद्देवी, तां–प्रमाणरूपां रक्त्यपरपर्यायां स्थितिम्, अन्तः प्रमात्रेकात्मतायामौन्मुख्ये 'ज्ञातो मयार्थ' इति स्वात्मविश्रान्तिचमत्कारात्मनो रसात् संहर्तुमिच्छुः आत्मसाच्चिकीर्षुः, अत एव 'स्थितेर्नाशं कलयन्ती निरुच्यते' श्रीक्रमभट्टारकादौ स्थितिनाशकालीशब्दव्यपदेश्येत्यर्थः, यदुक्तं तत्र

'वाजिद्वयस्वीकृतवातचक्र – प्रक्रान्तसंघट्टगमागमस्थाम् ।
शुचिर्यया‌स्तं गमितोऽर्चिषा तां शान्तां नमामि स्थितिनाशकालीम् ।।'इति

श्रीपञ्चशतिकेऽपि

'हासिनी पौद्गली येयं बालाग्रशतकल्पना ।
कल्पते सर्वदेहस्था स्थितिः सर्गस्य कारिणी ॥
यदुत्पन्ना तु सा देवी पुनस्तत्रैव लीयते ।
तां विद्धि देवदेवेश स्थितिकालीं महेश्वर ॥' इति ॥१५०॥

प्रमेय गत स्थिति के स्वरूप के अनन्तर संहार स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं—

वही परा संविद् देवी प्रमाणरूपिणी 'रक्ति' नामक स्थिति दशा को प्रमात्रैकात्म्य भाव की अन्तर्मुखता में समाहित करने लगती है। वहाँ स्वात्म-विश्रान्ति रूप एक चमत्कार उत्पन्न होता है। जैसे हम कहते हैं—'यह रहस्य मुझे ज्ञात हो गया है' और विषय को आत्मसात् कर लेते हैं उसी प्रकार स्थिति को आत्मसात् करने की इच्छा उसमें प्रबल हो उठती है। परिणामतः वह स्थिति के नाश का आकलन करने लगती है। 'श्री क्रम भट्टारक' में इसे स्थिति-नाश काली कहते हैं। वहाँ कहा गया है—"हंसः सोहं के द्वारा प्राण अपान वात चक्र का संघट्ट पूर्णिमा और अमा के मध्य एक शाश्वत स्वीकृत जीवन क्रम है। इस क्रम में अनुस्यूत अन्तर और बाह्य गमागम में अधिष्ठित, शान्ता स्थिति नाश काली को मैं प्रणाम कर रहा हूँ। उसी के द्वारा अपने अस्तित्व की रश्मियों से पूर्ण, प्राण सूर्य अमा कला में अस्त होता रहता है।" श्रीपञ्चशतिक शास्त्र में भी—"हे देवदेव महेश्वर! आप उसे ही स्थितिकाली समझें

एवं प्रमेयगतं संहारस्वरूपं निरूप्य, अनाख्यस्वरूपमप्याह

ततोऽपि संहाररसे पूर्णे विघ्नकरीं स्वयम् ।
शङ्कां यमात्मिकां भागे सूते संहरतेऽपि च ॥ १५१ ॥

ततः—श्रीस्थितिनाशकाल्युदयानन्तरमपि, एवमुक्तरूपस्य संहारस्य प्रमातृतात्मनि रसे, पूर्णे—परां धारामधिरूढे, सैव परिगृहीतपरिमितप्रमातृभूमिका संवित्, स्वयं—स्वस्वातन्त्र्यमहिम्ना, बहिरौन्मुख्यात्मन्येकस्मिन् भागे, यमयति इदं कार्यमिदं न' इति नियततावस्थापयति, इति यमो—विकल्पः, तदनुप्राणिता येयं शङ्का—शास्त्राणामानन्त्यात् कार्याकार्यविभागस्य विपर्ययेणापि दर्शनात् किंकर्तव्यतया मूढतात्मा विचिकित्सा, अत एव

'......................शङ्कया विघ्नभाजनम् ।'

इत्याद्युक्त्या स्वस्वरूपानुप्रवेशे विघ्नकरी, तां सूते—प्रमेयकक्ष्यापर्यन्तमुल्लासयति, अन्तर् औन्मुख्यात्मनि द्वितीयस्मिन्भागे च, संहरते—विगलितनियतिसंकोचविधिनिषेधाविषयपरसंविदात्मना स्वेनैव विकस्वरेण रूपेण परिस्फुरति

जो स्वभावतः ह्रासमयी है। पुद्गल भाव स्वीकृत कर चुकी है। बाल के अग्रभाग के सौवें भाग से भी सूक्ष्म है। वह सभी देहों में अवस्थित है। वही स्थिति है, वही सर्ग की सृजनकर्त्री है। जिससे उत्पन्न है, पुनः उसी में लीन हो जाती है।" ॥ १५० ॥

इस प्रकार प्रमेयगत संहार स्वरूप का निरूपण कर अनाख्य स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं—

स्थितिनाशकाली ही संहार की प्रमाता है। उसके आनन्द रस में पूर्णरूप से अधिरूढ हो जाने पर वही परिमित प्रमाता की भूमिका अपनाती है। अपने स्वातन्त्र्य के बल पर बाह्य उन्मुखता के एक भाग 'यह करना और यह नहीं करना चाहिये' इस विकल्प का नियमन करती है और विकल्पात्मक विचिकित्सा उत्पन्न करती है। "शङ्का से विघ्न को बल मिलता है।" इस उक्ति के अनुसार स्वात्म स्वरूप के अनुप्रवेश और प्रमेयोल्लास में ऐसी विघ्नकरी शङ्का यह स्वयम् उत्पन्न करती है। उसका यही स्वरूप है।

आन्तरिक उन्मुखता के दूसरे भाग में विधि निषेध से ऊपर उठकर अपने विकस्वर रूप में उल्लसित होती है। उस समय प्रमेय का संहार होता है।

'रासभ्या मूत्रकाले तु योनिः प्रस्पन्दते यथा ।'

इत्याद्युक्तवदनवरतमेव संकोचविकासमयतया अनियतेन रूपेणाख्यातुमशक्या, इत्येवं यमं कलयन्ती 'यमकालीति' निरुच्यते, इति पूर्ववदाक्षेपः, यदुक्तं श्रीपञ्चशतिके

'यमरूपस्वरूपस्था रूपातीतस्वरूपगा ।
सा कला लीयते यस्यां यमकाली तु सा स्मृता ।।' इति ।

श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि

'सर्वार्थसंकर्षणसंयमस्य यमस्य यन्तुर्जगतो यमाय ।
वपुर्महाग्रासविलासरागात् संकर्षयन्तीं प्रणमामि कालीम् ।।'' इति,

एवं प्रमेयांशग्रासरसिकं सृष्ट्यादिदेवीचतुष्टयं निरूपितम् ॥ १५१ ॥

इदानीं तु प्रमाणांशभक्षणप्रवणं संहारादिदेवीचतुष्कं निरूपयति

संहृत्य शङ्कां शङ्क्यार्थवर्जं वा भावमण्डले ।
संहृतिं कलयत्येव स्वात्मवह्नौ विलापनात् ।। १५२ ।।

"जैसे रासभी के मूत्रोसर्ग में योनि का संकोच विकोच होता है।" वैसे ही संहार और स्वरूपोल्लास के अनिश्चित स्पन्दन के कारण उसके स्वरूप का आख्यान जब नहीं किया जा सकता, तो वह अनाख्या शक्ति 'यमकाली' कहलाती है। श्री पञ्चशतिक शास्त्र में कहा गया है—

"नियमन करने वाली, रूपातीत अवस्था में विचरण करने वाली, वह कला जिसमें लीन होती है, वह यमकाली है।" श्री क्रमस्तोत्र में भी— "समस्त अर्थों के संकर्षक, संयमक और नियामक, जगत् के शामक यम को भी नियन्त्रित करने के लिये महाग्रास के विलासोल्लास में आसक्त विराट् वपुष् वाली काली को मैं प्रणाम कर रहा हूँ।" प्रमेयांश को ग्रास बनाने में आसक्त इन चार देवी शक्तियों का निरूपण यहाँ तक किया गया है ॥ १५१ ॥

अब प्रमाणांश ग्रास रसिक संहार आदि चार देवियों का वर्णन कर रहे हैं—

इस प्रकार यमात्मिका शङ्का और कार्याकार्य रूप शङ्का योग्य अर्थों का परित्याग कर, संविद्देवी भाव-मण्डल में एक नयी संहृति का आकलन

एवं यमात्मिकां शङ्कां संहृत्य शङ्कास्थानं वा शङ्क्यान्—कार्याकार्यरूपानर्थान्, परिहृत्य उपसंहृत्य, तन्नान्तरीयकवृत्त्या सा परैव संविद्देवी स्वात्मवह्निसात्काररलक्षणाद्विलापनाद्धेतोः, निखिलेऽपि भावमण्डले, संहृतिं कलयत्येव, येन—श्रीपञ्चशतिकादौ संहारकालीशब्दव्यपदेश्या, इति तन्नाम्ना आगम उच्यत, इति दूरेण संबन्धः, तदुक्तं तत्र

'चण्डकाली शुद्धवर्णा यामृतप्रसनोद्यता ।
भावाभावविनिर्मुक्ता विश्वसंहाररूपिणी ॥
यत्र सा याति विलयं सा च सहारकालिका ।' इति ।

श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि

'उन्मन्यनन्ता निखिलार्थगर्भा या भावसंहारनिमेषमेति ।
सदोदिता सत्युदयाय शून्यां संहारकालीं मुदितां नमामि ॥'

इति ॥ १५२ ॥

कीदृक् चात्रोपसंह्रियमाणानां भावानां कलनम् ? इत्याशङ्क्याह

विलापनात्मिकां तां च भावसंहृतिमात्मनि ।
आमृशत्येव येनैषा मया ग्रस्तमिति स्फुरेत् ॥ १५३ ॥

स्वयमेव हि नाम भावानां संविद्विलीनतोत्पादनात्मा संहारो—यद्बहीरूपताविलापनेन प्रमाणदशामधिशयानायां संवित्तावभेदेन परामर्शनं, यत एवेयं संवित् 'मयैतदर्थजातमात्मनि अभेदेनावभासितम्' इत्येवं स्फुरत्तारूपा भवेत्,

---

करती है। संहार के इस आकलन के आधार पर इसे श्री पंचशतिक आदि शास्त्रों में संहारकाली कहा गया है—"यह शुद्ध वर्ण, अमृत ग्रास में प्रवृत्त, भावाभाव दशा से मुक्त, विश्व संहार कारिणी, चण्डकाली जहाँ विलय प्राप्त करती है, वह संहार काली है।" श्री क्रम स्तोत्र में भी कहा गया है—"उन्मनी, अनन्त शक्ति सम्पन्न, समस्त जागतिक तत्त्व समुदाय को अन्तःस्थ कर विराजमान शाश्वत उदित जो शक्ति भावसंहार के क्षणों को चरितार्थ करती है, उसे आत्म अभ्युदय हेतु प्रणाम करता हूँ" ॥ १५२ ॥

संहृत भावों के आकलन की चर्चा कर रहे हैं—

भावों का बाह्य उल्लास संविद् में विलीन होता है। इसे विलापनात्मिका भाव संहृति कहते हैं। विलापन के समय संविद् में "यह प्रमेय रूप उल्लास

इत्युक्तं 'येनैषा मया ग्रस्तमिति स्फुरेदिति' इयमेव हि संविदः प्रमाणरूपतायां सृष्टिः-यत् तत्तदर्थारूषिता चकास्यादिति ॥ १५३ ॥

एवं प्रमाणगतं सृष्टिस्वरूपमभिधाय, स्थितिस्वरूपमप्यभिधातुमाह

संहार्योपाधिरेतस्याः स्वस्वभावो हि संविदः ।
निरुपाधिनि संशुद्धे संविद्रुपेऽस्तमीयते ॥ १५४ ॥

एवं संहरणीये संहृतेऽपि, एतस्याः—प्रमाणमय्या निखिलार्थसंहर्तृत्वात् मृत्युरूपायाः संविदः, संहरणीयकार्याकार्याद्यर्थावच्छिन्नो, यः स्वः सर्वत एवा-साधारणः स्वभावः, सस्वांशसंविद्विश्रान्तिमन्तरेण स्थितिमेव न यायात्, इति प्रमेयमिव प्रमाणो निरुपाधिनि—तत्तदर्थानारूषिते, अत एव संशुद्धे प्रमात्रात्मनि, संविद्रूपे 'अस्तमीयते'—तत्रैव रक्तिरूपां विश्रान्तिं गच्छेत् येनास्या संहर्तृत्वमेव व्यवतिष्ठते, इत्येवं मृत्युरूपाया अपि संविदः कलनात् 'मृत्युकालीति' सर्वत्रेय-मुद्धोष्यते, इत्यर्थत एतल्लब्धम्, तदुक्तं श्रीपञ्चशतिके

'ओमित्येषा कुलेशानी मृत्युकालान्तपातिनी ।
मृत्युकालकला यस्याः प्रविशेद्विग्रह शिव ॥
तदा सा मृत्युकालीति ज्ञेया गिरिसुताधव ।' इति ।

स्वात्म में अभेद भाव से अवभासित होता है '' प्रमेय से प्रमाण दशा की सृष्टि का यहीं से उद्भव भी होता है ॥ १५३ ॥

प्रमाण रूप सृष्टि का उत्स बता कर स्थिति के स्वरूप का कथन कर रहे हैं—

प्रमाणमयी मृत्युरूपा संविद् का यह स्वभाव है कि वह अर्थ मात्र का संहार करती है । इसको यही क्रियाशीलता है । यह उन अर्थों से अप्रभावित होती है, और निरुपाधि संशुद्ध संविद् में विलीन हो जाती है । यही रक्तिमयी विश्रान्ति की दशा है । इसे मृत्युकाली कहते हैं । श्री पञ्चशतिक और श्री क्रम स्तोत्र में लिखा है कि—

हे महेश्वर ! शिव ! यह कुलेश्वरी शक्ति मृत्युरूपी काल का ग्रास बना देती है । मृत्यु काल की कलायें इसके ही शरीर में अनुप्रवेश करती हैं । इसीलिये इसे मृत्युकाली कहते हैं । "यह मेरा है—इस प्रकार अहंकार की अनन्त कलाओं के विस्फुरणात्मक हर्ष से एक उद्धत गर्व उत्पन्न होता है । यहाँ आत्मा का

श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि

'ममेत्यहंकारकलाकलापविस्फारहर्षोद्धतगर्वमृत्युः ।
ग्रस्तो ययाघस्मरसंविदं तां नमाम्यकालोदितमृत्युकालीम् ॥'

इति ॥ १५४ ॥

एवं प्रमाणगतं स्थितिस्वरूपमभिधाय संहारस्वरूपमप्याह

विलापितेऽपि भावौघे कंचिद्भावं तदैव सा ।
आश्यानयेद्य एवास्ते शङ्का संस्काररूपकः ॥ १५५ ॥
शुभाशुभतया सोऽयं सोष्यते फलसंपदम् ।

एवं हि निरुपाधिशुद्धप्रमातृसंविद्विश्रान्त्या संहृतेऽपि कार्यरूपे भावौघे, सा परा संवित् तद्विलापनसमनन्तरमेव कंचित् प्रतिनियतरूपं भावमाश्यानयेत्— विलापितत्वेऽपि कथंचिद्भेदावभासात्मतया घनतामापादयेत्, य एवाश्यानीभूतः संस्काररूपतया वर्तमानः 'शङ्का' आस्ते—तन्निमित्ततया अवतिष्ठते इत्यर्थः, यद्वशादेव विचित्राचारप्रदर्शकेष्वनन्तेषु शास्त्रेषु कार्याकार्यविभागनिश्चयमलभ-मानस्य प्रमातुः

'अधर्मं धर्ममिति या बुद्धयते तमसावृता ।'

हनन हो जाता है, जो एक प्रकार की मृत्यु ही है। यह पशुजनों की ही मृत्यु दशा है। अकालोदित मृत्यु काली को साधक प्रणाम कर रहा है, जिसकी सर्वभक्षी मृत्युकला से पशु शाश्वत ग्रस्त है"। इस प्रकार की प्रार्थना श्री क्रम स्तोत्र में उपलब्ध है ॥ १५४ ॥

प्रमाता रूप संविद् में रक्ति रूप विश्रान्ति प्राप्त करने वाली और प्रमाण में स्थिति प्राप्त करने वाली संविद् में संहार स्वरूप का कथन कर रहे हैं—

निरुपाधि शुद्ध प्रमातृ संविद्-विश्रान्ति में कार्यरूप भावमय प्रमेयोल्लास का संहार हो जाता है। उस अवस्था में वह परासंवित् किसी अन्य भावराशि को वृहद् विस्तार प्रदान करती है और उसको घनत्व प्रदान करती हैं। उसका आश्यान अर्थात् फैलाव हो जाता है। यहीं शङ्का के संस्कार जन्म लेते हैं। अनेकानेक शास्त्रों के दृष्टिकोण, आचारों में वैभिन्न्य, चर्या के अन्तर

इत्यादिदृशा यदेव यथा हृदये प्ररोहति तदेव तस्य तथा फलेत्—इति एवायं शङ्कानिमित्तं कार्याकार्यलक्षणप्रतिनियतभावाहितः संस्कारः प्रबुद्धः सन् शुभाशुभरूपां फलसंपदं जनयिष्यते, येनायं लोकः स्वर्निरयादिपात्रतया सुखदुःखादिभोक्तृतामियात् ॥ १५५ ॥

नन्वेवं शङ्कमानः प्रमाता कार्याकार्ययोर्निश्चयानुत्पादात् न किंचिदप्यनुतिष्ठेत्, इति किमस्य शुभाशुभतया फलेत् ? इत्याशङ्क्याह

पूर्वं हि भोगात्पश्चाद्वा शङ्कयं व्यवतिष्ठते ॥ १५६ ॥

इह सर्वस्य लोकस्य नानात्वेन कार्याकार्ययोः श्रुतेः सुखदुःखाद्यनुभवात् पूर्वमेव तावच्छङ्का जायते 'किमनुष्ठेयं मया' इति, स्वसंस्कारप्रबोधतारतम्यात्तु कुत्रचिदेव कस्यचित्तन्निश्चयः समुत्पद्यते, तदनुष्ठानादस्य शुभाशुभफलभागितया सुखदुःखादौ भोक्तृता स्यात्, तदनन्तरं च दुःखाद्युपघातादेवमस्य शङ्का संप्रजायते 'यदकार्यमेव नूनं मया कार्यतयानुष्ठितं, येनैवमस्मि दुःखपराभूतो जातः' इति, ततश्च पूर्वं कृतमपि ब्राह्मणालम्भनादि तत्कालमेवेयं शङ्का शिथिलयति, येन तदनुशयवशाच्छुभमशुभं वा फलं दातुं न शक्नुयात् ॥ १५६ ॥

और कार्याकार्य निर्णय में अनिश्चय आदि इसी शङ्का के फल हैं। कहा गया है "जडबुद्धि अधर्म को भी धर्म मान लेती है।" इसलिए हृदय की धारणा के अनुसार ही फल की प्राप्ति होती है। इसे ही शुभ और अशुभ मानते हैं। तदनुसार स्वर्ग और नरक की गतियाँ धर्मशास्त्रों में निर्धारित की जाती हैं ॥ १५५ ॥

इस तरह अनिश्चय में पड़ा प्रमाता कुछ करने में प्रवृत्त ही नहीं हो सकता। शुभाशुभ निर्णय और उसके परिणाम की चर्चा ही व्यर्थ है? इसी जिज्ञासा का उत्तर दे रहे हैं—

पहले तर्क, विकल्प, प्रवृत्ति और परिणाम से भोग तक एक प्रमाता पहुँचता है। इसमें सुख भी मिलता है और दुःख भी। पूर्व जन्म के संस्कारों के विकल्प और उनके अनुसार सुख दुःखादि की धारणा या किये हुए वर्त्तमान दुष्कृत्यों के फल के प्रति अविश्वास आदि शङ्का पर आश्रित सभी बातें लोक में व्यवस्थित हैं यह परा संवित् का संहारात्मक चमत्कार है ॥ १५६ ॥

तदेवाह

अन्यदाश्यानितमपि तदैव द्रावयेदियम् ।
प्रायश्चित्तादिकर्मभ्यो ब्रह्महत्यादिकर्मवत् ॥ १५७ ॥

न च मितः प्रमाता तदीयो वा चैतसिकः शङ्काख्यो धर्म एवं विधातु-मुत्सहते, इत्याह

रोधनाद्द्रावणाद्रूपमित्थं कलयते चितिः ।

एवं संस्कारात्मनावस्थितस्यापि अर्थस्य, रोधनाद्द्रावणाच्च इयं परा संविदुक्तेन प्रकारेण रूपं कलयन्ती श्रीक्रमसद्भावभट्टारके 'रुद्रकालीति' व्यपदिष्टे-त्यर्थः, तदुक्तं तत्र

'इदं सर्वमसर्वं यत्संहारान्तं तु नित्यशः ।
कुटिलेक्षणरेखान्तग्रस्तमस्तमितं च यत् ॥
ततो बोधरसाविष्टा स्पन्दमाना निराकुला ।
दीधितीनां सहस्रं यद्वमेच्च पिबते भृशम् ॥
सा कला लीयते यस्यां रुद्रकालीति सास्मृता ।' इति ।

वही कह रहे हैं—

कहीं यही संवित् किसी भेद-भिन्न अवभास को आश्यानित अर्थात् घना या विस्तृत कर देती है अथवा उसे अपने स्वातन्त्र्य से विद्रावित भी करे तो कोई आश्चर्य नहीं। ब्रह्महत्या आदि पाप में कोई प्रवृत्त होता है, कोई प्रायश्चित्त करता है और कोई उस पर अविश्वास भी कर सकता है। यह सब चैतसिक शङ्का का ही परिणाम है। यही कह रहे हैं—

इस प्रकार संस्कार रूप से अवस्थित किसी अर्थ के रोधन से या उसके द्रावण, से सम्पन्न परा संवित् अनेकानेक चित्र रचती हुई विश्व का संचालन कर रही है। श्री क्रम भट्टारक में उसे रुद्रकाली कहते हैं—

"यह सृष्टि से संहार पर्यन्त नित्य उसके भृकुटि विलास से ग्रस्त, अस्त और शस्त है। वह ज्ञानानन्द समावेशमयी स्पन्द-माता शाश्वत शान्त भी है। अनन्त अनन्त किरणें उससे निरन्तर फूटती रहती हैं और उसी में विलीन होती रहती हैं। यह उन्हें पीती रहती है। ऐसी कला जिसमे विलय करती हो,

श्रीपञ्चशतिकादौ पुनरियं 'भद्रकाली' इत्युक्ता, इति नाम्नि भेदेऽपि वस्तुनि न कश्चिद्भेदो, यद्रुद्धं वार्थं द्रावयेद्भिन्नं वा, इत्युभयथापि अर्थानुगम इति, तदुक्तं तत्र

'गमागमसुगम्यस्था महाबोधावलोकिनी।
मायामलविनिर्मुक्ता विज्ञानामृतनन्दिनी॥
सर्वलोकस्य कल्याणी रुद्रा रुद्रसुखप्रदा।
यत्रैव शाम्यति कला रुद्रकालीति सा मृता॥
भेदस्य द्रावणाद्भद्रा भद्रसिद्धिकरीति या।' इति।

श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि

'विश्वं महाकल्पविरामकल्पभवान्तभीमभ्रुकुटिभ्रमन्त्या।
याश्नात्यनन्तप्रभवार्चिषा तां नमामि भद्रां शुभभद्रकालीम्॥' इति।

न केवलमियमाश्यानीभावेन रुद्धमेवार्थं द्रावयेत्, यावद्द्रावितमपि रोधयेत्, इत्याह

तदपि द्रावयेदेव तदप्याश्यानयेदथ ॥ १५८ ॥

एवं चात्र प्रमाणरूपत्वेऽपि तत्तदर्थसंहारकारिणः प्रमातुरेव प्राधान्यं, येन ग्रन्थकृतो रुद्रशब्दे भरः ॥ १५८ ॥

वही रुद्रकाली कहलाती है।" श्री पञ्चशतिक शास्त्र में इसे भद्रकाली कहते हैं। नाम में भेद है, काम में या वस्तु सद्भाव में कोई भेद नहीं है। वहाँ कहा गया है कि "आवागमन द्वारा वह गम्य है, सर्वत्र स्थित है। महाबोध में दृष्टिगोचर होती है। मायामल से विनिर्मुक्त है। विज्ञान में प्रसन्न, सर्वलोक कल्याण कारिणी रुद्रा सुखप्रदा कहीं रुद्रकाली और भेद संहार के कारण इसे भद्रा या भद्रसिद्धिकरी भी कहते हैं।" श्री क्रम स्तोत्र में भी-"विश्व को भृकुटि विलास से अतिरिक्तवत् आभासित करने वाली, अनन्त स्वात्म रश्मियों में विलापन करने वाली माँ शुभा भद्रकाली को मैं प्रणाम करता हूँ" यह कहा गया है।

द्रावित को भी रुद्ध करने वाली शक्ति के विषय में कह रहे हैं—

वह केवल रुद्ध को ही द्रावित नहीं करती अपितु द्रावित को भी रुद्ध करने वाली शक्ति है। वह प्रमाण रूप से भी स्फुरित है और प्रमाता रूप से भी। इस वर्णन में रुद्र की प्रधानता से प्रमाता का प्राधान्य ही प्रमाणित है॥ १५८॥

एवं प्रमाणगतं संहारस्वरूपं निरूप्य, अनाख्यस्वरूपमपि निरूपयितुमाह

इत्थं भोग्येऽपि संभुक्ते सति तत्करणान्यपि ।
संहरन्ती कलयते द्वादशैवाहमात्मनि ॥ १५९ ॥

एवमुपसंहृतेऽपि अर्थे तत्परिच्छेदकारीणि द्वादशापि करणानि संहरन्ती संवित् अहमात्मन्यहंकारे, कलयते—तत्रैव लीनतां नयेदित्यर्थः ॥ १५९ ॥

ननु कान्येतानि द्वादश करणानि, किं चैषां करणत्वम् ? इत्याशङ्क्याह

कर्मबुद्ध्यक्षवर्गो हि बुद्ध्यन्तो द्वादशात्मकः ।
प्रकाशकत्वात्सूर्यात्मा भिन्ने वस्तुनि जृम्भते ॥ १६० ॥

बुद्ध्यन्त इति—मनसा सह, प्रकाशकत्वादिति—अर्थालोचनात्मनः, सूर्यात्मेति—

'सूर्यं प्रमाणमित्याहुः........................।'

इत्याद्युक्त्या प्रमाणरूप इत्यर्थः भिन्नं प्रमेयं परिच्छिन्दच्च प्रमाणमुच्यते इत्युक्तं 'भिन्ने वस्तुनि जृम्भते' इति ॥ १६० ॥

नन्वहंकारस्यापि अन्तःकरणान्तःपातः समस्ति, इति कथं 'द्वादशैव करणानि' इत्युक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

अब अनाख्य स्वरूप की चर्चा कर रहे हैं—

द्वादशात्मक अर्थ परिच्छेदक कलाओं में सुव्यक्त यह इस विस्तार को स्वात्म में समाहित भी कर लेती है ॥ १५९ ॥

इन १२ करणात्मक कलाओं की चर्चा कर रहे हैं—

५ कर्म और ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इन १२ अरों का यह द्वादशात्मक चक्र है। प्रकाशक होने से यह सूर्य रूप है। भेद भिन्नता में ही यह विकसित होता है। "सूर्य को प्रमाण भी कहते हैं।" इस उक्ति के अनुसार वह प्रमाण रूप भी है। भिन्न प्रमेय को परिच्छिन्न करने वाला भी प्रमाण होता है। वह प्रमेय को पुलकित करता है और स्वयं विस्तार प्राप्त करता है ॥ १६० ॥

अहंकार भी अन्तःकरण है फिर यह बारह करणों की गणना क्यों ? इसका उत्तर दे रहे हैं--

अहंकारस्तु करणमभिमानैकसाधनम् ।
अविच्छिन्नपरामर्शी लीयते तेन तत्र सः ॥ १६१ ॥

अहंकारः पुनर् 'अहं शृणोम्यहं पश्यामि' इत्याद्यभिमानैकसाधनत्वात् अविच्छिन्नतया प्रमात्रभेदेन विशेषानुपादानात् सर्वस्यार्थस्य परामर्शनशीलः करणम्, इत्यसौ द्वादशविधोऽपि करणवर्गः तत्राहंकारे लीयते—तदेकविश्रान्तो भवेदित्यर्थः ॥ १६१ ॥

ननु करणत्वाविशेषेऽपि बुद्ध्यादिरेव करणवर्गः कथंकारमहंकारे लीयते ? इत्याशङ्कां दृष्टान्तोपदर्शनेनोपशमयति

यथाहि खड्गपाशादेः करणस्य विभेदिनः ।
अभेदिनि स्वहस्तादौ लयस्तद्वदयं विधिः ॥ १६२ ॥

इह करणस्य व्यतिरिक्तत्वे किं प्रेर्यत्वं न वा, तत्र अप्रेर्यत्वे सर्वस्यापि तथा प्रसङ्गः, प्रेर्यत्वे च प्रेरणक्रियायां कर्मत्वं स्यात्, न करणत्वम्, न च अकरणिका क्रिया भवेत्, इति तत्रापि करणान्तरेण भाव्यम्, इत्यनवस्था स्यात्, तद्व्यतिरिक्तस्यापि खड्गादेः करणस्य यथा कर्त्रभिन्नहस्ताद्यभेदभावनया करणत्वं घटते, तथा अहमंशस्पर्शितया प्रमात्रभेदिन्यहंकारेऽपि बुद्ध्यादेर्लयात् इति युक्तमुक्तम्–अहंकारे बुद्धिर्लीयते इति ॥ १६२ ॥

अहंकार केवल अभिमान का ही साधक है। मैं सुनता, देखता या पढ़ता हूँ—इन वाक्यों द्वारा यही सिद्ध होता है। इसका निरन्तर प्रमाता से अभिन्न परामर्श रहता है। किसी 'विशेष' का यह उपादान नहीं। यह करण समस्त अर्थ समुदाय का एक साथ परामर्श करता है। अतः अन्य बारह प्रकार के करण इसी अहंकार में लीन हो जाते हैं ॥ १६१ ॥

अहंकार में अन्य करणवर्ग के लीन होने के सम्बन्ध में कह रहे हैं—

दृष्टान्त दे रहे हैं कि खड्ग और पाश आदि प्रेर्य हैं, प्रेरक नहीं। प्रेरक हाथ से अभिन्न होने पर ही उनमें करणत्व घटित होता है। अतः अहमंशस्पर्शी प्रमाता से अभिन्न अहंकार में अन्य प्रेर्य करणों का लय हो जाता है। यह कथन उचित है कि अहंकार में बुद्धि लीन हो जाती है ॥ १६२ ॥

एतदेव प्रकृते विश्रमयति

तेनेन्द्रियौघमार्तण्डमण्डलं कलयेत्स्वयम् ।
संविद्देवी स्वतन्त्रत्वात्कल्पितेऽहंकृतात्मनि ॥ १६३ ॥

तेन उक्तेन क्रमेण, स्वस्वातन्त्र्यात् स्वयं, न तु परिमितप्रमात्रादि व्यवधानेन, संविद्देवी द्वादशसंख्यावच्छिन्नं बुद्ध्यादीन्द्रियमार्तण्डमण्डलं देहादावभिनिवेशात्कल्पितेऽहंकृतात्मनि कलयेत्—तदेकमयतामापादयेत्, येन श्रीक्रमस्तोत्रादौ इयं 'मार्तण्डकाली' इत्युच्यते, तदुक्तं तत्र

'मार्तण्डमापीतपतङ्गचक्रं पतङ्गवत्कालकलेन्धनाय ।
करोति या विश्वरसान्तकां तां मार्तण्डकालीं सततं प्रणौमि ॥' इति ।

श्रीपञ्चशतिकेऽपि

'शब्दब्रह्मपदातीता षट्त्रिंशान्तनवान्तगा ।
ब्रह्माण्डखण्डादुत्तीर्णा मार्तण्डी मूर्तिरव्यया ॥
सा कला लीयते यस्यां मार्तण्डी कालिकोच्यते ।' इति ॥१६३॥

इसी तथ्य को पुनः प्रस्तुत कर रहे हैं—

उक्त क्रम से अपने स्वातन्त्र्य के बल से स्वयं संविद्देवी विना किसी परिमित प्रमाता आदि के व्यवधान के १२ संख्यावाले इस मार्त्तण्ड मण्डल को देहादि अभिनिवेश के कारण कल्पित अहंकृतिमय परिमित प्रमाता में ही आकलित करती है। इस एकमयता का आकलन करने वाली काली 'मार्त्तण्डकाली' कहलातो है। श्रीक्रमस्तोत्र कहता है—"कालकला के इन्धन के लिये पतङ्गों की तरह समस्त इन्द्रियवर्ग के रस का पान करने वाले प्राण सूर्य को भी जो समग्र विश्वरसास्वाद समर्था माँ कार्य व्यापृत करती है, उस मार्त्तण्ड काली को मैं सतत प्रणाम करता हूँ।"

श्री पञ्चशतिक शास्त्र में भी कहा गया है—

"शब्द ब्रह्म से अतीत, ३६ तत्त्वों और नौ वर्गों को आवृत कर विराजमान, ब्रह्माण्ड से भी उत्तीर्ण, अव्यय मार्त्तण्ड मूर्त्ति रूपा लयाश्रया मार्त्तण्डी कालिका को मैं प्रणाम करता हूँ।" ॥ १६३ ॥

एवं प्रमाणांशभक्षणप्रवणं देवीचतुष्टयं निरूपितम्, इदानीं प्रमात्रंशचर्वणाचतुरं देवीचतुष्टयं निरूपयति

स एव परमादित्यः पूर्णकल्पस्त्रयोदशः ।
करणत्वात्प्रयात्येव कर्तरि प्रलयं स्फुटम् ॥ १६४ ॥

एवमहंकारनाम्नि परमादित्ये संहृतेषु बुद्ध्यादिषु द्वादशसु करणेषु स एवाहंकारनामा त्रयोदशः प्रमातृतोन्मुखीभावात् पूर्णकल्पः परमादित्यः करणत्वात् कर्तर्येव स्फुटं प्रलयं प्रयाति तदेकरूपतामासादयेदित्यर्थः ॥ १६४ ॥

ननु द्विविधः कर्ता—संकुचितश्चासंकुचितश्च, तदयं कुत्र तावत् प्रलयं प्रयाति ? इत्याशङ्क्याह

कर्ता च द्विविधः प्रोक्तः कल्पिताकल्पितात्मकः ।
कल्पितो देहबुद्ध्यादिव्यवच्छेदेन चर्चितः ॥ १६५ ॥
कालाग्निरुद्रसंज्ञास्य शास्त्रेषु परिभाषिता ।
कालो व्यवच्छित्तद्युक्तो वह्निर्भोक्ता यतः स्मृतः ॥ १६६ ॥

प्रमाणांश का भक्षण करनेवाली चार कालिका शक्तियों के निरूपण के बाद अब प्रमात्रंश चर्वणचातुरीचमत्कार-चारु चार देवियों का वर्णन कर रहे हैं—

अहंकार ही परम आदित्य है। बुद्धि आदि १२ करण जब इसमें संहृत हो जाते हैं तो वह तेरहवाँ प्रमाता भाव में ही उन्मुख पूर्णकल्प परमादित्य करण होने के कारण कर्त्ता में स्फुट रूप से लय प्राप्त करता है अर्थात् ऐक्यरूप्य प्राप्त कर लेता है ॥ १६४ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि कर्त्ता के संकुचित और असंकुचित दो स्तर हैं। यह तेरहवाँ करणादित्य कहाँ लीन होता है ? इसी का उत्तर दे रहे हैं—

कर्त्ता दो प्रकार के हैं। १-कल्पित और २—अकल्पित। कल्पित कर्त्ता देह, बुद्धि और इन्द्रियादि के व्यवच्छेद से व्यवच्छिन्न है। इसे शास्त्रों में कालाग्नि रुद्र कहते हैं। काल ही व्यवच्छेदक है। इससे युक्त अग्नि ही भोक्ता होता है। संसार में असामर्थ्य और सामर्थ्य के कारण बोध के अभाव में वह

संसाराक्लृप्तिभ्यां रोधनाद्द्रावणात्प्रभुः ।
अनिवृत्तपशूभावस्तत्राहंकृत्प्रलीयते ॥ १६७ ॥

अस्येति–देहबुद्ध्यादिव्यवच्छेदभाजः कल्पितस्य प्रमातुः, किं च अस्याः संज्ञायाः प्रवृत्तावत्र निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह 'काल' इत्यादि, व्यवच्छित्–व्यवच्छेदः, तेन कालेन तद्व्यवच्छेदेन युक्तोऽग्निर्भोक्ता, स एव च किंचिद्भोग्य संस्कारस्याप्रबोधात् 'ममैतन्मा भूत्' इति रुणद्धि प्रबोधाच्च किंचिद् द्रावयति, भोगेन स्वात्मसात्करोति इति रुद्रः, अत एव भोग्यौन्मुख्यात् अनिवृत्तपशूभावः प्रोन्मिषदभिलाषात्मकाणवमलयोग इत्यर्थः, तत्रेति-कालाग्निरुद्रसंज्ञे संकुचिते प्रमातरि, एवमहंकारनाम्नः परमार्कस्य परिमिते कालाग्निरुद्रसंज्ञे प्रमातरि, एवंकलनात् श्रीक्रमस्तोत्रादावियं 'परमार्ककाली' इत्युच्यते, तदुक्तं तत्र

'अस्तोदितद्वादशभानुभाजि यस्यां गता भर्गशिखा शिखेव ।
प्रशान्तधाम्नि द्युतिनाशमेति तां नौम्यनन्तां परमार्ककालीम् ॥' इति ।

श्रीपञ्चशतिकेऽपि

'एकाकिनी चैकवीरा सुसूक्ष्मा सूक्ष्मवर्जिता ।
परमात्मपदावस्था परापरस्वरूपिणी ॥
सा कला पररूपेण यत्र संलीयते शिव ।
सा कला परमार्केति ज्ञेया भस्माङ्गभूषण ॥' इति ॥१६५-१६७॥

रोधन और बोध दशा में द्रावण दोनों करने के कारण वह रुद्र भी है। यह भोग के माध्यम से आनन्द रस को आत्मसात् करने में समर्थ है। भोग्य के प्रति औन्मुख्य इसका स्वभाव होता है। इसमें से पशुभाव की निवृत्ति अभी नहीं होती। अभिलाषात्मक आणवमल से यह युक्त होता है। यह संकुचित प्रमाता है। यही कालाग्नि रुद्र है। इसी परिमित प्रमाता में परमार्क रूप अहंकार का लयात्मक आकलन करने वाली संविद् देवी ही परमार्ककाली कहलाती है। श्रीक्रम स्तोत्र के अनुसार "जिस शक्ति में बारह सूर्य उदित और अस्त होते हैं, भर्ग शिखा जिसमें लौ के समान समा जाती है। जिस प्रशान्त तैजस उत्स में यह अर्क रश्मि अदृश्य हो जाती है, उस परमार्ककाली शक्ति को मैं प्रणाम करता हूँ। श्री पञ्चशतिक शास्त्र भी "एकाकिनी, एकमात्र शिवाशक्ति

एवं प्रमातृगत सृष्टिस्वरूपमभिधाय स्थितिस्वरूपमप्याह

सोऽपि कल्पितवृत्तित्वाद्विश्वाभेदैकशालिनि ।
विकासिनि महाकाले लीयतेऽहमिदंमये ॥ १६८ ॥

एवमहंकारे ग्रस्ते, तद्ग्रसितुः—कालाग्निरुद्रशब्दव्यपदेश्यस्य कल्पितस्यापि प्रमातुर्ग्रसिन भाव्यम्, इति सोऽपि कल्पितः प्रमाता, कल्पितत्वादेव अहमिदंमये, अत एवाहन्तायामिदन्ताया विश्रान्तेः विश्वाभेदैकशालिनि, अत एव विकासिनि

'भैरवरूपी कालः सृजति जगत्कारणादि कीटान्तम् ।'

इत्याद्युक्तस्वरूपे महाकाले लीयते—परस्मिन्नकल्पिते पूर्णाहंविमर्शमये प्रमातरि विश्रान्तो भवेदित्येवं परिमितप्रमात्रात्मनः कालाग्निरुद्रस्य कलनात् 'कालाग्निरुद्रकालीति' श्रीपञ्चशतिकादावियम् उच्यते, यदुक्तं तत्र

'वरदा विश्वरूपा च गुणातीता परा कला ।
अघोषा सास्वरारावा कालाग्निग्रसनोद्यता ॥
निरामया निराकारा यस्यां सा शाम्यति स्फुटम् ।
कालाग्निरुद्रकालीति सा ज्ञेयामरवन्दित ॥' इति ।

सूक्ष्म स्थूल सभी रूपों में व्याप्त, परमात्म पदवी भूषिता, परापर रूपा वह कला जहाँ लीन होती है, उसको परमार्क काली कहते हैं।" यही बात इन शब्दों में व्यक्त की गयी हैं ॥ १६५-१६७ ॥

इस तरह प्रमातृ गत सृष्टि के स्वरूप का कथन कर अब स्थिति स्वरूप का कथन कर रहे हैं—

अहंकार को ग्रास बनाने वाले कालाग्निरुद्र को भी ग्रास बनाने वाला कोई महाकाल है क्योंकि यह कालाग्निरुद्र भी कल्पित प्रमाता ही है। महाकाल अहम् इदमात्मक है। अहन्ता में इदन्ता की विश्रान्ति होने की दशा में विश्व की अभेद भाव से वहाँ स्थिति हो जाती है। "भैरव रूपी काल कारण से कीट-पर्यन्त जगत की सृष्टि करता है।" इस उक्ति के अनुसार वह महाकाल है। उसी में अर्थात् अकल्पित पूर्णाहं विमर्श मय प्रमाता में विश्रान्ति सम्भव है। परिमित प्रमाता कालाग्निरुद्र के इस आकलन को करने वाली शक्ति ही कालाग्निरुद्र काली है। श्री पञ्चशतिक शास्त्र में कहा गया है—"वरदायिनी, विश्वरूपिणी, गुणातीता, अघोषा सस्वर अथवा अस्वर आराव में समर्थ, कालाग्नि को भी

श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि

कालक्रमाक्रान्तदिनेशचक्र
क्रोडीकृतान्ताग्निकलाप उग्रः ।
कालाग्निरुद्रो लयमेति यस्यां
तां नौमि कालानलरुद्रकालीम् ।।' इति ॥ १६८॥

एवं प्रमातृगतं स्थितिस्वरूपमभिधाय संहारस्वरूपमप्याह

एतस्यां स्वात्मसंवित्ताविदं सर्वमहं विभुः ।
इति प्रविकसद्रूपा संवित्तिरवभासते ॥ १६९ ॥
ततोऽन्तःस्थितसर्वात्मभावभोगोपरागिणी ।
परिपूर्णापि संवित्तिरकुले धाम्नि लीयते ॥ १७० ॥

एवं कालाग्निरुद्ररूपे परिमिते प्रमातरि ग्रस्ते परिपूर्णाहंभावमयस्य पर-प्रमातुर्महाकालस्यापि स्वविमर्शविश्रान्त्यात्मना ग्रासेन भवितव्यम्, इत्येतस्या-मुक्तस्वरूपायां स्वात्मनो महाकालस्य संबन्धिन्यां संवित्तौ

'सर्वो ममायं विभवः.................................।'

इत्याद्युक्तवत् सर्वमिदमहमेवेति विभुः—विश्वाभेदैकशालिनी, अत एव प्रविक-

---

ग्रास बनाने को तय्यार, आमय रहित, आकार रहित यह सविद्देवी जिसमें विश्रान्ति का मन बना लेती है, वही हे देववन्द्य शिव ! कालाग्निरुद्रकाली है। श्रीक्रम स्तोत्र में भी "काल क्रम से आक्रान्त सूर्य चक्र को अपने अङ्क में भरलेने वाले कृतान्त और अग्नि समान उग्र कालाग्निरुद्र जिसमें विश्रान्ति प्राप्त करते हैं—वही कालानलरुद्रकाली है। मैं उसे प्रणाम कर रहा हूँ।" यही बात स्पष्ट की गयी है ॥ १६८ ॥

प्रमातृ गत स्थिति स्वरूप कथन के बाद संहार का स्वरूप कह रहे हैं—

कालाग्निरुद्र रूप परिमित प्रमाता महाकाल का ग्रास बनता है। महाकाल अहन्तेदन्ता विमर्शमय होता है। इस संवित्ति से भी ऊपर 'सब कुछ मेरा ही विभव है' मैं ही यह सब कुछ 'स्व' रूप विभु हूँ—इस प्रकार की विश्वाभेदमयी तथा परिमित प्रमाता के भाव को ग्रास बनानेवाली विशेष रूप से विकसमान पर परामर्शमयी एक संवित्ति अवभासित होती है।

सद्रूपा या परिमितप्रमातृचर्वणाचतुरा संवित्तिः—अनुभवविशेषोऽवभासते, सापि ततः—एवमवभासानन्तरम्, अन्तः—प्रमात्रैकात्म्येन वर्तमानानाम्, अत एव सर्वसर्वात्मिकत्वेन सर्वात्मरूपाणां भावानां यो भोगो—हठपाकक्रमेणालंग्रास-युक्त्या स्वात्मसात्कारः, तेनोपरागिणी—संहर्त्रैकस्वभावा, अत एव परिपूर्णा, अत एव कंचिदपि प्रति भोग्यत्वागमनाद्विदिक्रियाकर्तृतारूपा वित्तिः,

'अव्ययमकुलममेयं विगलितसदसद्विवेककल्लोलम् ।
जयति प्रकाशविभवस्फीतं काल्याः परं धाम ॥'

इत्याद्युक्तस्वरूपशालिन्यकुले धाम्नि लीयते—स्वात्मविश्रान्तिचमत्काररूपाहं-परामर्शदशाधिशायितामियादिति, एवं महाकालस्य कलनात् 'महाकालकालीति' श्रीक्रमस्तोत्रादावुच्यते, तदुक्तं तत्र

'नक्तं महाभूतलये श्मशाने दिक्खेचरीचक्रगणेन साकम् ।
कालीं महाकालमलंग्रसन्तीं वन्दे ह्यचिन्त्यामनिलानलाभाम् ॥' इति ।

श्रीपञ्चशतिकेऽपि

'ऋतोज्ज्वला महादीप्ता सूर्यकोटिसमप्रभा ।
कलाकलङ्करहिता कालस्य कलनोद्यता ॥
यत्र सा लयमाप्नोति कालकालीति सा स्मृता ।' इति ॥१६९-१७०॥

यह अन्तःस्थित समस्त भाव वर्ग को हठपाठ क्रम से अलंग्रासरस द्वारा आत्मसात् करती है। इस तरह यह भोग की प्रक्रिया में रस लेने वाली संवित्ति वस्तुतः संहारात्मिका हो जाती है। समग्र भाववर्ग को संहृत करने के कारण यह परिपूर्ण होती है। यह संवित्ति अकुल परमधाम में लीन हो जाती है। कहा गया है कि "अव्यय, अकुल अमेय, सद् और असद् रूप विवेकमय तरङ्गों से अतीत, प्रकाश के विभव से भूषित काली का परमधाम जयन शील हो।"

इस प्रकार यह स्वात्म विश्रान्तिरूप चमत्कार मयी होती है और अहमात्मक पूर्ण परामर्श भाव को प्राप्त कर लेती है। महाकाल का भी स्वात्म सीमा में ही आकलन करती है। यही 'महाकाल काली' है। श्रीक्रम स्तोत्र में कहा गया है—"रात्रि में महाभूतलय के आधार श्मशान में और दिक् रूपी खेचरी चक्रगण के साथ महाकाल का भी अलंग्रास करनेवाली, अचिन्त्य चमत्कार मयी अनिला-नलललामा महाकाल काली को प्रणाम करता हूँ।" तथा "ऋत की ऊर्जा से ऊर्जस्वल, महादीप्ति से देदीप्यमान, करोड़ों सूर्यों को भी चकाचौंध हो जाय,

एवं प्रमातृगतं संहारस्वरूपं निरूप्यानाख्यास्वरूपमपि निरूपयति

प्रमातृवर्गो मानौघः प्रमाश्च बहुधा स्थिताः ।
मेयौघ इति यत्सर्वमत्र चिन्मात्रमेव तत् ॥ १७१ ॥
इयतीं रूपवैचित्रीमाश्रयन्त्याः स्वसंविदः ।
स्वाच्छन्द्यमनपेक्षं यत्सा परा परमेश्वरी ॥ १७२ ॥

तदेवमात्र—अहंपरामर्शात्मन्यकुले धाम्नि, प्रमेयं प्रमाता प्रमा च इत्येतत्सर्वं नानारूपतयोज्जृम्भमाणं चिन्मात्रमेव——तदेकरसतयावभासते इत्यर्थः, तत्—तस्मादियतीं प्रमात्राद्यवच्छिन्ना रूपवैचित्रीमाश्रयन्त्याः स्वप्रकाशायाः परस्याः संविदो यदनपेक्षं

'तस्य देवातिदेवस्य परबोधस्वरूपिणः ।
विमर्शः परमा शक्तिः सर्वज्ञज्ञानशालिनी ॥'

इत्याद्युक्तस्वरूपमहंपरामर्शमयं स्वाच्छन्द्यं, सा प्रमेयप्रक्रियया——प्रमातृपदेन महाभैरवशब्दस्य, मेयपदेन चण्डशब्दस्य, प्रमापदेनोग्रशब्दस्य, मानपदेन घोरशब्दस्य,

---

ऐसी प्रभासमुज्वला, कलाकलङ्ककालिमा से सर्वथा रहित महाकाल का अन्तः आकलन करने वाली माँ जहाँ विश्राम ग्रहण करती है, वह संवित्ति ही महाकालकाली है ।" यह कथन पञ्चशतिक शास्त्र का है । यही अकुल धाम में लीन होने का स्वरूप है ॥ १६९–१७० ॥

प्रमातृगत संहारस्वरूप का निरूपण करने के बाद अनाख्य रूप का निरूपण कर रहे हैं—

इस प्रकार प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमा सभी विभिन्न रूपों में यद्यपि उल्लसित हैं किन्तु उस अहं परामर्शमय अकुल धाम में सभी चिन्मात्र ही हैं। इतनी विचित्र विस्मयमयी प्रमाता आदि सामरस्य की आश्रय भूता, स्वप्रकाशरूपा परा संविद् सर्वतन्त्र स्वतन्त्र और नितान्त निरपेक्ष है। "परबोधस्वरूप उस देवाधिदेव परमेश्वर की सर्वज्ञता के विज्ञान से गौरवमयी परा शक्ति ही विमर्श है।" इस उक्ति के अनुसार उसका अहंपरामर्श ही उसका स्वातन्त्र्य भी है।

वह परा परमेश्वरी 'महाभैरवचण्डोग्रघोरकाली' कहलाती है। प्रमाता महाभैरव, प्रमेय चण्ड, प्रमा उग्र और और प्रमाण घोर शब्द के माध्यम से

चाक्षेपात् 'महाभैरवचण्डोग्रघोरकाली' या अस्मद्दर्शने पूर्णतया परा इति परमेश्वर्युक्ता, यदुक्तं श्रीपञ्चशतिके

'दशसप्तविसर्गस्था महाभैरवभीषणा ।
संहरेद्भैरवान्सर्वान्विश्वं च सुरपूजित ॥
सान्तः शाम्यति यस्यां च सा स्याद्भरित भैरवी ।
महाभैरवचण्डोग्रघोरकाली परा च सा ॥' इति ।

श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि

'क्रमत्रयत्वाष्ट्रमरीचिचक्र
संचारचातुर्यतुरीयसत्ताम् ।
वन्दे महाभैरवघोरचण्डकालीं
कलाकाशशशाङ्ककान्तिम् ॥' इति ॥१७१-१७२॥

ननु किं नामास्याः परत्वम् ? इत्याशङ्क्याह

इमाः प्रागुक्तकलनास्तद्विजृम्भोच्यते यतः ।

अतस्तद्विजृम्भात्मकत्वादेवासां सर्वसर्वात्मकतया एकैकस्यामपि संविदि सर्वा एव संविदोऽनन्तरत्वेन वर्तन्ते, येनैकैकस्यामपि द्वादशात्मकत्वात् संचारक्रमपूजायां चतुश्चत्वारिंशदधिकं पूज्यत्वेनोक्तम्, यदागमः

इस नाम में निहित हैं । श्री पञ्चशतिक शास्त्र में–सप्तदश विसर्ग मयी, महाभैरव भीषण, वह शक्ति समग्र भैरववर्ग को और संसार को भी संहृत कर लेने में समर्थ है । जिसमें यह विश्रान्ति प्राप्त करती है, वह भरितभैरवी है । वही महाभैरव चण्डोग्रकाली भी है । यह कहा गया है ।

श्रीक्रम स्तोत्र में भी "क्रमत्रय रूप आदित्य भेदी त्वाष्ट्र की किरणों के चक्र-संचार-चातुर्य की तुरीय सत्ता से सम्पन्न, कलाकाश के शशाङ्क की सुषमा से सम्पन्न महाभैरव घोरचण्डकाली को प्रणाम करता हूँ ।" इस प्रकार का वर्णन किया गया है । यही अनाख्य स्वरूप है ॥ १७१–१७२ ॥

इसका परात्मक रूप कैसा है ? इस आशङ्का का उत्तर दे रहे हैं—

यह सारी कलनायें उसी की उल्लास रूप ही हैं । इससे यह कहा जा सकता है कि एक एक संविद् में सभी संविद् शक्तियाँ शाश्वत रूप से विद्यमान हैं । इसीलिये सञ्चार क्रम की पूजा में १२ × १२ अर्थात् अर्थात् १४४ देवियाँ

'द्वादशाराबियोगेन देवीं द्वादशधा यजेत् ।'

अत एव च त्रयोदशं रूपमभिधातुमवकाशलेशोऽपि नास्ति इति युक्तमुक्तं 'परमार्थतः संविद्द्वादशात्मैव' इति ॥

ननु क्रमदर्शने सर्वत्रैव श्रीसृष्ट्यादिदेवीनां मध्ये श्रीसुकाल्या भगवत्या अभिधानं, येनानाख्यचक्रे त्रयोदश देव्यः, अत एव श्रीमहाभैरवचण्डोग्रघोरकाली-भट्टारिकायाश्च त्रयोदशत्वम्, तदुक्तं श्रीपञ्चशतिके

'डकला भीषणा रौद्रा कुलकालिनिराकुला ।
अलक्ष्यलक्ष्यनिर्लक्ष्या सुकाली नाम सिद्धिदा ॥' इति ।

श्रीतन्त्रराजभट्टारकेऽपि

'सृष्टिकाली च संहारे सृष्टौ सा परमेश्वरी ।
स्थितिकाली तथा घोरा ततः संहारकालिका ॥
रक्तकाली चर्वयन्ती रक्तौघमविभेदतः ।
सुकाली यमकाली च मृत्युकाली भयावहा ॥
भद्रकाली तथा चान्या परमादित्यकालिका ।
मार्तण्डकाली कालाग्निरुद्रकालमहोल्लवणा ॥
महाकालकुले काली महाभैरवकालिका ।
त्रयोदशविधा काली विज्ञेया नामभेदतः ॥' इति ।

पूज्य मानी गयीं हैं। कहा गया है कि "द्वादश अरों के साथ द्वादशधा पूजा करे।" यह ध्यान देने की बात है कि द्वादशकाली ही होती हैं। तेरहवीं के लिये विधि में कोई स्थान नहीं। इसीलिये कहा है कि परमार्थतः संविद् का द्वादश उल्लास ही है।

प्रश्न उपस्थित करते हैं कि क्रमदर्शन में सृष्टि काली आदि देवियों में सुकाली की भी गणना की गयी है। अनाख्य चक्र में १३ देवियों की गणना है। इसलिये श्री महा भैरवचण्डोग्रघोरकाली भट्टारिका तेरहवीं देवी ही हैं। यह मानना चाहिये। श्री पञ्च शतिक शास्त्र में कहा गया है—

'ड' कला भीषण है। रुद्ररूपिणी है। कुलकाली से निराकुला है। लक्ष्या-तीत है और लक्ष्य से निर्लक्ष्य तक व्याप्त है। ऐसी सिद्धिदात्री माँ ही सुकाली है।" यही बात श्रीतन्त्रराज भट्टारक भी उपस्थित करते हैं—'सृष्टि स्थिति, संहार, रक्त, सुकाली, यम, मृत्यु, भद्र, परमार्क, मार्त्तण्ड, कालाग्निरुद्र, महाकाल और महाभैरव यह १३ कालिकायें नामतः पृथक् पृथक् उल्लसित हैं।"

श्रीसार्धशतिकं तु समनन्तरमेव संवादितं, तदत्र क्रमनयसमानकक्ष्यत्वविवक्षायामपि कथमेतद्विरुद्धमभिहितं 'द्वादशैव देव्यः' इति ? अत्रोच्यते, इह—क्रमदर्शने सर्वसर्विकया अनाख्यचक्रे त्रयोदशैव देव्यः पूज्यत्वेनाभिमताः, इति तावन्नास्ति नियमः, यतः श्रीक्रमसद्भावभट्टारके अनाख्यचक्रे सप्तदश देव्यः पूज्यत्वेनोक्ता, यदुक्तं तत्र

'कालोत्थिता महादेव सानन्दा नन्दिनी शिवा।
चिद्घना युग्ममध्यस्था अक्षरा क्षरगोचरा॥
अकुला कलयेन्नित्या कालकाली निराकुला।
सा कला लीयते यस्यां सृष्टिकाली तु सा स्मृता॥'

इत्याद्युपक्रम्य

'क्रमत्रयाणां यच्चक्रं घोरघोरतरं महत्।
कालरूपं मरीच्याद्यं त्वाष्ट्रं कल्पान्तकान्तगम्॥
आचरेत्तु महाचारचातुर्येणैव तत्र च।
या कला घोरघोरोग्रा तस्याः सा तुर्यगा शिवा॥
महाभैरवघोरस्य चण्डरूपस्य सर्वतः।
ग्रसते या महाकाली द्व्यष्टका कालनाशिनी॥
सप्तादशी तु सा काली विद्धि सर्वार्थकारिणी।' इति।

अत एव च 'एतदाशयेन श्रीस्तोत्रकारस्य पूजाक्रमः, इति न ग्राह्यम्, यदाहुः

'श्रीक्रमसद्भावादिकशास्त्राशयतश्च पत्रिका अत्र।
श्रीस्तोत्रकारभास्करकुलधरपूर्वासु संततिषु॥' इति।

इस वर्णन में क्रम परम्परा का ही अनुसरण है। यहाँ त्रिकनय के विरुद्ध १२ की जगह १३ का कथन है। पर इसमें विरोध उपेक्ष्य और महत्त्वहीन है। वस्तुतः क्रम दर्शन में 'सब में सब' नियम नहीं है क्योंकि श्रीक्रमसद्भाव भट्टारक में तो १७ देवियाँ पूज्य मानी गयी हैं "कालोत्थिता सानन्दा नन्दिनी, शिवा, चिद्घना इत्यादि से लेकर सर्वार्थकारिणी सत्रहवीं देवी तक का वर्णन है। किन्तु यह सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं है। श्रीस्तोत्र का पूजा क्रम भी इस दृष्टिकोण से मान्य नहीं हो सकता। कहा है—"श्रीक्रम सद्भाव की परम्परा यहाँ है। उन शास्त्रों के आशय के अनुसार ही उसकी पत्रिका अर्थात् निर्धारित लेख श्रीस्तोत्र भास्कर और कुलधर के पहले की परम्परा में मान्य है।" इस

अस्य हि अनाख्यचक्रे त्रयोदश देव्यः पूज्यतया अभिमता द्वादश वा, यदधिकारेण अयं विचारः प्रकान्तः, एवमिह श्रीसुकालीं विना द्वादशैव देव्यः, पूज्यतया यद्युक्ताः, तत्को दोषः, यदागमः

'यत्सृष्टिस्थितिसंहाररक्तैश्च यममृत्युभिः ।
रुद्रमार्तण्डपरमादित्यकालाग्निरुद्रकैः ।
पदैश्च समहाकालैः कालीशब्दान्तयोजितैः ।
महाभैरवचण्डोग्रघोरकालीपदं नयेत् ॥' इति ।

एवं क्रमकेलावप्येतद्गर्भीकारेण यदनेन ग्रन्थकृता व्याख्यातं तत्रापि अन्यथा न किंचित्संभाव्यं, यतोऽत्रास्य 'श्रीगोविन्दराज-श्रीभानुकादिक्रमेण' बहुशाखमेवं गुरूपदेशः समस्तीति, योऽद्यापि महात्मनां महागुरूणां हृदयपथे शतशः परिपोस्फुरीति, यदुक्तं तत्रैवानेन-यथैकः श्रीमान् वीरवरः सुगृहीतनामधेयो 'गोविन्द-राजाभिधानः' 'श्रीभानुकाभिधानो' द्वितीयः श्रीमान् 'एरकसमाख्यः' तृतीयः सममेवोपदेशं पीठेश्वरीभ्य उत्तरपीठलब्धोपदेशात् श्रीशिवानन्दनाथाल्लब्धानु-ग्रहाभ्यः श्रीकेयूरवती-श्रीमदनिका-श्रीकल्याणिकाभ्यः प्राप्नुवन्तः । तत्राद्यः प्राप्तोपदेश एवैवं मनस्यकार्षीत्—एतावत्यधिगते किमिदानीं कृत्यमस्तीति, इत्थं च निष्ठितमना यावज्जीवमुपनतभोगातिवाहनमात्रव्यापार एतद्विज्ञानोप-देशपात्रशिष्टोपदेशप्रवणः शरीरान्तं प्रत्यैक्षिष्ट, स चेदं रहस्यं 'श्रीसोमानन्दाभि-धानाय' गुरवे संचारयां बभूव । द्वितीयोऽपि एवमेवास्त, तस्यैव चैषा

दर्शन की उपासना परम्परा में केवल १३ या मात्र १२ देवियाँ ही पूज्य रूप से मान्य हैं। इस क्रम में सुकाली पृथक् मान्य नहीं हैं। आगम कहता है— "सृष्टिकाली से लेकर महाभैरव चण्डोग्रघोरकाली तक केवल बारह देवियाँ ही उपास्य है।"

श्रीक्रम केलि में यही परिपाटी स्वीकृत है अन्य नहीं। वहाँ श्रीगोविन्दराज और श्री भानुक आदि गुरुजनों के उपदेश की अनन्त शाखायें हैं, जो आज भी विभिन्न रूपों में साधकों के भाव जगत् में निरन्तर स्फुरित होती रहती हैं। यह भी उल्लेख है कि श्री गोविन्दराज, श्री भानुक और श्री एरक इन तीनों ने उत्तर-पीठ के सिद्धयोगी श्री शिवानन्द नाथ द्वारा अनुगृहीत श्री केयूरवती, श्रीमदनिका श्री कल्याणिका नामक शिष्याओं से यह क्रम प्राप्त किया। इनमें आजीवन विरक्त श्रीगोविन्दराज ने श्री सोमानन्द में यह विद्या संचरित की। श्री भानुक की

'श्रीमदुज्जटोद्भट्टादिनानागुरुपरिपाटीसंततिः, यत्प्रसादासादितमहिमभिरस्माभिरेतत् प्रदर्शितम् । 'श्रीमानेरकस्तु' सिद्धयै प्रायतत, यावत्सिद्धः सत् एवं मनसा समर्थयते स्म—किं भोगैः, यत्—अयं महान् क्लेशो मयानुभूतः कथमहं सब्रह्मचारिवद्यावज्जीवं प्रपन्नलोकोद्धरणमात्रपर एव नाभवम्, यतः

'श्रीमत्सदाशिवपदेऽपि महोग्रकाली
भीमोत्कटभ्रुकुटिरेष्यति भङ्गभूमिः ॥
इत्याकलय्य परमां स्थितिमेत्य काल-
संकर्षिणीं भगवतीं हठतोऽधितिष्ठेत् ॥'

तदिदानीमपि निजभावगतरहस्योपदेशं स्तोत्रमुखेनापि तावत्प्रसारयंल्लोकाननुगृह्णीयाम् इति, अतश्चास्य एवं गुरुक्रममजानानैरद्यतनैः

श्रीभूतिराजनामाप्याचार्यश्चक्रभानुशिष्योऽन्यः ।
अभिनवगुप्तस्य गुरोर्यस्य हि कालीनये गुरुता ॥'

इत्यादि यदुक्तं तत् स्वोत्प्रेक्षितमेव-इत्युपेक्ष्यम् । नहि श्रीचक्रभानुना प्रायः कस्यचिदपि एवमुपदिष्टं—तन्मूलतयैव इदानीमस्योपदेशस्य शतशो दर्शनात्, तत्रापि चात्र श्रीभूतिराजस्यान्यथा पूजाक्रम इति

'देवीपञ्चशताशयमाश्रित्य च भूतिराजपूर्वाणाम् ।'

इत्यभिदधद्भिर्भवद्भिरेवोक्तम्, अथात्र 'द्वादशैव देव्यः पूज्यतया स्थिताः' इत्यभिप्रेतं भवतस्तर्हि श्रीपञ्चशतिकार्थमपि न जानीषे-तद्गच्छ, स्वगुरुं पृच्छ, किमस्मदाविष्कृतेन, श्रीदेवीपञ्चशतिकेऽपि अस्य श्रीसोमोमानन्दभट्टपादेभ्यः प्रभृति त्रिकदर्शनवदेव गुरवः इति—न तत्राप्यस्य श्रीभूतिराजो गुरुत्वेन स्थितः, न च 'असावस्य न गुरुः' यद्वक्ष्यति

परम्परा में श्रीमान् उज्जट और उद्भट आदि गुरुजनों की परम्परा प्रचलित हुई । इसी परम्परा का प्रसाद जयरथ को भी प्राप्त हुआ । श्रीमान् एरक ने भी सिद्धि के लिये बड़ा प्रयत्न किया । उन्होंने तपस्या के क्लेश और अन्य लोकोपकारपरायण सहधर्मियों की तुलना में अपनी कमी अनुभव की और काल संकर्षिणी स्तोत्र की रचना की । उनके गुरुक्रम से अनभिज्ञ लोगों ने "श्री चक्रभानु शिष्य श्री भूतिराज को श्रीमदभिनवगुप्त का गुरु बताया" यह नितान्त उपेक्षणीय कथन है ।

'अथोच्यते ब्रह्मविद्या सद्यः प्रत्ययदायिनी ।
शिवः श्रीभूतिराजो यामस्मभ्यं प्रत्यपादयत् ॥' इति ।
'एतद्विद्यात्रयं श्रीमद्भूतिराजो न्यरूपयत् ।
यः साक्षादभजच्छ्रीमाञ्छ्रीकण्ठो मानुषीं तनुम् ॥' इति च,

किं त्वत्र नेति निश्चयः, किं च श्रीमदवतारकनाथेन श्रीककारदेवीवत् श्रीमद-निकाश्रीकल्याणिके चानुगृहीते, इत्यपि अतोऽवसितम्, तदेष

'क्रमकुलचतुष्टयाश्रयभेदाभेदोपदेशतो नाथः ।
सप्तदशैव शिष्यानित्थं चक्रे सवंशनिर्वंशान् ॥' इति ।

नियमो न न्याय्यः–शिष्यद्वयस्यास्यापरिगणनात् अन्यस्यापि कस्यचिच्छिष्यस्य संभाव्यमानत्वात्, एवं

'श्रीकेयूरवतीतः प्रभृति श्रीचक्रभानुशिष्यान्तम् ।
संततयोऽतिनयस्य प्रथिता इह षोडशैवेत्थम् ॥'

इत्यादावपि ज्ञेयम्, तथाहि—अत्र श्रीककारदेव्यास्तस्याः

'प्रकृतमहानयशिष्याः प्रथितास्त्रयः सवंशास्तु ।' इति,

त्रय एव शिष्याः इति न वाच्यं—श्रीगोविन्दराजश्रीभानुकयोरपि एतच्छिष्यत्वात् नवेरकनाथश्चास्या अपि शिष्यः यदाहुः

श्री भूतिराज का पूजा क्रम भी भिन्न है। श्री देवी पञ्चशतिक आदि किसी ग्रन्थ में इनके श्रीमदभिनव गुप्त के गुरु होने की चर्चा नहीं है। "सद्यः प्रत्यय प्रदान करने वाली ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक भूतिराज का उल्लेख है।" "श्रीकण्ठ का मनुजावतार भी उन्हें माना गया है।" इन उक्तियों के आधार पर 'वे गुरु नहीं हैं', निश्चयतः नहीं कहा जा सकता। "श्रीमदवतारक नाथ ने ककार देवी की तरह श्रीमदनिका और श्रीकल्याणिका को अनुगृहीत कर दीक्षा दी और अन्य सत्रह शिष्यों को भी पितृवंश परम्परा से हटाकर गुरुवंश में लिया।" यह भी प्रामाणिक कथन नहीं है। "श्री केयूरवती से श्री चक्रभानु के शिष्यों तक १६ शिष्यों की बात भी कही गयी है।" फिर "तीन शिष्यों का भी उल्लेख है।" श्री केयूरवती ही ककार देवी है। उसके नवेरकनाथ नामक समस्तभावविभवातीत दिव्य शिष्य का भी उल्लेख है।

'यस्याः सदा खेचरिदृष्टिरोधात्सार्वात्मिकी भाति निरन्तरोक्ता ।
तामस्मि केयूरवतीं प्रसिद्धां नमामि देवीमनिकेतसंस्थाम् ।।'

'वन्दे ध्वस्तसमस्तभावविभवं श्रीमन्नवेराभिधं,
तं यो यत्किरणौघपातविलसत्स्पर्शोदयो जृम्भते ।' इति,

श्रीह्रस्वनाथस्यापि

'श्रीवीरनाथपादैः पञ्च च देवीनये कृताः शिष्याः ।' इति,

न पञ्चैव शिष्याः—श्रीभोजराजनाम्नः षष्ठस्यापि संभवात्, यदुक्तं स्वपारम्पर्यं व्याचक्षाणेन श्रीसोमराजेन

'श्रीमद्वामनभानुः क्रमकमलविकासने चतुरः ।
जयति षडध्वप्रोज्झितपरनभसि निबद्धसंतानः ।।'
'येन ध्वस्तः समस्तो गहनतरमहामोहघोरान्धकारो,
दत्तः सम्यक्प्रकाशः क्रमकमलवनोल्लासविश्रान्तिरूपः ।
प्राप्ता येनैव संविन्निरुपमसरसास्वादसंयोगभोगा,
वन्दे श्रीभोजराजं गुरुवरमहितं पूज्यमर्हद्भिरन्तः ।।' इति ।

एवमत्र अनेकप्रकारमासमञ्जस्यं संभवदपि अनङ्गत्वान्न प्रदर्शितम् । ननु एवं गुरुक्रमेऽप्यस्य कथंकारमिदं संगच्छतां, यदत्रद्वादशैव एता देव्य इति, यतः श्रीमदवतारकनाथस्यापि अत्र त्रयोदशैव विवक्षिताः यः श्रीगोविन्दराजादीनामपि परमगुरुत्वेन स्थितः यदाह

'एकं स्वरूपं प्रसरस्थितिविलयभेदतस्त्रिविधम् ।
प्रत्येकमुदयसंस्थितिलयविश्रमतश्चतुर्विधं तदपि ।।

प्रसङ्गतः उद्धृत श्लोक में केयूरवती को अनिकेत संस्था कहकर उसकी स्तुति की गयी है। श्रीह्रस्व नाथ के पाँच ही शिष्य नहीं थे। यद्यपि उद्धृत श्लोक में उसकी चर्चा है। श्री भोजराज छठें शिष्य हो सकते हैं। श्री सोमराज ने परम्परोक्ति में कहा है कि श्री भोजराज ही मेरे क्रमकमलरवि प्रणम्य गुरुवर हैं।''

इस प्रकार परम्परा की चर्चा से भी काली देवियों की संख्या के विषय में कोई निर्णय मन्तव्य नहीं निकल सका। श्री गोविन्दराज आदि के परम गुरु

इति वसुपञ्चकसंख्यं विधाय सहजस्वरूपमात्मीयम् ।
विश्वविवर्तावर्तप्रवर्तकं जयति ते रूपम् ॥' इति ।

सत्यमेतत्—को नामात्र विप्रतिपद्यते, किं तु 'अस्य द्वादशापि अभिप्रेता' इत्यभिदध्मः, यदधिकारेण श्रीगोविन्दराजादीनामुपदेशः प्रवृत्तो योऽस्मत्पर्यन्तमपि प्राप्तः, यदाह

'कालस्य कालि देहं विभज्य मुनिपञ्चसंख्यया भिन्नम् ।
स्वस्मिन्विराजमानं तद्रूपं कुर्वती जयसि ॥' इति,

अयमत्रार्थः—त्वमेवमुक्तस्वरूपे भगवति कालि ! परप्रकाशकस्वभावस्वात्माविभेदिनो

'भैरवरूपी कालः सृजति जगत्कारणादि कीटान्तम् ।'

इत्याद्युक्त्या विश्वकलनाहेतोः कालस्य रूपम्, एवं—उक्तयुक्त्या, मुनिपञ्चसंख्यया द्वादशधा विभज्य—बहिरेवं समुल्लास्य, पुनरपि अतिरिक्तमेव तद्रूपं स्वस्मिन् प्रकाशैकघने रूपे, विराजमानं कुर्वती—दर्पणप्रतिबिम्बवदनतिरिक्ततयैव अवभासयन्ती, जयसि—अतिदुर्घटकारिणैकेनैव अनाख्येन रूपेण सर्वकालं परिस्फुरसीति । नन्वेवमेतत्

'एकं स्वरूपरूपम्.............................. ।'

इत्यादिना विरुद्ध्येत्—यत्कथमेकत्रैव परस्याः संविदो द्वादशधोदयमभिधाय त्रयोदशधापि अभिदध्यादिति, तदत्र कर्तृतयावस्थिताया भगवत्या एव त्रयोदशरूपत्वमभिधातव्यं येनानयोरेकवाक्यत्वं स्यात् ? नैतत्—यदेवमभिधित्सितमपि उत्तरवाक्ये चतुर्दशं रूपमापतेत्, यदत्राप्यस्त्येव भगवत्याः कर्तृतयावस्थानमिति, वस्तुतस्त्वेतत् उभयत्रापि विकल्पस्यैव दौरात्म्यं यत् 'राहोः शिरः' इतिवदभिन्न-

---

श्री अवतारक नाथ को १३ देवियाँ ही मान्य हैं । श्री जयरथ दृष्टान्त के के माध्यम से यह सिद्ध कर रहे हैं कि इन्हें काली के द्वादश प्रकार भी मान्य हैं—"हे श्री कालिके काल के शरीर को द्वादशधा उल्लसित कर स्वात्माधिष्ठान में अधिष्ठित कर तुम विराजमान हो । तुम्हारी जय हो ।" "काल तो भैरव ही जो आकीट सृष्टि करता है ।" अर्थात् 'अनाख्य रूप से माँ काली ही सर्वत्र व्याप्त है' इस उक्ति से (मुनिपञ्च) बारह काली का सिद्धान्त ही यहाँ भी स्वीकृत है ।

मपि वस्तु भेदेनामृशतीति, तस्मात् द्वादशधात्वमेवात्र वक्तुमभिप्रेतं सिद्धपदानाम्—इत्यवगन्तव्यम्, विरोधस्तु उत्थानोपहत एव, यदत्र—'तेन तेन क्रमेण त्वमेव परिस्फुरसि' इत्येवं व्याप्तिपरमेतदभिधानमिति, यथा च

'सदसद्विभेदसूतेर्दलनपरा कापि सहजसंवित्तिः ।
उदिता त्वमेव भगवति जयसि जयाद्येन रूपेण ॥'

इत्यादिना श्रीहस्तनयाभ्युदितेन जयाद्येनापि रूपेण त्वमेव परिस्फुरिता—इत्युक्तम्, अत्र पुनराद्यवर्णकलाचतुष्टयात्मना जयाद्येन रूपेणोदिता त्वं जयसि, इति—स्वक्रमोचितं व्याख्यानं युक्तम् यदागमः

'अथ ब्रह्म परं शुद्धमादिवर्णत्वमागतम् ।'

इत्यद्युपक्रम्य

'अम्बिकाधस्ततस्तिस्रो युगपच्छक्तयः पुनः ।
ज्येष्ठा रौद्री तथा वामा सुप्तनागेन्द्रसंनिभा ॥
रौद्री शृङ्गाटकाकारा ऋजुरेखा तथा परा ।
इत्येताः कारणं ज्ञेयाः सर्वमाभ्यः प्रवर्तते ॥
परापरपदप्राप्तौ शान्त्याद्याः परिकीर्तिताः ।
शान्तिर्विद्या प्रतिष्ठा च निवृत्तिश्चापरा स्मृता ॥

इस द्वादशधा और त्रयोदशधा उल्लास पर अपना मत व्यक्त करते हुए जयरथ कह रहे हैं कि 'राहु के शिर' के प्रयोग में जैसे अभिन्न वस्तु भिन्न प्रतीत होती है और अनतिरिक्त रहते हुए भी अतिरिक्त का आमर्श होने लगता है, उसी तरह वस्तुतः उल्लास १२ ही है और एक माँ का अतिरिक्त अस्तित्व भी विमर्श में आता रहता है। "एक सहज संवित्ति साधक के हृदय में उल्लसित है। अतः उसके सद् असद् भेद विगलित हो जाते हैं। साधक कहता है—हे माँ भगवती यह तुम्हीं जया रूप आद्या शक्ति रूप में उदित हो। तुम्हारी जयनशीलता का मैं अनुभव करता हूँ।" इस उक्ति में श्रीहस्तनयानुसार उसे 'जयाद्या' (अ-इ-उ-ऋ ४ सूर्य स्वर) कहा गया है। आगम कहता है—"शुद्ध परं ब्रह्म ही आदिवर्ण रूप में व्यक्त है।" यहाँ से लेकर "अम्बिका के नीचे तीन शक्तियाँ एक साथ ही रहती है। वे हैं—१-ज्येष्ठा, २-रौद्री और ३-वामा सोये हुए सिंह के समान वामा शक्ति उल्लसित होती है। रौद्री शृङ्गाटक के सदृश होती है। ज्येष्ठा सरल रेखा वाली है।

व्योमपञ्चकमाविष्टाः　परमात्मपदास्पदाः ।
ता　एवापररूपेण　जयाद्या　गुह्यशक्तयः ॥' इति,

अयं च प्रथममेताभिरेव कामरूपे चरुकप्रधानेनानुगृहीतः इति गुरवः, जयनशीला त्वम्, आद्येन—पूर्वकोटि भाविना रूपेणोदिता जयसि इति तु पापात्पापीयः, एव

'ऋतुमुनिसंख्यं रूपं विभज्य पञ्चप्रकारमेकंकम् ।
दिव्यौघमुद्गिरन्ती जयति जगत्तारिणी जननी ॥'

इत्यादावपि ज्ञेयम् । तदेवम् एवं-विधस्य गुरुक्रमस्य भावात् तात्त्विक एवायमस्योपदेशः इति स्थितम्, तत्रापि च मूलभूतं शास्त्रं स्वविमर्शात्मा युक्तिश्च, इत्युभयमपि समनन्तरमेव प्रदर्शितम्, इत्येवं-प्रत्ययात्म अत्र परं निर्बाधं प्रमाणमुज्जृम्भते, ननु एतदस्तु, किं तु श्रीक्रमस्तोत्रमेवं व्याख्यां न सहते, यत्—तत्र संविदस्त्रयोदशधैवोदयो विवक्षितः, यतस्तत्र एकैकां देवीं प्रति एकैकेन श्लोकेन प्रक्रान्तायां स्तुतौ श्रीयमकालीभट्टारिकायाः श्लोकयुगलेन स्तुतौ क इवाशयः, तत् स्वकालीमित्यपास्य भवानीमित्यपपाठ एव, इत्यत्र विवरण-

---

ये सभी कारण रूपा हैं। परापर पद की प्राप्ति के लिए शान्ता, शान्त्यतीता विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति कलायें ३६ तत्त्वों से सम्बन्धित हैं । निवृत्ति में पृथ्वी, प्रतिष्ठा में जल से प्रकृति तक २३ तत्त्व, विद्या में पुरुष से माया तक ७ तत्त्व, शान्ति में शुद्ध विद्या से सदाशिव तक तीन तत्त्व और शान्त्यतीता, में शक्ति स्वभाव शिव तत्त्व निहित है। ये कलायें अपने व्योम परिवेश में ब्रह्माण्ड को आवृत कर विराजमान हैं। यह अपर रूप से जयाद्य स्वर रूप गुह्य शक्तियों के रूप में प्रतिष्ठित हैं। जया से जयनशील और आद्या से आदि रूप से उदित अर्थ जयरथ को पसन्द नहीं। इसी तरह ऋतु मुनि व्याख्यान भी उन्हें स्वीकृत नहीं। अवतारकनाथ कामरूप में इन शक्तियों से ही अनुगृहीत हैं—यह गुरुजनों की मान्यता है।

इस दर्शन का मूल भूत शास्त्र 'स्वविमर्शा'त्मक है किन्तु श्रीक्रम नय में उल्लास के १३ रूप हैं। श्रीक्रम स्तोत्र में तो यमकाली का विशेष वर्णन किया गया है। श्री रुद्र काली भट्टारिका की स्तुति भी दो श्लोकों से करके उनके प्रति श्रद्धा व्यक्त की गयी है। सबसे बड़ी और निष्कर्ष की बात यह है कि जो

कारान्तरसंमत एव पाठ इति ? अत्रोच्यते—इह तावदेकैकां देवीं प्रति एकैकेन श्लोकेन स्तुतिः प्रक्रान्ता—इति केनोक्तं यत् श्रीरुद्रकालाग्निरुद्रकालीभट्टारिकाया अपि

'या सा जगद्ध्वंसयते समग्रं मृत्योर्वपुर्ग्रासयतीति विष्वक् ।
धामाग्निरूपीयसहस्रदीप्तां तां नौमि कालानलरुद्रकालीम् ॥' इति

द्वितीयेन श्लोकेन स्तुतिः समस्ति, इति श्रीयमकालीभट्टारिकायाः श्लोकयुगलेन स्तुतौ क इवायं संरम्भ इति, यथायमपि भवत्कल्पित एव श्लोकः, इति चेत् नैतत्–श्रीह्रस्वनाथेनापि स्वलिपिविवरणेऽस्य श्लोकस्य दृष्टत्वात्, सर्वेषामेव च विवरणकृतामत्र प्रतिपदं पाठानां श्लोकानां व्यत्यासो दृश्यते, इत्यस्मद्दृष्ट एव पाठे क इवायं प्रद्वेषः, नन्वेवं तर्हि 'अयं पाठः साधुरयमसाधुः' इति विचारः किं नाश्रीयते यद्य एव समूलः पाठः स एव साधुरितरस्तु इतरथेति, मूलं चात्रोभयत्रापि, प्रदर्शितेन क्रमेण समानमुत्पश्यामः–इत्येकतरपरिग्रहे यथास्वं गुरूपदेश एव निबन्धनम्, यथोक्तमस्मत्परमगुरुभिः

'यो यस्य गुर्वादेशः स तस्य मोचकः ।' इति

तस्माददृष्टगुरुभिरपरिशीलितशास्त्रसंप्रदायैः स्वविमर्शशून्यैर्देवानांप्रियैर्यत् किंचिदत्रोच्यते तदुपेक्ष्यमेव, इत्यलमतिरहस्यप्रकटनमहासाहसेन ।

किंचात्र कलनमुच्यते ? इत्याशङ्क्याह

क्षेपो ज्ञानं च संख्यानं गतिर्नाद इति क्रमात् ॥ १७३ ॥
स्वात्मनो भेदनं क्षेपो भेदितस्याविकल्पनम् ।
ज्ञानं विकल्पः संख्यानमन्यतो व्यतिभेदनात् ॥ १७४ ॥
गतिः स्वरूपारोहित्वं प्रतिबिम्बवदेव यत् ।
नादः स्वात्मपरामर्शशेषता तद्विलोपनात् ॥ १७५ ॥

जिसका गुरु है, वह जो कुछ भी उपदेश देता है, वही परम्परा रूप से प्रसिद्ध हो जाता है। श्री ह्रस्व नाथ आदि गुरुजनों ने भी यही माना है। यह ध्यान देने का विषय है कि स्वात्मविमर्श शून्य कोई विचार नितान्त उपेक्ष्य और अमान्य होता है। अतः विवाद में पड़े विना रहस्य की रक्षा अनिवार्य है।

देवियों के द्वादशविध कलन के प्रसङ्ग में कलन का स्वरूप वर्णन कर रहे हैं—

'कल किल बिल क्षेपे' 'कल गतौ' 'कल संख्याने' 'कल शब्दे' इति धातुचतुष्टयस्य पञ्चधायमर्थो–यद्गतिर्ज्ञाने प्राप्तौ च वर्तते इति, एतदेव क्रमेण व्याचष्टे-क्रमादित्यादिना, भेदनमिति—बहिरुल्लासनम्, अविकल्पनमिति–स्वात्माभेदेन परामर्शः, भेदितस्यैव प्रमातृप्रमेयादेरर्थस्य परस्परापोहनात् 'इदमिदं नानिदम्, इति प्रतिनियततयावस्थापनात् संख्यानं विकल्पः, गतिश्चात्र गत्युपसर्जना प्राप्तिस्तेन भेदितोऽर्थः–संविल्लक्षणं स्वरूपमारोहति प्राप्नोतीति स्वरूपारोही, तस्य भावस्तत्त्वम्, न चैतत् कट इव देवदत्तस्येत्युक्तं—प्रतिबिम्बवत् इति, प्रतिबिम्बस्य हि तदव्यतिरिक्तत्वेऽपि तद्व्यतिरिक्ततयेवावभासो भवेदिति भावः, स्वात्मपरामर्शशेषतेति नदनमात्ररूपत्वात्, तद्विलोपनादिति–तेषामविकल्पज्ञानादीनां विलोपनात्, अपहस्तनादित्यर्थः, एतद्धि भिन्नस्यैव भवेदिति भावः ॥ १७३-१७५ ॥

एतदेव प्रकृते विश्रमयति

इति पञ्चविधामेनां कलनां कुर्वती परा ।
देवी काली तथा कालकर्षिणी चेति कथ्यते ॥ १७६ ॥

परादेव्या एवैतदर्थानुगमादेवं व्यपदेशः, इत्याशयः ॥ १७६ ॥

कल विक्षेप, गति, संख्यान, शब्द इनअर्थों में चार धातुएँ हैं। गति से ज्ञान और प्राप्ति दो अर्थों के कारण ५ अर्थ इन चार धातुओं के होते हैं। स्वात्म का बाह्य उल्लासन ही क्षेप है। प्रमातृ प्रमेय आदि का स्वात्म से अभिन्न परामर्श ही ज्ञान है। प्रति नियत स्थिति का आकलन ही संख्यान है। संवित्स्वरूप में आरोहण ही गति है। स्वात्म परामर्श शेषता ही नाद है। इसमें अविकल्पकज्ञान आदि का अपहस्तन हो जाता है। यह सब भिन्न का ही आकलन है। आकलन की यह पञ्चरूपता कल धात्वर्थ पर निर्भर है ॥ १७३–१७५ ॥

इसी तथ्य को प्रकृत प्रसङ्ग से योजित कर रहे हैं—

इस प्रकार पाँच प्रकार का आकलन करने वाली परा देवी ही काली अथवा कालकर्षिणी कही जाती है ॥ १७६ ॥

न केवलमस्या एते एव व्यपदेशा यावदन्येऽपि, इत्याह

मातृसद्भावसंज्ञास्यास्तेनोक्ता यत्प्रमातृषु ।
एतावदन्तसंवित्तौ प्रमातृत्वं स्फुटीभवेत् ।। १७७ ।।
वामेश्वरीति शब्देन प्रोक्ता श्रीनिशिसंचरे ।

तेनास्याः काल्यादिशब्दव्यपदेश्यायाः पराभट्टारिकायाः 'मातृसद्भाव' इति संज्ञोक्ता, यत् एतावदन्तं—द्वादशदेवीपर्यन्तं यथायथमुद्रेकमासादयन्त्यां संवित्तौ, सकलादिषु प्रमातृषु प्रमितिक्रियाकर्तृत्वलक्षणं प्रमातृत्वं स्फुटीभवेत्—स्वतन्त्रस्वप्रकाशपरसंविदेकरूपता स्यात्, तन्मातॄणां सद्भाव इति, यदुक्तं

'सद्भावः परमो ह्येष मातॄणां परिपठ्यते ।' इति,

श्रीनिशिसंचरे इति—श्रीनिशाटने, यदुक्तं तत्र

'एषा तु कौलिकी विद्या सर्वसिद्धिप्रदायिका ।
सकाशाद्देवदेवस्य निर्याता शक्तिवर्त्मनि ।।
वामेश्वर्यवतारे तु प्रकाशत्वमुपागता ।' इति ।।१७७ ।।

ननु सृष्ट्यादिरूपोपग्रहेणावभासभेदात् क्रमिकतया वैचित्र्यातिशयादस्याः कथमेकत्वं तात्त्विकं भवेत्, येन 'श्रीकालसंकर्षिणीति, श्रीमातृसद्भाव,' इत्याद्येकतर एव परामर्शः स्यादिति कथमेतदुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

अन्य संज्ञाओं का उल्लेख कर रहे हैं—

इसे मातृ सद्भाव भी कहते हैं। इन १२ देवियों में तदनुकूल भावोद्रेक से उद्रिक्त संवित्ति में सकल आदि प्रमाताओं में जो प्रमितिरूप क्रिया तथा तज्जनित परिमित कर्त्तृत्व सम्पन्न प्रमातृ भाव स्फुट होता है, उसमें स्वातन्त्र्य तथा स्वप्रकाशता के संस्कार परिलक्षित होते हैं—वही मातृ सद्भाव है। यह श्रीनिशाचरतन्त्र का मत है। श्री निशाटन तन्त्र में "इसे कौलिकी विद्या कहते हैं। यह सभी सिद्धियों की साधिका देवी है। शिव से शक्ति-वर्त्म में इसका उल्लास होता है। यही वामेश्वरी शक्ति है ॥ १७७ ॥

इनके विभिन्न अवभास और वैचित्र्य में भेद प्रभेद स्वाभाविक हैं। यहाँ एक शब्द से एकात्मक परामर्श होता है। इस अन्तर को स्पष्ट कर रहे हैं—

इत्थं द्वादशधा संवित्तिष्ठन्ती विश्वमातृषु ॥ १७८ ॥
एकैवेति न कोऽप्यस्याः क्रमस्य नियमः क्वचित् ।
क्रमाभावान्न युगपत्तदभावात्क्रमोऽपि न ॥ १७९ ॥
क्रमाक्रमकथातीतं संवित्तत्त्वं सुनिर्मलम् ।

इत्थम्—उक्तेन प्रकारेण, परैव संविद्देवी, विश्वमातृष्विति बहुवचनादाद्यर्थो लभ्यते, इति प्रमाणादेरपि आक्षेपात् प्रमातृप्रमाणादिविषयतया द्वादशधात्वेन अवभासमानापि, एकैव–अद्वितीयेत्यर्थः–विश्वात्मत्वेन परिस्फुरन्त्या अप्यस्या न स्वस्वरूपात्प्रच्याव इत्याशयः, अत एवास्या न नियतः कश्चित् क्रमः, येन–द्वादशधात्वेनैव परिस्फुरेदिति स्यात्, परस्याः संविदो हि सृष्ट्याद्युपाधिसंभेदेन परिस्फुरणेऽपि

'सकृद्विभातोऽयमात्मा……………………।'

इत्यादिनीत्या स्वस्वरूपावभासाविच्छेदात् विद्युदादिवदन्तरान्तरा प्रकाशनायोगात् स्वात्मनि कालावच्छेद एव नास्ति इति—को नाम तदात्मभूतस्य क्रमस्याप्यवकाशः, अत एव च नास्या यौगपद्यं, तद्धि स्पर्धाबन्धेन परिस्फुरतोरयःशलाकाकल्पयोर्द्वयोः संभवति, न चैतदपेक्षया अन्यः कश्चित् स्पर्धावानस्ति, इति कस्य नाम युगपद्भावः, अत एवास्याः क्रमाक्रमाभ्यामपि न योगः, तदाहक्रमाभावादित्यादि, ननु इहावश्यं क्रमाक्रमाभ्यां पदार्थानां योगः संभवेदिति कथमुक्तं 'संवित्तत्त्वं तदतीतम्'? इत्याह–सुनिर्मलमिति, अनिर्मल एव हि शून्यादिर्मायाप्रमाता जन्मादिक्रियावभासभेदादवस्थाभेदावभासक्रमेण कालावच्छेदवान् स्वात्मानं पूर्वावस्थाविनाशावभासापेक्षया अतीतोचितेनावभासेन पश्यन् तदतीतत्वानुरोधेन वर्तमानतयावभासयति, वर्तमानावभासापेक्षया च परिणामावभासादिरूपं भविष्यदवस्थान्तरं व्यवस्थापयति, स्वसत्ताकालभाविनं

इस प्रकार वह परा संवित् प्रमाता प्रमाण प्रमेय आदि रूपों में अवभासित होती हुई भी एक ही है। विश्वरूप से परिस्फुरित होने पर भी इसका अपने रूप में कोई विकार नहीं आता। इसलिये इसमें कोई निश्चित क्रम नहीं है। क्रम के अभाव से इसमें कोई यौगपद्य भी नहीं है। न क्रम न अक्रम। यह क्रम और अक्रम की बिषयता से भी अतीत है। ऐसा है यह सुनिर्मल संवित्तत्त्व।

च नीलाद्यर्थविशेषं स्वापेक्षया युगपद्भावेनाभिमन्यते, इति तस्यैव क्रमयौगपद्याव-भासः, यदुक्तम्

'सर्वत्राभासभेदो हि भवेत्कालक्रमाकरः।
विच्छिन्नभासः शून्यादेर्मातुर्मातस्य नो सकृत् ॥'

इति ॥ १७८-१७९ ॥

ननु यद्येवं तदस्याः परस्याः संविदः कथं नामावाहनविसर्जनाद्यात्मक-त्वात् क्रमानुप्राणिता पूजा भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

तदस्याः संविदो देव्या यत्र क्वापि प्रवर्तनम् ॥ १८० ॥
तत्र तादात्म्ययोगेन पूजा पूर्णैव वर्तते ।

यत्र क्वचन संविदवष्टम्भेनावस्थानं नाम मुख्या पूजा, न पुनरावाहना-दिरूपेति तात्पर्यार्थः, यथोक्तम्

'यस्मिन्यस्मिंश्चक्रवरे तत्स्पर्शाह्लादनिर्वृतिः ।
'तदवष्टम्भयोगो यः स हि पूजाविधिः स्मृतः ॥' इति ॥१८०॥

ननु 'अमन्त्रका तावत्पूजा न स्यात्' इति सर्वत्रैवोक्तं, मन्त्राश्च यदि संविदोऽतिरिक्ताः तत् 'संविदेकात्म्येनावस्थानं पूजा' इत्युक्तं हीयेत, अनतिरेके

कहा गया है कि "भेद का आभास ही क्रम का सूचक है। यह शून्य प्रमाताओं में होता है। शुद्ध स्वात्म प्रकाश के अवभासन के उपरान्त फिर कोई अन्यथा विमर्श नहीं रह जाता ॥ १७८–१७९ ॥

यदि ऐसी बात है तो परा संविद् के आवाहन–विसर्जनात्मक पूजन का क्या रहस्य है ? यही स्पष्ट कर रहे हैं—

इस परा संविद् की ओर प्रवृत्ति से साधक के हृदयोल्लास के अनुसार शक्ति माँ संविद् का प्रवर्त्तन अनुभूति का विषय है। उस स्तर पर यदि तादात्म्य हुआ तो समझना चाहिये पूजा पूर्ण है और यही मुख्य पूजा है। आवाहन आदि मुख्य नही हैं। कहा गया है— जिस जिस चक्रमें जैसे जैसे उसका आवेशात्मक स्पर्श या आनन्दानुभव होते हैं—वहाँ वहाँ उसी रूप में अवस्थिति प्राप्त कर लेना ही मुख्य पूजा विधि है।" यह आवाहन विसर्जन आदि सामान्य जनों के लिये उपकारक हैं ॥ १८० ॥

च तेषां पृथगुपदेश एव न कार्यः? इत्याशङ्कागर्भीकारेण प्राप्तावसरं संविच्चक्रोदयानुस्यूतत्वेन अनुजोद्देशोद्दिष्टं मन्त्रवीर्यं प्रकाशयितुमाह

परामर्शस्वभावत्वादेतस्या यः स्वयं ध्वनिः ॥ १८१ ॥
सदोदितः स एवोक्तः परमं हृदयं महत् ।

यः खलु परावाग्रूपः स्वरसोदितो ध्वनिः–अहंपरामर्शात्मा नादः

'नास्योच्चारयिता कश्चित्प्रतिहन्ता न विद्यते ।
स्वयमुच्चरते देवः प्राणिनामुरसि स्थितः ॥'

इत्याद्युक्त्या, स्वयम्—अनन्यापेक्षत्वेन, अत एव सदा—नित्याविरतेन रूपेण, उदितः—उच्चरन्नास्ते, स एवैतस्याः परस्याः संविदः, परमं—सारभूतं,महत्—सर्वत्र सर्वदा चाव्यभिचरितस्वरूपत्वाद्व्यापकं, हृदयं—तथ्यं रूपं, सर्वशास्त्रेषूक्तं, यस्मादैश्वर्यात्मा अहंपरामर्श एवास्याः स्वभावो, यन्माहात्म्याद्विश्वात्मना इयं परिस्फुरेत्, यदाहुः

'चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता ।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ॥

विधि के अनुसार अमन्त्रक पूजा निषिद्ध है। मन्त्र यदि संविद् से अतिरिक्त, हैं, तो 'संविदैकात्म्यभाव से अवस्थान' ही पूजा है—यह विचार ही हीन और हेय हो जाता है। यदि मन्त्र संविदतिरिक्त नहीं हैं, तो उनका पृथक् उपदेश व्यर्थ है। इस आशङ्का के स्पष्टीकरण के लिए संविद् चक्र में अनुस्यूत मन्त्रवीर्य का प्रकाशन कर रहे हैं—

परावाक् रूप संवित्ति का स्वभाव ही परामर्शात्मिक है। परामर्श अहमात्मक नाद (ध्वनि) है। यह स्वरसोदित ध्वनि है। यही नित्य उदित परामर्श विमर्श कहलाता है। यही संविद का स्वातन्त्र्य है। कहा गया है—"इसका उच्चारण करने वाला कोई नहीं तथा इसका प्रत्यवरोध करनेवाला भी कोई नहीं होता। स्वयं नाद ही प्राणियों के हृदय में अवस्थित रहता हुआ उच्चरित होता है।" इस उक्ति के अनुसार वह किसी की अपेक्षा नहीं करता है। वह शाश्वतरूप से उदित है। परा संविद् का वह सार रहस्य है। वही संविद् का हृदय है। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में कहा गया है—"चिति प्रत्यवमर्शात्मक होती है। चिति का शाश्वत उल्लास ही उसका स्वातन्त्र्य है। यह परमात्मा का परम

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥' इति ॥ १८१॥

न केवलमयमहंपरामर्शः शास्त्रे हृदयतयैव उक्तो, यावत् स्पन्दादिरूपतयापि, इत्याह

हृदये स्वविमर्शोऽसौ द्रावितशेषविश्वकः ॥ १८२ ॥
भावग्रहादिपर्यन्तभावी सामान्यसंज्ञकः ।
स्पन्दः स कथ्यते शास्त्रे स्वात्मन्युच्छलनात्मकः ॥ १८३ ॥

हृदये

'**हृदयं बोधपर्यायः**································ ।'

इत्युक्त्या बोधे—स्वात्मभूते योऽसौ विमर्शः, स द्रावितं—बहीरूपतया प्रसारितम्, अथ च गालितम्—अन्तःशान्तीकृतमशेषं विश्वं येनासौ, अत एव भावग्रहस्य—विश्वात्मतास्वीकारस्यादौ—निर्मित्सावसरे, पर्यन्ते—संजिहीर्षासमये च भवनशीलः, अत एव स्वात्मविकाससंकोचमयतयोच्छलनारूपः, अत एव विशेषरूपतया अनुल्लासात् प्रशमाच्च सामान्यशब्दवाच्यः स्पन्दशास्त्रादौ 'स्पन्दः' कथ्यते—किंचिच्चलनात्मकोच्छलत्तारूपानुगमात् स्पन्दशब्दाभिधेयतयोच्यते इत्यर्थः ॥ १८२-१८३ ॥

ऐश्वर्य है। यह महासत्ता मयी स्फुरणशीलता देश और काल की विशेषताओं से ऊपर है। यही सार है और यही परमेष्ठी का हृदय है।" ई० प्र० वि० १।५।१३-१४ इस कथन के अनुसार चिति का परामर्शात्मक सदोदित नाद ही मन्त्रवीर्यात्मिक हृदय है ॥ १८१ ॥

यह अहमात्मक परामर्श शास्त्र में केवल हृदय ही नहीं कहा गया है अपितु इसे स्पन्द भी कहते हैं—

'हृदय बोध का ही पर्याय है।' उसमें अर्थात् स्वबोध में स्वात्म का विमर्श (द्रावित) बाहर फैले समग्र संसार को स्वात्मसात् कर लेता है। संसार की उत्पत्ति की आदिम वेला से लेकर संहार तक यह शाश्वत उच्छलित है। किसी विशेष के अभाव के और शान्ति के कारण इसे सामान्य कहते हैं। स्पन्द शास्त्र में इसे स्पन्द कहते हैं। स्पन्दन में कुछ न कुछ उच्छलन स्वाभाविक है। यह सामान्य स्पन्द ही विमर्श है। यह विमर्श ही उच्छलन के कारण स्पन्द है ॥ १८२-१८३ ॥

ननु यद्येव तद्बोधस्य किंचिच्चलनेन स्वस्वरूपप्रच्यावान्नित्यताहानिः स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

किंचिच्चलनमेतावदनन्यस्फुरणं हि यत् ।
ऊर्मिरेषा विबोधाब्धेर्न संविदनया विना ॥ १८४ ॥

किंचिच्चलनं हि नामैतदुच्यते—यद्बोधस्यानन्यापेक्षं स्फुरणं प्रकाशनं, परतोऽस्य न प्रकाशः अपि तु स्वप्रकाश एवेत्यर्थः, इदमेव हि नामास्य जडेभ्यो वैलक्षण्यं—यत् स्वयमेव तथा तथा तथा प्रकाशते इति, एवमयमहंपरामर्शः स्पन्दशास्त्रादौ यथा स्पन्दत्वेनोक्तः तथैव श्रीमदूर्मिकौलावूर्मित्वेनापि इत्युक्तम् 'ऊर्मिरेषा विबोधाब्धेः' इति। ननु सर्वेषु शास्त्रेषु अत्रैव कस्माद्भरः ? इत्याशङ्क्याह 'न संविदनया' विना इति, इदमेव हि संविदः संवित्त्वं, यत्—सर्वमामृशतीति, अन्यथा हि अस्यास्तत्तदर्थोपरागेऽपि स्फटिकादिभ्यो वैलक्षण्यं न स्यात्, यदुक्तम्

'स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा ।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः ॥' इति,

एवं संविदः शुद्धत्वेपि तत्तदर्थोपरक्ततया परिस्फुरणं नाम मुख्यं रूपमित्युक्तं स्यात् ॥ १८४ ॥

यदि ऐसी बात है तो बोध में कुछ उच्छलन के कारण उसमें कुछ गिराव या विकार ही माना जायगा। उससे उसके नित्य होने में सन्देह हो जायगा ? इस आशङ्का का उत्तर दे रहे हैं—

बोध का उक्त उच्छलन उसका स्वयं का यह स्वाभाविक स्फुरण मात्र है। इसमें किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती। यह उसका स्वात्म-प्रकाशन मात्र है। जड़ों से इसकी यह विशेषता है। स्पन्द शास्त्र में इसे 'स्पन्द' कहते है तथा श्रीमदूर्मिकौल शास्त्र में बोध महासिन्धु की तरङ्ग के समान होने के कारण 'ऊर्मि' कहते हैं। इसके विना संविद् संविद् नहीं कही जा सकती। सबका परामर्श संविद् का स्वभाव है। स्फटिक के समान यह नहीं है कि इसमें अर्थों की परामर्शकता का ही अभाव हो सके। कहा गया है कि,

"अवभास के स्वभाव को ही विमर्श कहते हैं। ऐसा न मानने पर विषयों के उपराग की दशा में यह भी जड स्फटिक और दर्पण के समान ही

ननु कथमेतद्युज्यते ? इत्याशङ्क्य दृष्टान्तयति

निस्तरङ्गतरङ्गादिवृत्तिरेव हि सिन्धुता ।

एतदेवोपसंहरति

सारमेतत्समस्तस्य यच्चित्सारं जडं जगत् ॥ १८५ ॥
तदधीनप्रतिष्ठत्वात्तत्सारं हृदयं महत् ।

एतद्विमर्शलक्षणं वस्तु, समस्तस्य—चेतनाचेतनात्मनो विश्वस्य, सारं—जीवस्थानीयं, यतः

'संविन्निष्ठा हि विषयव्यवस्थितयः ।'

इत्यादिनीत्यारूपाद्यात्मनो जडस्य जगतस्तावत् संवेद्यत्वान्यथानुपपत्त्या संविदेव प्रतिष्ठास्थानमित्यविवादः तस्याश्च चितः समनन्तरोक्तस्वरूपं हृदयमेव स्वात्मचमत्कृतिनिबन्धनत्वात् महत्सारं, यतः तदधीनमेव अस्याः स्वात्मनि प्रतिष्ठानम्, अन्यथा हि जाड्यमेवापतेत्, इत्युक्तं बहुशः ॥ १८५ ॥

एतदेव प्रमेयान्तरगर्भीकारेणापि उपपादयति

तथा हि सदिदं ब्रह्ममूलं मायाण्डसंज्ञितम् ॥ १८६ ॥

रह जाता ।" इसीलिये शुद्ध संविद् में अर्थों के सम्पर्क से उनका बाह्य अवभास हो पाता है ॥ १८४ ॥

दृष्टान्त से इसका समर्थन कर रहे हैं—

वस्तुतः समुद्र को समुद्र कहा ही इस आधार पर जाता है कि वह निस्तरङ्ग नहीं रह सकता । ऊर्मियाँ उसके स्वभाव और विषय के अन्तर्गत आती हैं । इस विषय का उपसंहार कर रहे हैं—

यह विमर्श चेतन और अचेतन समस्त चराचर जगत् का प्राण है । यही सबका सार रहस्य है । कहा गया है कि,

"विषय की प्रतिष्ठा संविन्निष्ठ होती है ।" इस उक्ति के अनुसार सारा जड जगत् उसी संविद् का सार है अन्यथा यह संवेद्य नहीं कहा जा सकता । संविद् ही सब में प्रतिष्ठित है । वही हृदय है । उसी के अधीन इसकी प्रतिष्ठा है ॥ १८५ ॥

इच्छाज्ञानक्रियारोहं विना नैव सदुच्यते।
तच्छक्तित्रितयारोहाद्भैरवीये चिदात्मनि॥ १८७॥
विसृज्यते हि तत्तस्माद्बहिर्वाथ विसृज्यते।

इदं हि ब्रह्ममूलं ब्रह्माण्डारम्भकम् अर्थाद्गर्भीकृतप्रकृत्यण्डेन मायाण्डेन प्राप्तसंज्ञं मायीयं विश्वं प्रतिभासमानत्वात् सत् विद्यमानमपि

'प्रतिभातोऽप्यर्थः परामर्शमन्तरेण अप्रतिभात एव प्रमातर्यविश्रान्तेः॥'

इत्याद्युक्तयुक्त्या जिज्ञासादिक्रमेण स्वातन्त्र्यात्मनो विमर्शशक्तेः पल्लवप्रायास्विच्छाज्ञानक्रियासु यावन्नारूढं तावत् तथात्वदार्ढ्याभावान्नैव सदुच्यते, इदमेतदिति व्यवहरणीयतां नैतीत्यर्थः। यतस्तद्विश्वमिच्छादिशक्तित्रयात्मनि विमर्शे लब्धप्ररोहं सत् परप्रमात्रात्मनि भैरवीये रूपे विसृज्यते तत्र विश्रान्तिं यायात्,—इति संहारक्रमः। अथवा सृष्टिक्रमेण—तस्मात्भैरवीयाद्रूपात् तद्विश्वं बहिर्विसृज्यते शक्तित्रयसोपानावरोहक्रमेण कलादिक्षितिपर्यन्तेन स्थूलेन रूपेणावभास्यत इत्यर्थः। अनेन संवित्क्रमानतिवर्तितामभिद्योतयितुं श्रीपराबीजस्यापि उभयथा

उपेयों की स्वात्म में स्थिति का समर्थन कर रहे हैं—

इस विश्व को मायाण्ड कहते हैं। इस अण्ड कटाह के गर्भ में ही वह बनता और बिगड़ता रहता है। यह ब्रह्म मूल भी है। ब्रह्माण्ड का आरम्भ इसी में प्रतिभासित है। यह 'सत्' है किन्तु जब तक इसमें इच्छा, ज्ञान और क्रिया के किसलय नहीं निकल आते, तब तक यह 'सत्' नहीं कहा जा सकता। "वस्तुएँ जान पड़ती हों, उसका अस्तित्व हो, पर जब तक उनका विमर्श नहीं होता वे अनजान ही बनी रहती हैं।" क्योंकि अभी उनकी ज्ञप्ति प्रमाता में नहीं है।" इस उक्ति के अनुसार इन वस्तुओं को ये ऐसी हैं, यह नहीं कहा जा सकता।

इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों के द्वारा प्रमेयों की परप्रमाता भैरव शिव में विश्रान्ति होती है। इसे संहार क्रम कहते हैं। सृष्टि क्रम में उसी भैरव भाव से यह बाहर विश्वरूप में विसृष्ट हो जाता है। कला से लेकर पृथ्वी रूप अन्तिम तत्त्व तक इसका विस्तार हो जाता है। सृष्टि और संहार की इस प्रक्रिया में संवित् में किसी प्रकार का अतिवाद उपस्थित नहीं होता।

व्याप्तिगर्भीकारेणोदय उक्तः। तथाहि—'ब्रह्ममूलं सत्' इत्यनेन सकारस्योद्धारः, यदाशयेनागमे

'तृतीयं ब्रह्म सुश्रोणि………………।' (परात्री० १० श्लो०)

इत्याद्युक्तम्। तस्यैव च 'मायाण्डसंज्ञितम्' इत्यनेन व्याप्तेः प्रदर्शनम्। स च स्वरं विनोच्चारयितुं न शक्यः, इति

'अस्मिश्चतुर्दशे धाम्नि स्फुटीभूतत्रिशक्तिके।'

इत्याद्युक्तेः इच्छादिनौकारस्योद्धारः, तस्य चेच्छादीनां शक्तित्वात्तदण्डव्याप्तेरपि प्रदर्शनम्। 'विसृज्यते' इत्यनेन विसर्गस्योद्धारः, तस्यैव च 'भैरवीये चिदात्मनि' इत्यनेन व्याप्तिः। यदुक्तम्

'सार्णेनाण्डत्रयं व्याप्तं त्रिशूलेन चतुर्थकम्।
सर्वातीतं विसर्गेण पराया व्याप्तिरिष्यते ॥' इति ॥ १८७ ॥

एतदेवोपसंहरति

एवं सद्रूपतैवैषां सतां शक्तित्रयात्मताम् ॥ १८८ ॥
विसर्गं परबोधेन समाक्षिप्यैव वर्तते।

औकार परा बीज है। प्रमाता औकार में 'स' की विश्रान्ति और फिर बाह्य उल्लास दोनों क्रियायें इन श्लोकों में व्यक्त हैं। सत् को ब्रह्ममूल कहने का यही तात्पर्य है। परात्रीशिका का वाक्य है—'शिवे ! यह तृतीय ब्रह्म है।" 'मायाण्ड' शब्द के प्रयोग से तीनों अण्डों में उसकी व्याप्ति को प्रदर्शित किया गया है। स्वर के विना इसका उच्चारण नहीं हो सकता "इस चौदहवें धाम में तीनों शक्तियों का स्फुरण है।" इस उक्ति से यह सिद्ध है कि इच्छादि शक्तियों द्वारा औकार का भो मन्त्रोद्धार हुआ है। इस बोज की व्याप्ति का भी इसमें संकेत है। 'विसृज्यते' के प्रयोग से विसर्ग का भी उद्धार किया गया है। इस प्रकार निष्पन्न पूरा बीज मन्त्र भैरवीय चिदात्मकता में व्याप्त है। 'स' वर्ण से इच्छा ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ व्याप्त हैं। त्रिशूल 'औकार' से इनके अतिरिक्त चौथा शक्त्यण्ड भी व्याप्त है। साथ में लगा विसर्ग पराशक्ति की व्याप्ति का संकेत करता है।" इस उक्ति द्वारा शैव बीज में संविद् उल्लास के साथ पृथ्व्यण्ड से अनुत्तर उल्लास रूप संहार क्रम का भी समर्थन किया गया है ॥ १८६–१८७ ॥

एवं यथोक्तयुक्त्या, एषां ब्रह्माण्डादीनां सतां विश्वरूपतया प्रतिभासमानानामेव, सद्रूपता परबोधेन सह शक्तित्रयात्मतां विसर्गं च समाक्षिप्यैव वर्तते विसर्गोपारोहक्रमेण परप्रमात्रैकात्म्येन प्रस्फुरतीत्यर्थः। अनेन च सकारस्यैव औकारविसर्गक्रोडीकारेणाभिधानात् प्राधान्येनोक्तेः श्रीपरावीजस्य संहारक्रमेणोदयेऽपि सृष्टिप्राधान्यं दर्शितम्। यद्वक्ष्यति

'.......................**प्राच्यं सृष्टौ च हृग्मतम्।**' इति ॥ १८८ ॥

एवं संवित्क्रमेण श्रीपराबीजस्योदयमभिधाय एतत्समानस्कन्धताभिधित्सया श्रीपिण्डनाथस्यापि उदयमभिधत्ते

तत्सदेव बहीरूपं प्राग्बोधाग्निविलापितम् ॥ १८९ ॥

अन्तर्नदत्परामर्शशेषीभूतं ततोऽप्यलम्।

खात्मत्वमेव सम्प्राप्तं शक्तित्रितयगोचरात् ॥ १९० ॥

वेदनात्मकतामेत्य संहारात्मनि लोयते।

इस रहस्य-प्रसङ्ग का उपसंहार कर रहे है—

इस प्रकार विश्व रूप से प्रतिभासमान ब्रह्माण्ड के अनन्त उल्लास की सद्रूपता स्पष्ट हो जाती है। इसका अस्तित्व पर-बोध के साथ इच्छा, ज्ञान, क्रिया और विसर्ग के सामञ्जस्य में ही सुरक्षित है। इसी स्तर पर परप्रमाता से तादात्म्य की अनुभूति होती है। निष्कर्षतः यह स्पष्ट है कि सकार, औकार के संहार क्रम से विसर्ग के उदित हो जाने पर जो बीज उल्लसित होता है, उसमें सृष्टि की प्रधानता ही परिलक्षित है ॥ १८८ ॥

इस तरह संवित्क्रम से पराबोज के उदय का उल्लेख कर इसके समानस्तरीय तथ्य को व्यक्त करने की इच्छा से श्री पिण्डनाथ के उदय का और 'तत्' 'सत्' के उभय विमर्श का अभिधान कर रहे हैं—

यह विश्व बाहर उल्लसित होने के कारण सत् ही है। बोध रूपी अग्नि में यह भस्म हो जाता है। उस समय यह सत् पारमार्थिक होकर प्रमात्रैक्य भाव से अन्तर में नाद रूप से परामृष्ट होता है। इसकी इदन्ता नष्ट हो जाती है। बस परामर्शमात्र रूप शेष रहता है। उससे भी बढ़ कर यह ख (शून्य आकाशात्मक ब्रह्म) रूप हो जाता है। परप्रमाता ॐ या शक्ति बीज में प्रकाशमात्र

तत् विश्वं प्राग्बहीरूपतया प्रतिभासमानत्वेन सत् विद्यमानमेव, प्रतिभासमानत्वान्यथानुपपत्त्या बोधः प्रमाणात्मा संकुचितः प्रतिभासः, स एवाग्निः, तेन विलापितं बहीरूपताया भस्मसात्कारेण स्वात्ममात्र परमार्थतामापादितं सत्, अन्तः प्रमात्रैकात्म्येन नदन् इदन्तापरामर्शतिरस्कारेणोल्लसन् योऽसावहंपरामर्शः, तच्छेषीभूतं स्वस्वरूपपरिहारेण तदेकात्मतामापन्नमपि, अनन्तरमलं मानमेयाद्यात्मभेदसंस्कारस्यापि शून्यतापादनेन अत्यर्थं, खात्मत्वमेव संप्राप्तं परप्रमातात्मप्रकाशमात्ररूपतया प्रस्फुरितं सत्, क्रमात्क्रमं क्रियादिशक्तित्रयसोपानारोहेण वेदनात्मकतां विदिक्रियाकर्तृत्वात्मकस्वातन्त्र्यशक्तिरूपतामासाद्य, संहारात्मनि

सर्वसंहारसंहारसंहारमपि संहरेत् ।
सा शक्तिर्देवदेवस्याभिन्नरूपा शिवात्मिका ।।'

इत्याद्युक्तस्वरूपे श्रीकालसंकर्षिणीधाम्नि लीयते तदैकात्म्येन प्रस्फुरतीत्यर्थः । अत्र च संवित्क्रमेणैव श्रीपिण्डनाथस्य व्याप्तिः,—इति तदनुसारेणैव तस्योद्धारः कृतः । तथा च—विश्वेन्धनदाहकत्वात् 'बोधाग्निना' इत्यनेन अग्निबीजस्य प्रमाणात्मनः संकुचितस्यापि बोधस्य मायाप्रमातरि लयः इति, 'नाद' त्यादिना संहारकुण्डलिन्यात्मकस्येतद्रूपलिपेः कूटवर्णस्य परप्रमातरि च मायाप्रमातृत्वस्याप्यभावः इति, 'खात्मत्वम्' इत्यादिना व्योमात्मनः खवर्णस्य परस्यापि प्रमातु-

---

अवस्था में ही प्रस्फुरित रहता है । फिर इच्छा, ज्ञान और क्रियादि शक्तियों के प्रभाव से क्रमात्कता के सोपान पर चढ़कर संहार के परिवेश में प्रवेश करने को उत्सुकहो जाता है । वहाँ उसमें संवेदन शीलता स्फुरित होती है । उस स्तर पर इसमें स्वतन्त्रता भी उल्लसित हो जाती है । "वह शिवात्मिका प्रथन शालिनी शक्ति शिव से कभी अलग नहीं होती । वह संहारात्मकता का भी संहार करती है ।" इस उक्ति के अनुसार तत् सत् शिवारूप काल-संकर्षणी धाम में स्फुरित हो जाता है ।

यहाँ एक अनन्य महत्त्वपूर्ण रहस्यात्मक संकेत कर रहे हैं । इसमें संवित् की क्रमिक पिण्डात्मक व्याप्ति होती है । जिस बोध रूपी अग्नि की ऊपर चर्चा है, वहाँ प्रमाण रूप अग्नि बीज का उल्लास है । वह संकुचित बोध का प्रतीक है । उसका माया-प्रमाता में लय होता है । नाद ब्रह्म रूपी संहार कुण्डलिनी उसी लिपि में लिखी जाती है । वही व्योमात्मक खवर्ण है । 'ख' कवर्ग के द्वितीय अक्षर के रूप में यहाँ प्रयुक्त नहीं है अपितु व्योम बीज के प्रतीक रूप से

रिच्छाद्याः शक्तयः सतत्त्वम् इति, 'शक्तित्रितय' इत्यनेन तदात्मनो योनिबीजस्ये-च्छादीनां च शक्तीनां स्वातन्त्र्यशक्तौ पिण्डीभावः इति, 'वेदनात्मकताम्' इत्यनेन बिन्दोश्चोद्धारः। एवं च रेफादिबिन्द्वन्तवर्णपञ्चकरूपतया श्रीपञ्चपिण्डनाथोऽयम्—इत्यागमज्ञाः। अन्यत्र पुनरस्य

'शिवनभसि विगलिताक्षः कौण्डिल्युन्मेषविकसितानन्दः।
प्रज्वलितसकलरन्ध्रः कामिन्या हृदयकुहरमधिरूढः॥
योगी शून्य इवास्ते तस्य स्वयमेव योगिनीहृदयम्।
हृदयनभोमण्डलगं समुच्चरत्यनलकोटिशतदीप्तम्॥'

इत्यादिना भङ्ग्यन्तरेणोदय उक्तः॥ १९०॥

एतदेवोपसंहरति

इदं संसारहृदयं प्राच्यं सृष्टौ च हृन्मतम्॥१९१॥

इदमित्यनेन श्रीपिण्डनाथपरामर्शः। अस्य च श्रीपराबीजवत् सृष्टिक्रमेण संभवत्यपि उदये रेफादीनां वर्णानां भेदसंहारकत्वात् तत्प्राधान्येन निर्देशः 'संहारहृदयम्' इति। अत एव श्रीस्तोत्रभट्टारकेऽपि

प्रयुक्त है। परप्रमाता की इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों का सामञ्जस्य यहाँ होता है। यह शक्ति त्रितय और योनिबीज का शक्ति त्रितय दोनों मिलकर पिण्डनाथ का रूप ग्रहण करते हैं। वेदनात्मकता ही वहाँ विन्दु बन कर उपस्थित होती है। इस तरह यह व्योम के साथ र से विन्दु तक श्री पञ्चपिण्डनाथ नामक शिवात्मक बीज रूप में उल्लसित होता है। यह आगम शास्त्र पारङ्गत विद्वानों का मत है और अत्यन्त रहस्य मय है।

"शिवात्मक आकाश में यह अन्य ऐन्द्रियिक अनुभूतियों के ऊपर विराजमान है। कुण्डलिनी के उन्मेष से विकसित, बोधरूप प्रकाश की चमक से समुज्वल है। शक्ति के हृदय देश में अधिरूढ है।" तथा "यह (योग विद्या से विभूषित) है। शून्य रूप है। स्वयम् यही योगिनी हृदय है। हृदयाकाश का यह सूर्य है। यह स्वयम् उच्चरित है। करोड़ों अग्नियों के प्रकाश से भी अधिक देदीप्यमान है।" इन दोनों कथनों के द्वारा उक्त रहस्यात्मक बीजमन्त्र का ही उद्धार किया गया है॥ १९०॥

'कालानलादव्योमकलावसानं चिन्त्यं जगद्ग्रासकलालयेन ।
चक्रं महासंहृतिरूपमुग्रं गतं चिदाकाशपदस्थमित्थम् ॥'

इत्यादिना संहारक्रमेणैव अस्योदय उक्तः । प्राच्यमिति प्रागुपात्तं जीवपराबीजम् । अस्य च संहारक्रमेणोदयेऽपि

'तत एव सकारेऽस्मिन् स्फुटं विश्वं प्रकाशते ।
अमृतं च परं धाम योगिनस्तत्प्रचक्षते ॥'

इत्यादिपूर्वोक्तयुक्त्या विश्वाप्यायकारितया सृष्ट्यात्मनोऽमृतबीजस्य प्राधान्यात् तथानिर्देशः 'सृष्टौ हृत्' इति ॥ १९१ ॥

एतदेवान्यत्रापि अतिदिशति

एतद्रूपपरामर्शमकृत्रिममनाविलम् ।
अहमित्याहुरेषैव प्रकाशस्य प्रकाशता ॥ १९२ ॥
एतद्वीर्यं हि सर्वेषां मन्त्राणां हृदयात्मकम् ।
विनानेन जडास्ते स्युर्जीवा इव विना हृदा ॥ १९३ ॥

इस प्रसङ्ग का उपसंहार कर रहे हैं—

उपर्युक्त श्री पञ्चपिण्डनाथ का प्रकाश पराबीज की तरह सृष्टि क्रम में भी उदित होता है। यहाँ रेफ आदि वर्णों का उल्लास भेद का संहार करता है। इसी कारण उसे 'संहार हृदय की संज्ञा दी गयी है। इससे संहार की प्रधानता व्यक्त होती है। श्री स्तोत्र भट्टारक में भी इसीलिये "कालानल से व्योमकलापर्यन्त यह चक्र, जगत् की ग्रास कला में विलीन होता रहता है। यह महासंहार का प्रतीक है। अत्यन्त उग्र है और चिदाकाश में ही अवस्थित है।" इस उक्ति द्वारा इसे संहार क्रम से ही उदित मानते हैं।

इस तरह संहार क्रम से उदित होने पर भी पहले प्रतिपादित पराबीज "उससे इस सकार में स्फुट रूप से यह विश्व प्रतिभासित होता है। योगिवर्य इसे अमृत और अत्युत्तम धाम कहते हैं।" इत्यादि उक्ति के द्वारा विश्व को पूर्णतया तृप्त करता है। इसमें सृष्ट्यात्मक अमृत बीज की प्रधानता के कारण इसे 'सृष्टि का हृदय' मानते हैं" ॥ १९१ ॥

एतद्रूप:—श्रीपराबीजादिविषयतया सृष्ट्यादिक्रमेणोदयमान: समनन्तरोक्तस्वभावो य: परामर्शस्तं स्वरसोदितत्वादकृत्रिमम्, अत एवेदन्तापरामर्शप्रतिपक्षभावात्मककालुष्याकलङ्कितत्वात् अनाविलम् 'अहमित्याहु:'—अहंपरामर्शात्मित्वेन कथयन्तीत्यर्थः अहंपरामर्शोऽपि हि—अनुत्तराद्धान्तं सृष्टिक्रमेण ततोऽपि अनुत्तरान्तं संहारक्रमेणोदेतीति भाव:, यदुक्तं प्राक्

'अनुत्तराद्या प्रसृतिर्हान्ता विश्वस्वरूपिणी ।
प्रत्याहृताशेषविश्वानुत्तरे सा विलीयते ।।' इति,

एवं चास्य 'श्रीपराबीजपिण्डनाथाभ्यां समानकक्ष्यत्वम्' इत्युक्तं स्यात्, परस्या: हि संविदोऽनन्तविश्ववैचित्र्यलयोदयरूपतया परिस्फुरणं नाम परमार्थ:, स चैषामविशिष्ट:, इति किं नाम भिन्नकक्ष्यत्वे निमित्तं स्यात्, ननु परा संवित् तत्तद्रूपतया किमिति परिस्फुरति ? इत्याशङ्क्योक्तम् 'एषैव प्रकाशस्य प्रकाशता' इति, अन्यथा हि अस्य परस्य प्रकाशस्य जडाद्घटादेर्वैलक्षण्यं न स्यात्, यदुक्तं प्राक्

'अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वर: ।
महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्ष्यद्घटादिवत् ।।' इति,

इसी को दूसरे स्थान पर प्रतिनिर्दिष्ट कर रहे हैं—

उक्त श्लोकों में पराबीज का वर्णन है। उसमें सृष्टि के क्रम से उदीयमान, स्वरसोदित, अकृत्रिम और अनाविल परामर्श का वर्णन है। यही गुण 'अहम्' के भी हैं। अहमात्मक परामर्श भी अनुत्तर से 'ह' पर्यन्त सृष्टि क्रम और 'ह' से अनुत्तर पर्यन्त संहार क्रम से शाश्वत स्फुरित है। प्रकाश का भी यही प्रकाशक है। समस्त मन्त्रों का भी यह हृदय है। इसके बिना सर्वत्र जडता का ही प्रभाव होगा। एक जगह कहा गया है—

"यह सारा प्रसार अनुत्तर शक्ति से प्रसरित है। 'ह' पर्यन्त यह समस्त विश्वरूप में फैली हुई है। संहार क्रम में वही इस अशेष विश्व का विलय पुन: अनुत्तर में कर देती है। इस उक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि पराबीज के समान स्तर का ही यह अहमात्मक मन्त्र भी है।

परा संविद् परमार्थत: इस अनन्त विश्व वैचित्र्य के लय और उदय दोनों रूपों में परिस्फुरित रहती है। संविद् प्रकाश रूपा है। प्रकाशमयता

ननु मन्त्राणां वीर्यमभिधातुमुपक्रान्तं तत् किमिति अकाण्ड एव परस्याः संविदः स्वरूपमुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह 'एतदित्यादि' एतदिति—अहंपरामर्शानुस्यूतं संवित्तत्त्वं, सर्वेषामिति—न केवलं श्रीपराबीजपिण्डनाथयोरेवेति भावः, अनेनेति—अहंपरामर्शात्मना वीर्येण, जडा इति—स्फुरत्ताशून्यत्वादप्रयोजका इत्यर्थः, यदुक्तम्

'आदिमान्त्यविहीनास्तु मन्त्राः स्युः शरदभ्रवत् । इति ॥१९२-१९३॥

न केवलमनेन वीर्येण मन्त्रा एव वीर्यवन्तो, यावत्तदितरदपीत्याह

अकृत्रिमैतद्धृदयारूढो यत्किंचिदाचरेत् ।
प्राण्याद्वा मृशते वापि स सर्वोऽस्य जपो मतः ॥ १९४ ॥

अकृतमाहंपरामर्शविश्रान्तो हि योगी तदनुवेधेन यत्किंचिद्बाह्यव्यवहारयोग्यं व्याहरेत् सोऽस्य सर्वो जपः—सर्वमेवास्य स्वात्मदेवताविमर्शानवरतावर्तनात्मत्वेन मन्त्ररूपतया परिस्फुरेदित्यर्थः यदुक्तम्

'श्लोकगाथादि यत्किंचिदाबिमान्त्ययुतं यतः ।
तस्माद्विद्वंस्तथा सर्वं मन्त्रत्वेनैव पश्यति ॥' इति,

उसका सर्वातिशायी चमत्कार है कहा गया है—"यदि महेश्वर शिव एक रूप, एक ही स्थान पर अवस्थित रहें तो उनमें और जड घट में अन्तर ही क्या होगा ? उनका माहेश्वर्य और संवित् शक्ति के उल्लास का गुण सब कैसे रह सकेगा ? ।" और इसके बिना अहं परामर्श शून्यता के कारण जडता की ही ताण्डव-विडम्बना जगत् में व्याप्त हो जायेगी । "आदि और अन्त अर्थात् 'अ' 'ह' प्रत्याहार के बिना सारे मन्त्र शरद कालीन बादल की तरह तत्त्वहीन हो जायेंगे ।" यह भी शास्त्र की उक्ति है ॥ १९२-१९३ ॥

मन्त्रों के अतिरिक्त इससे सारा जीवन भी शक्तिमन्त बनता है—यही कह रहे हैं—

स्वाभाविक अहं परामर्श में विश्राम करने वाला योगी जो व्यवहार करता है, जो विमर्श या परामर्श करता है और प्रसार प्रक्रिया पूरी करता है—वह सब उसका जप ही है । एक तरह से वह स्वात्म देवता का अनवरत आवर्त्तन करता है । उसका यह आवर्त्तन उसके लिये मन्त्र रूप ही होता है । कहा गया है—"कोई श्लोक, कोई कविता, कोई गाथा या कथोपकथन सोहं

अत एव 'कथा जपः' (शिवसू० ३-२७) इत्याद्यन्यत्रोक्तम्, यदभिप्रायेणैव इतो बाह्यैरपि

'यो जल्पः स जपः……………………।'

इत्याद्युक्तम्, अनेन च मन्त्रवीर्यानन्तर्येणानुजोद्देशोद्दिष्टं वास्तवं जपाद्युपक्रान्तम् ॥ १९४ ॥

तत्र जपस्य वास्तवं स्वरूपं तावदुक्तम्, इदानीमादिशब्देन स्वीकृतं-वास्तवध्यानाद्यभिधातुमाह

यदेव स्वेच्छया सृष्टिस्वाभाव्यादबहिरन्तरा ।
निर्मीयते तदेवास्य ध्यानं स्यात्पारमार्थिकम् ॥ १९५ ॥

एवंविधः खलु योगी सृष्ट्यादिपञ्चविधकृत्यकारित्वलक्षणात् स्वभावा-द्धेतोः, यदेव स्वेच्छया बहिरन्तर्वा नीलसुखादि अवभासयति, तदेव नामास्य संविन्मात्ररूपत्वात् पारमार्थिकं ध्यानं, न तु नियतं दशभुजादि अन्यत्किंचिदि-त्यर्थः ॥ १९५ ॥

ननु यद्येवं तद्दशभुजादि नियताकारं ध्यानादि किमिति उक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

के विमर्श परिवेश में करता है तथा उसे साक्षीभाव से देखता रहता है, वह सब मन्त्रात्मक हो जाता है।" शिव सूत्र है—"कथा ही जप है।" इस सूत्र का भी यही तात्पर्य है। इसके अतिरिक्त "कोई बात भी करे तो वह जप ही हो जाता है"। यह उक्ति भी है। सब का निष्कर्ष यही है कि इस आदिमान्त्य मन्त्र-परामर्श से पीछे कहे जप आदि के समान ही शक्ति का संचार होता है ॥ १९४ ॥

वास्तविक ध्यान आदि का वर्णन कर रहे हैं—

ऐसा योगी जो सृष्टि आदि ५ प्रकार के कृत्यरूप स्वभाव में समाविष्ट होरक स्वेच्छा से बाहर या भीतर जो कुछ मेय मानादि का आकलन करता है—वही उसका पारमार्थिक ध्यान है। विश्व का बाह्यान्तर सर्वविध विमर्श ध्यान से ही होता है दशभुजादि रूप-प्रतिनियत ध्यान वास्तविक ध्यान नहीं ॥ १९५ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि आकारात्मक नियत ध्यान फिर क्यों कहे गये हैं ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

निराकारे हि चिद्धाम्नि विश्वाकृतिमये सति ।
फलार्थिनां काचिदेव ध्येयत्वेनाकृतिः स्थिताः ॥ १९६ ॥

निराकार इति—नियताकाररहिते, इत्यर्थः ॥ १९५ ॥

ननु विश्वाकृति चेच्चिद्धाम, तत् कथम् अस्याकारान्तराभासपरिहारेण नियताकारतयाभासः स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

यथा ह्यभेदात्पूर्णेऽपि भावे जलमुपाहरन् ।
अन्याकृत्यपहानेन घटमर्थयते रसात् ॥ १९७ ॥
तथैव परमेशाननियतिप्रविजृम्भणात् ।
काचिदेवाकृतिः कांचित् सूते फलविकल्पनाम् ॥ १९८ ॥

यथाहि—अभेदात्—परस्पराविभागेनावभासात्, मृत्त्वकाञ्चनत्वघटत्वादिभिराभासैः,पूर्णे, अनेकाभाससंभिन्ने घटादौ भावे जलमुपाहरन्—उदकाहरणात्मनियतार्थक्रियार्थी प्रमाता, काञ्चनत्वाद्याकारान्तराभासमपहाय अर्थितातारतम्यात्मकाद्रसात्, तत्तदर्थक्रियाक्षमं घटमर्थयते—तत्त्वेनास्य अवभासो जायते इत्यर्थः, तथैव विश्वाकृतित्वेऽपि चिद्धाम्नः पारमेश्वरनियतिशक्तिमाहात्म्यादा-

---

वस्तुतः चेतना की मूल चिति का परात्पर धाम निराकार ही है। अनतिरिक्त भाव से वह विश्व की आकृति को भी धारण करता है। इसलिये फलार्थी लोगों को ध्येय रूप आकृति ध्यान का भी उपदेश दिया जाता है ॥ १९६ ॥

यदि विश्वाकृति भी चिद्धाम है, तो नियत आकार का ही आभास उपादेय होगा। इस निराकार आभास की मान्यता क्यों ? इसी का उत्तर दे रहे हैं—

सोने का घड़ा है। इसमें सोने का सोनापन भी है और घटत्व भी है। मिट्टी के घड़े में माटी का परामर्श भी है और घड़े का भी है। भेद तो है पर घड़े से पानी भरने वाली पनहारिन अन्य आभासों को छोड़कर सिर्फ जल ले आने में उपयोगी घट का अभेदभाव से परामर्श करती है। दूसरी आकृतियों का विचार नहीं करती। उसी तरह चिद्धाम के विश्वाकाराकारित होने पर भी परमेश्वर की ओर से या नियति शक्ति की कृपा से अन्य आकृतियों को छोड़कर

कृत्यन्तरपरिहारेण काचिदेवाकृतिः—अर्थात् कस्यचित् एव कांचिदेव फल-विकल्पनां सूते, इति युक्तमुक्तं 'फलार्थिनां काचिदेवाकृतिः ध्येयत्वेन स्थिता' इति ॥ १९७-१९८ ॥

यस्तु न नियतार्थक्रियार्थी तस्यानवच्छिन्नमेव रूपमवभासते, इत्याह

यस्तु संपूर्णहृदयो न फलं नाम वाञ्छति ।
तस्य विश्वाकृतिर्देवी सा चावच्छेदवर्जनात् ॥ १९९ ॥

तेन बुभुक्षो र्नियताकारं, ध्यानं, मुमुक्षोस्तु अनियताकारमिति विषय-विभागः, यद्वक्ष्यति

'साधकानां बुभुक्षूणां विधिर्नियतियन्त्रितः ।
मुमुक्षूणां तत्त्वविदां स एव तु निरर्गलः ॥' इति ॥१९९॥

एव ध्यानस्य वास्तवं स्वरूपमभिधाय, मुद्राया अप्यभिधत्ते

कुले योगिन उद्रिक्तभैरवीयपरासवात् ।
घूर्णितस्य स्थितिर्देहे मुद्रा या काचिदेव सा ॥ २०० ॥

किसी एक आकृति में फ़लवत्ता का आकलन होता है । इससे नियत आकार की महत्ता सिद्ध होती है किन्तु निराकारिता का चमत्कार तो सर्वातिशायी ही है ॥ १९७-१९८ ॥

जो व्यक्ति नियत अर्थों की फल की भावना या इच्छा नहीं रखता, उसे उसी स्वरसोदित अनवच्छिन्न स्वतन्त्र संविद् के अनाविल रूप का ही आभास होता है । यही कह रहे हैं—

भोगेच्छु के लिये नियताकार ध्यान ही उपयोगी है । मुमुक्षु के लिये निराकार ध्यान आवश्यक है । वह सम्पूर्ण हृदयात्मक रहस्य का मर्मज्ञ होता है—उसे फलाकांक्षा नहीं होती ! उसके लिये भगवती संवित् विश्वाकृतिमयी है । उसमें किसी अवच्छेद के लिये तनिक भी अवकाश नहीं ।

"भोगेच्छु साधकों की विधि नियति से नियन्त्रित होती है । मुमुक्षु तत्त्ववेत्ता की विधि किसी अर्गला से जकड़ी नहीं जा सकती ।" इस उक्ति से भी यही तथ्य सिद्ध है ॥ १९९ ॥

कुले—शरीरे सत्यपि, प्राप्तपरमेश्वरैकात्म्यस्य योगिनः, अत एव तत्रैव दार्ढ्याद्विस्मृतदेहभावस्य, या काचन—उत्थितत्वादिरूपा, देहे स्थितिः, सैव चिच्छक्तिप्रतिकृतिरूपा वास्तवी मुद्रा, न तु नियतकरादिनिर्वर्त्यसंनिवेशादिरूपा इत्यर्थः, यदुक्तम्

'नादो मन्त्रः स्थितिर्मुद्रा······················ ।'इति,

यदभिप्रायेणैवेतो बाह्यैरपि

'····················मुद्रा या काचिदास्थितिः ।'

इत्याद्युक्तम् ॥ २०० ॥

इदानीं होममपि वास्तवेन रूपेणाभिधातुमाह

अन्तरिन्धनसंभारमनपेक्ष्यैव नित्यशः ।
जाज्वलीत्यखिलाक्षौघप्रसृतोग्रशिखः शिखी ॥ २०१ ॥
बोधाग्नौ तादृशे भावा विशन्तस्तस्य सन्महः ।
उद्रेचयन्तो गच्छन्ति होमकर्मनिमित्तताम् ॥ २०२ ॥

इस तरह ध्यान का वास्तविक रूप बता कर मुद्रा के सम्बन्ध में कह रहे हैं—

ऐसा योगी जो कुल अर्थात् शरीर में अवस्थित तो दीख पड़ता है किन्तु शैवसमावेश के परामृत से जिसका अस्तित्व सराबोर है तथा चिदैकात्म्य की दृढ़ता से जो देहभाव ही भूल चुका है—उसको उठने बैठने की सारी प्रक्रिया ही मुद्रा हो जाती है। वस्तुतः हाथ आदि अंगों से बनायी जानेवाली नियत आकृतियाँ मुद्रा नहीं हैं। "नाद ही मन्त्र है और स्थिति ही मुद्रा है।" इस उक्ति से यही तथ्य प्रमाणित होता है। "···········किसी प्रकार की स्वाभाविक स्थिति ही मुद्रा है।" अन्य लोगों के ये विचार भी यही सिद्ध करते हैं ॥ २०० ॥

किसी की अपेक्षा के विना निरिन्धन और अन्तर में निरन्तर जाज्वल्यमान चिदात्मक बोध की आग जब समस्त इन्द्रियवर्ग को अपने में समाहित कर लौ की तरह लपलपाने लगती है; तो साधक धन्य हो जाता है। माया का अन्धकार प्रकाश में परिवर्तित हो जाता है। सारे भाव उसी बोध की अनल-

यदुक्तम्

'सप्तेन्द्रियशिखाजालजटिले जातवेदसि ।
बोधाख्ये भाववर्गस्य भस्मीभावोऽग्नितर्पणम् ॥' इति ।

यदभिप्रायेणैव अस्मद्गुरुभिरपि

'शश्वद्विश्वमनश्वरप्रकृतयो विश्वस्तचित्ता भृशं
ये विज्ञानतनूनपाति विततोन्मेषा वषट्कुर्वते ।
तेषां संततसर्वमेधयजनक्रीडामहायज्वनां
नो मन्येऽवभृथक्षणः क्षणमपि क्षीणस्थितिर्लक्ष्यते ॥'

इत्याद्युक्तम् ॥ २०२ ॥

न केवलमेतत् परस्वरूपावेशकारित्वादात्मन्येवोपयोगि, यावत्परत्रापि, इत्याह

यं कंचित्परमेशानशक्तिपातपवित्रितम् ।
पुरोभाव्य स्वयं तिष्ठेदुक्तवद्दीक्षितस्तु सः ॥ २०३ ॥

ज्वाला में दग्ध हो जाते हैं । एक अनुपम प्रकाश प्रसरित हो जाता है । ऐसा भावमय यज्ञ ही वास्तविक होम है । कहा गया है—"सातों रसनेन्द्रिय रूप शिखाओं से प्रज्वलित बोध की आग में अपने समस्त भावों को भस्म करना ही अग्नि को तृप्त करने वाला होम है ।" इसी अभिप्राय को व्यक्त करने वाली—"शाश्वत बोधात्मक स्वभाव से भूषित, आत्मविश्वास से भरे याज्ञिक साधक बोधविज्ञान की ज्वाला में इस विश्व के हविष्य का हवन करते हैं । ऐसे महा-याज्ञिक योगी निरन्तर विश्वमेध में हवन करने की क्रीडा करते हैं । उनके लिये यज्ञान्त के अवभृथ स्नान का कभी क्षण मात्र भी अवसर नहीं आता ।" हमारे गुरुवर्य की यह उक्ति इसी तथ्य का समर्थन करती है ॥ २०१–२०२ ॥

परस्वरूप-समावेश में समर्थ यह होम केवल अपने ही लिए नहीं, अपितु दूसरे के लिये भी है । यही कह रहे हैं—

परमेश्वर के शक्तिपात से पवित्रित व्यक्ति कोई भी हो, चूंकि वह शैव अनुग्रह से अनुगृहीत है—अपने से आगे है यह सोचना चाहिए । वस्तुतः वह भी

यं कंचित्

'न मे प्रियश्चतुर्वेदो मद्भक्तः श्वपचोऽपि वा ।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम् ॥'

इत्याद्युक्तेरनियतं पारमेश्वरेणैव शक्तिपातेन पवित्रीकृतम्, अनुग्राह्यतया अग्रे भावयित्वा उक्तवत्–यथोक्तवास्तवजप्यादिनिष्ठतया, स्वयंस्वरूप एव तिष्ठेत्, येनासौ दीक्ष्य—

'........................भुजङ्गवद्गरलसंक्रामः ।'

इत्याद्युक्त्या तत्स्वरूपसंक्रमात्

'...................................दीपाद्दीपमिवोदितम् ।'

इतिन्यायेन दीक्षितः,––पशुवासनाक्षैण्येन लब्धपरतत्त्वाधिगमो भवेदित्यर्थः ॥ २०३ ॥

नन्वेकैकस्मादेव वास्तवाज्जप्यादेः स्वरूप विश्रान्तिः सिद्ध्येत् इति किं जप्यादिभिर्बहुभिरेवमुपदिष्टैः ? इत्याशङ्क्याह

जप्यादौ होमपर्यन्ते यद्यप्येकैककर्मणि ।
उदेति रूढिः परमा तथापीत्थं निरूपितम् ॥ २०४ ॥

इत्थमिति—जप्यादीनां बहुधात्वेन ॥ २०४ ॥

एक तरह से दीक्षित ही है। कहा गया है कि "मुझे चारों वेदों का मर्मज्ञ उतना प्रिय नहीं है, जितना मेरा एक भक्त, भले ही श्वपच ही क्यों न हो।" इस कथन से स्पष्ट है कि इस पथ में किसी के लिये निषेध नहीं है ॥

गरल को संक्रम करने में सर्प के समान वह अपने रूप को संक्रान्त कर 'दीप से जैसे दीप जल उठता है, उसी तरह वह बोध विज्ञान से प्रकाशित हो उठता है। उसकी पशु वासना क्षीण हो जाती है और उसे तत्त्वका ज्ञान भी अनायास हो जाता है ॥२०३॥

प्रश्न है कि जप से लेकर होम तक एक एक से ही यदि स्वात्मविश्रान्ति सुलभ है, तो इन सभी विषयों के अलग उपदेश की क्या आवश्यकता ? इसी का उत्तर दे रहे हैं—

उक्त प्रश्न सही है। यह तथ्य है फिर भी इन सबका निरूपण रुचि-वैचित्र्य और कर्मरूढ़ि की दृष्टि से किया गया है ॥२०४॥

ननु जप्यादीनां बहूनां कस्मान्निरूपणं कृतम्, इति प्रश्निते तदेवोत्तरीकृतम्, इति किमेतत् ? इत्याशङ्क्याह

यथाहि तत्र तत्राश्वः समनिम्नोन्नतादिषु ।
चित्रे देशे वाह्यमानो यातोच्छामात्रकल्पिताम् ॥ २०५ ॥

तथा संविद्विचित्राभिः शान्तघोरतरादिभिः ।
भङ्गीभिरभितो द्वैतं त्याजिता भैरवायते ॥ २०६ ॥

यथाहि तत्र तत्र समनिम्नोन्नतादिषु भूभागेषु वाहकेल्यात्मनि कर्कशपांसुलादौ चित्रे देशे कटकमण्डलादिना वाह्यमानोऽश्वो वाहकस्येच्छामात्रकल्पिताम्—इच्छामात्रविधेयतां याति, तथा संविदपि शान्तघोरतरात्मभिः—अघोर-घोर-घोरतरात्मकपरादिशक्तित्रयैकात्म्येन निरूप्यमाणाभिः अत एव विचित्राभिर्जप्यादिभिर्भङ्गीभिरभितः, समन्ततः, तत्—द्वैतं त्याजिता, भैरवायते—भेदापहस्तनपूर्वमनुत्तरपरसंविद्रूपतया परिस्फुरतीत्यर्थ ॥ २०५-२०६ ॥

एतदेव हृदयङ्गमीकर्तुं दृष्टान्तान्तरप्रदर्शनेनाप्युपपादयितुमाह

यथा पुरस्थे मुकुरे निजं वक्त्रं विभावयन् ।
भूयो भूयस्तदेकात्म वक्त्रं वेत्ति निजात्मनः ॥ २०७ ॥

तथा विकल्पमुकुरे ध्यानपूजार्चनात्मनि ।
आत्मानं भैरवं पश्यन्नचिरात्तन्मयीभवेत् ॥ २०८ ॥

उसी प्रश्न के समाधान के विषय में पुनः कह रहे हैं—

जैसे समतल, ऊबडखाबड़, पथरीली, धूलिभरी अथवा विचित्र भू प्रदेशों में अश्व अपने सवार की इच्छा के अनुसार चङ्क्रमण करता है, उसी तरह संविद् भी शान्त घोर घोरतर और अघोरात्मक तीनो शक्तियों के ऐक्य से निरूपित विचित्र भङ्गियों से द्वैतका अर्थात् भेदवाद का परित्याग कर देती है और अनुत्तर भैरव रूप से परिस्फुरित होती है ॥२०५-२०६॥

इसी तथ्य को दृष्टान्त से पुनः सिद्ध कर रहे हैं—

कोई पुरुष सामने पड़े दर्पण में अपने मुख को प्रतिविम्बित देख कर उसे अपना ही मुख मानता है। उसी तरह जप, ध्यान, पूजन, हवन आदि विकल्प

यथाहि कश्चिन्निजं वक्त्रं पुरोवर्तिनि मुकुरे, भूयो भूयो विभावयन्—यत्नेन निरीक्षमाणो, निजात्मनः संबन्धि बिम्बभूतं तद्वक्त्रं तदेकात्म वेत्ति—मामकमेवेदं वक्त्रमिति निश्चयोत्पादात् प्रतिबिम्बाभेदेनैव मन्यते, तथैव पूजाद्यात्मन्यनेकस्मिन् विकल्पमुकुरे बहुशः स्वात्मानं भैरवतया पश्यन्, अचिरणैव कालेन तन्मयीभवेत्—तदैकात्म्यं प्राप्नुयादित्यर्थः ॥ २०७-२०८ ॥

तन्मयीभावो नाम किंस्वरूपः ? इत्याह

तन्मयीभवनं नाम प्राप्तिः सानुत्तरात्मनि ।

अनुत्तरात्मनि प्राप्त्यापि किं भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

पूर्णत्वस्य परा काष्ठा सेत्यत्र न फलान्तरम् ॥ २०९ ॥

सा—अनुत्तरात्मनि प्राप्तिः, सर्वतो नैराकाङ्क्ष्यात् 'पूर्णत्वस्य परा काष्ठा' इति, नात्र अन्यत् किंचित् फलं संभवेत्, नहि अत्र साकाङ्क्षत्वस्य नामाप्यवशिष्यते येन—फलान्तरमपि मृग्यं भवेदिति भावः, साकाङ्क्षो हि प्रमाता तत्फलमर्थयमानः प्रथमं तावत्साधनमन्विष्यति, यथोदकाहरणार्थी घटं तत्साधनं च प्राप्य तत्तत्फलमासादयेत्, इति नैकाराङ्क्षयस्योत्पादात् औदासीन्यमवलम्बमानः स्वात्मन्येव तिष्ठेत्, किं तु न तत् पूर्णं नैराकाङ्क्ष्यं—क्षणा-

---

के शीशे में यदि अपने को रमा देता है तो उसी सन्दर्भ में वह भैरवी भाव से भूषित हो जाता है। तादात्म्य पा लेता है। तन्मयता में वह वह नहीं रहता अपितु शिव स्वरूप हो जाता है ॥ २०७-२०८ ॥

तन्मयी भाव के सम्बन्ध में कह रहे हैं—

अनुत्तर परम शिव भाव की प्राप्ति को ही यहाँ तन्मयी भाव कहा गया है।

इससे क्या होता है ? इस जिज्ञासा का समाधान कर रहे हैं–

आकांक्षा रहित होना ही पूर्णता की पराकाष्ठा है। किसी अन्य फल की सम्भावना भी यहाँ नहीं होती। अनुत्तर में तन्मयीभाव ही साधक का लक्ष्य है।

भोग की इच्छा से प्रभावित पुरुष पहले फल की बात सोचता है। फिर उसकी प्राप्ति के लिये साधन की खोज करता है और सारा जीवन उसी में

न्तरेणाकाङ्क्षान्तरस्यापि उल्लासात्, अत एव न तत् पारमार्थिकं साकाङ्क्षत्वेऽपि तस्य तथाकल्पनात्, अतश्च तत्रोत्पन्नेऽपि फले फलान्तरं संभाव्यम्—आकाङ्क्षान्तरस्यापि भावात्, यत्पुनः पारमार्थिकं पूर्णत्वं, तत्र न फलान्तरं संभवेत्—सर्वत एव साकाङ्क्षत्वस्य संक्षयात् ॥ २०९ ॥

तदाह

फलं सर्वमपूर्णत्वे तत्र तत्र प्रकल्पितम् ।
अकल्पिते हि पूर्णत्वे फलमन्यत्किमुच्यताम् ॥ २१० ॥

पूर्णत्व इति—पूर्णत्वनिमित्तम्, तत्रेति—सर्वस्मिन् फले ॥ २१० ॥

एतदेव सप्रशंसमुपसंहरति

एष यागविधिः कोऽपि कस्यापि हृदि वर्तते ।
यस्य प्रसीदेच्चिच्चक्रं द्रागपश्चिमजन्मनः ॥ २११ ॥

नन्वेवंविधस्य यागविधेरधिगममात्रादेव किं नामानन्यसामान्यत्वमस्य भवेत् यदेवमुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

अत्र यागे गतो रूढिं कैवल्यमधिगच्छति ।
लोकैरालोक्यमानो हि देहबन्धविधौ स्थितः ॥ २१२ ॥

गँवा देता है। इच्छाओं का अन्त नहीं। एक के बाद एक इच्छा उत्पन्न होती रहती है। उसकी कोई परा काष्ठा नहीं। इच्छा रहित होने पर किसी अन्य फल की कामना ही शेष नहीं रहती क्यों कि यहाँ साकांक्षता का सर्वथा विनाश हो जाता है ॥ २०९ ॥

वही कह रहे हैं—

अपूर्णता की स्थिति में ही फल महत्त्व पूर्ण लगता है। पूर्णता के परिवेश में दूसरे किसी फल की कल्पना ही शेष नहीं रहती है ॥ २१० ॥

इसी का विशेषतः उपसंहार कर रहे हैं—

यह कोई चमत्कार पूर्ण अन्तर्याग किसी के भी हृदय में सम्पन्न हो सकता है। किसी भाग्यशाली साधक पर ही यह चितिका चन्द्रहास अपना चिरन्तन अमृत-चषक उड़ेलता है ॥२११॥

अत्र—एवं विधे यागे, लब्धप्ररोहः कश्चिदपश्चिमजन्मा देहबन्धविधौ स्थितोऽपि—जीवन्नपि, लौकैः—बद्धात्मभिरन्यैः

'ग्राह्यग्राहकभावो हि सामान्यः सर्वदेहिनाम् ।'

इत्याद्युक्त्या समानकक्ष्यतयैव व्यवहरन्नालोक्यमानः, कैवल्यमधिगच्छति ग्राह्यग्राहकभावाद्यात्मकभेदापहस्तनेन प्रत्यभिज्ञातशिवस्वभावस्वात्ममात्ररूपतया प्रस्फुरतीत्यर्थः, अयमेव हि समानेऽपि व्यवहारे बद्धमुक्तयोर्विशेषो-यन्मुक्तस्य स्वाङ्गरूपतया भावा अवभासन्ते, बद्धस्य तु स्वरूपतः परस्परतश्चात्यन्तं भेदेनेति, यदुक्तम्—

'मेयं साधारणं मुक्तः स्वात्माभेदेन मन्यते ।
महेश्वरो यथा बद्धः पुनरत्यन्तभेदवत् ॥' इति ॥२१२॥

अत एव जीवन्मुक्तविषयतया भगवानपि एवमभ्यधात्, इत्याह

अत्र नाथः समाचारं पटलेऽष्टादशेऽभ्यधात् ।

अष्टादशे पटले–प्रकृतत्वात् श्रीमालिनीविजयसत्के ॥

अत्रत्यमेव ग्रन्थं पठति

इस यागविधि के ज्ञान से साधक में जो वैशिष्ट्य उत्पन्न होता है, उसके सम्बन्ध में कह रहे हैं—

इस याग में जो धन्य साधक आरूढ हो जाता है, वह अवश्य ही कैवल्य प्राप्त करता है। यद्यपि लौकिक लोगों को वह शरीरधारी दीख पड़ता है फिर भी वह चिन्मयता के चमत्कार से चिन्तक-चक्र-चूडामणि बन जाता है। "ग्राह्य ग्राहक भाव तो सामान्यतया सभी में होता है।" इस उक्ति के अनुसार सामान्य सा दीख पड़ने वाला वह पुरुष असामान्य हो जाता है। उसे शैव महाभाव प्रत्यभिज्ञात हो उठता है। "मुक्त पुरुष प्रमेय मात्र को स्वात्म से अभिन्न मान कर व्यवहार करता है और महेश्वर तुल्य होता है। जब कि पुद्गल पुरुष भेद वाद की दृष्टि से जगत् को देखता है ॥२१२॥

इस विषय में श्री मालिनी विजयोत्तर तन्त्र के अठारहवें अधिकार के श्लोक ७४ से ८१ के द्वारा भगवान् ने स्वयं देवी के समक्ष अपने विचार व्यक्त किये हैं। यहाँ उन्हीं श्लोकों को उद्धृत किया गया है—

नात्र शुद्धिर्न चाशुद्धिर्न भक्ष्यादिविचारणम् ॥ २१३ ॥
न द्वैतं नापि चाद्वैतं लिङ्गपूजादिकं न च ।
न चापि तत्परित्यागो निष्परिग्रहतापि वा ॥ २१४ ॥
सपरिग्रहता वापि जटाभस्मादिसंग्रहः ।
तत्त्यागो न व्रतादीनां चरणाचरणं च यत् ॥ २१५ ॥
क्षेत्रादिसंप्रवेशश्च समयादिप्रपालनम् ।
परस्वरूपलिङ्गादि नामगोत्रादिकं च यत् ॥ २१६ ॥
नास्मिन्विधीयते किंचिन्न चापि प्रतिषिध्यते ।
विहितं सर्वमेवात्र प्रतिषिद्धमथापि च ॥ २१७ ॥
किं त्वेतदत्र देवेशि नियमेन विधीयते ।
तत्त्वे चेतः स्थिरीकार्यं सुप्रसन्नेन योगिना ॥ २१८ ॥
तच्च यस्य यथैव स्यात्स तथैव समाचरेत् ।
तत्त्वे निश्चलचित्तस्तु भुञ्जानो विषयानपि ॥ २१९ ॥

शैव महाभाव के प्रत्यभिज्ञात हो जाने बाद उस सिद्ध साधक के लिये शुद्धि अशुद्धि की आचार वादिता का कोई अर्थ नहीं रह जाता। भक्ष्य और अभक्ष्य का भी विचार अनावश्यक हो जाता है। द्वैत, अद्वैत, लिङ्ग आदिकी पूजा, न इनका त्याग और न परिग्रहण' जटा, भस्म आदि के बन्धन, व्रतों के आचरण या चातुर्मास्य आदि क्षेत्र सीमा या प्रवेश, समय चर्या का अनुपालन, दूसरा वेष, चिह्न, नाम और गोत्र इन सबका इस मार्ग में कोई विधान नहीं है। इनका प्रतिषेध भी यहाँ नहीं किया जाता।

किन्तु हे देवेश्वरी! ये कार्य नियमतः होने चाहिये। जैसे-तत्त्व में चित्तका नियमतः स्थिरीकरण! यह अनिवार्य है। यह जब जैसे जिस तरह जिस स्थिति मे हो—होना चाहिये। ऐसा निश्चलचित्त पुरुष विषयों के भोग में लगे रहने पर भी दोषों से उसी तरह प्रभावित नहीं होता जैसे कमल पत्र जल से। जैसे विष को उतारने वाले मन्त्रों और ओषधियों में सिद्ध व्यक्ति जहर खा लेने पर भी

न संस्पृश्येत दोषैः स पद्मपत्रमिवाम्भसा ।
विषापहारिमन्त्रादिसनद्धो भक्षयन्नपि ॥ २२० ॥
विषं न मुह्यते तेन तद्वद्योगी महामतिः ।

अनेन च वास्तवजप्यादिसामनन्तर्येण अनुजोद्देशोद्दिष्टस्य विधिनिषेध-तुल्यत्वस्याप्युपक्षेपः कृतः ॥ २१३-२२० ॥

एतच्च बहुक्षोदक्षमत्वेन वैषम्यात् स्वयमेव व्याचष्टे

अशुद्धं हि कथं नाम देहाद्यं पाञ्चभौतिकम् ॥ २२१ ॥
प्रकाशतातिरिक्ते किं शुद्ध्यशुद्धी हि वस्तुनः ।

यन्नाम हि पाञ्चभौतिकं देहाद्यं

'रूपादिपञ्चवर्गोऽयं विश्वमेतावदेव हि ।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या निखिलमेव जगदुदरवर्ति पदार्थजातं, तत् कथमिवाशुद्धम् अर्थात् शुद्धं वा, यतः—किं शुद्ध्यशुद्धी प्रकाशतातिरिक्ते बहिः सत्यपि वस्तुनि नीलानीलादिन्यायेन प्रतिभासविकारकारित्वाभावात् वस्तुधर्मतया न भवत इत्यर्थः, अतश्च यस्य यो न धर्मः स तथा न भवेदिति 'इदं शुद्धमिदमशुद्धम्' इति विभागो दुष्येत्, ननु अनुभवापह्नवोऽयं लोके निर्बाधस्य शुद्ध्यशुद्धि-

---

मूच्छित नहीं होता, उसी तरह योगी भी किसी प्रतिषेध से प्रभावित नहीं होता ! इस तरह उक्त कथन से वास्तविक जप ध्यान आदि की समानता के स्तर के विधि–निषेधादि अनुजोद्देश से उद्दिष्ट विधियों का भी यहाँ उपक्षेप कर लिया गया है ॥२१३–२२०॥

इस प्रकरण में बड़ा क्षोद क्षेम है। इससे बात विषम सी हो गयी है। इसका स्पष्टीकरण कर रहे है—

यह पाञ्चभौतिक देह आदि "रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द रूप, तन्मात्राओं और पञ्च 'महाभूतों से' बना है। इसमें शुद्धि अशुद्धि का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है ? प्रकाश तत्त्व के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं और उनकी शुद्धि अशुद्धि का कोई प्रश्न नहीं होना चाहिये। प्रकाश के अतिरिक्त किसी पदार्थ की सत्ता मानी ही नहीं जा सकती।

व्यवहारस्य दर्शनात् ? नैतत्—नहि वयं शुद्ध्यशुद्धिव्यवहारमपह्नु महे, किं तु 'ते वस्तुधर्मतया न भवतः' इत्युच्यते, प्रमाता हि व्यवस्यति—इदं शुद्धमिदमशुद्धमिति, वस्तुधर्मत्वे हि अनयोरशुद्धं न कदाचिदपि शुद्ध्येत् शुद्धमपि वा नाशुद्धं स्यात्, नहि नीलमनीलमपि कदाचिद्भवेत्—स्वभावस्यान्यथाकर्तुमशक्यत्वात्, तथात्वे च

> **'तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च ।**
> **भस्मनाद्भिर्मृदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ॥'**

इत्यादिश्रुतीनां युक्तिबाधितत्वं स्यात् ॥ २२१ ॥

एवं प्रमातृधर्मत्वेऽशुद्धं चेद्वस्त्वन्तरेण शोध्यते, तत् किं शुद्धेनाशुद्धेन वा ? इत्याह

अशुद्धस्य च भावस्य शुद्धिः स्यात्तादृशैव किम् ॥ २२२ ॥
अन्योन्याश्रयवैयर्थ्यानवस्था इत्थमत्र हि ।

एक नियम है–जो जिसका धर्म नहीं है वह वस्तु वह नहीं हो सकती। यह शुद्ध और यह अशुद्ध है यह विचार ही दूषित है। लोक में यह व्यवहार में और प्रचलन में है—यह तर्क भी अमान्य है। हम तो शुद्धि और अशुद्धि को वस्तु का धर्म नहीं मानते। अन्य शुद्धि या अशुद्धि से हमारा कोई मतलब नहीं। वस्तुधर्म मान लेने पर कभो अशुद्ध की शुद्धि नहीं हो सकती। शुद्ध भी कभी अशुद्ध नहीं हो सकता। स्वभाव में परिवर्त्तन असंभव है। नोल वस्तु अनील नहीं हो सकती।

"तैजस मणियों एवं शिलानिर्मित वस्तुओं की राख, जल और मिट्टी से शुद्धि होतो है।" इस उक्ति से भी उक्त विचारों का खण्डन मण्डन यथावसर होता हो है ॥२२१॥

प्रश्न है कि यदि प्रमाता के धर्म में ही कुछ अशुद्धि हो तो क्या वह किसी दूसरी वस्तुमात्र से शुद्ध होती है ? वह शुद्ध से शुद्ध होती है अथवा अशुद्ध वस्तु से ?

तत्राशुद्धस्य पृथिव्यादेर्भावस्य तादृशेनैवाशुद्धेन जलादिना भावान्तरेण शुद्धिः स्यात्—नैष पक्षो युज्यते इत्यर्थः अत्र हि इत्थं—वक्ष्यमाणेन प्रकारेण अन्योन्याश्रयतादिदूषणजालमापतेत् ॥ २२२ ॥

तदाह

पृथिवी जलतः शुद्धयेज्जलं धरणितस्तथा ॥ २२३ ॥
अन्योन्याश्रयता सेयमशुद्धत्वेऽप्ययं क्रमः ।
अशुद्धाज्जलतः शुद्धयेद्धरेति व्यर्थता भवेत् ॥ २२४ ॥
वायुतो वारिणो वायोस्तेजसस्तस्य वान्यतः ।

अशुद्धादेव हि जलादेरशुद्धस्य पृथिव्यादेः शुद्धावुभयोरप्यविशेषात् परस्परमपि स्यात्—इतीदमन्योन्याश्रयत्वम्, एवमशुद्धस्यापि अशुद्धेनैवाशुद्धिश्चेत् क्रियते तदुभयोरप्यविशेषात् अन्योन्याश्रयत्वम् इत्युक्तम् 'अशुद्धत्वेऽप्ययं क्रम' इति, एवं वैयर्थ्याद्यपि योज्यम्, अथाशुद्धस्य पृथिव्यादेरशुद्धादेव जलादेः शुद्धिः तत्तस्याशुद्धत्वाविशेषात् स्वयमेवास्तु, किमन्येनापि अशुद्धेन जलादिना– इति वैयर्थ्यम्, अथ पृथिवी जलाच्छुद्धयेत्, जलमपि वायोः, सोऽपि तेजसः, तदप्यन्यस्मादाकाशादेः, तदप्यन्यतः—इत्यनवस्थानम्, एवमशुद्धस्य पृथिव्यादेर्भावस्य अशुद्धादन्यतो जलादेः शुद्धिर्वा न घटते, इत्युक्तं स्यात् ॥२२३-२२४॥

इसी का उत्तर दे रहे हैं कि अशुद्ध से अशुद्ध की शुद्धि नहीं हो सकती। यदि पृथ्वी अशुद्ध है तो जल भी उस मान्यता के अनुसार अशुद्ध ही हुआ। फिर अशुद्ध जल से उसकी शुद्धि कैसे हो सकती है ? इस प्रकार यहाँ एक दूसरे पर आश्रित रहना, व्यर्थता और अनवस्था आदि दोष इस मान्यता में है। अतः यह मानने के योग्य नहीं ॥२२२॥

वही कह रहे हैं कि पृथ्वी, जल, वायु आदि सभी शुद्ध से शुद्ध और अशुद्ध से अशुद्ध ही होते हैं।

अशुद्ध पदार्थ को अशुद्ध से शुद्ध करने में पुनः अशुद्धता की प्रक्रिया में अन्योन्याश्रय दोष होता है। यह शुद्धि तो अशुद्धि ही होगी। अशुद्ध से अशुद्ध की शुद्धि अशुद्धि के बराबर ही होती है। इस तरह व्यर्थता का दोष होगा। अशुद्ध की एक के बाद एक से शुद्धि की क्रिया में अनवस्था का दोष होगा। इस लिये अशुद्ध भाव की अशुद्ध से शुद्धि कभी भी नहीं होती ॥२२३–२२४॥

एवं तर्हि अन्यस्माच्छुद्धादेव शुद्धिः स्यात् इत्याह

बहुरूपादिका मन्त्राः पावनात्तेषु शुद्धता ॥ २२५ ॥

पावनादिति—अर्थात् स्वभावतः ॥ २२५ ॥

नन्वाकाशादिभूतपञ्चकगुणभूतशब्दात्मका मन्त्रा यदि स्वभावत एव शुद्धाः, तत् किमिति स्वयमेव पृथिव्यादयोऽपि स्वभावतः एव शुद्धा न स्युः ? इत्याह

मन्त्राः स्वभावतः शुद्धा यदि तेऽपि न किं तथा ।

ननु मन्त्राणां पावनत्वे शिवात्मतालक्षणं निमित्तान्तरमस्ति ? इत्याशङ्क्याह

शिवात्मता तेषु शुद्धिर्यदि तत्रापि सा न किम् ॥ २२६ ॥

ननु यदि नाम मन्त्राणां शिवात्मता पावनत्वे निमित्तं तत् तत्रापि भूतपञ्चके सा न किं भवेत्, शिवात्मता हि प्रकाशरूपत्वमुच्यते, तेन विना च न किंचिदपि स्फुरेत्, इति प्रकाशमानत्वान्यथानुपपत्त्या अस्त्येवैषां तदात्मत्वम् ॥ २२६ ॥

तो फिर किसी दूसरे शुद्ध से ही शुद्धि की जाय, इस पर कह रहे हैं—

अनेक प्रकार के मन्त्र होते हैं। ये स्वभावतः शुद्ध होते हैं। इन से अशुद्ध भावों की शुद्धि से उक्त तीनों दोषों से मुक्ति मिल सकती है ॥२२५॥

प्रश्न यहाँ भी होता है कि 'शब्द गुणकमाकाशम्' आदि परिभाषा के अनुसार आकाश जन्य अशुद्धता तो वहाँ भी व्याप्त है ? यदि शब्दात्मक मन्त्र स्वभावतः शुद्ध हैं तो पृथ्वी भी स्वभावतः शुद्ध ही मानी जानी चाहिये–इस पर प्रथम अर्द्धाली के मन्त्रों को पावन मानने पर उसमें शैवभाव स्वाभाविक होगा। उसी से शुद्धि मानी जाय इस प्रश्न का दूसरी अर्द्धाली द्वारा उत्तर दे रहे हैं—

यदि मन्त्रों की शुद्धि में उनमें स्थित शिवता कारण है तब तो यह पञ्च महाभूतों में भी कारण हो सकती है। शिवात्मता प्रकाशरूपिणी होती है। इसके विना किसी वस्तु का स्फुरण हो ही नहीं सकता। बिना प्रकाश के इनकी उपपत्ति हो ही नहीं सकती। अतः शिवात्मकता जन्य शुद्धि सवर्त्र मान्य है ॥२२६॥

अथ समानेऽपि शिवात्मत्वे मन्त्राणां मननत्राणधर्मकतया तथात्वेन परिज्ञानमस्ति, न धरादीनाम्, इति तद्वैलक्षण्येन मन्त्राणामेव शुद्धत्वमिति मतम्, इत्याह

शिवात्मत्वापरिज्ञानं न मन्त्रेषु धरादिवत् ।
ते तेन शुद्धा इति चेत्तज्ज्ञप्तिस्तर्हि शुद्धता ॥ २२७ ॥

एवं तर्हि शिवात्मत्वेन ज्ञप्तिर्नाम शुद्धतोच्यते, इत्याह 'तज्ज्ञप्तिः' इति ॥ २२७ ॥

सा च धरादिष्वपि समाना,—इत्याह

योगिनं प्रति सा चास्ति भावेष्वित विशुद्धता ।

पशुप्रायाणां हि मन्त्रेष्वपि शिवात्मत्वेन परिज्ञानं नास्ति,—इति तान् प्रति तेषां स्वकार्यकारित्वाभावात् संभावनीयमपि अशुद्धत्वम् । धरादीनां च योगिनं प्रति तत्परिज्ञानमस्ति,—इति तेषामपि विशुद्धत्वम् । एतदेव हि नाम योगिनो योगित्वं, यत्—निखिलमिदं विश्वं शिवात्मतया परिजानाति इति । यथोक्तम्

'यः पुनः सर्वतत्त्वानि वेत्त्येतानि यथार्थतः ।
स गुरुर्मत्समः प्रोक्तो मन्त्रवीर्यप्रकाशकः ॥' इति ।

शिवात्मता के सामान्य धर्म मानने पर भी मन्त्रों में मनन और त्राण दो धर्म साथ साथ ज्ञात होते हैं । पृथ्वी आदि में यह नहीं है । इस पर कह रहे हैं—

यदि मन्त्रों में शिवात्मता से मनन-त्राण धर्मता का ही ज्ञान होता है, तो यह बात फिर भी नहीं वनी । यह तो शिवात्मता से ज्ञप्ति रूप शुद्धि होगी ॥ २२७ ॥

इस सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट कर रहे हैं—

योगी पुरुषों का यही महत्त्व है कि वे इस विश्व को ही शिवात्मभाव से जानते हैं किन्तु पशुजनों में शुद्धि अशुद्धि रूप विच्छिन्न भाव ही दृढमूल होते हैं जिससे धरा आदि में समान रूप से रहने वाली शिवात्मता को वे नहीं जान पाते । कहा गया है कि 'जो यथार्थ रूप से इन पदार्थों को जानता है, वह मेरे समान ही मन्त्रों के प्रताप को प्रकाशित करने वाला गुरु है ।'' इससे सिद्ध

अतश्च यथोक्तयुक्तिबलाद्भावानां स्वात्मनि शुद्ध्यशुद्धिविभागो न सिद्ध्येत्— इत्युक्तं स्यात् ॥

ननु केनोक्तं—यद्भावानां युक्तिबलेन शुद्ध्यशुद्धिविभाग—इति, स हि शास्त्रेण व्यवस्थाप्यते,—इत्याह

ननु चोदनया शुद्ध्यशुद्ध्यादिकविनिश्चयः ॥ २२८ ॥

चोदना विधायकं वाक्यम्, यदाहुः

'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम् ।' इति,

तया यच्छुद्धतया विहितं तच्छुद्धम्, अन्यथा त्वन्यत् । यत् स्मृतिः

'ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः ।
यान्यधःस्थान्यमेध्यानि देहाच्चैव मलाश्च्युताः ॥' इति ।

आदिग्रहणेन भक्ष्याभक्ष्यादि ॥ २२८ ॥

ननु यदि नाम शुद्ध्यशुद्धिविभागे चोदनैव निमित्तं, तदस्तु को दोषः, किन्तु तदविभागेऽपि एषा शिवोदिता चोदनैव निमित्तं 'नात्र शुद्धिर्न चाशुद्धिः' इति, तदाह

इत्थमस्तु तथाप्येषा चोदनैव शिवोदिता ।

नन्वेवमुभयोरपि चोदनात्वाविशेषे का नाम तावत् प्रमाणभूता भवेत्, यदाश्रयणेन शुद्ध्याशुद्ध्यादिविनिश्चयं विधास्यामः ? इत्याशङ्क्याह

होता है कि युक्तियों से भाव पदार्थों में शुद्धि और अशुद्धि का कोई विभाजन नहीं स्वीकार हो सकता । यह बात शास्त्र से ही व्यवस्थित हो सकती है । "क्रिया के प्रवर्त्तक वाक्य को चोदना कहते हैं ।" चोदना वाक्यों से ही शुद्धि और अशुद्धिका निश्चय किया जा सकता है । स्मृति वचन है कि "नाभि के ऊपर जितनी इन्द्रियाँ हैं, वे सभी मेध्य (यज्ञीय या शुद्ध) हैं । इससे नोचे जितनी इन्द्रियाँ हैं वे अमेध्य हैं । देह से मल का निकलना तो स्वाभाविक है । यहाँ भो शुद्धि और अशुद्धि में चोदना ही कारण है ॥ २२८ ॥

वैदिक मतानुसार चोदना को शुद्धि अशुद्धि निर्णय में निमित्त मानने में कोई दोष नहीं । तन्त्र कहता है कि यहाँ शुद्धि अशुद्धि का कोई भेद नहीं । फिर क्या निर्णय किया जाय ?

का स्यात्सतीति चेदेतदन्यत्र प्रवितानितम् ॥ २२९ ॥

अन्यत्रेति, इह पुनर्ग्रन्थविस्तरभयान्न प्रवितानितमिति भावः। इह खलु समयोपस्कृतस्य शब्दस्यार्थावबोधमात्रे स्वातन्त्र्यम्, अर्थतथात्वेतरपरिनिश्चये पुरुषमुखप्रेक्षित्वात् पारतन्त्र्यमपरिहार्यम्; तेनाप्तोक्तत्वादेव असौ प्रमाणीभवति, अन्यथा पुनरप्रमाणमेव, इति निश्चयः। ततश्च वैदिक्यामस्यां वा चोदनायां साक्षात्कृतनिखिलधर्मा सकलजगदुद्दिधीर्षापर एक एव परमेश्वरः प्रामाण्यनिबन्धनं, तदुपदिष्टत्वात् सर्वशास्त्राणाम्। नच वैदिक्यां चोदनायामकर्तृत्वं वक्तुं शक्यं रचनावत्त्वात्, सर्वरचनानां कर्तृपूर्वकत्वात्; अतश्चोभयोरपि चोदनयोः सत्त्वमविशिष्टम्,—इति किमाश्रयणेन तावच्छुद्ध्यादिविवेकं कुर्मः, इति न जानीमः। न च अनयोः परस्परं बाध्यबाधकभावो युक्तः तुल्यबलत्वात्, एकतरत्र च दौर्बल्यनिमित्तानुपलम्भात्। ननु अस्त्येव एकतरत्र दौर्बल्यनिमित्तं यद्वेदबाह्यत्वं नाम श्रुत्यन्तराणाम् यदाहुः

'वेदवर्त्मानुवर्ती च प्रायेण सकलो जनः।
वेदबाह्यस्तु यः कश्चिदागमो वञ्चनैव सा॥' इति।

अतश्च वेदकर्तृक एवागमान्तराणां बाधः—इति तदाश्रयेणैव युक्तः शुद्ध्यादिविभागः॥ २२९॥

ऐसे प्रसङ्गों में आप्त वचन ही प्रमाण माने जा सकते हैं। वस्तु स्थिति तो यह है कि संसार के उद्धारक परमेश्वर ही सर्वोच्च प्रमाण और निर्णायक हैं। सारे शास्त्र तो उन्हीं के उपदेश हैं।

वैदिक विधायक वाक्यों का कर्त्ता भी कोई मानना ही पड़ेगा क्योंकि ऋचायें भी तो रचना ही हैं। सारी रचनाओं के कर्त्ता तो होते ही हैं। इस लिये वैदिकी या तान्त्रिकी दोनों प्रकार की रचनायें सामान्य हैं। इनमें तुल्य बलवत्ता भी है। कुछ लोग कहते हैं कि "प्रायः सारा समाज वैदिक वचनों का ही अनुसरण करता है। वेद बाह्य आगमिक विचार तो वञ्चना रूप ही हैं।" इस उक्ति के अनुसार वैदिक उपदेशों पर ही अधिक बल है। उन्हीं के आधार पर शुद्धि और अशुद्धि का निर्णय करते हैं॥२२९॥

ननु यद्येवं तदितो बाह्यत्वाद्वैदिकीनां चोदनानामनयापि बाधः किं न भवेत् समानन्यायत्वात्, नहि एकतरत्र बलवत् किंचित्कारणमुत्पश्यामो, येन अन्यत्र नियमेन बाधः स्यात् ? तदाह

वैदिक्या बाधितेयं चेद्विपरीतं न किं भवेत् ।

ननु यद्येवं तत्परस्परव्याहतत्वादुभयमपीदमप्रमाणम्—इति न किंचित्सिद्धयेत्, ? नैतत्—ईश्वरप्रणीतत्वाख्यस्य बलवतः प्रामाण्यकारणस्योभयत्रापि सद्भावात् । तर्हि सुतरामिदमप्रामाण्यकारणं—यदेकस्मिन्नपि उपदेष्टरि परस्परव्याहतत्वं नामेति, ? नैतत्—अधिकारिभेदेन तथोपदेशात् । भगवता हि शुद्धयादि सामान्येन सर्वपुरुषविषयतया चोदितं, विशिष्टविषयतयात्विदम्, इति न कश्चिदनयोरप्रामाण्यपर्यवसायी दोषः, तत् उभयोरपि चोदनयोभिन्नविषयत्वेनावस्थितेः सत्त्वमविशिष्टमेव, इति सिद्धम् ।

ननु कथमनयोरविशिष्टं सत्त्वं शुद्धयादिविधेः सर्वपुरुषविषयतया प्रवृत्तावपि क्वचिद्विषये बाधात् ? इत्याशङ्कयाह

सम्यक्चेन्मन्यसे बाधो विशिष्टविषयत्वतः ॥ २३० ॥
अपवादेन कर्तव्यः सामान्यविहिते विधौ ।

यदि नाम बाधावृत्तं सम्यगवबुद्धयते, तन्न कस्या अपि चोदनायाः सत्त्वहानिः । तथाहि—निरवकाशत्वाद्विशेषात्मा अपवादविधिः सर्वत्र लब्धावकाशं सामान्यात्मकमुत्सर्गविधिं बाधते, इति वाक्यविदः ।

वैदिक विधायक वाक्यों का आगम द्वारा और आगमिक उपदेशों का वेद वचनों द्वारा भी बाध होता ही है । किसी एक की प्रधानता में कोई कारण नहं दीखता । इस पर लोग कहते हैं कि दोनों परम्पर बाधित हैं । अतः दोनों ही अप्रमाणिक हैं, यह बात भी मान्य नहीं हो सकती क्यों कि दोनों उपदेश भगवत्प्रद हैं । दोनों में समान बलवत्ता है । एक उपदेष्टा की दो विरोधी बातें भी कभी अप्रामाणिक नहीं होतीं क्योंकि अधिकारी के स्तर के अनुसार उपदेश होते हैं । इस तरह दोनों धाराओं में अप्रामाणिकता नाम की कोई बस्तु नहीं । अतः दोनों में समान बलवत्ता माननी ही उचित है ।

उपदेशों का सम्यक् अर्थ और उनकी प्रासङ्गिकता पर पूर्ण विचार करके ही सत्व निर्णय उचित है । वाक्य शास्त्र के विद्वान् कहते है कि 'अपवाद विधि के लिये कहीं अवकाश नहीं होता । इस लिये वह प्रबल होती है । परिणामतः सर्वत्रप्राय चरितार्थ होने वाली उत्सर्ग विधि के प्रवर्त्तन में बाधक होती है ।

सर्वविषयावष्टम्भेन लब्ध प्रतिष्ठोऽपि हि उत्सर्गविधिरपवादविधेर्विशिष्टं विषयं परिकल्प्य विषयान्तरे निर्बाधमभिनिविष्टो भवेत्। यदाह चूर्णिकाकारः

'प्रकल्प्यापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते।' इति।

अत एवास्य क्वचिद्बाध्यत्वेऽपि अप्रामाण्यं नाशङ्कनीयं विषयान्तरे प्रमाणरूपत्वेन प्रतिष्ठानात्। स च द्विधा बाधः समानकार्यकारित्वाद्विरोधाद्वा। तत्र

'चमसेनापः प्रणयेत्।'

इति चमसेनापां प्रणयनं सामान्येन विहितम्

'गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्।'

इति पशुकामात्मविशिष्टविषयत्वेन अपवादात्मा गोदोहनविधिः अप्प्रणयनलक्षण-समानकार्यकारित्वाद्बाधते।

'अष्टाश्रिर्यूपो भवति।'

इति सामान्येन सर्वक्रतुविषयतया विहितोऽपि अष्टाश्रिर्यूपः

'वाजपेयस्य चतुरश्रः।'

इत्यनेन अपवादविधिना विरोधाद्बाध्यते ॥ २३० ॥

यद्यपि उत्सर्ग विषय महत्त्वपूर्ण है फिर भी अपवाद विधि के विशिष्ट विषय को छोड़ कर दूसरे स्थानों पर निर्बाध रूप से लागू होती है। 'चूर्णिका' के रचयिता की उक्ति है—

"अपवाद विधि के विषय का प्रकल्पन कर उत्सर्ग विधि स्वतन्त्र रूप से प्रवर्त्तित होती है।" इसलिये कहीं बाध हो जाने पर कोई विधि अप्रामाणिक नहीं हो सकती। किसी दूसरे स्थान पर तो वह प्रमाण का काम करती ही है। यह बाध भी दो प्रकार का होता है। १—समान कार्य कारी रूप से अथवा २—विरोध रूप से। 'चमस द्वारा जल का प्रणयन' अर्थात् विशेषतया क्रमशः अवस्थापन सामान्यतया यहाँ विहित है। किन्तु प्रणीता-प्रोक्षणी में पशु की इच्छा करने वाले के लिये "गोदोहन पात्र द्वारा प्रणयन" की विधि अपवाद है। अतः यह विशेष अपवाद विधि चमस वाली उत्सर्ग विधि को बाध देती है। इसी तरह आठकोणों वाले यूप को वाजपेय का "चौपहला यूप हो" यह विधि भी बाधती है ॥२३०॥

ननु एवमपि प्रकृते किम् ? इत्याशङ्क्याह

शुद्ध्यशुद्धी च सामान्यविहिते तत्त्वबोधिनि ॥ २३१ ॥
पुंसि ते बाधिते एव तथा चात्रेति वर्णितम् ।

वैदिक्या चोदनया सामान्येन सर्वपुरुषविषयतया विहिते अपि ते शुद्ध्यशुद्धी तत्त्वज्ञविषये अर्थाद्विरोधेन बाधिते एव, न न बाधिते भवत इत्यर्थः । अत्र हेतुः 'तथा चात्रेति वर्णितम्' इति,

'नात्र शुद्धिर्न चाशुद्धिः.............................।'

इत्यपवादात्मतत्त्वज्ञविषयं विधिवाक्यमुक्तमित्यर्थः ॥ २३१ ॥

ननु नात्र विधिवाक्यत्वं वक्तुं युक्तं निर्बाधस्य शुद्ध्यशुद्धिविभागस्य लोके दर्शनात्, प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरविरुद्धत्वात्, तेनावश्यमनेन अर्थवादेन भाव्यं, तद्धि भूम्ना विध्येकवाक्यतयोच्यते; अतश्च तदर्थेनैव अस्यार्थवत्त्वं न स्वतः; अत एवास्य स्वरूपपरत्वाभावान्न प्रमाणान्तरविरोधः । अर्थवादवाक्याद्धि विधौ श्रद्धातिशयो जायते, येन तत्र सादरं प्रवर्तते लोकः । यदाहुः

'विधिशक्तिरवसीदति तां प्राशस्त्यज्ञानं समुत्तम्भाति ।' इति ।

तेन

'मृच्छैलधातुरत्नादिभवं लिङ्गं न पूजयेत् ।
यजेदाध्यात्मिकं लिङ्गं यत्र लीनं चराचरम् ॥'

इतना शास्त्रार्थ का आडम्बर किस काम का ? प्रकृत प्रसङ्ग में तो कोई निर्णय नहीं हुआ ! इस पर कह रहे हैं—

वैदिक विधायक वाक्य सामान्यतया सब के लिये विहित होने पर भी तत्त्ववेत्ता पुरुष के प्रसङ्गानुकूल निर्णय रूपी अपवाद विधि से वह विधि अवश्य बाधित हो जाती है । ऊपर २१२ वें श्लोक में यही कहा गया है ॥२३१॥

"जब विधि की शक्ति का अन्त दीख पड़ने लगता है तब प्रशन्सा उसे नयी शक्ति देती है ।" इससे "मिट्टी शिला, धातु रत्नादि से बने लिङ्ग की पूजा नहीं करनी चाहिये । आध्यात्मिक लिङ्ग ही अर्चनीय है । उसी में यह

इत्यादेः श्रूयमाणस्य सर्वनिर्विकल्पेन योगिना भाव्यम्,—इत्यादेः परिकल्प्यमानस्य वा विधेः प्ररोचनाकारितया शेषभूतोऽयमर्थवाद एव ? इत्याशङ्क्याह

नार्थवादादिशङ्का च वाक्ये माहेश्वरे भवेत् ॥ २३२ ॥

यदुक्तम्

'विधिवाक्यमिदं तन्त्रं नार्थवादः कदाचन ।
झगिति प्रत्यवायेषु सत्क्रियाणां फलेष्वपि ॥' इति ।

तथा ।

'......................**नार्थवादः शिवागमः ।'** इति ।

माहेश्वर इति विशेषणद्वारेण महेश्वरप्रणीतत्वं हेतुरुक्तः; यन्नाम हि बुद्धिमान् प्रयुङ्क्ते तन्न कदाचिद् व्यर्थं भवेदिति भावः ॥ २३२ ॥

यत् पुनर्बुद्धिमता न प्रयुक्तं तत्रैवं संभावना भवेत्,—इत्याह

अबुद्धिपूर्वं हि तथा संस्थिते सततं भवेत् ।
व्योमादिरूपे निगमे शङ्का मिथ्यार्थतां प्रति ॥ २३३ ॥

चराचर जगत् लीन है।" इन उक्तियों से यह स्पष्ट होता है कि योगी को सर्वथा विकल्पों का परित्याग कर आत्मस्थ रहना चाहिये।" यहाँ भी एक विधि की परिकल्पना है। किसी विधि की प्ररोचना भी यहाँ नहीं है। इसे अर्थवाद भी नहीं कह सकते। यद्यपि अर्थ वाद से विधि में श्रद्धा होती है। कहा गया है कि

माहेश्वर उपदेशों में कभी अर्थवाद की शङ्का नहीं करनी चाहिये। वस्तुतः यह विधिवादी तन्त्र है। यहाँ अर्थवाद को अवकाश नहीं। बड़े से बड़े विघ्नों में भी और अच्छे कामों के फलों में भी केवल विधि सम्मत आदेश ही विहित हैं।" और "शिवागम अर्थवाद नहीं है।" एक तो परमेश्वर का आदेश और दूसरे तत्त्ववेत्ता द्वारा प्रयोग ! यहाँ विधि की व्यर्थता की भी कोई बात नहीं उठती। इन उक्तियों से तान्त्रिक दृष्टिकोण का समर्थन होता है ॥२३२॥

जहाँ बुद्धिमत्ता पूर्वक विधान नहीं होते जैसे वेद पाठ आदि वहाँ विधि व्यर्थता की सम्भावना की चर्चा कर रहे हैं—

इह खलु निगमे वेदशास्त्रे, सततं विधिवाक्यानामर्थवादवाक्यानां वा श्रुतिकाले, मिथ्यार्थतां प्रति असदर्थत्वविषये प्रेक्षापूर्वकारिणां शङ्का भवति, इति संभाव्यं; यतः स परमते घनगर्जितवदबुद्धिपूर्वम् अबुद्धिमत्कर्तृकत्वेन तथा विध्यर्थवादादिरूपतया संस्थितः; अत एवानर्थक्येन शून्यप्रायत्वात् 'व्योमादिरूपे' इत्युक्तम् यदभिप्रायेणैव

'आप्तं तमेव भगवन्तमनादिमीश-
माश्रित्य विश्वसिति वेदवचस्सु लोकः ।
तेषामकर्तृकतया तु न कश्चिदेव
विस्रम्भमेति मतमानिति वर्णितं प्राक् ॥'

इत्याद्यन्यत्रोक्तम् ॥ २३३ ॥

यत्र पुनरनवच्छिन्नविज्ञानात्मा परमेश्वर एव शास्त्ररूपेणावस्थितः, तत्र का नाम मिथ्यार्थत्वं प्रति शङ्का भवेत् ? इत्याह

अनवच्छिन्नविज्ञानवैश्वरूप्यसुनिर्भरः ।
शास्त्रात्मना स्थितो देवो मिथ्यात्वं क्वापि नार्हति ॥२३४ ॥

'मिथ्यात्वं क्वापि नार्हति' इत्यत्र पूर्वार्धं हेतुः ॥ २३४ ॥

वेदों के विधि वाक्यों तथा अर्थवाद वाक्यों के सुनने पर (चूँकि वे घन गर्जन के समान अबुद्धिमत्ता पूर्वक उच्चरित होते हैं) उनकी मिथ्यार्थता की शङ्का हो सकती है। अर्थ समझ में न आने से वे शून्य समान अनर्थक लगने लगते हैं। वेदों के सम्बन्ध में एक उक्ति है—"वेदवाणी में लोग इस लिये विश्वास करते हैं कि यह अनादि अनन्त परमेश्वर की आप्त वाणी है। इस आधार पर विश्वास नहीं करते कि इनका रचयिता कोई नहीं है।" इस कथन से वेद-वचन प्रयोग में बुद्धिमत्ता और आप्त वाणी में श्रद्धा आवश्यक है—यह सिद्ध होता है ॥ २३३ ॥

आगम में शाश्वत ज्ञानात्मक प्रकाशरूप परमेश्वर ही शास्त्र रूप में अवस्थित हैं—इसकी व्यर्थता की शङ्का के लिये कोई स्थान नहीं। यही कह रहे हैं—

बोधवह्नि के अनवच्छिन्न अखण्ड प्रकाश रूप से परमेश्वर शाश्वत उल्लसित है। वही विश्व रूप में प्रस्फुरित है। आगम विज्ञान रूप शास्त्र में वही व्यक्त है। इस में असत्य की कल्पना भी अनर्थ है॥२२४॥

नन्वीश्वरः सर्वशास्त्राणां प्रणेता,—इत्यधिगतमस्माभिः, ननु स एव तदात्मनावस्थितः,—इत्यपूर्वमिदं किमुच्यते ? इत्याशङ्क्याह

इच्छावान्भावरूपेण यथा तिष्ठासुरीश्वरः ।
तत्स्वरूपाभिधानेन तिष्ठासुः स तथा स्थितः ॥ २३५ ॥

यथा खलु परमेश्वरः स्वेच्छामाहात्म्याद्वाच्यात्मप्रमातृप्रमेयादिभावरूपेण स्थातुमिच्छुः सन्, तथा वाच्यात्मविश्वरूपतया स्थितः; तथाशब्दस्यावृत्त्या तथा तद्वदेव तस्य प्रमातृप्रमेयात्मनो वाच्यस्य विश्वस्य यत् स्वम् अन्यापोढं रूपं, तस्याभिधानेन वाचकतया स्थातुमिच्छुः सत्, तथा वाचकात्मशास्त्ररूपतया स्थित इत्यर्थः ॥ २३५ ॥

एवमपि यद्यस्य क्वचिन्मिथ्यार्थत्वं स्यात् तदपि न कश्चिद्दोषः,—इत्याह

अर्थवादोऽपि यत्रान्यविध्यादिमुखमीक्षते ।
तत्रास्त्वसत्यः स्वातन्त्र्ये स एव तु विधायकः ॥२३६ ॥

प्रश्न है कि शास्त्रप्रणेता तो परमेश्वर हो सकता है । वह शास्त्र रूप में कैसे व्यक्त हो सकता है ? इसी का उत्तर दे रहे हैं—

ईश्वर जब अपनी ही शक्ति-रूपा इच्छा के परिवेश में प्रवेश करता है तो वह भाव रूप से सत्ता और अस्तित्व के प्रतीक प्रमेय या वाच्य रूपों को स्वीकार कर उसमें स्थित हो जाता है। विशिष्ट विशिष्ट नामों में वह व्यक्त हो जाता है। शब्द और नाम वाचक होते हैं। यह वाच्य वाचक भाव ईश्वर का मध्यावस्थान है। शास्त्र भी ईश्वर के वाचक हैं। शास्त्रों में सत्य ईश्वर का ऐश्वर्य वर्णित है। वहाँ मिथ्यात्व का लेश भी, नहीं है ॥२३५॥

कहीं यदि मिथ्यात्व का सम्पर्क भी हो तो भी कोई दोष नहीं। यही कह रहे हैं—

जहाँ स्तुति और निन्दा परक अर्थवाद होता है, वह वास्तव में विधि-निषेध परक दूसरे वाक्यों के अङ्ग रूप में व्यक्त होता है। वह परमात्मस्वरूप परक नहीं रहता। सम्भव है, वहाँ असत्य हो, पर इसमें कोई दोष नहीं। क्योंकि उसका प्रतिपाद्य तो विधि या निषेध होता है। उसके विषय में कहते हैं—

यत्र खलु स्तुतिनिन्दादिरूपोऽर्थवादोऽन्यस्य विधिनिषेधात्मनो विधिवाक्यस्याङ्गभावमियात् तत्र स्वरूपपरत्वाभावादसावसत्योऽस्तु न कश्चिद्दोषः; नहि अस्य यथाश्रुतोऽर्थः प्रतिपाद्यः, किंतु विधेयो निषेध्यो वा, यदस्याङ्गभावेन प्रतिष्ठानम्; अत एव विधिवाक्यैकवाक्यतयैव अस्य प्रामाण्यम्—इति वाक्यविदः। यदाहुः

'इत्यर्थवादा विधिनैकवाक्यभावात्प्रमाणत्वममी भजन्ते ॥' इति।

तथाहि

'बर्हिषि रजतं न देयम्।'

इत्यस्य विधेः शेषभूतस्य

'सोऽरोदीद्यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्।'

इत्यादेरर्थवादस्य रुद्ररोदनादि प्रतिपाद्यं, किंतु

'बर्हिषि यो रजतं ददाति पुरास्य संवत्सराद्गृहे रोदनं भवति।'

इति 'बर्हिषि रजतं न देयम्' इति। स एव पुनरर्थवादो यद्यन्याङ्गभावं न यायात् तदा विधायको यथाश्रुतार्थप्रतिपादको भवेदित्यर्थः। 'सोऽरोदीत्' इत्यादावर्थवादवाक्ये हि

'रुद्रो रुरोद तस्य यदश्रु अशीर्यत तद्रजतमभवत्।' इति।

इतिवृत्तप्रतिपादनं सत्यार्थमेवेदम्, एवं प्रायाणां बहूनामितिवृतानां सत्यत्वेनेष्टेः। तदुक्तम्

'यद्वा स्वरूपपरतामपि संस्पृशन्तः
प्रामाण्यवर्त्मन इमे न परिच्यवन्ते।
नैयायिका हि पुरुषातिशयं वदन्तो
वृत्तान्तवर्णनमपीह यथार्थमाहुः ॥' इति ॥२३६॥

अर्थवाद की एकवाक्यता विधि के साथ होती है। उनका वहीं प्रामाण्य है।" तथा "कुश या अग्नि प्रकरण में रजत नहीं देना चाहिये" इस विधि वाक्य में रुद्ररोदन का प्रतिपादन लक्ष्य है। लिखा है कि "जो यजमान अग्नि प्रक्रिया में रजत देता है, एक साल के अन्दर ही उसके घर में रुदन होता है। इसी लिये रजत दान का निषेध है।' "रुद्र ने रोदन किया। उनके आँसू गिरे और वे रजत हो गये।" इस वाक्य में रुद्र रोदन अर्थवाद है।

न केवलमस्य स्वातन्त्र्य एव सत्यार्थत्वं यावत्पारतन्त्र्येऽपि,—इत्याह

विधिवाक्यान्तरे गच्छन्नङ्गभावमथापि वा ।
न निरर्थक एवायं संनिधेर्गजडादिवत् ॥ २३७ ॥

यद्वा विधिनिषेधात्मना विधिवाक्यस्याङ्गभावं गच्छन्नपि अयमर्थवादः संनिहितत्वान्न निरर्थक एव भवेत् । अत्र दृष्टान्तः 'गजडादिवत्' इति । यथाहि पदाद्यङ्गत्वेन संनिहिता वर्णा न निरर्थकाः तथायमपीति । वर्णानामानार्थक्ये हि वर्णव्यत्ययेऽर्थान्तरगमनं न स्यात्, यथा गजः जडः षोडः (?) संघातस्यापि अर्थवत्त्वं न स्यात्—अवयवानामानर्थक्ये हि समुदायोऽप्यनर्थक एव भवेत्, तथा एकस्या अपि सिकतायास्तैलदानासामर्थ्ये सत्समुदायो राशिरप्यसमर्थः—इति । एवमर्थवादस्यापि आनर्थक्ये सत्संनिधानेन विधीयमाने निषिध्यमाने वार्थे सादरं प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा न स्यात् । 'सोऽरोदीत्' इत्यादौ हि रोदनप्रभवं रजतं निन्दितुमेवमुक्तं, येन बर्हिषि तद्दानात् सादरं निवृत्तिर्भवेत् । लोकेऽपि खलु 'इयं गौः क्रेतव्या' इत्यतो न तथा क्रेतारः प्रवर्तन्ते, यथा 'एषा बहुस्निग्धक्षीरा

इस इतिवृत्त का प्रतिपादन इसका लक्ष्य है, जो सत्य को बताने के प्रयोजन से लिखा गया है । कहा गया है कि "स्वरूप परक होने पर भी इनके प्रामाण्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता । न्याय शास्त्र के विद्वान् पुरुष के आतिशय्य का वर्णन करते हुए वृत्तान्त वर्णन को भी यथार्थ ही कहते हैं" ॥२३६॥

विधिवाक्य का अङ्ग होने पर भी यह मिथ्या नहीं होता । यही कह रहे हैं—

गजड एक शब्द है । देखने में निरर्थक है । यदि 'ज' अक्षर को उभय-निष्ठ मान कर पढ़ें तो एक ओर गज और दूसरी ओर जड शब्द उदित हो जाते हैं । इस तरह 'गजड' अनर्थक नहीं है—यह स्पष्ट हो जाता है । अवयव और समुदाय रूप बालू का एक कण और बालू की राशि दोनों तेल नहीं दे सकते । दोनों में तैल दान रूप असामर्थ्य है । इसी तरह अर्थवाद भी परतन्त्र होते हैं । विधि परक या निषेध परक वाक्यों के अनुसार ही इनकी प्रवृत्ति या निवृत्ति सम्भव है । रोदन से उत्पन्न रजत की निन्दा' करने के लिये ही रजत दान का

सुशीला स्त्र्यपत्यानघप्रजा च' इत्येवमादिभ्यः स्तुतिपदेभ्यः,—इति स्वानुभव-साक्षिकोऽयमर्थः ॥ २३७ ॥

अत आह

स्वार्थप्रत्यायनं चास्य स्वसंवित्त्यैव भासते ।
तदपह्नवनं कर्तुं शक्यं विधिनिषेधयोः ॥ २३८ ॥

अथ यद्येतत् बलात्कारेणापह्नूयते तत् विधिनिषेधात्मनो विधिवाक्य-स्यापि अर्थापह्नवः कर्तुं शक्यः,—इत्याह 'तदपह्नवनम्' इत्यादि ॥ २३८ ॥

न केवलमत्र स्वसंवित्तिरेव साधकं प्रमाणमस्ति, यावद्युक्तिरपि—इत्याह

युक्तिश्चात्रास्ति वाक्येषु स्वसंविच्चाप्यबाधिता ।
या समग्रार्थमाणिक्यतत्त्वनिश्चयकारिणी ॥ २३९ ॥

युक्तिरिति समान्तरोक्ता ॥ २३९ ॥

निषेध किया गया है। लोक में भी अर्थवाद चलता है। 'यह गाय खरीदने लायक है' इस कथन से उतनी खरीदने की इच्छा नही होगी जितनी यह कहने पर कि यह गाय तो कामधेनु है, बछड़ा ही जनती है तथा इसका दूध तो अमृत है आदि प्रशंसा से क्रय की इच्छा जागृत होती है। यह अनुभूत परिस्थितियाँ लोक और वेद में सामान्य हैं ॥२३७॥

इस लिये कहते हैं—

अपने स्वारसिक अर्थ की जानकारी अपनी संवित्ति के बल पर ही हो जाती है। उसका आभास हो जाता है। इसमें किसी अर्थ को छिपाने की कोई आवश्यकता नहीं। अन्यथा विधि निषेध वाक्यों का भी अपह्नव होने लगेगा ॥ २३८ ॥

स्वात्म संवित्ति तो साधक प्रमाण ही है। कुछ युक्तियाँ इसमें साधक बनती हैं। यही कह रहे हैं—

स्वात्मसंवित्ति और निर्बाध युक्तियाँ भी तात्पर्यार्थ रूप माणिक्य का तात्त्विक निश्चय कर लेती हैं ॥२३९॥

ननु भवतु नामेदमर्थवादवाक्यं विधिवाक्यं वा किमनया नश्चिन्तया, तत्रापि वेदशास्त्रोक्तः शुद्धयादिविभागस्तावत् यथोक्तयुक्त्या बाधितः अनेन च न किंचिच्छुद्धं विहितं नाप्यशुद्धं तृतीयश्च राशिर्नास्ति,—इति शुद्धयशुद्धिविधानमेव न सिद्धयेत् ? इत्याशङ्कयाह

मृतदेहेऽथ देहोत्थे या चाशुद्धिः प्रकीर्तिता ।
अन्यत्र नेति बुद्‌धचन्तामशुद्‌धं संविदश्च्युतम् ।। २४० ।।
संवित्तादात्म्यमापन्नं सर्वं शुद्‌धमतः स्थितम् ।

वेदशास्त्रे हि मृतदेहे देहाच्चयुते मलादौ च यदशुद्धिरुक्ता अन्यत्र जीवद्देहे देहस्य एव मलादौ च न,—इत्यतः संवित्सहभावासहभावनिबन्धनाद्धेतोः संविदः सकाशात् यत् च्युतं भिन्नं तदशुद्धं बुद्धचन्तां विशेषानुपादानात् सर्वं एवावगच्छन्त्वित्यर्थः । अत एव च यत्किंचित् संविदैक्यमापन्नं तत् सर्वं शुद्धमिति; तेन संविदैकात्म्यानैकात्म्याभ्यां सर्वत्र शुद्धयशुद्धिविभागः, इति स्थितं सिद्धम् ।। २४० ।।

न च एतद्युक्तिमात्रेणैव सिद्धं यावदागमेनापि,—इत्याह

श्रीमद्वीरावलौ चोक्तं शुद्‌धचशुदि्धनिरूपणे ।। २४१ ।।

अर्थवाद और विधिवाक्य के व्यर्थ विवाद को छोड़ कर शुद्धि अशुद्धि पर विचार किया गया । यहाँ भी युक्ति से बाधा खड़ी हो गयी । शुद्धि अशुद्धि का निश्चय नहीं हुआ । बीच की कोई स्थिति नहीं है । तो फिर क्या माना जाय ? इस पर कह रहे हैं—

वेद शास्त्रों में मृत शरीर और देह से निकले मल आदि में जिस अशुद्धिका निर्देश किया गया है, वैसा निर्देश जीते शरीर या देहस्थ मल के सम्बन्ध में नहीं किया गया है । वस्तुतः जो संवित् से च्युत है, उसे ही अशुद्ध कहना उचित है । संवित् तादात्म्य में ही शुद्धि को स्वीकार करना चाहिये । निष्कर्षतः यह कहा जा सकता कि संविद् शक्ति से ऐकात्म्यही शुद्धि है और अनैकात्म्य ही अशुद्धि है ।।२४०।।

युक्ति के अतिरिक्त अ'गमिक दृष्टिकोण भी प्रस्तुत कर रहे हैं—

तदेव शब्दद्वारेण पठति

सर्वेषां वाहको जीवो नास्ति किंचिदजीवकम् ।
यत्किंचिज्जीवरहितमशुद्धं तद्विजानत ॥२४२ ॥

जीवयति निखिलमिदं भूतजातं ज्ञानक्रियोत्तेजनेन प्राणयति—इति जीवः परप्रकाशः, स सर्वेषां प्रमातृप्रमेयात्मनो विश्वस्य वाहयति संधारयति—इति वाहकः स्वात्मसलग्नतयावभासक इत्यर्थः । अत्र हेतुः 'नास्ति किंचिदजीवकम्' इति, नहि प्रकाशातिरिक्त किंचिदपि भायादिति भावः । यत् पुनः किंचिज्जीव-रहितं तदैकात्म्येनासंवेद्यमानं, तदशुद्धं विजानत अनुपपत्त्यवस्करदूषितत्वात् परिहरणीयतयावगच्छतेत्यर्थ । एवं संविदतिरिक्तस्याशुद्धत्वेनाभिधानात् इतरत् पुनः शुद्धमेव,—इत्यर्थसिद्धम् ॥ २४२ ॥

तदाह

तस्माद्यत्संविदो नातिदूरे तच्छुद्धिमावहेत् ।

तदुक्तं तत्रैव

'अशुद्धं नास्ति तत्किंचित्सर्वं तत्र व्यवस्थितम् ।
यत्तेन रहितं किंचिदशुद्धं तेन जायते ॥' इति ॥

श्रीमद्वीरावलि शास्त्र में शुद्धि और अशुद्धि का पूर्ण विवेचन है। वह उन्हीं के शब्दों में यहाँ उद्धृत है :—

"सभी प्राणियों का वाहक जीव है। जीव ही ज्ञान और क्रिया के द्वारा जीवन को प्राणवान् बनाता रहता है। यह परप्रकाश रूप है। प्रमाता और प्रमेय रूप में उल्लसित विश्व का वहन करता है। यह जगत् जीव से विहीन हो कर जी नहीं सकता। जो संविद् शक्ति से रहित है, वह प्रकाशमानता से रहित है। वही अशुद्ध है ॥ २४१–२४२ ॥

इसी का प्रतिपादन कर रहे हैं—

इस लिये जो संविद् संलग्न है, वह शुद्ध है। शुद्धि का वाहक वही है। वहीं और भो कहा गया है कि "अशुद्ध तो वस्तुतः कुछ है ही नहीं क्योंकि सब कुछ संविद् में ही व्यवस्थित है। इससे जो रहित हो सकता है, वही अशुद्ध है।

नन्वेवं शुद्धयशुद्धिविभागो न कैश्चिन्महात्मभिः परिगृहीतः,–इति कथमत्र सतां समाश्वासः स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

अविकल्पेन भावेन मुनयोऽपि तथाभवन् । २४३ ॥

तथेति संविदैकात्म्यानैकात्म्याभ्यां शुद्धयशुद्धिविभागभाज इत्यर्थः । तदुक्तं तत्र

'ऋषिभिर्भक्षितं पूर्वं गोमांसं च नरोद्भवम् ।' इति ।

यदि नाम हि ते—द्रव्याणां संविदैकात्म्यमेव शुद्धिः इति न जानीयुः, तत् कथं शास्त्रबहिष्कृतं लोकविरुद्धं गोमांसादि भक्षयेयुः, अत एव हि बाह्यचर्यायाम्

'यद्द्रव्यं लोकविद्विष्टं यच्च शास्त्रबहिष्कृतम् ।
तज्जुगुप्स्यं च निन्द्यं च वीरैराहार्यमेव तत् ॥'

इत्याद्युक्त्या विकल्पप्रहाणाय लोकशाष्त्रविरुद्धं द्रव्यजातमभिहितम् । यन्नाम सर्वद्रव्याणां लोकविरुद्धत्वादि न वास्तवं रूपं, किंतु परा संविदेव,—इति किं नाम जुगुप्स्यं निन्द्यं वा सर्वत्रैव संविद्रूपत्वाविशेषात्; अत एव तत्र चित्तप्रत्यवेक्षामात्रमेव प्रयोजनं—किं संविदेकाग्रीभूतं चित्तं न वा—इति ।

प्रश्न यह होता है कि इस तरह की विभाजक रेखा किसी ने नहीं बनाई है । इस पर विश्वास कौन करेगा ? इसी का उत्तर दे रहे हैं—

संविद् एकात्म भाव और अनैकात्म्य में अविकल्प और विकल्प भावों का आकलन ऋषियों ने भी किया है। वे भी इसी विचार धारा के पोषक थे। इस विषय में वीरावलि में कहा गया है—"ऋषियों ने पहले गोमांस और मनुष्य के मांसों का भी भक्षण किया था।" इससे यह निश्चय होता है कि वे भी शुद्धि और अशुद्धि के सम्बन्ध में संविदैकात्म्य को ही महत्व देते थे। तभी तो उन्होंने ऐसा किया। अन्यथा वे ऐसा नहीं करते। इसी लिये बाह्य चर्या में कहा गया है कि, "जो वस्तु लोक से अस्वीकृत हो और शास्त्र से बहिष्कृत हो, जो जुगुप्सा घृणा और निन्दा की वस्तु हो वह 'वीर' साधकों द्वारा स्वीकार्य होती है।" इस उक्ति के द्वारा यह सिद्ध किया गया है विकल्प को विकल्प भावना से ऊपर उठ कर देखा जाय ! जब यह संस्कार दृढ़ हो जाय कि संविद् के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है, तो जुगुप्सा, घृणा और निन्दा का कोई प्रश्न ही नहीं। इस लिये शर्त यह है कि संविद् में चित्त कितना रूढ़ हो चुका है।

यदुक्तम्

'न चर्या भोगतः प्रोक्ता या ख्याता भीमरूपिणी ।
स्वचित्तप्रत्यवेक्षातः स्थिरं किं वा चलं मनः । ' इति ॥२४३॥

ननु यद्येवं तन्मुनिभिर्गोमांसानि कथमभक्ष्यतयोपदिष्टम् ? इत्याशङ्क्याह

लोकसंरक्षणार्थं तु तत्तत्त्वं तैः प्रगोपितम् ।

एवमुपदिष्टे हि अलब्धसंविदैकात्म्योऽपि लोको लोभलौल्याभ्याँ यत्तत् कुर्वाणो लोकयात्रामुच्छिन्द्यात्—इति, तत् तत्त्वं सविदद्वैतात्म पारमार्थिकं रूपं तैः प्रकर्षेण तत्तद्द्रव्यदूषणादिद्वारेण गोपितं न प्रकाशितमित्यर्थः । यदुक्तं तत्रैव

'ज्ञात्वा समरसं सर्वं दूषणादि पुनः कृतम् ।' इति

यदभिप्रायेणैव

'यत्ते कुर्युर्न तत्कुर्याद्यद्ब्रूयुस्तत्समाचरेत् ।'

इत्यादि अन्यत्रोक्तम् ।

इसी लिये कहा गया है कि "चर्या भोग से निर्धारित नहीं होती । इसे कठिन माना गया है । तटस्थ भाव से अपने चित्त का सूक्ष्म निरीक्षण करना चाहिये कि मन कितना चंचल है या स्थिर है ।" अर्थात् मन के स्थैर्य पर ही सब कुछ निर्भर करता है ॥२४३॥

यदि ऐसा है तो मुनियों ने गोमांस आदि को अभक्षणीय क्यों कहा है ? इस पर कह रहे हैं—

लोग संविद् के महत्त्व से प्रायः अपरिचित हैं । उनमें मांस आदि के प्रति लोभ और जीभ के स्वाद की लोलपुता रहती है । ऐसी अवस्था खुली छूट देने पर तो लोक यात्रा का निभाना मुश्किल हो जा सकता है । इसी लिये संविद-द्वैतत्त्व को उन्होंने रहस्य में रख कर इसे अभक्ष्य घोषित कर दिया ।

वहीं कहा गया है कि—"सब कुछ समरस जान कर दूषण में उनकी प्रवृत्ति हुई क्यों कि कोई निषिद्ध भाव नहीं आया ।" इसी अभिप्राय से यह साफ साफ कहा है कि "उन्होंने जो कुछ किया उसे करने का प्रयत्न मत करो । उन्होंने जो कुछ कहा है, वही एकाग्र मन से करो ।"

प्रश्न उपस्थित होता है कि शुद्धि और अशुद्धि पदार्थ के ऊपर निर्भर है या नहीं ? भाव वर्ग तो प्रत्यक्ष है । भाव सम्बन्धी प्रमाता की जानकारी पर यह कितना निर्भर है यही कह रहे हैं—

नन्विदं भावजातं बहीरूपतया चेन्न संभवति तत् कस्य शुद्धयशुद्धी स्यातां, यदधिकारेणापि अयं विचार आरभ्येत; अथ यदि संभवति, तद्यथैव संभवति तथैव भवेत्, किं तस्य प्रमातृसंबन्धिना परिज्ञानेन ? इत्याशङ्क्याह

बहिः सत्स्वपि भावेषु शुद्धयशुद्धी न नीलवत् ॥२४४॥
प्रमातृधर्म एवायं चिदैक्यानैक्यवेदनात् ।

बहीरूपतयाभ्युपगम्यमानेष्वपि भावेषु नीलादिन्यायेन प्रतिभासविकारकारित्वाभावात् शुद्धयशुद्धी न वस्तुनो धर्मः, किंतु प्रमातुः; प्रमाता हि चिदैक्यानैक्यवेदकतया सातिशयः संस्तथा व्यवस्यति 'इदं शुद्धमिदमशुद्धम्' इति; अत एव शुद्धयशुद्धी न नियते, कस्यचिद्धि यदशुद्धं तन्नान्यस्येति। वस्तुधर्मत्वे हि भवेन्नाम अयं नियमो—यदिदं शुद्धमिदमशुद्धम्—इति, नहि कस्यचित् नीलमप्यनीलं भवेत् ॥ २४४ ॥

ननु प्रमातुस्तत्तद्वस्तुदर्शनेनैव हि मनः प्रसीदेद्विचिकित्स्याच्च,—इति कथं न शुद्धयशुद्धी वस्तुनो धर्मः ? इत्याशङ्क्याह

यदि वा वस्तुधर्मोऽपि मात्रपेक्षानिबन्धनः ॥ २४५ ॥
सौत्रामण्यां सुरा होतुः शुद्धाऽन्यस्य विपर्ययः ।

यह सही है कि भाव वर्ग प्रत्यक्ष है, बाहर है किन्तु यह भी निश्चित है कि नील पीत आदि गुणों की तरह शुद्धि अशुद्धि नहीं होती। यह वस्तु का धर्म नहीं है। यह तो उसके विज्ञ प्रमाता पर निर्भर है कि चिद्धर्म में कितनी गहराई में उसकी पैठ है। यदि चिदैक्य दार्ढ्य है, तो सारे पदार्थ उसके लिये शुद्ध हैं। यदि नहीं तो बाहर उल्लसित विकल्पमय यह विशुद्ध विश्व भी उसे अशुद्ध ही लगेगा। इस लिये शुद्धि अशुद्धि नियत धर्म नहीं है। एक वस्तु किसी को शुद्ध लगती है और किसी को अशुद्ध। नियत होने पर जैसे नील वस्तु अनील नहीं हो सकती। उसी तरह अशुद्ध वस्तु शुद्ध नहीं हो सकती ॥ २४४ ॥

प्रमाता वस्तु के दर्शनमात्र से कभी प्रसन्न और कभी विरक्त होता है। इससे सिद्ध है कि शुद्धि अशुद्धि वस्तु का ही धर्म है। इस पर कह रहे हैं—

यदि नाम शुद्ध्यशुद्ध्योर्वस्तुधर्मत्वमभ्युपेयते, तदपि प्रमातृपारतन्त्र्यमेव अत्र निबन्धनं भवेत्। यथाहि—यमेव प्रमातारमपेक्ष्य द्वित्वबुद्धिरुपजायते तस्यैव तद्ग्रहो भवेत् नेतरस्य, तत्र तस्यैकत्वादिबुद्ध्युपजननस्यापि संभाव्यमानत्वात्; एवं येनैव प्रमात्रा यच्छुद्धतया गृहीतं तस्यैव तच्छुद्धं नास्पस्य। तथाहि—एकैव सुरा सौत्रामण्यां होतुर्याजकस्य शुद्धा अवघ्राणभक्षणादौ योग्येत्यर्थः।

'सुराया अवघ्राणः कर्तव्यः।' इति।

अन्यस्य सौत्रामण्यामयाजकस्य पुनरशुद्धा अवघ्राणादावयोग्येत्यर्थः। यत्स्मृतिः

'ब्राह्मणस्य रुजः कृत्या घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः।
जैह्म्यं च मैथुनं पुंसि जातिभ्रंशकरं स्मृतम्॥' इति।

तस्मात् वस्तुधर्मत्वेऽपि अनयोर्मात्रपेक्षानिबन्धनत्वं यदि न स्यात्, तत् सर्वानेव प्रति सुरायाः शुद्धत्वमेव भवेदशुद्धत्वमेव वेति। एवं सुरायाः सामान्येनाशुद्धत्व विहितं, सौत्रामणीहोतृविषयत्वेन विशेषश्रुत्या विरोधाद्बाधितमित्यवगन्तव्यम्॥ २४५॥

ननु उक्तवच्छैव्या चोदनया यदि वैदिकी चोदना बाधिता तद्यावदास्तां, वैदिक्या पुनश्चोदनया स्वेनैव स्वं बाध्यते,—इत्येतन्न यौक्तिकमिव नः प्रतिभासते? इत्याशङ्क्याह

यदि शुद्धि अशुद्धि को वस्तु धर्म मानें तो, वह भी प्रमाता के ही अधीन होगा। प्रमाता की अपेक्षा से पदार्थ में द्विविध धर्मता होगी। कोई प्रमाता शुद्धि और कोई अशुद्धि का ग्रहण करेगा। जैसे सौत्रामणी यज्ञ में होता के लिये सुरा शुद्ध है। वह उसे सूँघता है, उसे पीता है। कहा गया है–"सुरा को सूँघना चाहिये।" इस होता के अतिरिक्त अन्य ब्राह्मणों के लिये उसी यज्ञ में सुरा अशुद्ध है। इस सम्बन्ध में स्मृति कहती है—

"ब्राह्मण के लिये धन आदि देकर भेद पैदा करना, अघ्रेय मद्य का सूँघना, कुटिलता, पुरुष मैथुन ये रोग हैं तथा ब्राह्मणत्व भ्रष्ट करने वाले हैं।" इस लिये वस्तु धर्म रहने पर भी प्रमाता की स्वतन्त्रता के आधार पर ही शुद्धि अशुद्धि निर्भर होती है॥ २४५॥

अनेन चोदनानां च स्ववाक्यैरपि बाधनम् ॥ २४६ ॥
क्वचित्संदर्शितं ब्रह्महत्याविधिनिषेधवत् ।

'स्ववाक्यैः' इति अपवादरूपैः । 'क्वचित्' इति उत्सर्गविषये । 'संदर्शितम्' इत्यनेन यथोक्तयुक्त्या नैवमयौक्तिकत्वपर्यवसायी कश्चिद्दोषः, इति प्रकाशितम् । अपिशब्देन न केवलं शास्त्रान्तरीयैर्वाक्यैः, इत्युक्तम् । अतश्च नास्माभिरपूर्वं किंचिदुत्प्रेक्षितं—यन्नामोक्तं 'शैव्या विशेषचोदनया सामान्यात्मिका वैदिकी चोदना बाधिता' इति । न च एतत् प्रामादिकम् अपितु भूम्ना,—इति दर्शयितुं 'ब्रह्महत्याविधिनिषेधवत्' इति दृष्टान्तितम् । एवं यथा

'ब्राह्मणो न हन्तव्यः ।'

इति सामान्येन ब्रह्महत्यानिषेधो विहितः

'ब्राह्मणो ब्राह्मणमालभेत ।'

इति विशेषश्रुत्या बाधितः तथा सुराया अपि अशुद्धत्वमित्यर्थः ॥ २४६ ॥

एवं शुद्ध्यशुद्धिविषये कृतं विचारमन्यत्रापि अतिदिशति

सुरा की सामान्य विहित अशुद्धि सोत्रामणि प्रयोग की विशेष उत्सर्ग श्रुति से बाधित हो जाती है ।

इसी तरह यदि शैव विधायक वाक्यों द्वारा वैदिक विधायक वाक्य बाधित होते हैं तो यह स्वाभाविक ही है । जब स्वयं वैदिक विधायक वाक्य ही स्वयं वेद-बाधित हों तो यह अच्छा नहीं लगता । इस पर कह रहे हैं—

यहाँ यह बात नहीं है । अपवाद वाक्यों से उत्सर्ग वाक्यों का बाधित होना स्वाभाविक है । कहा गया है कि "ब्राह्मण अवध्य है ।" यहाँ सामान्य निषेध है पर "ब्राह्मण ही ब्राह्मण का वध करे ।" यहाँ विधान है । इस प्रकार बाध-निषेध, विधान और शास्त्र लोक मर्यादा सब शुद्धि अशुद्धि प्रकरण में अनिश्चय ही उत्पन्न करते हैं । शैव विधान विशेष है । इससे सामान्य श्रुति भी बाधित होती है ॥ २४६ ॥

शुद्धि और अशुद्धि के ये विचार अन्यत्र भक्ष्यादि विधियों पर भी अपना प्रभाव डालते हैं । यही कह रहे हैं—

भक्ष्यादिविधयोऽप्येनं न्यायमाश्रित्य चर्चिताः ॥ २४७ ॥

'न भक्ष्यादिविचारणम्' इत्यत्र 'नात्र भक्ष्यं न चाभक्ष्यम्' इत्यादयोऽर्थसामर्थ्यलभ्या विधयोऽपि अनेनैव न्यायेन गतार्थाः,—इत्यर्थः ॥२४७ ॥

ननु यथा शैव्या विशेषचोदनया सामान्यात्मिका वैदिकी चोदना बाध्यते तथा वैदिक्यापि शैवी चोदना किं न वा ? इत्याशङ्कां गर्भीकृत्य आगमार्थमेव दर्शयितुमुपक्रमते

सर्वज्ञानोत्तरादौ च भाषते स्म महेश्वरः ।

तदेवार्थद्वारेण पठति

नरर्षिदेवद्रुहिणविष्णुरुद्राद्युदोरितम् ॥ २४८ ॥
उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यात् पूर्वपूर्वप्रबाधकम् ।

नरोक्तस्य ऋष्युक्तं बाधकं यावद्विष्णूक्तस्य रुद्रोक्तम्, तदाह 'पूर्वपूर्वप्रबाधकम्' इति। अत्र उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यं हेतुः। सामान्यस्य हि विशेषेण बाधो न्याय्यः, इति भावः ॥ २४८ ॥

अत एव विपर्ययेण बाधो न भवेदित्याह

न शैवं वैष्णवैर्वाक्यैर्बाधनीयं कदाचन ॥ २४९ ॥

एक स्थान पर कहते हैं—'भक्ष्य आदि का विचार नहीं करना है।" इस निषेध में न तो यहाँ भक्ष्य और न अभक्ष्य की चर्चा है।" यह विध्यर्थ भी प्रतिभात होता है। ऐसे स्थानों पर भी प्रमाता ही निर्णायक होता है ॥२४७॥

दोनों प्रकार के विधायक वाक्यों से दोनों प्रकार के वाक्य बाधित होते हैं—इस पर आगम का उदाहरण दे रहे हैं—

सर्वज्ञानोत्तर में स्वयं महेश्वर की उक्ति है कि मनुष्य के कहे गये वचन ऋषि वाक्य से बाधित होते हैं। इसी प्रकार देव के कथन ब्रह्मा से, ब्रह्मा के वचन विष्णु से, विष्णु के वचन रुद्र से बाधित होते हैं। सामान्य का बाध विशेष से होता है—यह स्वाभाविक नियम है ॥ २४८ ॥

विपर्यय से बाध नहीं होते—यही कह रहे हैं—

वैष्णवं ब्रह्मसंभूतैर्नेत्यादि परिचर्चयेत् ।

'ब्रह्मसंभूतैः 'वेदवाक्यैरित्यर्थः । यच्छ्रुतिः

'प्रजापतिना चत्वारो वेदा असृज्यन्त ।' इति ।

यत्र च वैष्णवं वेदवाक्यैर्न बाध्यते तत्र शैवबाधने का वार्ता,—इत्यर्थ-सिद्धम् । आदिशब्दाद्ब्रह्मसंभूतानामपि देववाक्यैर्न बाधः,—इत्यादि ग्राह्यम् यदुक्तं तत्र

'न पुंभिरार्षवाक्यं च वैदिकं चर्षिभिस्तथा ।
न देवैर्ब्रह्मणो वाक्यं वैष्णवं पद्मजन्मजैः ॥
न शैवं विष्णुवचनैर्बाध्यते तु कदाचन ।' इति ॥२४९॥

ननु विपर्ययेणापि बाधे को दोषः ? इत्याशङ्क्याह

बाधते यो वैपरीत्यात्स मूढः पापभाग्भवेत् ॥ २५० ॥

वैपरीत्यं पूर्वेणोत्तरस्य बाधः । यदुक्तं तत्र

'यो हि बाधयते पापः स मूढो नष्टचेतनः ।
उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यं सर्वेषां परिकीर्तितम् ।।' इति ॥२५०॥

एवं सर्वोत्कृष्टत्वाच्छैव एव शास्त्रे मुख्यतया वृत्त्या निष्ठा कार्या, नान्यत्रेत्याह

शैव वाक्य वैष्णव वाक्यों से बाधित नहीं होते । इसी प्रकार से वैष्णव वाक्य भी शैव विधायक वाक्यों से बाधित नही होते । "प्रजापति ने चारों वेदों का सृजन किया ।" इस उक्ति के अनुसार वेदवाक्य ब्रह्म वाक्य भी माने जाते हैं । "पुरुष वाक्य ऋषियों से, वेद वाक्य भी ऋषियों से, देवों से; वैष्णव वाक्य वेदों से, शैववाक्य विष्णु वाक्यों से कभी बाधित नहीं होते ।" इस उक्ति के अनुसार उत्सर्ग और अपवाद विधियों की स्थिति की ओर संकेत किया गया है ॥२४९॥

विपर्यय-बाध में दोष की चर्चा कर रहे हैं—

पहले वाक्यों से उत्तर वाक्यों का बाध करने वाला पाप का भागी होता है । कहा गया है कि "उत्तरोत्तर वाक्यों की विशिष्टता के कारण पूर्व वाक्यों से उत्तर वाक्यों का बाध करने वाला चेतना शून्य अतः जड़ है ।" इससे अनुत्तर शैव वाक्यों की महत्ता सिद्ध होती है ॥२५०॥

तस्मान्मुख्यतया स्कन्द लोकधर्मान्न चाचरेत् ।

निष्ठाशून्यतया तु गौण्या वृत्त्या लोकसंरक्षणार्थं लोकधर्मानाचरतो न कश्चिद्दोषः,—इति भावः । तदुक्तं तत्र

'ये तु वर्णाश्रमाचाराः प्रायश्चिताश्च लौकिकाः ।
संबन्धान्देशधर्मांश्च प्रसिद्धान्न विचारयेत् ॥
गर्भाधानादितः कृत्वा यावदुद्वाहमेव च ।
तावत्तु वैदिकं कर्म पश्चाच्छैवे ह्यनन्यभाक् ।
न मुख्यवृत्त्या वै स्कन्द लोकधर्मान्समाचरेत् ॥' इति ।

अत एव

'अन्तः कौलो बहिः शैवो लोकाचारे तु वैदिकः ।
सारमादाय तिष्ठेत नारिकेलफलं यथा ॥'

इत्यादि अन्यत्रोक्तम् ।

ननु मुख्यया वृत्त्या यदि लोकधर्मान्नानुतिष्ठेत् तच्छैवशास्त्राङ्गभावेन किं न वा ? इत्याशङ्क्याह

नान्यशास्त्रसमुद्दिष्टं स्रोतस्युक्तं निजे चरेत् ॥ २५१ ॥

'निजे स्रोतसि' आत्मीये शास्त्रे

इस लिये सर्वोत्कृष्ट शैव वाक्यों में निष्ठा का कथन कर रहे हैं—

लोक दृष्टि से लोक धर्म का आचरण सामान्य स्तर है । अमुख्य है । निष्ठा की प्रधान दृष्टि से शैव लोकधर्म का आचरण ही श्रेयस्कर है । कहा है— "जो वर्णाश्रम सम्बन्धी आचार में लौकिक प्रायश्चित्त चलते हैं । शैव सम्प्रदाय में प्रसिद्ध सम्बन्ध और देश धर्म आदि के विचार नहीं चलते । गर्भाधान से लेकर विवाह पर्यन्त वैदिक आचार, तदनन्तर शैव आचार उचित हैं । हे स्कन्द ! शैव अद्वयवाद में मुख्य वृत्ति से लोक धर्मों का आचरण सर्वथा वर्जित है । गौण वृत्ति से कोई कर ले तो कोई दोष भी नहीं ।"

इसी लिये कहा गया है कि "आन्तरिक रूप से कौल, बाहर शैव, लोका-चार में वैदिक रहते हुए नारियल फल के समान सार-रहस्य-प्रवण रहना चाहिये ।" यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि मुख्य वृत्ति से नहीं, शैवशास्त्र का अङ्ग मान कर ही लोक धर्मों का आचरण क्यों न करें ? इस पर कह रहे हैं—

'आ कण्ठतः पिबेन्मद्यम् .... ।'

इत्याद्युक्तमेवार्थं 'चरेत्' अनुतिष्ठेत्, न पुनस्तमपास्य

'सुरा न पेया ।'

इत्यादि शास्त्रान्तरोद्दिष्टम् । भगवता हि पृथगधिकारिभेदेन परस्परविलक्षणानि शास्त्राण्युपदिष्टानि,—इत्यन्यं प्रति उपदिष्टं कथमन्यस्यानुष्ठेयं स्यात् । तदुक्तं तत्र

'नान्यशास्त्रसमुद्दिष्टं न चान्यां देवतां स्मरेत् ।
विशुद्धभावनायुक्तः शिवैकगतमानसः ।।' इति ।

एतच्च समानतन्त्रापेक्षयापि योज्यं; यतस्तान्यपि क्रियादि-भेदाद्भिन्नान्येव,— इत्यागमविदः । यदाहुः

'क्रियादिभेदभेदेन तन्त्रभेदो यतः स्मृतः ।
तस्माद्यत्र यदेवोक्तं तत्कार्यं नान्यतन्त्रतः ।।' इति ।

अपेक्षायां पुनरुत्पन्नायां शास्त्रान्तरादपेक्षणीयम्, अन्यथा हि तत्तदितिकर्तव्यता-कलापस्यापरिपूर्तिः स्यात् । तथाहि श्रीपूर्वशास्त्रे

'तत्र द्वारपतीनिष्टवा महास्त्रेणाभिमन्त्रितम् ।
पुष्पं विनिक्षिपेद्ध्यात्वा ज्वलद्विघ्नप्रशान्तये ।।'

इत्यादौ द्वारपतीनां कथमिष्टिः,—इत्यपेक्षायां समानतन्त्रात् श्रीत्रिशरोभैरवात्

शैव आचार पद्धति में अन्य शास्त्रों में निर्दिष्ट आचार, व्यवहार में नहीं लाये जाते । "गले तक 'मद्य' पान करे ।" इत्यादि आत्मीय वाम-उक्तियों के अनुसार आचरण करे । 'सुरा पीने योग्य नहीं ।' इत्यादि विधिवाक्य अन्य शास्त्रों के हैं । अधिकारी भेद से भगवान् ने शास्त्रों के उपदेश आदेश किये हैं "इतर शास्त्रों के वचन अमान्य हैं । अन्य देवों के स्मरण निषिद्ध हैं । विशुद्ध भावना भावित रह कर एक मात्र शिव से तादात्म्य स्थापित करे ।" यह स्पष्ट आदेश है । यह ध्यान रहे कि "प्रक्रियाओं के भेद से भिन्न तन्त्रों में अनेकानेक भेद हैं । इस लिये जिस मार्ग की दीक्षा हो, उसी का आचरण करे, इतर का नहीं ।" इतिकर्त्तव्यता की पूर्त्ति के लिये अपेक्षा के अनुसार शास्त्रान्तरोपदिष्ट विधि अपनाने में कोई दोष भी नहीं । श्री पूर्व शास्त्र में भी यह निर्देश है कि "वहाँ द्वारपतियों के लिये होम कर महास्त्र से अभिमन्त्रित कर उपस्थित विघ्न की

'ततो मूले उत्तरतो नन्दिरुद्रं च जाह्नवीम् ।
महाकालं सदंष्ट्रं च यमुनां चैव दक्षिणे ॥'

इत्याद्यपेक्षणीयम् । अत्रैव च 'ज्वलत्पुष्पं कथं विनिक्षिपेत्' इत्यपेक्षायां समानतन्त्रे तत्क्षेपस्य सुस्पष्टमनभिधानात् समानकल्पाच्छ्रीस्वच्छन्दशास्त्रात्

'भैरवास्त्रं समुच्चार्य पुष्पं संगृह्य भावितः ।
सप्ताभिमन्त्रितं कृत्वा ज्वलदग्निशिखाकुलम् ॥
नाराचास्त्रप्रयोगेण प्रविशेद्गृहमध्यतः ।'

इत्याद्यपेक्षणीयम् । नाराचास्त्रस्य च प्रयोगः कीदृक् ? इत्यपेक्षायां समानकल्पेऽपि शास्त्रे तदनुपलम्भात् अत्यन्तमसमानात् अनन्तविजयाख्यात् सिद्धान्तशास्त्रात्

'उत्तानं तु करं कृत्वा तिस्रोऽङ्गुल्यः प्रसारयेत् ।
मध्यमाङ्गुष्ठकौ लग्नौ चालयेत मुहुर्मुहुः ॥
नाराचः कीर्तितो ह्येवम .... ।'

इत्याद्यपेक्षणीयम् । अपेक्षानिवृत्तिर्हि नः फलं, सा च यत एव भवेत् तदेवापेक्षणीयं, किं समानत्वासमानत्वदुर्ग्रहेण । एवमपेक्षायां सत्यां समानादसमानाद्वा

शान्ति के लिये पूर्ण विकसित अड़हुल पुष्प का निक्षेप करे ।" इसमें द्वारपतिहोम की स्वीकृति अपेक्षित है । यह प्रसङ्ग श्रीत्रिशिरो भैरव में है । वहाँ कहा गया है कि इसके बाद मूलमें ही उत्तर भाग में नन्दिरुद्र और गंगा को द्रंष्ट्राव्यानितानन महाकाल और यमुना को दक्षिण में स्थापित करे ।" श्री स्वच्छन्दशास्त्र २।२४-२७ में पुष्प का प्रसङ्ग इस प्रकार दिया गया है—भैरवास्त्र का उच्चारण कर समाविष्ट भाव से पुष्प को सात बार अभिमन्त्रित करे । यह भावना करे कि यह पुष्प जाज्वल्यमान अनल को लौ के समान उद्दीप्त हो रहा है । साथ ही तर्जनी, नाराचास्त्र के संप्रेयोग के साथ घर के बीच से हो कर पुष्प निक्षेप करते हुए प्रवेश करे" । यह भी अपेक्षित विधि है ।

अनन्त विजय नामक सिद्धान्त शास्त्र में मध्यमा और अंगुष्ठ को मिलाना और शेष तीन अगुलियों का प्रसारण ही नाराचास्त्र है ।" इन कार्यों से अपने गुरूपदिष्ट मार्ग की पूर्त्ति होती है । शास्त्रीय अपेक्षा की निवृत्ति में किसी दुराग्रह की आवश्यकता नहीं । शास्त्र का अनुष्ठान अनवस्थित भी नहीं होना चाहिये

शास्त्रान्तरात् तावदपेक्षणीयं यावदपेक्षाया निवृत्तिः स्यात्, तदभावे पुनर्निर्निबन्धनमेव शास्त्रान्तरोक्तस्यापेक्षणीयत्वे सर्वस्यैव तत्प्रसङ्गादनवस्थितमेव शास्त्रार्थानुष्ठानं स्यात्। यदाहुः

'सापेक्षत्वेऽप्यपेक्षैव मानं यावदपेक्षते ।
तावदेवान्यतः कार्यं नान्यत्स्यादनवस्थितेः ॥' इति ॥२५१॥

ननु निखिलमिदं शास्त्रजातं भगवतैव सकलजगदुद्दिधीर्षयोपदिष्टं, तत्तदुक्तार्थानुष्ठानमवश्यकार्यं, येन संसारमोहः शाम्येत्,—इति तद्यथास्तु, किमनेन विचारेण ? इत्याशङ्कयाह

यतो यद्यपि देवेन वेदाद्यपि निरूपितम् ।
तथापि किल संकोचभावाभावविकल्पतः ॥२५२॥

वेदादीनां सर्वशास्त्राणां परमेश्वर एवापदेष्टा,—इति नास्ति विवादः, किंतु तेन संकोचभावाभावभेदेन द्विधा शास्त्राण्युपदिष्टानि—कानिचिद्भेदप्रधानानि कानिचिदप्रधानानि इति। तत्र भेदप्रधानानि वेदादीनि शास्त्राणि, अभेदप्रधानानि च शैवादीनि ॥२५२॥

कहा गया है कि "सापेक्ष क्रिया में अपेक्षा की निवृत्ति ही लक्ष्य है। जब तक अपेक्षित हो उतना ही अन्यत्र से भी करे। ऐसा न हो कि इसमें किसी प्रकार की अनवस्था उत्पन्न हो।" इन उदाहरणों से अपने स्रोत की साधना का समर्थन हो किया गया है ॥२५१॥

संसार के उद्धार की इच्छा से भगवान् ने स्वयं सभी शास्त्रों का उपदेश किया है। वे अनुष्ठान आवश्यक हैं, जिनसे सांसारिक ममत्त्व की शान्ति हो। इसमें इन विचारों का क्या स्थान? इस पर कह रहे हैं—

यह सत्य है कि सभी शास्त्रों के उपदेष्टा स्वयं भगवान् हैं। ये शास्त्र दो प्रकार के हैं। संकोच प्रधान जैसे वेद आदि और असंकोच अभेद प्रधान-जैसे शैवदर्शन शास्त्र। अतः अभेद प्रधान शास्त्र हो मुख्य हैं। इस लिये साधना के सन्दर्भ में उक्त विचार आवश्यक हैं ॥ २५२ ॥

तदाह

संकोचतारतम्येन पाशवं ज्ञानमीरितम् ।
विकासतारतम्येन पतिज्ञानं तु बाधकम् ॥२५३॥

'संकोचो' भेदप्रथा। पशूनामिदं 'पाशवं' वेदादि। 'विकासः' संकोचाभावादभेदप्रथा, अत एव भेदप्रथाया बाध्यत्वादिदं बाधकम्। भेदो हि संसारः, स च सर्वेषामेवोच्छेद्यः, इत्यविवादः । एवं च बाध्यबाधकयोः सांकर्येणानुष्ठानं दुष्येत्,—इति यथोक्तमेव युक्तम् । अत एवान्यत्र

'पाशवं ज्ञानमुज्झित्वा पतिशास्त्रं समाश्रयेत् ।'

इत्याद्युक्तम् ॥२५३॥

इदानीं 'न द्वैतं नापि चाद्वैतम्' इति व्याचष्टे

इदं द्वैतमिदं नेति परस्परनिषेधतः ।
मायोयभेदक्लृप्तं तत्स्यादकाल्पनिके कथम् ॥२५४॥

यन्नाम किंचनेदं द्वैतं नानारूपत्वं तदपास्य ऐकात्म्यलक्षणमद्वैतमाश्रयेत्,—इत्यादि यदन्यत्रोक्तं, तदकाल्पनिके कवलीकृततत्तत्कल्पनाकलापे स्वात्ममात्रस्फुरत्तारूपे परे तत्त्वे कथं स्यात्, न युज्यते इत्यर्थः। यतस्तत् अन्यापोहरूपत्वेन परस्परप्रतिक्षेपात् 'माया' स्वरूपगोपनात्मिका पारमेश्वरी इच्छाशक्तिः, तत आगतो योऽसौ 'भेदः' तेन 'क्लृप्तम्' अनुप्राणितं कल्पनामात्रसतत्त्वमित्यर्थः ॥२५४॥

वही कह रहे हैं—

भेद प्रथात्मक पाशबद्ध पुरुषों से सम्बन्धित ज्ञान वेदादि ज्ञान हैं। अभेद प्रथात्मक पति ज्ञान हैं। कहा गया है कि—"पाशव ज्ञान का परित्याग कर पति अर्थात् पशुपति शैव शास्त्र ही अपनाना चाहिये।" बाध्य और बाधक दोनों की खिचड़ी की उपासना दूषित उपासना है ॥२५३॥

एक अन्य उत्कृष्ट चिन्तन प्रस्तुत कर रहे हैं—

यह द्वैत है और यह अद्वैत है। इसका आश्रय लो, इसका मत लो, ये बातें एक दूसरे का निषेध करती हैं। परस्पर आक्षेप से दूषित और एक दूसरे के विचारों के तिरस्कार पूर्ण विनाश की भावना और माया से प्रभावित भेद प्रथा

किं चात्र प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह

उक्तं भर्गशिखायां च मृत्युकालकलादिकम् ।
द्वैताद्वैतविकल्पोत्थं ग्रसते कृतधीरिति ॥२५५॥

इह खलु अविकल्पकपरसंविदावेशवशात् कृतार्था 'धीः' ज्ञानं यस्यासौ प्राप्तपरसंविदैकात्म्यो योगी, 'द्वैताद्वैतविकल्पात्' उत्थितं भेदानुप्राणनयोल्लसितं 'मृत्युकालकलादिकं ग्रसते' स्वात्मसात्करोति, नात्र काचिज्जन्ममरणादिका मानमेयादिरूपा च कल्पनास्तीत्यर्थः । यदुक्तं तत्र

'मृत्युं च कालं च कलाकलापं विकारजातं प्रतिपत्तिजालम् ।
ऐकात्म्यनानात्मवितर्कजातं तदा स सर्वं कवलीकरोति ॥'

इति ॥२५५॥

अथ 'लिङ्गपूजादिकं न च'-इति व्याकुरुते

सिद्धान्ते लिङ्गपूजोक्ता विश्वाध्वमयताविदे ।
कुलादिषु निषिद्धासौ देहे विश्वात्मताविदे ॥२५६॥

से अनुप्राणित उक्त विचार हैं। समस्त कल्पनाओं को आत्मसात् कर स्वात्ममात्र के उल्लास से उल्लसित अकाल्पनिक शैव स्तर पर इन विचारों के लिये कोई स्थान नहीं ॥ २५४ ॥

इन विचार विन्दुओं के प्रमाण उपस्थित कर रहे हैं—

श्री भर्ग शिखा की उक्ति है कि "मृत्यु, काल, कला समूह, विकार, बुद्धिवादी आडम्बर, ऐकात्म्य और अनैकात्म्य सम्बन्धो वितर्क आदि इन सारे विकल्पों को साधक स्वात्मसात् कर लेता है।" इन्हीं बातों का समर्थन इस श्लोक में है "परसंविद् से ऐकात्म्य भाव को प्राप्त कृतार्थ योगी द्वैत-अद्वैत प्रथा से प्रथित भेदात्मक विकल्पों जैसे मृत्यु, काल और कला के कलापों आदि को कवलित कर स्वात्मानन्द समुद्र में लहराता रहता है" ॥ २५५ ॥

लिङ्ग पूजा (श्लो० २३२) के विषय में अपने विचार पुनः प्रस्तुत कर रहे हैं—

इह सर्वात्मके कस्मात्तद्विधिप्रतिषेधने ।

विश्वः' षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मको योऽसौ 'अध्वा' तद्रूपतां वेत्तुं, सिद्धान्ते' भेददर्शने लिङ्गपूजाविधिर्विहितः। पारमेश्वरं हि लिङ्गं गर्भीकृतनिखिलाध्व-प्रपञ्चम्,—इति तत्पूजनेन समग्रमेवेदं जगत्साक्षात्कृतं भवेदिति भावः। यदाहुः

'लिङ्गे परमशिवान्तां व्याप्तिं पीठे सदाशिवप्रान्ताम् ।
ब्रह्मशिलायां मायापर्यन्तां भावयद्भिरिमैः ॥' इति ॥

'इष्टेन शिवलिङ्गेन विश्वं संतर्पितं भवेत् ।' इति च ।

'कुलादौ' अद्वयदर्शने पुनरसौ लिङ्गपूजा 'निषिद्धा' यतो देह एव सर्वाध्वमयः,—इति तत्रैव तत्साक्षात्कारः सुलभः,—इति किमनुपपत्तिना बाह्येन लिङ्गादिना फलम् । यदुक्तम्

'यजेदाध्यात्मिकं लिङ्गं बाह्यं लिङ्गं न पूजयेत् ।' इति ।

तथा

'हृदयगुहागेहगतं सर्वज्ञं सर्वगं परित्यज्य ।
प्रणमति मितमतिरशिवं शिवाशयाश्मादिमश्लाघ्यम् ॥' इति ।

भेदवादी 'सिद्धान्त' मत में लिङ्गपूजा विहित है। विश्व ३६ तत्त्व रूप अध्वा से परिपूर्ण है। यह शिवलिङ्ग में ही निहित है। इसीलिए शैव लिङ्ग को विश्वाध्वमय मानते हैं। इस रहस्य का वेत्ता साधक इस लिङ्ग की पूजा कर विश्व का साक्षात्कार करता है। कहा गया है कि—"लिङ्ग में परमशिव, पीठ में सदाशिव और ब्रह्मशिला में माया पर्यन्त की व्याप्ति है। ऐसी भावना करने वालों के द्वारा (शिव का साक्षात्कार होता है)।" अथवा

"इष्ट शिवलिङ्ग पूजन से विश्व का सन्तर्पण होता है।"

किन्तु कुल अद्वय दर्शन है। इसमें लिङ्गपूजा निषिद्ध है। इसके अनुसार देह ही सभी अध्वाओं का प्रतिरूप है। इसी में चिदैकात्म्य का साक्षात्कार करना सुलभ है। अनुपपन्न बाह्य लिङ्ग पूजन व्यर्थ और निष्फल है। इसलिए कहा गया है—

"आध्यात्मिक लिङ्ग का यजन करें। बाह्य लिङ्ग का नहीं।"

तथा

"हृदय गुहा में विराजमान सर्वज्ञ सर्वव्याप्त परमेश्वर को छोड़कर सीमित समझ रखने वाले लोग ही शिव की भावना से अश्लाघ्य प्रस्तर लिङ्ग की पूजा करते हैं।"

इह पुनः परमाद्वयरूपे त्रिकदर्शने तद्विधिना तन्निषेधेन वा न किंचित्प्रयोजनम्,—इत्युक्तं 'नात्र लिङ्गपूजा नापि तत्परित्यागः' इति। यत इदं सर्वात्मकं, यावता हि पारमेश्वरसंवित्स्फाररूपतया इदं जगत्परिज्ञेयं, तच्च सर्वस्यैव संवित्स्फाररूपत्वात् देहनिष्ठतया अस्तु, अन्यथा वा, किं नाम सार्वात्म्यप्रतिपत्तिविघ्नभूतेन देहबाह्याद्यभिमानेन भवेत्, इति भावः। यदाहुः

'न क्वापि गत्वा हित्वा वा न किंचिदिदमेव ये।
भव त्वद्धाम पश्यन्ति भव्यास्तेभ्यो नमो नमः॥' इति॥२५६॥

इदानीं जटाभस्मादिसंग्रहादि आचष्टे

नियमानुप्रवेशेन तादात्म्यप्रतिपत्तये॥ २५७॥
जटादि कौले त्यागोऽस्य सुखोपायोपदेशतः।

'नियमाः'

'जटी मुण्डी शिखी दण्डी पञ्चमुद्राविभूषितः।
प्रमादान्मैथुनं कृत्वा मम द्रोही महेश्वरि॥'

इस परमाद्वय रूप त्रिक दर्शन में न तो किसी विधि और न किसी निषेध से ही कोई प्रयोजन मानते हैं। इसीलिए इसमें 'न पूजा और न परित्याग' का का मार्ग अपनाते हैं। यह सब कुछ सर्वात्मक है। जगत् परमेश्वर-संवित् का ही विस्फुरण है। शिव जगत् रूप से हो या देहनिष्ठ हो, इस द्विविध अभिमान से क्या लाभ ? कहा गया है कि—

"न कहीं जाना, न कुछ छोड़ना आदि इन पचड़ों से पृथक् हे परमेश्वर! जो इसको ही तुम्हारा धाम मानते हैं, उन्हें बारम्बार नमन।" यही त्रिक दर्शन की मान्यता के अनुकूल है॥ २५६॥

अब शैव चिह्न जटा भस्म आदि के विषय में कह रहे हैं—

परमेश्वर के स्वरूप में समावेश और तादात्म्यबोध के लिए भेदवादी 'सिद्धान्त' मत से जटा आदि विधान है। नियमों का अभ्यास वहाँ अनिवार्य है। कहा गया है—

"जटी, मुण्डी, शिखी और दण्डी तथा पाँच मुद्राओं से विभूषित व्यक्ति कठिन नियमों का अभ्यास करते हैं। इन्हें भूल से भी मैथुन नहीं करना चाहिये। ऐसा करने वाला शिवद्रोही है।"

इत्याद्युक्त्या वैराग्यादयः, तत्र 'अनुप्रवेशो' ऽभ्यासः, तेन या 'तादात्म्यप्रतिपत्तिः' पारमेश्वरस्वरूपसमावेशः, तन्निमित्तं सिद्धान्ते बहुक्लेशसाध्यं जटाभस्मादि विहितम् । यदुक्तम्

'कलातत्त्वपवित्राणुशक्तिमन्त्रेशसंख्यया ।
विभज्य केशान्संपात्य प्रत्यंशं संहिताणुभिः ॥
व्रतेश्वरस्य पुरतो बध्नीयाच्छिवतेजसा ।' इति ।

तथा

'व्रतिनो जटिनो मुण्डास्तेष्वग्र्या भस्मपाण्डुराः ।
तिलकैः पुण्ड्रकैः पट्टैर्भूषिता भूमिपादयः ॥' इति ।

'कोले' कुलदर्शने पुनः 'अस्य' जटाभस्मादेः 'त्यागो' निषेधो विहितः, इत्यर्थः । यदुक्तम्

जटाभस्मादिचिह्नं च ध्वजं कापालिकं व्रतम् ।
शूलं खट्वाङ्गमत्युग्रं धारयेद्यस्तु भूतले ॥
न तस्य संगमं कुर्यात्कर्मणा मनसा गिरा ।' इति ।

यतोऽत्र

'यत्र यत्र मिलिता मरीचयस्तत्र तत्र विभुरेव जृम्भते ।'

इत्याद्युक्त्या विषयासङ्गेऽपि पारमेश्वरस्वरूपापत्तेः, 'सुखेन' अयत्नेन 'उपायस्योपदेशः' यदुक्तम्

इसके अतिरिक्त भी—"कला आदि संख्याओं के अनुसार बालों को अलग अलग कर व्रतेश्वर के सामने शैव तेजस से समन्वित जटा बन्धन करें।" तथा

"व्रती जटी, मुण्डी, भस्म, तिलक, पुण्ड्रक पट्ट आदि से भूषित भूमिप आदि होते हैं।" इन उक्तियों में भेदवादी मान्यताओं पर प्रकाश पड़ता है।

कौल मत में जटा भस्म आदि का परित्याग विहित है। कहा गया है— "जटा भस्म आदि चिह्न, ध्वज धारण, कापालिक व्रत, शूल, चक्र आदि साधकों से सम्पर्क भी न करें। मन से वाणी से और कर्म व्यवहार से भी उनसे बचें।"

क्योंकि कौल दर्शन का मत है कि "जहाँ-जहाँ भी शैव प्रकाश की रश्मियाँ हैं—वहाँ विभुका वैभव ही उल्लसित है" इस उक्ति में विषयासङ्ग में परमेश्वर के स्वरूप का साक्षात्कार होता है इसका भी समर्थन है। यह

'पूर्वैर्निरोधः कथितो वैराग्याभ्यासयोगतः ।
अस्माभिस्तु निरोधोऽयमयत्नेनोपदिश्यते ॥' इति ।

निष्परिग्रहतादि पुनः पृथङ्न व्याख्यातम् अनेनैव गतार्थत्वात्, प्रथम-तुर्यपादाभ्यामेव हि एतदर्थोऽभिहितः,—इति भावः । इह पुनः सार्वात्म्यात् तद्विधिप्रतिषेधने न भवतः,—इति प्राच्येन संबन्धः । इह हि संविदैकात्म्यं नामोपेयम्, तत्र च यदेव यदा सन्निकृष्टं तदेव तदा ग्राह्यम्, इतरत् तु त्याज्यम्,—इति जटादेर्विधिरस्तु निषेधो वा किमनेन नः प्रयोजनम् । यद्वक्ष्यति

'परतत्त्वप्रवेशे तु यमेव निकटं यदा ।
उपायं वेत्ति स ग्राह्यस्तदा त्याज्योऽथ वा क्वचित् ॥' (४।२७९)

इति ॥ २५७ ॥

अथ व्रतादीनां चरणाचरणं व्याचष्टे

व्रतचर्या च मन्त्रार्थतादात्म्यप्रतिपत्तये ॥ २५८ ।
तन्निषेधस्तु मन्त्रार्थसार्वात्म्यप्रतिपत्तये ।

चशब्दात् सिद्धान्ते उक्ता,— इत्यनुवर्तनीयम् । 'मन्त्रार्थो' नियतो वाच्यदेवतादिः, 'तन्निषेधः' अर्थात्कौले । 'सार्वात्म्यं' विश्वाभेदः । इह पुनस्तस्या न विधिर्निषेधो वा,—इत्येतत् सर्वं पूर्वमेव व्याख्यातम्—इति न पुनरायस्तम् ॥२५८॥

सुखोपदेश है । "पहले के आचार्यों ने वैराग्य और अभ्यास योग से निरोध की बात कही थी। मैंने तो यह अनायास विधि से बताया है ।" इस श्लोक में यही संकेतित है ।

त्रिक दर्शन में मात्र संविदैकात्म्य ही उपेय है । जटादि विधि निषेध यहाँ निष्प्रयोजन है । जिसे जहाँ से चिन्मयता का चमत्कार मिले वहाँ से ही उसे प्राप्त करें । आगे के श्लोक २७९ में इसी विचार का समर्थन है ॥ २५७ ॥

व्रताचार आदि के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कर रहे हैं—

सिद्धान्त मत में मन्त्रार्थ से तादात्म्य बोध के लिए व्रत चर्या का विधान है । कौल प्रक्रिया में उसका निषेध है । त्रिक दर्शन के अनुसार न विधि न निषेध अपितु स्वात्मसंविद्विमर्श का ही प्राधान्य है ॥ २५८ ॥

अथ क्षेत्रादिसंप्रवेशं व्याख्यातुमाह

क्षेत्रपीठोपपीठेषु प्रवेशो विघ्नशान्तये ॥२५९॥
मन्त्राद्याराधकस्याथ तल्लाभायोपदिश्यते ।

'क्षेत्रं' मेलापस्थानं, 'पीठं' कामरूपादि 'उपपीठं' देवीकोट्टादि। 'तल्लाभाय' इति तस्य मन्त्रादेः प्रियमेलापादिक्रमेण सिद्धादेर्लाभः, तन्निमित्तं वा। यदुक्तम्

'क्षेत्रोपक्षेत्रसंदोहाद्याश्रयान्निर्मलो भवेत् ॥' इति ॥२५९॥

अन्यत्र चात्र निषेधः कृतः,—इत्याह

क्षेत्रादिगमनाभावविधिस्तु स्वात्मनस्तथा ॥२६०॥
वैश्वरूप्येण पूर्णत्वं ज्ञातुमित्यपि वर्णितम् ।

आदिशब्दात् पीठादेर्ग्रहणम्। 'तथा इति प्रागुक्तेन प्रकारेण। तदुक्तम्

'नातः किंचिदपास्यं प्रक्षेप्तव्यं च नात्र किंचिदपि,
परिपूर्णे सत्यात्मनि किं नु क्षेत्रादिपर्यटनैः ॥ इति।

क्षेत्रादि प्रवेश की चर्चा भी इसी प्रसङ्ग में कर रहे हैं—

मेलापकस्थानों, कामरूप आदि पीठों, देवकोट्ट आदि उपपीठों में प्रवेश करने से साधना के विघ्नों की शान्ति होती है। मन्त्रार्थ के सामञ्जस्य का वातावरण मिलता है। "क्षेत्र, उपक्षेत्र, पीठ आदि का आश्रय लेने वाला निर्मल हो जाता है।" यह भी कहा गया है॥ २५९॥

कहीं इसका निषेध भी किया गया है—

क्षेत्रों और पीठों में गमन का निषेध भी किया गया है। स्वात्म की विश्वरूपता की पूर्ण तत्त्ववादिता का दृष्टिकोण ही आवश्यक है। इसी लिए कहा गया है कि—

"इस विश्व में न हेय और न कुछ उपादेय है। उस सत्यस्वरूप पूर्ण तत्त्व की अनुभूति कहीं भी सम्भव है। इसमें क्षेत्र उपक्षेत्र आदि के पर्यटन क्या कर सकते हैं?।"

इह पुनरेतदुभयमपि नास्तीति प्रागेवोक्तम्,—इत्याह इत्यपि वर्णितम्' इति। तदुक्तम्

'इह सर्वात्मके कस्मात्तद्विधिप्रतिषेधने।' (४।२५७) इति ॥२६०॥

अथ समयादिप्रपालनामाचष्टे

समयाचारसद्भावः पाल्यत्वेनोपदिश्यते ॥२६१॥

भेदप्राणतया तत्तत्त्यागात्तत्त्वविशुद्धये।

समयादिनिषेधस्तु मतशास्त्रेषु कथ्यते ॥२६२॥

निर्मर्यादं स्वसंबोधं संपूर्णं बुद्धयतामिति।

इदं कुर्यादिदं न कुर्यात्,—इत्येवमात्मा समयाचारः। 'भेदप्राणतया इति किंचित् हि त्यक्त्वा किंचिदुपादीयते, इत्येवमात्मा भेदः, यथा शास्त्रान्तरत्यागेन स्वशास्त्रे प्ररोहः। यद्वक्ष्यति

'अन्यस्तमन्त्रो नासीत सेव्यं शास्त्रान्तरं च नो।
अप्ररूढं हि विज्ञानं कम्पेतेतरभावनात् ॥'' (२५।५६३) इति।

समविषमलक्षणेषु 'मतशास्त्रेषु' पुनः 'समयादेर्निषेधो' विहितः। तथा च तत्रत्यो ग्रन्थः,—इत्याह 'निर्मर्यादमित्यादि। तद्धि परं तत्त्वं 'स्वसंबोधं' स्वप्रकाशम्, अत एवानन्यापेक्षत्वात् संपूर्णम्,' अत एव चानियत-

---

इसीलिये त्रिक दर्शन परम्परा में "विधि प्रतिषेध से ऊपर उठकर सर्वात्मक समावेश की प्रधानता" स्वीकार की जाती है ॥२६०॥

समयादि पालन के सम्बन्ध में कह रहे हैं—

यह करना चाहिये और यह नहीं करना चाहिये यह समयाचार है। इसके पालन पर इसमें जोर दिया जाता है। यह भेद-भरी आचार पद्धति है। हेयोपादेय भाव की इसमें प्रधानता है। अन्य शास्त्रों के स्वाध्याय का त्याग भी इसमें करने का आदेश है। "मन्त्र न्यास पूर्वक साधना में लगे। दूसरे शास्त्रों का परित्याग करे। कारण है कि अपरिपक्व विचार दूसरे विचारों से बदल जाते हैं। अनिश्चय की स्थिति सामने आ जाती है।" यह २५वें आह्निक ५६३वीं कारिका का विषय है।

रूपत्वात् निर्मर्यादं' निर्यन्त्रणं 'बुध्यताम्' अनुभूयतामित्यर्थः । तदेवम् एवंविधे परे तत्वे कथं नाम हानोपादानाद्यपेक्षासहस्रसंभिन्नः समयाचारः शुद्धिनिमित्तम्,—इति भावः ॥२६२॥

अथ 'परस्वरूपलिङ्गादि नामगोत्रादिकं च यत्' इति व्याख्यातुकामः क्रमेण परकीयं स्वकीयं च रूपाद्याचष्टे

परकीयमिदं रूपं ध्येयमेतत्तु मे निजम् ॥२६३॥
ज्वालादिलिङ्गं चान्यस्य कपालादि तु मे निजम् ॥

'एतत्' इति ध्यातृस्वभावम् । 'ज्वालादि' इति बाह्यैषणादिसमुत्थत्वात् परकीयम् । 'निजम्' इति स्वशरीरावस्थितम् ॥२६३॥

'लिङ्गादि' इत्यादिशब्दार्थमाह

आदिशब्दात्तपश्चर्यावेलातिथ्यादि कथ्यते ॥२६४॥

'तपः' चन्द्रायणादि, 'चर्या' चर्यापादोक्त आचारः, 'वेला' मध्याह्नार्ध-रात्रादिरूपा, 'तिथिः' प्रतिपदादिरूपा ॥२६४॥

मत शास्त्र में समयादिपालन का सर्वथा निषेध है। उनका कहना है वह परम तत्त्व स्वप्रकाश, निराकार और यन्त्रणा तन्त्र से निर्मुक्त है। उसे सम्पूर्णतया जानना चाहिये। हानोपादान के विचारों से ग्रस्त, हजारों भेद भिन्नता का निमित्त समयाचार किसी प्रकार ग्राह्य नहीं ॥ २६१–२६२ ॥

श्लोक २१६ की विचारधारा का विश्लेषण कर रहे हैं—

परमस्वरूप, लिङ्गादि, नाम और गोत्रादि के प्रसङ्ग में यहाँ परकीय रूप को समझना है। परकीय रूप क्या है। यह सब रूप तो मेरा ही निजी रूप है। ज्वाला आदि जो बाह्य इच्छा पर निर्भर हैं वे परकीय हो सकते हैं पर कपाल आदि अंग तो स्वकीय ही हैं"। यह स्वकीय परकीय विचार ठीक नहीं ॥ २६३ ॥

लिङ्ग के साथ आदि के अन्तर्निहित तथ्यों का उल्लेख कर रहे हैं—

तपश्चर्या चान्द्रायण आदि व्रतों से सम्बन्धित है। चर्या विभिन्न आचार और वेला दोपहर निशीथ प्रदोष सन्ध्या आदि समय और प्रतिपद् अष्टमी आदि तिथियों को कहा जाता है ॥२६४॥

नाम शक्तिशिवाद्यन्तमेतस्य मम नान्यथा ।

'एतस्य' सैद्धान्तिकस्य साधकस्य, व्रतपरिग्रहादौ पुष्पपातादिक्रमेण क्रियमाणं नाम शक्तिशिवाद्यन्तं स्यात् । तेन शिखाशक्तिः, ईशानशिवः; आदिशब्दाद्गणाद्यन्तं, यथा कवचगणः । तदुक्तम्

'स्रजं विमोचयेन्नाम दीक्षितानां तदादिकम् ।
शिवान्तकं द्विजेन्द्राणामितरेषां गणान्तकम् ॥। इति,

तथा

'शिशुना क्षिप्तमकामान्निपतेत्तद्यत्र नाम तत्पूर्वम् ।
शक्त्यन्तं नारीणां शिवशब्दान्तं नृणां कुर्यात् ॥
एवं विप्रक्षत्रियविशां शूद्राणां तु भवेद्गणप्रान्तम् ॥' इति ।

'अन्यथा' इति बोध्याद्यन्तम्, स्वस्वसंततिक्रमेणौवल्ल्यन्तं हि पूजा नाम भवेत्,—इति रहस्यशास्त्रविदः,—तदुक्तम्

'बोधिः प्रभुस्तथा योगी आनन्दः पाद आवलिः ।
वीराणां वीरपत्नीनां कल्प्यं नामैतदन्तकम् ॥' इति ।

नाम की चर्चा कर रहे हैं—

सिद्धान्त मतवादी साधक को पुष्पपात से लेकर शक्तिशिवान्त रखे गये नाम ही ग्राह्य हैं। जैसे शिखा-शक्ति या ईशान शिव आदि। अन्य लोगों का गणान्त नाम ग्राह्य है। जैसे कवचगण आदि। कहा गया है कि "हार का विमोचन करें और दीक्षितों में से ब्राह्मणों का शिवान्त और द्विजेतर का गणान्त नाम रखें।

और भी कहा गया है कि "शिशु-प्रक्षिप्त पुष्पपातके स्थान के साथ शक्ति लगाकर नारियों के नाम और शिवान्त पुरुषों के नाम हों। यह द्विजाति के लिए है। शूद्र के लिये गणान्त नाम आदिष्ट हैं।" अन्यथा 'बोधि' अन्त में लगाकर अपनी परम्परा के अनुसार ओवल्लि अन्त में लगाकर पूजा के नाम हों। कहा गया है कि—

"बोधि, प्रभु, योगी, आनन्द, पाद, ओवल्लि अन्त में लगाकर 'वीर' और वीरपत्नियों के नाम रखे जाँय।" जैसे सत्यबोधि, विश्वप्रभु आदि नाम हो सकते हैं।

तेन सत्यबोधिः विश्वप्रभुरित्यादि ॥

गोत्रं च गुरुसंतानो मठिकाकुलशब्दितः ॥२६५॥

तस्य मठिकेति कुलमिति चाभिधानद्वयम् ॥२६५॥

तत्र का मठिका ? इत्याह

श्रीसंततिस्त्र्यम्बकाख्या तदर्धामर्दसंज्ञिता ।
इत्थमर्धचतस्त्रोऽत्र मठिकाः शांकरे क्रमे ॥२६६॥
युगक्रमेण कूर्माद्या मीनान्ता सिद्धसंततिः ।

न केवलमर्धचतस्त्र एव मठिका यावदन्या अपीत्याह 'युगेत्यादि'। आद्यशब्दस्तन्त्रेण व्याख्येयः, तेन कूर्मस्य त्रेतायुगावतारकस्य श्रीकूर्मनाथस्याद्यः कृतयुगावतारकः श्रीखगेन्द्रनाथः स आद्यो यस्याः सा तथेति। कुलशब्दस्य गुरुकुलमित्यादौ लोकप्रसिद्धेः पृथग्व्याख्यानं न कृतम् ॥२६६॥

नाम के बाद अब गोत्र की चर्चा कर रहे हैं—

गुरु परम्परा, मठिका क्रम और कुल आदि शब्द से उच्चरित स्रोत होना चाहिये ॥२६५॥

मठिका के सम्बन्ध में कह रहे हैं—

प्रथम आह्निक की कारिका आठ के प्रसङ्ग में मठिकाओं के सम्बन्ध में चर्चा को गयी है। उसी का उल्लेख इस श्लोक में हुआ। इसके अनुसार ४½ मठिकायें पहले की हैं। परवर्त्ती युग में (त्रेता में) श्री कूर्मनाथ हुए। उनके पहले कृत युग के प्रवर्त्तक श्री खगेन्द्रनाथ हुए। तब से लेकर मच्छन्दनाथ तक की सिद्धों की सन्तति हुई। उसी क्रम में गोत्र आदि का भी प्रवर्त्तन हुआ। वही कह रहे हैं—

गोत्र के साथ आदि शब्द का प्रयोग है। इसके आधार पर घर पल्ली, पीठ, उपपीठ, मुद्रा, छुम्मा इन सबकी अपनी-अपनी संतति का क्रम भिन्न-भिन्न है ॥२६६॥

'गोत्रादि' इत्यादिशब्दार्थमाह

आदिशब्देन च घरं पल्लो पीठोपपोठकम् ॥२६७॥
मुद्रा छुम्मेति तेषां च विधानं स्वपरस्थितम् ।

'घरम्' इति षण्णां साधिकाराणां राजपुत्राणां भिन्नं भिन्नमाश्रम-स्थानम् 'पल्ली' भिक्षास्थानम् । यद्वक्ष्यति

'एते हि साधिकाराः पूज्या येषामियं बहुविभेदा ।
संततिरनवच्छिन्ना चित्रा शिष्यप्रशिष्यमयी ॥
आनन्दावलिबोधिप्रभुपादान्ताथ योगिशब्दान्ता ।
एता ओवल्ल्यः स्युर्मुद्राषट्कं क्रमात्त्वेतत् ॥
दक्षाङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तमथ सा कनीयसी वामात् ।
द्विदशान्तोर्ध्वगकुण्डलिबैन्दवहृन्नाभिकन्दमिति छुम्माः ॥
शवराडबिल्लखट्टिल्लाः करबिल्लाम्बिलशरबिल्लाः ।
अडवी-डोम्बी-दक्षिणपल्ली कुम्भारभिल्लिकाक्षरपल्ली ॥
देवीकोट्टकुलाद्रित्रिपुरीकामाख्यमट्टहासश्च ॥
दक्षिणपीठं चैतत्षट्कं घरपल्लिपीठगं क्रमशः ॥'

(२९।३९) इति ।

'स्वपरस्थितम्' इति स्वस्वसंततिक्रमेण भिन्नं भिन्नमित्यर्थः ॥२६७॥
ननु गुरुसंतानादेरेवमुपदेशे किं प्रयोजनम् ? इत्याशङ्क्याह

तादात्म्यप्रतिपत्त्यै हि स्वं संतानं समाश्रयेत् ॥२६८॥
भुञ्जीत पूजयेच्चक्रं परसंतानिना नहि ।

घर—जहाँ तक घर का सम्बन्ध है यह छः राजपुत्रों के भिन्न-भिन्न स्थान थे।

पल्ली—वे स्थान थे, जहाँ जाकर साधक भिक्षाटन कर जीविका चलाते थे। उन्तीसवें आह्निक के ३४ से उन्तालिसवीं कारिका तक यह देखा जा सकता है ॥२६७॥

इस गुरु परम्परा और सन्तति क्रम के वर्णन का प्रयोजन बता रहे हैं—

'स्वं संतानम्' इति श्रीमदमरनाथादिक्रमेण यस्य यथा संभवेत्। 'परः' श्रीवरदेवादिः 'संतानो'ऽस्यास्तीति ॥२६८॥

एतच्च अन्यत्र निषिद्धमित्याह

एतच्च मतशास्त्रेषु निषिद्धं खण्डना यतः ॥२६९॥
अखण्डेऽपि परे तत्त्वे भेदेनानेन जायते ।

'अनेन' इति समनन्तरोक्तेन हेयोपादेयरूपेण स्वपरसंतानादिनेत्यर्थः। नहि अखण्डे परे तत्त्वे काचन एवंविधा हेयोपादेयरूपा खण्डना युज्येत इत्याशयः ॥२६९॥

एवमर्थमुखेन ग्रन्थं व्याख्याय समन्वयसंगत्यापि योजयति

एवं क्षेत्रप्रवेशादि संताननियमान्ततः ॥२७०॥
नास्मिन्विधीयते तद्धि साक्षान्नौपयिकं शिवे ।

'एवं' पूर्वोक्तनीत्या 'क्षेत्रप्रवेशादि' गोत्रशब्दोक्तसंताननियमान्तम् 'अस्मिन्' प्रस्तुते शास्त्रे 'न किंचिद्विधीयते' क्षेत्रादि प्रवेष्टव्यमित्यादिविधिर्न

इसका एक मात्र प्रयोजन अपनी परम्परा के अनुसार तादात्म्य की उपलब्धि है। भोगेच्छु अपने क्रम से उपभोग में प्रवृत्त हों, चक्र की पूजा करें किन्तु अपनी परम्परा के विरुद्ध दूसरे बोध के द्वारा वे अपना समाधान नहीं कर सकते ॥ २६८ ॥

यह सब बातें दूसरों द्वारा निषिद्ध भी मानी जाती हैं। उसी की चर्चा कर रहे हैं--

'मत' शास्त्र इसका खण्डन करता है। उसके अनुसार यह भेदवाद निषिद्ध है। अखण्ड पर तत्त्व में इस प्रकार भेद का विचार नितान्त वर्जित है। वही उक्त परम्पराओं में हो रहा है। अखण्ड पर-तत्त्व में भेद असम्भव है ॥ २६९ ॥

अब यहाँ ग्रन्थ समन्वय की संगति बिठला रहे हैं—

इस तरह क्षेत्र प्रवेश से लेकर गोत्र रूप पारम्परिक नियमों के वर्णन तक के सारे विषय इस त्रिक दर्शन शास्त्र में नाममात्र के लिये भी विहित नहीं हैं।

क्रियते,—इत्यर्थः। यतस्तत् न शिवे साक्षादुपायः। एतच्च बहुशः प्राङ्निर्णीतम्,—इति न पुनरायस्तम् ॥ २७० ॥

ननु यदि नामात्र क्षेत्रप्रवेशोदेर्न विधिस्तर्हि तस्य निषेध एव पर्यवस्येत् ? इत्याशङ्क्याह

न तस्य च निषेधो यन्न तत्तत्त्वस्य खण्डनम् ॥२७१॥

'यत्' यस्मात्, 'तत्' क्षेत्रप्रवेशादि, विश्वात्मनः परस्य 'तत्त्वस्य न खण्डनं' तदपेक्षया हि बहिः क्षेत्राद्येव नास्ति,—इति कुत्र प्रवेशाद्यपि भवेत्,—इति तद्विषयोऽयं विधिर्निषेधो वा क्रियमाणो विकल्पमात्रवृत्तित्वात् नास्य स्वरूपखण्डनायालम्—इति भावः ॥२७१॥

अत आह

विश्वात्मनो हि नाथस्य स्वस्मिन्रूपे विकल्पितौ ॥
विधिर्निषेधो वा शक्तौ न स्वरूपस्य खण्डने ॥२७२॥

अत एव चात्र सर्वमेव विहितं प्रतिषिद्धं च,—इत्यर्थगर्भीकारात् नैकत्रैव ग्रहः कार्यः, इति तात्पर्यार्थः ॥२७२॥

ननु यद्येवं तत् परतत्त्वविवक्षायाम् 'इदमुपादेयमिदं हेयम्' इत्यवश्याश्रयणीयो विभागः कथं सिद्ध्येत् ? इत्याशङ्क्याह

यह निश्चय है कि उक्त सारी विधियाँ शिवोपलब्धि में साक्षात् उपाय नहीं हैं। जैसे इसकी विधि का विधान नहीं है, उसी तरह इसमें इनका निषेध भी नहीं है। वही कह रहे हैं—

इसका निषेध यहाँ नहीं है क्योंकि उक्त क्षेत्र प्रवेश आदि बातें बड़ी बौनी हैं। इनसे सर्वव्यापक पर तत्त्व का खण्डन नहीं हो सकता। उसके सार्वात्म्य में इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। वस्तुतः यह विधि निषेध भी एक प्रकार से विकल्प वृत्ति ही है ॥२७१॥

इस लिये कह रहे हैं—

उस विश्वमय परमेश्वर के सर्वात्मक रूप में ये विधि और निषेध विकल्प मात्र होने के कारण कोई भेद नहीं उत्पन्न कर सकते ॥२७२॥

परतत्त्वप्रवेशे तु यमेव निकटं यदा ।
उपायं वेत्ति स ग्राह्यस्तदा त्याज्योऽथ वा क्वचित् ॥२७३॥
न यन्त्रणात्र कार्येति प्रोक्तं श्रीत्रिकशासने ।

इह परं तत्त्वं प्रविविक्षुणा योगिना तत्र तावच्चेतः स्थिरीकार्यम्,-इति नास्ति विमतिः। तत्र पुनर्य एव यदा क्वचित् 'निकटो हठपाकक्रमेण सहसैव परस्वरूपापत्तिनिमित्ततया संनिकृष्ट उपायः परिज्ञायते, स एव तदा ग्राह्योऽथवा अन्यथा त्याज्यो न पुनर् इदमुपादेयमेव इदं त्याज्यमेव,—इत्येवमात्मा यन्त्रणा अत्र कार्या। तेन विषयासङ्गेऽपि कदाचित् परतत्त्वानुप्रवेशो भवेत्। क्वचिदित्यनेन च 'संनिकृष्टत्वमसंनिकृष्टत्वं च उपायानां न प्रतिनियतम्' इति प्रकाशितम्। अनेन च 'किंत्वेतत् इत्यादिको ग्रन्थस्तात्पर्यतो व्याख्यातः। नन्वेवमपूर्वार्थिकथने किं प्रमाणम्? इत्याशङ्क्योक्तम् 'इति प्रोक्तं श्रीत्रिकशासने' इति ॥२७३॥

तत्रत्यमेव ग्रन्थं पठति

समता सर्वदेवानामोवल्लीमन्त्रवर्णयोः ॥२७४॥
आगमानां गतीनां च सर्वं शिवमयं यतः ।

हेय और उपादेय रूप विभाग का परतत्त्व के प्रवेश में कितना उपयोग है इस पर कह रहे हैं—

इस सिद्धान्त के अनुसार परतत्त्व में प्रवेश के इच्छुक साधक को सर्वप्रथम अपना चित्त स्थिर करना चाहिये। इसमें वैमत्य नहीं है। बल्कि सबसे निकट का उपाय जैसे हठपाक क्रम से सहसा परस्वरूपसाक्षात्कार के लिये उद्यम ही ग्राह्य है। हेय और उपादेय की मतवादिता नहीं। यह तो आत्मयन्त्रणा की तरह होगा। निर्मुक्त भाव से तन्निष्ठ रहने पर विषयासङ्गी पुरुषों को भी आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। यह त्रिकशासन सम्मत सिद्धान्त है ॥२७३॥

वहाँ का ग्रन्थ उद्धृत कर रहे हैं—

बोधि आदि छः ज्ञान सन्ततियाँ ओवल्ली हैं। मन्त्रों, वर्णों, आगमों और गतियों की समता सर्वथा अपेक्षित है। तथ्य है कि यह सारा प्रसार शिवमय ही है। कहा गया है—

'ओवल्ल्यो' बोध्यादयः षट् ज्येष्ठादिभेदभिन्ना ज्ञानसंततयः। 'गतीनां' भाववृत्तिद्रव्यभूमिकादिरूपाणां प्रकाराणामित्यर्थः । अत्र हेतुः 'सर्वं शिवमयं यतः' इति। यदुक्तम्

'समता सर्वभावानां वृत्तीनां चैव सर्वशः ।
समता सर्वदृष्टीनां द्रव्याणां चैव सर्वशः ॥
भूमिकानां च सर्वासामोवल्लीनां तथैव च ।
समता सर्वदेवीनां वर्णानां चैव सर्वशः ॥' इति ॥२७४॥

ननु को नाम सर्वं शिवमयं जानाति, यस्यैवमुपदेशः प्ररोहमियात् ? इत्याशङ्क्याह

स ह्यखण्डितसद्भावं शिवतत्त्वं प्रपश्यति ॥२७५॥
यो ह्यखण्डितसद्भावमात्मतत्त्वं प्रपद्यते ।

आत्मज्ञानमेव शिवतत्त्वसक्षात्कारे निमित्तम्,—इत्यभिदधता नात्र दर्शनान्तरवत् व्यतिरिक्तोपायान्वेषणाद्यायाससाध्यत्वम्,—इत्यावेदितम् ॥२७५॥

न च अत्र सर्व एव पात्रं, किं तु कश्चिदेव तीव्रतमशक्तिपातपवित्रितः, इत्याह

केतकीकुसुमसौरभे भृशं भृङ्ग एव रसिको न मक्षिका ।
भैरवीयपरमाद्वयार्चने कोऽपि रज्यति महेशचोदितः ॥२७६॥

"सभी भावनाओं, वृत्तियों, सारी दृष्टियों, द्रव्यों, भूमियों और छः ओवल्ली के सभी देवियों और वर्णों की समता ही अभिप्रेत है" ॥२७४॥

"शिवमय जगत्" की बात को कौन जानता है ? किसे यह उपदेश अङ्कुरित होकर उपकृत करेगा ? इस पर कह रहे हैं—

अखण्ड सद्भाव परमेश्वर को भाग्यशाली वही साधक जानता है, जो अखण्ड अस्तित्व भूषित आत्मतत्त्व पर सुदृढ़ विश्वास करता है और तद्रूप हो जाता है। अन्य दर्शनों की तरह यहाँ कोई अतिरिक्त उपाय और खोज के तरीकों की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए स्वात्म समर्पण ही सर्वातिशायी शर्त्त है ॥२७५॥

अधिकारी पात्र की बात कह रहे हैं—

नन्वत्रासक्त्या किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

अस्मिंश्च यागे विश्रान्ति कुर्वतां भवडम्बरः ।
हिमानीव महाग्रीष्मे स्वयमेव विलीयते ॥२७७॥

अत्र च सामान्येनोपक्रान्तमधिकारिणमुपसंहारभङ्ग्या विशेषेण निर्देष्टुमाह

अलं वातिप्रसङ्गेन भूयसातिप्रपञ्चिते ।
योग्योऽभिनवगुप्तोऽस्मिन्कोऽपि यागविधौ बुधः ॥२७८॥

अथवा याज्ययाजकादावेवं बहुशाखम् 'अतिप्रपञ्चिते' पौनःपुन्यपरीक्षण-लक्षणेन 'अतिप्रसङ्गेनालम्', यतो'ऽस्मिन्' समनन्तरोक्तस्वरूपे 'यागविधौ' अभितो ग्राह्यग्राहकाद्यनन्तभेदसंभिन्ने जडाजडवर्गे, यो 'नवः' अनवच्छिन्न-ज्ञत्वकर्तृत्वात्मकगुणपरामर्शनरूपः स्वात्मस्तवः, तेन 'गुप्तो' मायाव्यामोह-मुषितत्वेऽपि परिरक्षितसार्वात्म्यमयनिजवैभवः, अत एव च 'कोऽपि' अलौकिकः, अथ च एवंविधोऽयमेव ग्रन्थकारोऽत्र योग्य इत्यर्थः ॥२७८॥

केतकी कुसुम के सौरभ-रसास्वाद का रसिक मधुपायी भृङ्ग ही हो सकता है, मधुमक्षिका नहीं। उसी तरह परमेश्वर की अकारण अनुकम्पा से प्रेरित कोई भी साधक भैरवीय अद्वय उपासना में रससिक्त हो जाता है ॥२७६॥

इस आसक्ति के परिणाम का विचार कर रहे हैं—

इस उपासना का उपासक बोध-चिदर्क-रश्मि-प्रकाश में आक्षिति सदा-शिवान्त विमर्श को विलीन करने का माहेश्वरमख सम्पन्न करता है—वह महाग्रीष्म में हिमानी की तरह तादात्म्योपलब्धि कर कृतार्थ हो जाता है ॥२७७॥

उपसंहार में अधिकारी साधक को उद्बोधन दे रहे हैं—

ग्रन्थकार स्वयं घोषणा कर रहे हैं कि इस बोधवह्नि में इदन्ता का हविष्य अर्पित करने वाला कोई साधक अभिनव परमेश्वर से संरक्षित हो जाता है, अभिनवगुप्त हो जाता है और अपनी चिदैक्यदार्ढ्य भावना से अपनी योग्यता की छाप छोड़ जाता है ॥ २७८ ॥

इत्यनुत्तरपदप्रविकासे शाक्तमौपयिकमद्य विविक्तम् ॥

'अद्य' इत्यनेन आह्निकशब्दार्थस्तात्त्विकः,—इति प्रकाशितम्, इति शिवम् ॥

शाक्तसमावेशवशप्रोन्मीलितसद्विकल्पविश्वेन ।
निरणायि जयरथेन प्रस्फुटमिदमाह्निकं तुर्यम् ॥

इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य-श्रीमदभिनवगुप्तविरचिते तन्त्रालोके
श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते शाक्तोपायप्रकाशनं
नाम चतुर्थमाह्निकं समाप्तम् ॥ ४ ॥

उभयाह्निकनिष्ठ श्लोक के प्रथमार्ध द्वारा यही बात कह कर चतुर्थ आह्निक का उपसंहार कर रहे हैं—

इस चतुर्थ आह्निक में मैंने ग्रन्थकार ने शाक्तोपाय पर प्रकाश डाला। यह शैव महाभाव के महासिन्धु का एक आलोक द्वीप बन गया है।

शाक्त समावेश के कारण विशेषतः उन्मीलित सद्विकल्पसम्पन्न जयरथ ने इस चतुर्थ आह्निक का इस प्रकार विवेचन किया।

जयरथ शाक्त-समाधि सिद्ध, थे सित इनसे जग सद्विकल्प के।
अभिनव-निर्णय युक्त चेतनाविशदित आह्निक तुर्य तथ्यतः ॥

मातुः प्रसादमनिशं प्रविचिन्त्य सम्यक्
संस्कार्य संकुल-विकल्प-कदम्बकानि ।
व्याख्याय चाह्निकमुमा-कृपया चतुर्थम्
हंसश्चिनोति पुरतश्चितिमौक्तिकानि ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तविरचित श्रीराजानक
जयरथकृत विवेकव्याख्योपेत डॉ० परमहंसमिश्र विरचित
नीर-क्षीर-विवेक-भाषा-भाष्य संवलित श्रीतन्त्रालोक का
शाक्तोपाय प्रकाशन नामक चतुर्थ आह्निक
सम्पूर्ण शिवाय सौः ॥ ४ ॥

अथ

श्रीतन्त्रालोकस्य

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तपादविरचितस्य
श्रीमदाचार्यजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेतस्य
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक
हिन्दी भाष्यसंवलितस्य

पञ्चममाह्निकम्

यो नाम घोरनिनदोच्चारवशाद्भीषयत्यशेषजगत् ।
स्वस्थानध्यानरतः स जयत्यपराजितो रुद्रः ॥१॥

इदानीं प्राप्तावसरमाणवोपायमपरार्धेन निरूपयितुमुपक्रमते

आणवेन विधिना परधाम प्रेप्सतामथ निरूप्यत एतत् ॥१॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तपादाचार्यविरचित
श्रीराजानक जयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीरक्षीरविवेक
हिन्दीभाष्यसंवलित

श्रीतन्त्रालोक

पाँचवाँ आह्निक

घोर-निनद-उच्चार से करता सब जग भीत ।
स्व-पद-मनन-रत रुद्र जय अपराजित अविगीत ॥

अपने घोर नाद के उच्चार से जो सम्पूर्ण जगत् को भयभीत करता है, अपने 'स्थान' के ध्यान में निरत उस अपराजित भगवान् रुद्र की जय हो ।

'विधिना' इत्युच्चारादिरूपेण । 'एतत्' इति वक्ष्यमाणमाणवोपाय-लक्षणम् ॥ १ ॥

ननु, शाक्तोपायेनैव सर्वं सिद्धयेदिति किमर्थम् एतन्निरूप्यते ? इत्याशङ्कां गर्भीकृत्याह

विकल्पस्यैव संस्कारे जाते निष्प्रतियोगिनि ।
अभोष्टे वस्तुनि प्राप्तिर्निश्चिता भोगमोक्षयोः ॥२॥

विरुद्धविकल्पान्तरोदयाभावात् 'विकल्पस्य' शाक्तोपायनिरूपितनीत्या 'जात' एव स्फुटतमविकल्पस्वरूपासादनात्मनि 'संस्कारे' भोगमोक्षयोर्मध्यादेकतरत्र 'अभीष्टे वस्तुनि निश्चिता' नियमवती 'प्राप्ति' र्भवेत्—इत्याह्निकान्तरम् इदमनारम्भणीयमेव,—इति तात्पर्यार्थः ॥२॥

ननु यद्यप्येयं तथापि विकल्पस्य द्वयी गतिः, स हि कस्यचिदुपायान्तर-निरपेक्षतया स्वस्वातन्त्र्यादेव संस्कृतः स्यात्, कस्यचित्तु अन्यथा। तत्र पूर्वः प्रकारः शाक्तोपाये निरूपितः इतरः पुनराणवोपाये निरूपयिष्यते,—इति युक्त एवाह्निकान्तरारम्भः, तदाह

इस समय आणावोपाय के निरूपण का उपक्रम कर रहे हैं—

अणु सम्बन्धी 'उच्चार' आदि विधियों के अनुसार इस आणवोपाय प्रकरण का प्रारम्भ कर रहे हैं। बहुत से लोग इस विधि से ही परमधाम-प्राप्ति की आकांक्षा करते हैं ॥ १ ॥

शाक्तोपाय से इस लक्ष्य की सिद्धि की स्थिति में इसकी आवश्यकता का उल्लेख कर रहे हैं—

इस प्रकरण का मुख्य कारण है विकल्प। शाक्तोपाय में प्रतियोगी रहित अर्थात् विरुद्ध विकल्पों के उदय न होने पर ही जब विकल्प का संस्कार हो जाता है, तभी भोग और मोक्ष इन दोनों में से अभीष्ट की प्राप्ति निश्चित होती है ॥ २ ॥

जिसकी स्वस्वातन्त्र्य से विकल्प संस्कार की प्रक्रिया नहीं होती, उसके लिए आणवोपाय की चर्चा का श्रीगणेश कर रहे हैं--

विकल्पः कस्यचित्स्वात्मस्वातन्त्र्यादेव सुस्थिरः ।
उपायान्तरसापेक्ष्यवियोगेनैव जायते ॥३॥
कस्यचित्तु विकल्पोऽसौ स्वात्मसंस्करणं प्रति ।
उपायान्तरसापेक्षस्तत्रोक्तः पूर्वको विधिः ।४।

'पूर्वको विधिरुक्त' इत्युपादानादपरो वक्ष्यते,—इत्यर्थसिद्धम् ॥३-४॥

ननु विकल्पोऽपि अर्थावभासरूपत्वात् निर्विकल्पवच्चिदात्मैवेति को नाम तत्र संस्कारः। संस्कारो हि अतिशयः, स च न संविदि युज्यते इति कस्य नामोपायान्तरं प्रति सापेक्षत्वमनपेक्षत्वं च स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह

विकल्पो नाम चिन्मात्रस्वभावो यद्यपि स्थितः ।
तथापि निश्चयात्मासावणोः स्वातन्त्र्ययोजकः ।५॥

'यद्यप्येवं तथापि असौ विकल्पो' नायमघटो भवतीत्यन्यापोहेन घटोऽयमिति निश्चयात्मकत्वात् 'अणोः' संकुचितस्य प्रमातुः स्वातन्त्र्यं बोधयति, विकल्प्यमानेऽर्थे तस्यैव स्वातन्त्र्योपपत्तेः । अत एव क्षेत्रज्ञव्यापारो विकल्पः,—इत्युक्तम् । तथाहि घटावभासेऽनवभातमपि घटविपर्ययं व्यवहारोपयोग्यतया स्वस्वातन्त्र्यादेव प्रमाता प्रतिपद्यते, अन्यथा हि मायापदे

विकल्पों की दो गतियाँ होती हैं। किसी साधक के विकल्प, विना किसी दूसरे उपाय के अपने बल पर ही संस्कार सम्पन्न हो जाते हैं। वहुत से ऐसे लोग भी हैं जिनके स्वात्मसंस्कार में दूसरे उपायों की भी आवश्यकता पड़ती है। उनके लिये इस आणवोपाय की उपयोगिता है ॥३–४॥

चिदात्मक विकल्प में संस्कार और उपायों की सापेक्षता या निरपेक्षता के सम्बन्ध में कह रहे हैं—

यद्यपि विकल्प का स्वभाव भी चिदात्मक ही है। उसके विना अर्थ का अवभासन नहीं होता। चिदात्मक संविद् में संस्कार कैसा ? तथापि एक विरुद्ध विचार से कभी-कभी सत्य का निश्चय होता है। जैसे 'यह घड़ा के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं हो सकता'। इस विरुद्धात्मक विचार से 'यह घड़ा ही है।' इसका निश्चय हो जाता है। यह निश्चय भी 'अणु' की स्वतन्त्रता का बोधक होता है।

परस्परपरिहारप्रतीतिं विना ग्राह्यग्राहकभावाद्यात्मा व्यवहार एव न सिद्धयेत्। अतश्च चिदेकरूपत्वेऽपि विकल्पोऽन्यापोहरूपत्वात् भेदमयः—इति तदपसारणाय स्वात्मनि संस्कारमपेक्षते, यदाधानायापि क्वचिदुपायमुखप्रेक्षित्वमस्य, इति युक्तमुक्तं 'विकल्पोऽसौ स्वात्मसंस्करणं प्रति । उपायान्तरसापेक्ष' इति। संस्कारश्चास्य अस्फुटत्वादिक्रमेण स्फुटतमत्वापत्तिपर्यन्तं पारमार्थिकस्वात्मप्रत्ययरूपनिर्विकल्पकज्ञानात्मत्वासादनम् । यदुक्तं प्राक्

'ततः स्फुटतमोदारताद्रूप्यपरिबृंहिता ।
संविदभ्येति विमलामविकल्पस्वरूपताम् ॥'
(तं० आ० ४ श्लो० ६) इति ॥ ५ ॥

तत्संस्काराधाने च वक्ष्यमाणनीत्या ध्यानादयो बहव उपायाः, इति तद्भेदात् तस्याप्यनैक्यम्,—इत्याह

निश्चयो बहुधा चैष तत्रोपायाश्च भेदिनः ।
अणुशब्देन ते चोक्ता दूरान्तिकविभेदतः ॥६।

बहुधात्वे हेतुः 'तत्रोपायाश्च भेदिन' इति तद्भेदेऽपि हेतुः 'दूरान्तिकविभेदत' इति। केचिद्धि उपायाः संविदि संनिकृष्टाः, केचिच्च विप्रकृष्टाः।

ध्यान देने की बात है कि घटावभास के साथ एक अप्रकाशित अघट का अनुभव प्रमाता करता है। यह उसकी स्वतन्त्रता है। इससे माया के परिवेश में चलने वाले व्यवहार का निर्वाह होता है। वस्तुतः चिदात्मक होने पर भी विकल्प अन्य का आमर्शक है। इसलिये भेदमय है। इस भेदवाद के अपसारण के लिये स्वात्मसंस्कार की आवश्यकता होती है। कहा गया है कि—"ताद्रूप्य परिबृंहित संविद् निर्विकल्प बन जाती है।" यह श्रीतन्त्रालोक आ० ४ का छठाँ श्लोक है। वहाँ उसकी व्याख्या द्रष्टव्य है ॥५॥

पारमार्थिक स्वात्मप्रत्यय रूप निर्विकल्पज्ञान की प्राप्ति के ध्यान आदि अनन्त उपाय हैं। इनके भी भेद प्रभेद हैं। इन भेद भरे उपायों की एक संज्ञा 'आणव उपाय' है। यही कह रहे हैं—

श्लोक संख्या २ में निश्चित प्राप्ति रूप संस्कार की चर्चा है। इस निश्चय पर पहुंचने के अनेक भेद भरे उपाय हैं। इनमें कुछ भेद संविद् शक्ति के निकट पड़ते हैं और कुछ दूर। जैसे—

तथा च

'प्राक् संवित् प्राणे परिणता।'

इति नीत्या बुद्ध्याद्यपेक्षया तत्र प्राणस्यान्तरङ्गत्वात् तद्गतमुच्चारादि संनिकृष्टं, तदपेक्षया च बुद्धिगं ध्यानादि विप्रकृष्टं, ततोऽपि देहगतं करणादि, इति एते चोपाया अत्रैव संभवन्ति न पुनः शाक्ते,—इति कुतोऽवगम्यते,—इत्याशङ्क्योक्तम् 'अणुशब्देन ते चोक्ता' इति। तेनाणुषु भेदिषूपायेषु भवः, इत्याणवः ॥६॥

ननु प्राणादयो जाड्यादपारमार्थिकाः, तत्कथं गद्गतमुच्चारादि पारमार्थिकस्वरूपलाभनिमित्तं स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह

तत्र बुद्धौ तथा प्राणे देहे चापि प्रमातरि।
अपारमार्थिकेऽप्यस्मिन् परमार्थः प्रकाशते ॥७॥

'प्रमातरि' इति बुद्ध्यादौ सर्वत्रैव योज्यम्। 'अपारमार्थिक' इति बुद्ध्यादेर्वस्तुतो वेद्यरूपत्वेऽपि तथा परिकल्पनात् ॥७॥

ननु यदेव प्रश्नितं तदेवोत्तरोक्तम्,—इति किमेतत् ? इत्याशङ्क्याह

यतः प्रकाशाच्चिन्मात्रात् प्राणाद्यव्यतिरेकवत्।

एवं चिदव्यतिरेकात्प्राणादीनामपि पारमार्थिकत्वमेव,—इति भावः। यदभिप्रायेणैव

"पहले संविद् प्राण रूप में परिणत हुई"

इस मत के अनुसार बुद्धिकी अपेक्षा प्राण अन्तरङ्ग हैं। इस तरह प्राणगत उच्चार आदि उपाय भी संनिकृष्ट उपाय हैं—यह स्वभावतः सिद्ध हो जाता है। बुद्धिनिष्ठ ध्यान तनिक दूर पड़ते हैं। इसी दृष्टि से अणु रूप भेदभिन्न ये उपाय आणव उपाय हैं। इस एक शब्द में सभी भेद अन्तर्भूत हैं ॥ ६ ॥

प्राण आदि जड होने के कारण अपारमार्थिक तत्त्व हैं। प्राणगत उच्चार आदि पारमार्थिक स्वरूप की उपलब्धि में कैसे कारण हो सकते हैं ? इसी का उत्तर दे रहे हैं—

यद्यपि देह प्रमाता, बुद्धि प्रमाता और प्राण प्रमाताओं में अपारमार्थिकता है फिर भी उनमें परमार्थ भी प्रकाशित होता है ॥७॥

यही तो प्रश्न है। उत्तर भी वही ? इसी का समाधान कर रहे हैं—

'यद्यप्यर्थस्थितिः प्राणपुर्यष्टकनियन्त्रिते ।
जीवे निरुद्धा तत्रापि परमात्मनि सा स्थिता ।'
(अजडप्रमातृसिद्धौ श्लो० २०)

इत्यादि अन्यत्रोक्तम् ।

ननु प्राणादेर्नीलादेश्च चिदव्यतिरेकात् तुल्यमनेन पारमार्थिकत्वं, नास्त्यत्र काचिदस्माकं विमतिः; किंतु मायापदे प्राणादेर्जाड्येऽपि कथं चित्त्वं संगच्छते ? इत्याशङ्क्याह

तस्यैव तु स्वतन्त्रत्वाद्द्विगुणं जडचिद्वपुः ॥ ८ ॥

तु शब्दो हेतौ । यतस्तस्यैव चिदात्मनः प्रकाशस्य स्वातन्त्र्यात्, अर्थात् तत् प्राणादि जडचिद्रूपत्वात् 'द्विगुण' जडत्वचित्त्वलक्षणगुणद्वययोगि इत्यर्थः । परमेश्वर एव हि मायीयसर्गचिकीर्षायां स्वस्वातन्त्र्येण बहिरवभासितभावराशि-मध्यात् कांश्चिज्जडानपि प्राणादीन् स्वगताहन्तात्मककर्तृत्वाभिषेकेण ग्राहकी-भावयति, कांश्चिदपि शब्दादीन् इदन्तापात्रतया चिद्रूपतातिक्रमेण ग्राह्यतामापा-दयति; तेन प्राणादीनां जाड्येऽपि परमेश्वरस्वातन्त्र्यादेव चित्त्वम्—इति ॥ ८ ॥

वस्तुतः प्रकाश रूप चिन्मय तत्त्व से ये प्राण अतिरिक्त नहीं अपि तु अनतिरिक्त ही हैं । अजडप्रमातृ सिद्धि के २० वें श्लोक—

"यद्यपि अर्थ की स्थिति प्राण, पञ्चतन्मात्रा, बुद्धि, अहंकार और मन से नियन्त्रित जीव में है फिर भी वह परमात्मा में भी उसी तरह उल्लसित है ॥" से यही बात प्रमाणित है ।

एक प्रश्न यहाँ उठता है । संविद् स्तर पर प्राण और स्थूल नील आदि पदार्थ पारमार्थिक हैं । माया के स्तर पर इनमें जडत्व अनिवार्य है । उनमें चिन्म-यता कैसे सम्भव है ? इसका समाधान कर रहे हैं कि उसी चिदात्मक प्रकाश के स्वातन्त्र्य स्वभाव के कारण वे प्राणादि चित्त्व और जडत्व दोनो गुणों से युक्त हैं । वस्तुतः परमेश्वर ही मायीय सृष्टि की आकाँक्षा से अपने स्वातन्त्र्य के कारण बाहर भी अवभासित है । वही किसी को ग्राहक और किसी को ग्राह्य बना देता है । सभी अवस्थाओं में उनमें चित्त्व धर्म विद्यमान रहता ही है ॥८॥

न केवलमेतद्युक्तित एव सिद्धं यावदागमतोऽपि,—इत्याह

उक्तं त्रैशिरसे चैतद्देव्यै चन्द्रार्धमौलिना ।

तदेव पठति

जीवः शक्तिः शिवस्यैव सर्वत्रैव स्थितापि सा ॥ ९ ॥
स्वरूपप्रत्यये रूढा ज्ञानस्योन्मीलनात्परा ।

यद्यपि 'शिवस्यैव' चिन्मात्रात्मनः परस्य प्रकाशस्य सबन्धिनी 'परा' विश्वस्फाररूपा 'शक्तिः' 'सर्वत्र' जडे प्राणघटादावस्थिता तद्रूपतया परिस्फुरिता तथापि 'सा' अर्थात् प्राणदिरूपाहन्तात्मककर्तृतारूपस्य 'ज्ञानस्योन्मीलनात्' स्वस्यात्मनो रूपस्य च नीलादेः 'अहमिदं जानामि' इत्येवंरूपः संकुचितप्रमातृव्यापारस्वभावो विकल्पात्मा यः 'प्रत्ययः' तत्र 'रूढा' प्ररोहं व्याप्ता सती 'जीवः' प्राणबुद्ध्यादिप्रमातृरूपतया व्यपदिश्यते,—इत्यर्थः ॥ ९ ॥

तथापि अत्र परमार्थप्रकाशनं कथम् ? इत्याशङ्क्याह

तस्य चिद्रूपतां सत्यां स्वातन्त्र्योल्लासकल्पनात् ॥ १० ॥
पश्यञ्जडात्मताभागं तिरोधायाद्वयो भवेत् ।

आगम प्रामाण्य उपस्थित कर रहे हैं—

यह त्रैशिरस् शास्त्र में स्वयं शिव ने ही कहा है कि जीव शिव की ही शक्ति है। यह शिव का ही विस्फुरण है। जड प्राण और घट रूप में स्थित रहने पर भी स्वात्मकर्तृत्व के ज्ञान के उन्मीलन के कारण शक्ति वहाँ स्थित है। मैं इसको जानता हूँ। इस स्तर पर 'मैं' रूप संकुचित प्रमाता इदं रूप ग्राह्य को ग्रहण करता है। जीव का यह प्रत्यय यही सिद्ध करता है ॥ ९ ॥

इसस्थिति में भी परमार्थ का प्रकाशन कैसे हो सकता है ? इस आशङ्का का समाधान कर रहे हैं—

जड में चिद्रूपता के दर्शन का चमत्कार अद्वयसिद्धि का महत्त्वपूर्ण कारण है। प्राण आदि में जडता के भाग को तिरोहित कर और वहाँ झूठे अहंभाव को भगा कर अपने स्वातन्त्र्य के उल्लास की कल्पना करनी चाहिये। परिणामतः पारमार्थिक चिद्रूपता का दर्शन होने लगता है। कहा गया है—

'तस्य' जडस्य चिद्वपुषः प्राणादेर्जडरूपमेकं 'भागं तिरोधाय' तत्राहन्ताभिमानमभिभूय ? स्वातन्त्र्योल्लासनाद्धेतोश्चिद्रूपतामेव पारमार्थिकीं 'पश्यन्' अकृत्रिमपराहन्तास्पदत्वेनानुभवन् 'अद्वयो भवेत्' संविन्मात्ररूपतया परिस्फुरेत्, इत्यर्थः। तदुक्तम्

'बुद्धौ प्राणे तथा देहे देशे या जडता स्थिता।
तां तिरोधाय मेधावी संविद्रश्मिमयो भवेत् ॥' इति।

एवमत्र प्राणदेर्जाड्येऽपि चिद्रूपतैव परमार्थः—इत्येषां पारमार्थिकस्वरूपलाभे निमित्तत्वम्,—इत्युक्तं स्यात् ॥ १० ॥

एतदेव पक्षान्तरेणाप्याह

तत्र स्वातन्त्र्यदृष्ट्या वा दर्पणे मुखबिम्बवत् ॥ ११ ॥
विशुद्धं निजचैतन्य निश्चिनोत्यतदात्मकम् ।

अथवा यथायं लोकः स्वमुखप्रतिबिम्बमागमापायित्वात् दर्पणातिरिक्तं निश्चनोति एवमसौ योगी 'तत्र' प्राणादौ स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् 'विशुद्धं' वेद्यताद्यकलङ्कितम्, अत एव

'नाहं प्राणो नैव शरीरं न मनोऽहम् ।'
(हरिमीडे स्तो० श्लो० ३६)

'बुद्धि में, प्राण में और देह में जो जड़ता अवस्थित है, उसको हटा कर मेधावी साधक संविद् की रश्मिके प्रकाश से एक रस हो जाता है।" इस प्रकार प्राण और पुर्यष्टक के जडत्व के बावजूद चिद्रूपता का परमार्थ प्रकाशित हो जाता है और स्वरूपोपलब्धि हो जाती है ॥ १० ॥

पक्षान्तर से इसी बात को कह रहे हैं—

लोग दर्पण में अपना मुख देखते हैं। अपनी छाया उसमें पड़ती है और हटने पर मिट जाती है। इससे भी यह निश्चय होता है कि यह वास्तविक नहीं है। उसी तरह योगी प्राण आदि में भी स्वस्वान्त्र्य की महत्ता से वेद्य ग्राह्य आदि असत् भावों को छोड़ कर अपने विशुद्ध चैतन्य का निश्चय कर लेता है। हरिमीडे स्तोत्रके ३६वें श्लोक में—

"मैं प्राण, शरीर और मन नहीं हूँ।"

इत्याद्युक्तेः 'अतदात्मकम्' अप्राणादिरूपं ततोऽतिरिक्तं निजं स्वाभाविकमेव चिद्रूपत्वम्' इत्येवम् अस्य पारमार्थिकस्वरूपलाभो भवेत्,—इति ॥ ११ ॥

ननु यथा दर्पणादतिरेकेण प्रतिबिम्बस्य सत्ता नास्ति, एवं संविदतिरेकेणापि प्रमातृप्रमेयाद्यात्मनो विश्वैचित्र्यस्यास्य, इति प्राङ्निर्णीतं, तत् कथमिह अन्यथोच्यते ? इत्याशङ्क्याह

बुद्धिप्राणादितो भिन्नं चैतन्यं निश्चितं बलात् ॥ १२ ॥
सत्यतस्तदभिन्नं स्यात्तस्यान्योन्यविभेदतः ।

बुद्ध्यादिभ्यो बलादनुपपन्नेन क्रमेण भिन्नम्' अतिरिक्तं 'निश्चितमपि चैतन्यं' वस्तुतस्तदनतिरिक्तमेव भवेत्; यतस्तस्य बुद्ध्यादेरेव परस्परमस्ति भेदः, प्रातिस्विकेन प्रतिनियतेन रूपेण चेत्यमानत्वात्; चैतन्यं पुनर्बुद्ध्याद्यनुस्यूतमेव भायात् अन्यथा हि बुद्ध्यादीनां चेत्यमानत्वमेव न स्यात् ॥ १२ ॥

नन्वेकमेव चैतन्यं कथमनन्तबुद्ध्यादिरूपाविभिन्नं भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

विश्वरूपाविभेदित्वं शुद्धत्वादेव जायते ॥ १३ ॥
निष्ठितैकस्फुरन्मूर्तेर्मूर्त्यन्तरविरोधतः ।

यह कहा गया है। इसके अनुसार अपने स्वाभाविक चिद्रूपत्व की अनुभूति हो जाने पर भी स्वरूपोपलब्धि हो जाती है ॥ ११ ॥

दर्पण के अतिरिक्त प्रतिबिम्ब की और संवित् के अतिरिक्त विश्व वैचित्र्य की भी सत्ता नहीं है। ये दोनों तथ्य पहले ही निर्णीत हैं। उन्हें ही यहाँ उक्त रूप में प्रस्तुत करने का कारण बता रहे हैं—

निश्चित ही बुद्धि आदि से भिन्न प्रतीत होने वाला चैतन्य वस्तुतः अतिरिक्त नहीं है।

चैतन्य में किसी प्रकार का भेद नहीं होता। बुद्धि और प्राण आदि में परस्पर भिन्नता है। ये पृथक् पृथक् प्रतिभासित होते हैं। चैतन्य बुद्धि आदि से अनुस्यूत होता हुआ ही प्रकाशित है अन्यथा इनमें चेत्यमानता नहीं हो सकती। इस तरह अपने विशुद्ध चैतन्य के निश्चय में अन्तर नहीं पड़ता ॥ १२ ॥

चैतन्य एक है। बुद्धि आदि अनन्त हैं। इनमें फिर भी भिन्नता नहीं है—यही कह रहे हैं—

इह खलु परप्रकाशात्मनश्चैतन्यस्य 'शुद्धत्वात्' प्रतिनियतस्वाकारकलङ्कितत्वेन अनवभास्यत्वात् स्वप्रकाशत्वलक्षणात् नैर्मल्यातिशयात् 'विश्वैः' निखिलैर्बुद्धयादिभिराकारैः अविभेदित्वं जायत एव' न न जायते,—इत्यर्थः। एतदेव हि नामास्य शुद्धत्वं यत् दर्पणादिवत् तत्तदनेकाकारधारितया प्रस्फुरति,—इति। न च एवं विरोधः कश्चित्; यतो 'निष्ठिता' देशकालादिसंकोचान्नैयत्येन प्राप्तप्रतिष्ठाना, अत एव 'एका' सर्वतो व्यावृत्तत्वात् निःसहाया 'स्फुरन्ती' तथात्वेन भासमाना मूर्तिः' यस्य तस्य बुद्धयादेः 'मूर्त्यन्तरेण' प्राणादिसंबन्धिना 'विरोधो' मूर्त्तस्य मूर्त्यन्तरानुप्रवेशायोगात् ॥ १३ ॥

ननु

'वर्तमानावभासानां भावानामवभासनम् ।
अन्तःस्थितवतामेव घटते बहिरात्मना ॥'

(ई० अ० १ आ० ५ का० १)

इत्यादिनीत्या प्रमात्रैकात्म्येनावस्थितानामेव भावानां बहिरवभासनं भवेत्,— इति सर्वत्रैव उपपादितं, तत् बुद्धयादेरपि प्रमातुरन्तरवस्थितानामेव अर्थानां किं बहिरवभासनं भवेन्न वा ? इत्याशङ्कयाह

पर प्रकाशरूप चैतन्य के शाश्वत शुद्ध होने के कारण, विभिन्न विभिन्न निश्चित आकृतियों से अकलङ्कित रहने के कारण और स्वात्म प्रकाश के अतिशय नैर्मल्य के कारण बुद्धि आदि से उसका एकत्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। जैसे दर्पण रूपात्मक अपनी निर्मलता से अनन्त आकार धारण करता है। उसी तरह अतिशय नैर्मल्य से संविद्, रूप-रस-गन्ध-स्पर्शादि सभी आकारों में प्रस्फुरित होती है। इसकी यह विशेषता है कि वह अनन्त आकारों में भी अधिष्ठित है और सर्व व्याप्त होने के कारण एक भी है। स्वतन्त्र रूप से स्फुरित होती है। ऐसी मूर्त्तिमती देवी है वह। दूसरी मूर्त्तियों से इसका विरोध भी है क्यों कि कोई दूसरी मूर्त्ति दूसरी मूर्त्ति में प्रवेश नहीं कर सकती। यह तो सभी मूर्त्तियों में अनुप्रविष्ट भी है ॥ १३ ॥

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा १।५।१ के अनुसार "वर्त्तमान अवभासमान भावों का प्रकाशन, प्रमात्रैक्य भाव में स्थित साधकों को ही बाह्य रूप से घटित अनुभूत होता है।" इसके अनुसार क्या बुद्धि आदि प्रमाताओं में स्थित अर्थों का ही प्रकाशन बाहर होता है ? अथवा नहीं ? इस आशङ्का का उत्तर दे रहे हैं—

अन्तः संविदि सत्सर्वं यद्यप्यपरथा धियि ॥ १४ ॥
प्राणे देहेऽथवा कस्मात्संक्रामेत्केन वा कथम् ।
तथापि निर्विकल्पेऽस्मिन्विकल्पो नास्ति तं विना ॥ १५ ॥
दृष्टेऽप्यदृष्टकल्पत्वं विकल्पेन तु निश्चयः ।

'यद्यपि संविद्यन्तर्' ऐकात्म्येन 'सर्वम्' इदं भावजातं संभवेत्, अन्यथा बुद्धयादौ प्रमातरि सर्वमिदं 'कस्मात्' संविदतिरिक्तात्मकात् 'केन वा' स्वातन्त्र्यव्यतिरिक्तेन हेतुना 'कथं' केन वा अहन्तेदन्तादिपरामर्शातिरिक्तेन प्रकारेण 'संक्रामेत्' प्रतिबिम्बकल्पतयावभासेत,—इत्यर्थः। अन्यथा हि बुद्धयादेरपि तत्तदर्थाविभासो न भवेत्—इति भावः। 'तथापि अस्मिन्' बुद्धयादौ प्रमातरि

'तस्यां निर्विकल्पकदशायामैश्वरो भावः पशोरपि।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या सर्वभावाविभेदावभासात्मनि 'निर्विकल्पे'ऽन्तस्तथात्वेन निश्चायको विकल्पो नास्ति येन सर्वमेवेदम् अविभेदेनावभासमानं स्यात्; यतो

'दृष्टमपि अविमृष्टमदृष्टमेव।'

इत्याद्युक्त्या विकल्पमन्तरेण 'दृष्टेऽपि अदृष्टकल्पत्वं' यथैव दृष्टं तथैव न प्ररूढम्,—इत्यर्थः। तु शब्दो हेतौ; यतो 'विकल्पेनैव' इदमित्थमित्येवमात्मा 'निश्चयः' स्यात्। स च विकल्पः संकुचितस्य प्रमातुर्व्यापारः,—इत्यंशांशिकया भेदेनैव निश्चिनुयात्, न तु अभेदेन,—इति नास्ति बुद्धयादीनां सर्वभावाविभेदेनावभासः,—इति युक्तमुक्तं 'तस्यान्योन्यविभेदतः' इति ॥ १५ ॥

संविद् के अन्तर्गर्भ में ऐकात्म्य भाव से यह समग्र भावराशि विमर्श रूपसे स्फुरित है। इसी लिये यह बुद्धि आदि में भी अवभासित होती है। सिद्धान्ततः निर्विकल्प दशा में विकल्प की कल्पना नहीं की जा सकती। बिना उसके दीख पड़ना भी न दीख पड़ने के समान ही होता है। विकल्प से उसका निश्चय हो जाता है। वास्तव में "निर्विकल्प दशा में पशु का भी ऐश्वर भाव होता है।" विकल्प की दशा में ही 'इदम् इत्थम् अस्ति' इस प्रकार का निश्चय होता है। यह विकल्प संकुचित प्रमाता का विषय है, उसी का व्यापार है। इससे यह निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि बुद्धि आदि का समस्त भावों से अद्वयात्मक अवभास नहीं होता। इनका यही अन्योन्य विभेद है ॥ १४-१५ ॥

नन्वेवं बुद्ध्यादेरपारमार्थिकत्वेऽपि ध्यानादिद्वारेण यथा परमार्थप्रकाशने निमित्तत्वमुक्तं, तथा शून्यस्यापि कथं न ? इत्याशङ्क्याह

बुद्धिप्राणशरीरेषु पारमेश्वर्यमञ्जसा ॥ १६ ॥
विकल्प्यं शून्यरूपे न प्रमातरि विकल्पनम् ।

इह खलु बुद्ध्यादौ प्रमातरि अहन्तास्पदत्वात् ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणं 'पारमेश्वर्यमञ्जसा विकल्प्यं तत्तदवच्छेदमुखेन स्फुटं कृत्वा निश्चेयं, येन तद्गतं ध्यानादि पारमार्थिकस्वरूपलाभनिमित्तं स्यात्। 'शून्यरूपे' पुनः 'प्रमातरि' वस्तुतः संभवेऽपि पारमेश्वर[र्य]स्य नियतावच्छेदायोगात् तद्विकल्पयितुमेव न शक्यम्,—इति कथं नामास्य परमार्थप्रकाशने निमित्तत्वं भवेत्। एवं बुद्ध्यादीनां त्रयाणामेव अत्र निमित्तत्वम्,—इत्युक्तं स्यात् ॥ १६ ॥

नन्वेषां बुद्ध्यादीनां किं नाम तदस्ति, यदवलम्बनेनापि पारमार्थिकस्वरूपलाभो भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

बुद्धिर्ध्यानमयी तत्र प्राण उच्चारणात्मकः ॥ १७ ॥

'ध्यानमयी' इति अनुसंधानप्राधान्यात् ॥ १७ ॥

उच्चारणं लक्षयति

उच्चारणं च प्राणाद्या व्यानान्ताः पञ्च वृत्तयः ।

प्रश्न होता है कि अपारमार्थिक बुद्धि से भी ध्यानादि के द्वारा जैसे परमार्थ प्रकाशन होता है, क्या उसी तरह शून्य ध्यान में भी सम्भव है ? इस पर कह रहे हैं—

बुद्धि प्राण और शरीर रूप प्रमाताओं में 'जाननारूप' और 'कर्त्तापनरूप' पारमेश्वर भाव तुरत निश्चित होते रहते हैं। परिणामतः इनके ध्यान पारमार्थिक स्वरूप की उपलब्धि में निमित्त बन सकते हैं। शून्य प्रमाता में इसी कल्पना के ये तीन नैमित्तिक आधार हैं ॥ १६ ॥

पारमार्थिक स्वरूपोपलब्धि की दृष्टि से बुद्धि आदि इस त्रिक का वैशिष्ट्य कह रहे हैं—

बुद्धि अनुसन्धान प्रधान होती है। इस लिये यह ध्यानमयी मानी जाती है। उसमें उच्चारणात्मक प्राण का संचार होता है ॥ १७ ॥

पञ्चेति। यदुक्तम्

'प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च।' इति।

ननु द्विधा प्राणीया वृत्तिरस्ति—यदेका पञ्चानामपि प्राणादीनां भित्तिभूता सामान्यप्राणीया, अपरा च विशिष्टप्राणात्मिका,—इति; तत् पञ्च वृत्तय उच्चारणम्,—इति कथमुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

आद्या तु प्राणनाभिख्यापरोच्चारात्मिका भवेत् ॥ १८ ॥

'प्राणनाभिख्या' इत्यान्तरोद्योगरूपा जीवनापरपर्याया प्राणनामात्रस्वभावा,—इत्यर्थः। यद्वक्ष्यति

'इयं सा प्राणना शक्तिरान्तरोद्योगदोहदा।
स्पन्दः स्फुरत्ता विश्रान्तिर्जीवो हृत्प्रतिभा मतिः॥
सा प्राणवृत्तिः प्राणाद्यैः रूपैः पञ्चभिरात्मसात्।
देहं यत्कुरुते संवित्पूर्णस्तेनैव भासते॥'

(आ॰ ६ श्लो॰ १२) इति।

तदत्र विशिष्टा एव प्राणादिवृत्तयो विवक्षिताः,—इति युक्तमुक्तं—पञ्च वृत्तय उच्चारणम्—इति। एतत्स्वरूपं च पुरस्ताद्भविष्यति,—इति नेहायस्तम् ॥ १८ ॥

उच्चारण की व्याख्या कर रहे हैं—

प्राण से व्यान तक प्राण की पाँच वृत्तियाँ ही उनके उच्चारण हैं। कहा गया है कि "प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान ये ५ प्राण हैं।" यहाँ प्रश्न करते हैं कि पाँचों प्राणों की आधार एक प्राणीया और एक विशिष्ट प्राणात्मिका नामक दो वृत्तियाँ होती हैं। यहाँ पाँच वृत्तियों को उच्चारण कहा गया है। क्यों ? इस प्रश्न का समाधान कर रहे हैं कि—

आन्तर उद्योग रूपा, जीवनात्मिका मुख्य वृत्ति को प्राणना कहते हैं। आह्निक छ के १२ वें श्लोक में 'इस प्राणना व्यापार के पर्याय—आन्तर स्पन्द स्फुरत्ता, विश्रान्ति, जीव, हृत्, प्रतिभा, और मति माने गये हैं। अन्य दूसरी वृत्ति जिसमें संवित् ५ प्राणों के उच्चार से इस देह को आत्मसात् करती है वह उच्चारणा रूप होती है।" इस दृष्टि से पञ्चवृत्यात्मक उच्चारणका कथन युक्ति युक्त ही है ॥ १८ ॥

एवं बुद्धिप्राणयोरसाधारणं रूपमभिधाय शरीरस्याप्यभिधत्ते

शरीरस्याक्षविषयैतत्पिण्डत्वेन संस्थितिः ।

'अक्षाणि' इन्द्रियाणि 'विषयाः' कार्याणि 'एते' प्राणादयः तेषां पिण्डत्वेन' एकीभावेन 'संस्थितिः' नाम देहप्रमातुरसाधारणं रूपम्,—इत्यर्थः ॥

इदानीमधिकारिनिरूपणान्तरं ध्यानादेः स्वरूपं वक्तुमुपक्रमते

तत्र ध्यानमयं तावदनुत्तरमिहोच्यते ॥ १९ ॥

तदेव बहूपायसाध्यत्वेऽपि 'ध्यानं' प्रकृतं मूलकारणं यस्यैवंविधम् 'अनुत्तरं' पारमार्थिकं रूपम् 'इह उच्यते' सांप्रतं प्राप्तावसरमभिधीयते,—इत्यर्थः । अत एव तावच्छब्दः क्रमद्योतकः, अनुजोद्देशे हि बुद्धिध्यानमित्याद्युपक्रमः ॥ १९ ॥

तदाह

यः प्रकाशः स्वतन्त्रोऽयं चित्स्वभावो हृदि स्थितः ।
सर्वतत्त्वमयः प्रोक्तमेतच्च त्रिशिरोमते ॥ २० ॥

बुद्धि और प्राण के विशेष रूपों के उल्लेख के बाद शरीर के रूप का वर्णन कर रहे हैं—

इन्द्रियों के विषय और प्राण आदि सबका एक मात्र आधार शरीर है। इन सब की संस्थिति इसी में है। यह देह प्रमाता है। इसका यह असाधारण रूप है। अर्थात् शरीर की संस्थिति इन्द्रियों और इन्द्रियार्थों तथा प्राण आदि के पिण्ड रूप में है।

ध्यानमयी बुद्धि, प्राण और देह के इस पिण्ड में ध्यान आदि के स्वरूप की चर्चा का उपक्रम कर रहे हैं—

क्रमानुसार ध्यान मय अनुत्तर पारमार्थिक तत्त्व के वस्तु सत्य के उद्घाटन का यहाँ अवसर उपलब्ध है। आगे इसी का वर्णन है ॥ १९ ॥

अभी प्राणना वृत्ति की चर्चा हुई है। उसे हृदय भी कहा गया है। उसी हृदय में चिन्मय स्वतन्त्र प्रकाश परिस्फुरित होता है। वह तत्त्वों का सार रहस्य है। स्वात्मपरामर्श का वह तात्त्विक प्रतीक है। त्रिशिरोभैरव का भी यही मत है। कहा गया है कि,

'योऽयं चित्स्वभावो'ऽर्कादिप्रकाशविलक्षणोऽत एव स्वप्रकाशत्वात् 'स्वतन्त्रो'ऽत एव च 'सर्वतत्त्वमयः' तत्तद्रूपतया परिस्फुरन् 'प्रकाशो हृदि' स्वपरामर्शे

'साक्षं सर्वमिदं देहं यद्यपि व्याप्य संस्थितः।
तथाप्यस्य परं स्थानं हृत्पङ्कजसमुद्रकम्॥'

इत्यादिनीत्या हृदयेऽवस्थितः, तत्रैव तत्त्वविदां साक्षात्कार्यः,—इत्यर्थः। नन्वत्र किं प्रमाणम्—इत्युक्तम् 'एतच्च त्रिशिरोमते प्रोक्तम् इति॥ २०॥

तत्रत्यमेव ग्रन्थं पठति

कदलीसंपुटाकारं सबाह्याभ्यन्तरान्तरम्।
ईक्षते हृदयान्तःस्थं तत्पुष्पमिव तत्त्ववित्॥ २१॥

इह खलु आत्मज्ञः 'तत्' स्वतन्त्रप्रकाशात्म परं ब्रह्म आनन्दातिशयदायितया परमोपादेयत्वेन 'पुष्पमिव'

'........................हृदि ध्येयो मनीषिणाम्।'

इत्याद्युक्त्या 'हृदयान्तःस्थमीक्षते' साक्षात्कुर्यात्,–इत्यर्थः। यतस्तत् 'कदल्या' योऽसौ 'संपुटः' परस्परमन्तर्बहीरूपतया मिलितानां दलानां सन्निवेशः तद्वदोत-

---

"यद्यपि यह अनुत्तर तत्त्व इन्द्रिय सहित समस्त शरीर को व्याप्त कर अवस्थित है फिर भी इसकी वास्तविक स्थिति हृदय-कमल से सुशोभित चिति समुद्र ही है।"

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके साक्षात्कार के लिये सर्वोत्तम स्थान हृदय ही है॥२०॥

त्रिशिरो भैरव की उक्ति उदाहृत कर रहे हैं—

आत्मा के स्वरूप को जानने वाले तत्त्ववेत्ता पुरुष—

'.....मनीषी लोगों द्वारा हृदय में ध्यान करने योग्य है।"

इस उक्ति के अनुसार हृदय में ही परमतत्त्व का साक्षात्कार करते हैं। वह तत्त्व कुसुम के समान सुकोमल, मकरन्द मनोज और अतिशय आनन्द का आधार है। जैसे केले का फूल बाहर भीतर एक पर एक

प्रोतत्वेनावस्थितैर्भूततन्मात्रेन्द्रियादिभिस्तत्त्वैः संवलित 'आकारो' यस्य तत्; अत एव 'बाह्यं' साधारणं तत्त्वजातम् 'आभ्यन्तरम्' असाधारणं तयोः साकल्यं 'सबाह्याभ्यन्तरं' तस्य 'आन्तरं' परप्रमात्रेकरूपम्,—इत्यर्थः। इदमुक्तं भवति—यथा कश्चित् कदल्या बाह्यं निःसारं दलमपास्य, शनैः शनैरान्तरमान्तरमाददानः पर्यन्ते परमोपादेयं पुष्पमादत्ते, तथैव तत्त्वविद्बाह्यं बाह्यं शारीरं तत्त्वजातं परित्यज्य, हृदयान्तः परिस्फुरन्तं स्वात्मानं साक्षात्कुर्यात्,—इत्यर्थः ॥ २१ ॥

नन्वात्मनः सर्वदेहव्यापकत्वेऽपि कथं हृदय एव साक्षात्कारो भवेत्? इत्याशङ्क्याह

सोमसूर्याग्निसंघट्टं तत्र ध्यायेदनन्यधीः ।

यतः 'तत्र' हृदये सावधानो योगी प्राणापानोदानात्मनां 'सोमसूर्याग्नीनां संघट्टं ध्यायेत्' कुम्भकवृत्त्योन्मीलनामनुसंदध्यात्,—इत्यर्थः ॥

ननु तत्रैवमनुध्यायतः किं फलम्? इत्याशङ्क्याह

तद्ध्यानारणिसंक्षोभान्महाभैरवहव्यभुक् ॥ २२ ॥
हृदयाख्ये महाकुण्डे जाज्वलन् स्फीततां व्रजेत् ।

कोरकों की परतके सटाव से कसे हुए आँखों को आनन्द देते हैं, उसी तरह यह भी बाहर भीतर तन्मात्राओं से इन्द्रियों और इन्द्रियार्थों से संवेष्टित होकर सम्पुटाकार अवस्थित है। केले के फूल के एक एक बाहरी कसाव से भरे कोरकों को हटाते हुए उसके अन्तराल के सौन्दर्य का दर्शन होता है। उसी तरह आत्मज्ञपुरुष बाह्य आवरण को अनावृत कर परमतत्त्व का साक्षात्कार कर लेता है ॥ २१ ॥

सारे देह में व्यापक तत्त्व का हृदय में ही साक्षात्कार कैसे होता है—यही कह रहे हैं—

हृदय में अवधान देने वाला योगी प्राण रूपी सूर्य, अपान सोम और उदान अग्नि इन तीनों के परस्पर संघट्टका अनवरत अनुसन्धान करे। पूरक क्रम से कुम्भक की अवस्था में ही यह सब होना चाहिये।

वहाँ इस अवस्था के अनुध्यान के फल के सम्बन्ध में कह रहे हैं—

'तत्' समनन्तरोक्तं सोमसूर्याग्निसंघट्टात्म यत् 'ध्यानं' तदेव 'अरणिः' तस्याः सम्यक् प्राणापानगतित्रोटनेन निर्विकल्पतया मध्यधामानुप्रवेशात्मा यः 'क्षोभः' ततो हेतोः हृत्कुण्डे पारिमित्यतिरस्कारेणात्यर्थं ज्वलन् महाभैरवाग्निः 'स्फीततां व्रजेत्' पूर्णप्रमातृरूपतया स्वात्मसाक्षात्कारो भवेदित्यर्थः। तदुक्तम्

'न व्रजेन्न विशेच्छक्तिर्मरुद्रूपा विकासिते।
निर्विकल्पतया मध्ये तथा भैरवरूपधृत्॥'
(विज्ञा० २६ श्लो०) इति॥ २२॥

नन्वेतावतैव कथमेवं स्यात्? इत्याशङ्क्याह

तस्य शक्तिमतः स्फोतशक्तेर्भैरवतेजसः॥ २३॥
मातृमानप्रमेयाख्यं धामाभेदेन भावयेत्।

यतः 'तस्य' स्वातन्त्र्यशालिनो भैरवात्मनः परस्य प्रकाशस्य मितप्रमात्रादिधामत्रयम् 'अभेदेन भावयेत्' तत्सादभूतमनुसंदध्यात्। येन पारिमित्यतिरस्कारेण परप्रमात्रैकात्म्यमुदियात्॥ २३॥

उक्त तीनों के संघट्टात्मक ध्यान को अरणी माना जाता है। यज्ञ में अरणी के मन्थन से अग्नि नारायण प्रकट हो जाते हैं। ध्यानानुसन्धान रूप अरणी का प्राण और अपान रूप गति चक्र से एक प्रकार का मन्थन ही हो रहा है। मन्थन से क्षोभ होता है। इस क्षोभ में एक निर्विकल्प भाव उभरता है। वह मध्यावस्थान की तरह होता है। वहाँ महा भैरव रूप हव्यवाहन उद्दीप्त हो उठता है। प्रकाश मय हृदय का महाकुण्ड नई ज्वालाओं की लपटों से अत्यन्त उज्ज्वल हो जाता है। परिणामतः पूर्ण प्रज्ञ पर-भैरव का स्वात्म-साक्षात्कार हो जाता है। विज्ञान भैरव का २६ वाँ श्लोक है—

"वायु रूपिणी मेरी शक्ति अपनी विकास पराकाष्ठा की दशा में न तो प्राण और न अपान की ही गति प्रक्रिया में सक्रिय रहती है अपितु मध्य धाम में महाभैरव रूप निर्विकल्प प्रकाश रूप से स्फुरित होती रहती है॥ २२॥

अरणिमन्थन के इस सुपरिणाम के सम्बन्ध में कह रहे हैं—

उस अवस्था में अत्यन्त उज्ज्वल शक्तिमन्त भैरव प्रकाश, प्रमाता, प्रमाण, और प्रमेय के ऐकात्म्य से उद्दीप्त हो उठता है। साधक उसी

ननु सोमसूर्याग्निसंघट्टात्म ध्यानं परप्रमातृतापत्तौ निमित्तम्, इत्युक्तं तत्कथमिदानीमेव तदभेदेन मितमात्रादेर्भावनमप्युच्यते,—इत्याशङ्क्याह

वह्न्यर्कसोमशक्तीनां तदेव त्रितयं भवेत् ॥ २४ ॥

'तत्' प्रमात्रादि त्रितयं वह्न्यादिशक्तीनामेव संबन्धि तद्रूपमेवेत्यर्थः ॥२४॥

न केवलमेतत् वह्न्यादिशक्तिरूपमेव यावत् परादिरूपमपि—इत्याह

परा परापरा चेयमपरा च सदोदिता ।

'सदा सृष्टिस्थितिसंहाराख्यदशासु 'उदिता' इति प्रत्येकमभिसंबन्धः ॥ अत आह

सृष्टिसंस्थितिसंहारैस्तासां प्रत्येकतस्त्रिधा ॥ २५ ॥

ननु आसां सदोदितत्वादनाख्यदशायामपि उदयः संभवेत्,—इति कथं सृष्ट्यादिरूपतया प्रत्येकं त्रित्वमेवोक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

चतुर्थं चानवच्छिन्नं रूपमासामकल्पितम् ।

प्रकाशैकात्म्य भाव का अनुसन्धान करता है । परिणामतः उसका अणुत्व अपास्त हो जाता है ॥ २३ ॥

उक्त ध्यान से परप्रमातृभाव का विकास स्वाभाविक है । उससे परिमित प्रमातादि की भावना कैसे ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

सूर्य और कृशानु शक्तियों का ही स्वरूप यह प्रमाण प्रमेय और प्रमाता का भी उल्लास है ॥ २४ ॥

यह मात्र सूर्यसोम कृशानु रूप ही नहीं अपितु परा, परापरा और अपरा रूप भी हैं । यही कह रहे हैं—

यह शक्तियाँ शाश्वत रूप से सृष्टि, स्थिति और संहार दशाओं में परा परापरा और अपरा रूपों में भी उदित हैं । यही इन तीन रूपों में भी अभिव्यक्त होती हैं ॥ २५ ॥

इन तीन रूपों के अतिरिक्त इनका चौथा अकल्पित रूप होता है । यही कह रहे हैं—

'अनवच्छिन्नं' सृष्टाद्यवच्छेदशून्यम्, अत एव 'अकल्पितं तात्त्विक-मित्यर्थः।

एतदेव संकलयति

एवं द्वादश ता देव्यः सूर्यबिम्बवदास्थिताः ॥ २६ ॥
एकैकमासां वह्न्यर्कसोमतच्छान्तिभासनम्।

'ताः' पराद्याः। अत्रैव हृदयङ्गमीकरणाय पुनः 'एकैकम्' इत्यादि हेतुः। एतच्च अनन्तराह्निक एव वितत्य निर्णीतम्,—इति न पुनरि-हायस्तम् ॥ २६ ॥

सर्वस्व चैतदनुभवसिद्धं न तु अपूर्वं किंचित्,—इति दर्शयितुमाह

एतदानुत्तरं चक्रं हृदयाच्चक्षुरादिभिः ॥ २७ ॥
व्योमभिर्निःसरत्येव तत्तद्विषयगोचरे।

'एतत्' समनन्तरोक्तं द्वादशात्मकम् आनुत्तरं चक्रं हृदयात्' तत्स्था-त्परमेश्वररूपात् आत्मनश्चक्षुरादीन्द्रियव्योमवर्त्मना तत्तद्रूपादिविषयस्वीकार-निमित्तं तत्तद्वृत्तिरूपतया निःसरत्येव,' नतु न कदाचिन्निःसरतीत्यर्थः। इदमुक्तं भवति—यन्नाम प्रबुद्धस्याप्रबुद्धस्य वा स्वरसत एव चक्षुरादीन्द्रियवृत्तिद्वादशकं रूपाद्यर्थालोचनाय प्रसरद्वर्तते, तदेव इदमानुत्तरं चक्रम्,—इति, किंतु अप्रबुद्धस्य तथात्मनापरिज्ञायमानत्वात् बन्धकं, प्रबुद्धस्य तु मोचकम्, इति विशेषः। यथोक्तम्

सृष्टि, स्थिति और संहार रूप अवच्छेदों के अतिरिक्त अन्य भेद अकल्पित हैं। इस प्रकार सूर्य बिम्ब की तरह ये शक्तियाँ बारह रूपों, में भी स्थित हैं। वही एक एक सोम, सूर्य और कृशानु रूपों में तथा उनके शान्त रूपों भी भासित हैं ॥ २६ ॥

इस अनुभव सिद्ध वस्तु में कोई नयी बात नहीं। यही कह रहे हैं—

हृदय में अवस्थित आत्मा, परमात्मा का ही प्रतीक है। हृदय से निकल कर इन्द्रियों के वातायन से छिटकने वाला आत्मा का प्रकाश एक ऐसा चक्र है जो इन्द्रियार्थों को भी आत्मसात् करता है। इसे आनुत्तर चक्र कहते हैं। यह अज्ञानता के कारण अज्ञ को बन्धन में डालता है। विज्ञ के लिये ज्ञात होने के कारण मुक्तिप्रद है। कहा गया है कि—

'सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ॥' (स्प० ४।१८) इति।

तथा

'येन येन निबध्यन्ते जन्तवो रौद्रकर्मणा।
सोपायेन तु तेनैव मुच्यन्ते भवबन्धनात् ॥ इति ॥२७॥

न केवलमेतत् अत्रैव यावदर्थेऽपि,—इत्याह

तच्चक्रभाभिस्तत्रार्थे सृष्टिस्थितिलयक्रमात् ॥ २८ ॥
सोमसूर्याग्निभासात्म रूपं समवतिष्ठते।

'तस्य' समनन्तरोक्तस्य दृगादिदेवीद्वादशकात्मनः 'चक्रस्य' तत्तद्वृत्ति-रूपाभिः 'भाभिः', तत्रार्थे' तत्र तत्र विषये सृष्टिस्थितिसंहाराख्यरूपतामवलम्ब्य सोमाद्यात्ममेयमातृस्फारलक्षणं 'रूपं' सम्यक् स्वस्वरूपाविभेदेन 'अवतिष्ठते' किंचित्संकुचत्तया बहिर्मुखत्वेन प्रस्फुरतीत्यर्थः। प्रमाता हि प्रथममवभास्यमान-तया अर्थं सृजति, तदनु तत्रैव प्रशान्तनिमेषं कंचित्कालमनुरज्यन् परिस्थापयति,

---

"शिव की यह क्रियात्मिका शक्ति स्वयं शिव को पशुत्व प्रदान करती है और उसके लिये बन्धयित्री बन जाती है। ज्ञात होने पर स्वात्म की ओर गतिशील यह शक्ति मुक्ति रूपी सिद्धि प्रदान करती है। (स्प. ४।१८)

तथा

रुद्र की जिन जिन कर्म शक्तियों से जीव बन्धन में पड़ते हैं, उपाय पूर्वक वही उसे भवबन्धन से मुक्ति भी दिलाती हैं। ऐसा यह अनुत्तर से उत्पन्न आनुत्तर चक्र है ॥ २७ ॥

यह आनुत्तर चक्र इन्द्रियार्थों में भी अवस्थित है, यही कह रहे हैं—

इस द्वादशात्मक चक्र की किरणें सामान्यतया सभी विषयों पर पड़ती हैं। वहाँ भी ये सृष्टि, स्थिति और संहारभावों का आश्रय लेती हैं। सोम, सूर्य और कृशानु क्रम से मेय, मान और माता रूप में भी प्रस्फुरित होती हैं। यह बहिर्मुख प्रस्फुरण स्पष्टतया भासित है। यह त्रिक परस्पर अवियुक्त है। इस तरह विषय भी सर्वात्मक सिद्ध हो जाते हैं। जैसे—पहले प्रमाता अर्थ का सृजन करता है। उसमें अनुरक्त होता हुआ विश्रान्ति रूप स्थिति को प्राप्त करता है। फिर यह

पश्चात् 'ज्ञातोऽयं मयार्थः' इति संतोषाभिमानात् स्वात्मनि विमृशन्नुपसंहरति, अनन्तरं हठपाकक्रमेण अलंग्रासयुक्त्या पूर्णत्वापादनेन चिदग्निसाद्भावमापादयति,—इति अर्थोऽपि दृगादिदेवीवच्चातूरूप्यमश्नुवानः सर्वस्य सर्वात्मकत्वात् तत्तादात्म्यमेवोपलभते इति ॥ २८ ॥

अतश्च यत्र क्वापि एतच्चक्षुरादिमरीचिचक्रं निपतेत्, तत्रैतद्रूपतामेव विमृशेत् येन स्वात्मध्यानं सिद्ध्येत्, तदाह

एवं शब्दादिविषये श्रोत्रादिव्योमवर्त्मना ॥ २९ ॥
चक्रेणानेन पतता तादात्म्यं परिभावयेत् ।

ननु शब्दादि श्रोत्रादिनियतवृत्तिवेदनीयम्,—इति कथमेकैकत्र तत्र निखिलमेव श्रोत्रादिवृत्तिचक्रं निपतेत्,—इति किमेतदुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

अनेन क्रमयोगेन यत्र यत्र पतत्यदः ॥ ३० ॥
चक्रं सर्वात्मकं तत्तत्सार्वभौममहीशवत् ।

विषय मुझे ज्ञात हो गया है--इस संतोष का विमर्श करता हुआ उसका उपसंहार कर देता है । पुनः हठपाक के क्रम से अलंग्रास युक्ति द्वारा पूर्णता प्राप्त कर चिदग्नि प्रकाश को आत्मसात् करता है । इस क्रम में यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्रियों के विषय भी चारों दशाओं में व्यक्त हैं । यही सब की सर्वात्मकता है ॥ २८ ॥

इसके प्रभाव के विषय में कह रहे हैं—

शब्द आदि विषयों पर श्रोत्र आदि व्योम मार्ग से यह किरणचक्र पड़ता है । वहाँ वहाँ वह तद्रूपात्मक विमर्श करता है । परिणामस्वरूप स्वात्म तादात्म्य का ही परिभावन होता है ॥ २९ ॥

नियत वृत्तिवेदनीय शब्द आदि विषयों पर सारा श्रोत्रादिचक्र पड़ता है--इसी तथ्य को स्पष्ट कर रहे हैं—

इस क्रम द्वारा उक्त आनुत्तर चक्र जहाँ जहाँ पड़ता है—वहाँ सर्वात्मक भाव से पड़ता है । जैसे सार्वभौम सम्राट का प्रभाव । कहा गया है कि

तत्तदेतत् 'चक्रं'

'समुदायवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते ।' इति,

नीत्या श्रोत्रादिलक्षणमेकैकं चक्रावयवं 'यत्र यत्र' शब्दादौ विषये 'पतति' अर्थात् तत्र तत्र 'अनेन' समनन्तरोक्तेन सृष्ट्यादिक्रमसम्बन्धेन सर्वस्य सर्वात्मकत्वात् चक्रात्मकम् अशेषवृत्त्यन्तरागूरणेन स्वस्वविषयोपभोगं करोतीत्यर्थः। अत्रैव दृष्टान्तः 'सार्वभौममहीशवत्' इति। यथा सार्वभौमो राजा यत्र कुत्रचन परराष्ट्रे निपतति तत्रास्य राजान्तराणि साहायकार्थमवश्यमनुपतन्ति; एवमेकैकापि चिद्वृत्तिर्यत्र क्वाप्यर्थे प्रसरति तत्रैव वृत्त्यन्तराण्यपि अनुधावन्तीति ! यदुक्तम्

'एकैकापि च चिद्वृत्तिर्यत्र प्रसरति क्षणात् ।
सर्वास्तत्रैव धावन्ति ताः पुर्यष्टकदेवताः ॥' इति ॥ ३० ॥

नन्वेवं सर्वस्य सर्वात्मकत्वोपदेशेन किम् इत्याशङ्क्याह

इत्थं विश्वाध्वपटलमयत्नेनैव लीयते ॥ ३१ ॥
भैरवीयमहाचक्रे संवित्तिपरिवारिते ।

'इत्थम्' उक्तेन प्रकारेण ध्यायतश्चक्षुरादिसंवित्तिदेवीचक्रपरिवार्यमाणे 'भैरवीये' परप्रमात्रात्मनि चक्रेश्वरे 'विश्वं' षड्विधम् 'अध्वपटलम् अयत्नेनैव लीयते' तत्साद्भवतीत्यर्थः। एकैकशो हि भावानामानन्त्यात् युगसहस्रैरपि संविदि

"ये शब्द समुदाय भावमय हैं। अवयवों में भी वे हैं।"

इस उक्ति के अनुसार श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ जब शब्द आदि विषयों का प्रत्यक्ष करती हैं, उस समय एक चित्तवृत्ति का अनुधावन सारी वृत्तियाँ करती हैं। जैसे सार्वभौम सम्राट् के साथ सहायक राजन्य वर्ग। कहा गया है कि—

"एक एक कर भी यदि कोई चित्तवृत्ति क्षण भर के लिये भी कहीं प्रसरण शील होती है—वहाँ वहाँ सारी इन्द्रियाँ भी उसका अनुधावन करती हैं।" इससे भी सबकी सर्वात्मकता सिद्ध हो जाती है ॥ ३० ॥

इस सर्वात्मक उपदेश की फल श्रुति कह रहे हैं—

इस प्रकार अभ्यास कर लेने पर साधक की साधना सिद्ध हो जाती है। इससे संवित्ति देवियों से घिरे भैरवीय महाचक्र में यह सारा अध्वमंडल अनायास ही लीन हो जाता है। भावनायें अनन्त हैं। हजारों युगों तक प्रयत्न

विलयनं न सिद्ध्येत्,—इति सर्वस्य सर्वात्मकत्वात् एकस्मिन्नेव भावे संविदि लीने विश्वमेवाक्रमेण सुखोपायं लीनं स्यात्,—इत्ययत्नशब्दार्थः ॥ ३१ ॥

नन्वेवमपि किम् ? इत्याशङ्क्याह

ततः संस्कारमात्रेण विश्वस्यापि परिक्षये ॥ ३२ ॥
स्वात्मोच्छलत्तया भ्राम्यच्चक्रं संचिन्तयेन्महत् ।

'ततो'ऽनन्तरं 'संस्कारमात्रेणापि' अवस्थितस्य 'विश्वस्य' परितः समन्तात् बहीरूपतया 'क्षये' जाते सति व्यतिरिक्तवस्तुग्रासीकारात् 'स्वात्मोच्छलत्तया' स्वात्मनैव [उल्लसत्तया] 'महत्' कृत्वा 'भ्राम्यत्' सर्वतः प्रविजृम्भमाणं चक्षुरादीन्द्रियसंवित्तिरूपं 'चक्रं' सम्यक् विश्वक्रोडीकारेण चिन्तयेदित्यर्थः ॥३२॥

ननु संनिहितेऽपि बाह्येऽर्थजाते चक्षुरादीन्द्रियवृत्त्यात्म संविच्चक्रमुदियात्,—इत्यविवादः। तदेव चेत् परिक्षीणं तत् कथमेतत् चक्रमपि स्वात्मन्युल्लसेत्,—इति किमेतदुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

ततस्तद्ग्राह्यविलयात् तत्संस्कारपरिक्षयात् ॥ ३३ ॥
प्रशाम्यद्भावयेच्चक्रं ततः शान्तं ततः शमम् ।

'ततः' तस्मात् समनन्तरोक्तात् 'ग्राह्यस्य' बाह्यस्यार्थजातस्य संक्षयात् हेतोः तच्चक्रं प्रशाम्यदवस्थं ध्यायेत्; ततोऽनन्तरं 'तत्संस्कारस्यापि परि-

---

करने पर भी एक एक का भी निरूपण असम्भव है। इस सर्वात्मक सिद्धान्त के अनुसार विलीनीकरण की यह प्रक्रिया सुखपूर्वक सम्पन्न हो जाती है ॥ ३१ ॥

इससे सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि यदि यह विश्व संस्कार रूप से भी हृदय में अवस्थित हो, तो उसका क्षय हो जाता है। स्वात्म-सत्ता उच्छलित हो जाती है। आत्मा के इस उल्लास में यह तेजी से घूम रहा द्वादशात्मक चक्र भी विश्वात्मकता में समाहित हो जाता है ॥ ३२ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि संविच्चक्र के क्षीण हो जाने पर कैसा उल्लास होगा ? इस का उत्तर दे रहे हैं—

बाहर की ओर उन्मुख और उल्लसित इस इन्द्रियार्थ समुदाय के स्वात्म-चिदग्निसात् हो जाने पर वह संवित् चक्र प्रशम अवस्था में है ऐसा ध्यान करना चाहिये। प्रशम की अवस्था में संस्कारक्षीण हो जाते हैं और शान्ति का

क्षयात् शान्तं' यावदन्ते 'शमं' तच्चक्रप्रशान्त्या शुद्धमेव संविन्मात्रमनुसंदध्यादित्यर्थः ॥ ३३ ॥

एतदेव संकलयति

अनेन ध्यानयोगेन विश्वं चक्रे विलीयते ॥ ३४ ॥
तत्संविदि ततः संविद्विलीनार्थैव भासते ।

ननु यद्येवं विलीनार्था संविदेवावभासते तत् विद्युदुद्योतन्यायेन प्रमातृप्रमेयात्म विश्वं भायात्,—इति सर्वदैव प्रलयोदयः स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

चित्स्वाभाव्यात् ततो भूयः सृष्टिर्यच्चिन्महेश्वरी ॥ ३५ ॥

ननु चितः को नाम अयमेवंविधः स्वभावो येनास्या भूयोऽपि सृष्ट्यादौ कर्तृत्वम्,—इत्याशङ्क्योक्तं 'यच्चन्महेश्वरीति' ॥ ३५ ॥

नन्वेवं विश्वस्य प्रलयोदयचिन्तनेन ध्यायतः कोऽर्थ ? इत्याशङ्क्याह

एवं प्रतिक्षणं विश्वं स्वसंविदि विलापयन् ।
विसृजंश्च ततो भूयः शश्वद्भैरवतां व्रजेत् ॥ ३६ ॥

अनुभव होता है। शान्ति होने पर शम का अर्थात् शुद्ध संवित् चक्र का ही परामर्श शेष रहता है। संवित् अनुसंधान में रत साधक ऐसा ही ध्यान करे ॥ ३३ ॥

इस ध्यान का परिणाम स्पष्ट कर रहे हैं—

इस ध्यान योग से विश्व संवित् चक्र में विलीन हो जाता है। उस समय उस संवित् में सारा विश्व अन्तर्गर्भ रूप से अवस्थित है, ऐसा आभास होता है ॥ ३४॥

प्रश्न है कि इस विलीनार्था संवित् के अवभासित होने पर बिजली की चमक में विश्व की तरह प्रमाता प्रमेयात्मक विश्व का अवभासन होना ही चाहिये। फिर तो प्रलय और उदय आदि हमेशा प्रतीत होंगे ? इस पर कह रहे हैं—

यह तो चित् शक्ति का 'स्व' भाव ही है। इसके इस स्वातन्त्र्य के प्रभाव से प्रलय ही नहीं अपि तु सृष्टि का भी समुल्लास होता है। यही चिति का माहेश्वर्य है ॥ ३५ ॥

न केवलमेतदेव चक्रं योगिना ध्येयं यावच्चक्रान्तराण्यपि,—इत्याह

एवं त्रिशूलात् प्रभृति चतुष्पञ्चारकक्रमात् ।
पञ्चाशदरपर्यन्तं चक्रं योगी विभावयेत् ॥ ३७ ॥
चतुष्षष्टिशतारं वा सहस्रारमथापि वा ।
असंख्यारसहस्रं वा चक्रं ध्यायेदनन्यधीः ॥ ३८ ॥

एतच्च पुरस्तादेव गतार्थम्,—इति न पुनरिहायस्तम् ॥ ३७-३८ ॥

नन्वसंख्यारत्वे किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

संविन्नाथस्य महतो देवस्योल्लासिसंविदः ।
नैवास्ति काचित्कलना विश्वशक्तेर्महेशितुः ॥ ३९ ॥

संवित् में विश्व के प्रलयोदय का ध्यान साधक में कौन सा चमत्कार पैदा करेगा ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

इस प्रकार स्वात्म संविद् में प्रमाता आदि, सोमादि और सृष्टयादि रूप से भासित विश्व को प्रतिक्षण विलीन करने वाला साधक शाश्वत जागरूक रहता है। इसके साथ ही इस विलय-प्राप्त विश्व का विसर्ग भी करता हुआ साक्षी भाव से विराजमान रहता है, उसे सहज भैरवीभाव उपलब्ध हो जाता है ॥ ३६ ॥

योग सिद्ध साधक को आनुत्तर और द्वादशात्मक चक्रों के अतिरिक्त अन्य चक्रों का भी ध्यान करना चाहिये। यही कह रहे हैं—

चार पाँच अरों के क्रम से ५०, ६४, १०० और हजार अरों वाले चक्रों के अतिरिक्त असंख्यात अरों वाले चक्रों का भी योगी को अनन्य भाव से ध्यान करना चाहिये ॥ ३७–३८ ॥

असंख्य अरों की कलना के कारण की चर्चा कर रहे हैं—

संवित् शक्ति के अधीश्वर और संविद् के उल्लास में प्रसन्न सर्व शक्तिमान् महेश्वर महादेव के सम्बन्ध में कोई एक कलना ही नहीं अपितु अनन्त अरा रूप कलनायें की जा सकती हैं ॥ ३९ ॥

नन्वत्र किं प्रमाणम् ? इत्याशङ्कयाह

शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।
इति माङ्गलशास्त्रे तु श्रीश्रीकण्ठो न्यरूपयत् ॥ ४० ॥

यदुक्तं तत्र

'शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते ।
शक्तयश्च जगत्सर्वं शक्तिमांश्च महेश्वरः ॥' इति ॥ ४० ॥

न चैतत् स्वोपज्ञमेवास्माभिरुक्तम्,—

इत्येतत् प्रथमोपायरूपं ध्यानं न्यरूपयत् ।
श्रीशंभुनाथो मे तुष्टस्तस्मै श्रीसुमतिप्रभुः ॥ ४१ ॥

एतदेव अन्यत्राप्यतिदिशति

अनयैव दिशान्यानि ध्यानान्यपि समाश्रयेत् ।
अनुत्तरोपायधुरां यान्यायान्ति क्रमं विना ॥ ४२ ॥

'अन्यानि' इति शास्त्रान्तरोक्ततत्तच्चक्ररूपाणि ॥ ४२ ॥

इसका प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं—

मङ्गल शास्त्र में कहा गया है कि यह सारा जगत् उसकी शक्ति का ही उल्लास है । स्वयं वह शक्तिमान् महेश्वर है । वहाँ कहा गया है—

"शक्ति और शक्तिमान् दो पदार्थ हैं । शक्ति तो सारा जगत् है और शक्तिमान् महेश्वर है ।" यह कथन द्वैधीभाव का प्रतिपादक नहीं है ॥ ४० ॥

उक्त तथ्य का आगम प्रामाण्य दे रहे हैं—

हमारे शैव महाभाव की प्राप्ति का ध्यान रूप यह पहला उपाय श्री गुरुवर्य श्री शम्भुनाथ ने निरूपित किया था । उन्हें भी यह श्री सुमति प्रभु से प्राप्त हुआ था ॥ ४१ ॥

अन्य शास्त्रों में भी इससे सम्बन्धित निर्देश की चर्चा कर रहे हैं—

इसी प्रथम उपाय के अनुसार अन्य प्रकार के ध्यान भी किये जाते हैं । साधक अपनी रुचि और योग्यतानुसार इनका आश्रय ग्रहण करे । ऐसी विधियों

एवं ध्यानस्वरूपं निरूप्य तदनन्तरोद्दिष्टं प्राणतत्त्वसमुच्चारं वक्तुमुप-क्रमते

अथ प्राणस्य या वृत्तिः प्राणनाख्या निरूपिता ।
तदुपायतया ब्रूमोऽनुत्तरप्रविकासनम् ॥ ४३ ॥

तदेवाह

निजानन्दे प्रमात्रंशमात्रे हृदि पुरा स्थितः ।
शून्यतामात्रविश्रान्तेर्निरानन्दं विभावयेत् ॥ ४४ ॥
प्राणोदये प्रमेये तु परानन्दं विभावयेत् ।
तत्रानन्तप्रमेयांशपूरणापाननिर्वृतः ॥ ४५ ॥
परानन्दगतस्तिष्ठेदपानशशिशोभितः ।
ततोऽनन्तस्फुरन्मेयसंघट्टैकान्तनिर्वृतः ॥ ४६ ॥
समानभूमिमागत्य ब्रह्मानन्दमयो भवेत् ।
ततोऽपि मानमेयौघकलनाग्रासतत्परः ॥ ४७ ॥
उदानवह्नौ विश्रान्तो महानन्दं विभावयेत् ।

में क्रम की अपेक्षा नहीं होती। परम्परानुसार अनुत्तर के उपाय के ये मूल आधार रूप हैं ॥ ४२ ॥

ध्यान के बाद उच्चार का वर्णन कर रहे—

प्राणना वृत्ति प्राण से सम्बन्धित है। इसका निरूपण उच्चार रूप में किया जा चुका है। इसी वृत्ति को उपाय मानकर अनुत्तर की विकास प्रक्रिया का कथन कर रहे हैं। 'वस्तुतः निजानन्दमय प्रमाता के संविदात्मक शून्य में विश्रान्ति जन्य 'निरानन्द' का भावन करना चाहिये। स्वच्छन्दतन्त्र ४।२९२ की उक्ति है कि—"जिसको शून्य कहते हैं, वह वस्तुतः अशून्य ही है। क्योंकि वहाँ चिदानन्दघन शिवतत्त्व विद्यमान है। शून्य अभाव की दशा का नाम है। और अभाव का अर्थ ही है कि जहाँ प्रमेय आदि प्रपञ्च समाप्त हो गये हैं।" इस तरह भावों का न रहना चित् तत्त्व की विद्यमानता की सूचना देता है।

इह खलु योगी 'पुरा' प्रथमं

'अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते ।
अभावः स समुद्दिष्टो यत्र भावाः क्षयं गताः ॥' (स्व० ४।२९१)

इत्यादिना निरूपितस्वरूपे संविदेकात्मनि 'शून्यतामात्रे' विश्रान्तिमाश्रित्य प्राणाद्युदयविश्रामधामनि 'हृदि' विषये 'निजो' निरुपाधित्वात् स्वभावभूत 'आनन्दो' यस्यैवंविधे प्रमेयाद्यंशान्तरापेक्षया 'प्रमात्रंशमात्रे स्थितः' स्वात्मानमेव केवलतया साक्षात्कुर्वन्नवस्थितः सन्, अनन्तरं

'प्राक्संवित् प्राणे परिणता ।'

इति नीत्या प्रमाणात्मनः 'प्राणस्य' हृदयात् द्वादशान्तं रेचकक्रमेण 'उदये' कथंचिद्बहिरौन्मुख्यात् 'निरानन्दं' निजात्प्रमातृसंमतादानन्दात् निष्क्रान्तं दशाविशेषं 'विभावयेत्' लक्षयेदित्यर्थः। अपानात्मनि 'प्रमेये' पुनरुदयति 'परेण' प्रमेयेण कृतम् 'आनन्दं विभावयेत्' यतः 'तत्र' तस्यां प्रमेयोदयदशायाम् असौ परानन्दनिष्ठस्तिष्ठेत्; यतो 'ऽनन्ता ये प्रमात्राद्यपेक्षया प्रमेयलक्षणा 'अंशाः' तत्कर्तृका येयं 'पूरणा' तत्तदर्थग्रहणेन नैराकाङ्क्षयं सैव 'पानं' पीतिः तेन 'निर्वृतः' स्वात्ममात्रविश्रान्तो, यस्मात् 'अपान' एवाप्यायकारितया 'शशी' तेन

चितत्त्व ही संविद् शक्ति है । संविदैक्य समावेश में साधक शून्य में ही विश्रान्ति करता है । उसमें **'निरानन्द'** की विशिष्ट अनुभूति होती है । यह आनन्द की दूसरी भूमि है ।

यह अनुभूति पहले **निजानन्द** में स्थित रहने पर ही होती है । वहाँ प्रमात्रंश मात्र में ही स्थिति रहती है । अर्थात् स्वात्म प्रमाता ही साक्षात् उल्लसित रहता है । 'पहले संवित् प्राणरूप में परिणत हुई ।' इस उक्ति के अनुसार प्रमाण रूप प्राण के हृदय से द्वादशान्त तक रेचक क्रम से उदित होने पर प्रमातृगत निजानन्द से निष्क्रान्त होने के कारण निरानन्द की अनुभूति होती है । यह अनुभूति बाहर की ओर प्राण की उन्मुखता में ही होती है ।

फिर अपानात्मक प्रमेय के उदित होने पर सूक्ष्म प्रमेय से सम्बन्धित **'परानन्द'** का भावन साधक करे । परानन्दनिष्ठ योगी सूक्ष्म प्रमेयों के उदय की अवस्था में अवस्थित हो जाता है । प्रमाण की अपेक्षा प्रमेय अनन्त होते हैं । उनके भोग रूप ग्रहण के उपरान्त उनके प्रति आकांक्षा समाप्त हो जाती है ।

'शोभितः पूरकक्रमेण द्वादशान्ताद्धृदयं यावत् तद्दशामधिशयान इत्यर्थः। ततोऽपि हृदये कुम्भकवृत्त्या क्षणं विश्रम्य तेषां समनन्तरोक्तानां नीलसुखादि-रूपतया 'अनन्तानां' प्रतिभासमानां 'मेयानाम्' अन्योन्यमेलनात्मा योऽसौ 'संघट्टः' तेन 'एकान्तेन' अव्यभिचारेण 'निर्वृतः' सन्, सममेव समग्रमेयस्वी-कारात् समानभूमिमासाद्य मेयेन संभूय कृतत्वाद्बृंहितेन ब्रह्मरूपे योऽसावानन्दः, तन्मयो भवेत्, परमानन्ददशातोऽपि विशिष्टामानन्ददशामनुभवेदित्यर्थः। तदनन्तरमपि 'मानमेययोः' सूर्यसोमात्मनोः प्राणापानयोर्य 'ओघः' प्रवाह-स्तस्य याः

'षट् शतानि वरारोहे सहस्राण्येकविंशतिः।'

(वि० भै० १५६ श्लो०)

इत्यादिना निरूपितस्वरूपाः 'कलनाः' तासां 'ग्रासतत्परः' तद्ध्वनपरायणो योगी मध्यमार्गेणोर्ध्वगामिनि 'उदानवह्नौ' उत्कर्षकक्रमेण परिहृतप्राणाद्य-वान्तरक्षोभतया 'विश्रान्तो महान्तं' प्रमाणादिदशाधिशायिनिरानन्दादिवैल-क्षण्यादुत्कृष्टं प्रमातृसंमतम् 'आनन्दं विभावयेत्' स्वात्ममात्रविश्रान्तिरूपतया विमृशेदित्यर्थः ॥ ४७ ॥

यह निराकांक्षा एक प्रकार की तुष्टि की घूँट है। स्वात्म विश्रान्ति की एक तृप्ति है। अपान चन्द्र की चारुता है। बाह्य द्वादशान्त से नाभि तक पूरक क्रम से परानन्द निर्भर रहना ही परानन्द का भावन कहलाता है। निजानन्द, निरानन्द और परानन्द की यह सोपान परम्परा साधना का विषय है और "अपान" चन्द्र का चमत्कार है। आनन्द की यह तीसरी भूमि है।

चौथा आनन्द **'ब्रह्मानन्द'** है। कुम्भक वृत्ति में योगी के स्थित होने पर अनन्त अनन्त प्रतिभासमान प्रमेयों का आपसी मिलाप स्वाभाविक रूप से होने होने लगता है। यह समग्र मेय की स्वीकृति 'समान' भूमि है। यहाँ आनन्द का उपबृंहण होता है। इसी लिये इसे 'ब्रह्मानन्द' कहते हैं।

पाँचवीं आनन्द भूमिका नाम **'महानन्द'** है। यह उदान वायु के स्तर का आनन्द है। प्राण और अपान के २१६०० प्रवाह रूपी कलनाओं का इसमें ग्रास करना होता है। परिणामतः प्राणापान चक्रात्मक क्षोभ शान्त हो जाता है और योगी मध्यमार्ग से उर्ध्वगामी 'उदान' वह्नि में उत्कर्ष पूर्वक विश्राम करने लगता है। यह प्रमातृ संमत आनन्द है ॥ ४३-४७ ॥

नन्वेवं परामर्शेनास्य किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

तत्र विश्रान्तिमभ्येत्य शाम्यत्यस्मिन्महार्चिषि ॥ ४८ ॥

'तत्र' महानन्दे विश्रान्तिमागत्य 'अस्मिन् महार्चिषि' प्रमात्रात्मन्युदानवह्नौ 'शाम्यति' तदेकसाद्भवतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

ननु तत्र का नामास्य शान्तिरुच्यत ? इत्याशङ्क्याह

निरुपाधिर्महाव्याप्तिर्व्यानाख्योपाधिवर्जिता ।
तदा खलु चिदानन्दो यो जडानुपबृंहितः ॥ ४९ ॥

सा च शान्तिः 'निरुपाधिः' निष्क्रान्ता भेदेन स्फुरिता मातृमानमेयात्मान 'उपाधयो' यस्याः सा तथा, अत एव कलादिक्षित्यन्तं व्याप्यावस्थानात् 'महाव्याप्तिः' अत एव सर्वत्र व्यापकतयाननात् 'व्यानाख्या' व्यानदशामधिशयानेत्यर्थः। एवं सर्वमयत्वेऽपि सर्वोत्तीर्णेत्युक्तम् 'उपाधिवर्जिता' इति। अतएव 'तदा' तस्यां दशायां चिद्रूप एवानन्दः। नहि तदानीं मेयाद्यात्मनामचिताम् अवकाशोऽस्तीत्युक्तं 'यो जडानुपबृंहित' इति ॥ ४९ ॥

अत्रैव हेतूपन्यासः

नह्यत्र संस्थितिः कापि विभक्ता जडरूपिणः ।

'विभक्ता' इति अविभागेन पुनरेषामस्त्येव सद्भावः,—इति भावः यदुक्तम्

इस परामर्श के परिणाम का कथन कर रहे हैं—

'महानन्द' में विश्रान्ति हो जाने पर उदान अग्नि की शाश्वत शिखा में एकरस रूप से दीप्तिमन्त हो जाता है ॥ ४८ ॥

छठीं आनन्द भूमि **'चिदानन्द'** है। यह ध्यान रूपी उच्चार भूमि का आनन्द है। महानन्द में विश्रान्ति के बाद एक अनिर्वचनीय शान्ति उल्लसित हो जाती है। वह निरुपाधि होती है। कला से क्षिति पर्यन्त इसकी महाव्याप्ति होती है। व्यापकता के कारण इसे व्यान दशा कहते हैं। इसमें जो आनन्द होता है, वह चिद्रूप होता है। इसलिए इसे चिदानन्द कहते हैं। इसमें अचित् जडों के लिये कोई जगह नहीं होती ॥ ४९ ॥

'स्वात्मेव स्वात्मना पूर्णा भावा भान्त्यमितस्य तु ।'

(ई० प्र० १।१।७) इति ।

ननु निरुपाधित्वादनवच्छिन्नं प्रमात्रात्म परतत्त्वम्,—इत्युक्तं, तत् कथमत्र अविभागेनापि व्यवच्छेदका भावाः संस्युः ? इत्याशङ्क्याह

यत्र कोऽपि व्यवच्छेदो नास्ति यद्विश्वतः स्फुरत् ॥ ५० ॥
यदनाहतसंवित्ति — परमामृतबृंहितम् ।
यत्रास्ति भावनादीनां न मुख्या कापि संगतिः ॥ ५१ ॥
तदेव जगदानन्दमस्मभ्यं शंभुरूचिवान् ।

'यत्र न कोऽपि' न कश्चिदपि 'व्यवच्छेदोऽस्ति'; यत एतत् 'विश्वतः' सर्वेण रूपेण 'स्फुरत', नहि एतदतिरिक्तमन्यत् किंचित् संभवेत्; यतोऽस्य व्यवच्छेदोऽपि भवेदिति भावः। अत एव 'यत्, अनाहता' प्रमातृ प्रमेयाद्यात्मना सर्वतः प्रस्फुरन्ती 'संवित्तिः' यस्य तत्, अत एव स्वातन्त्र्यलक्षणेन परमेणामृतेन बृंहितं' पूर्णमनन्यापेक्षम्,—इति यावत् । अत एव प्रतिनियतरूपत्वाभावात् 'यत्र भावनादीनां न मुख्या' काचित् 'संगतिः' साक्षादुपायता नास्तीत्यर्थः । यदुक्तम्

अचित् के अनवकाशका समर्थन कर रहे हैं—

जड़ रूप से विभक्त प्रमेयादिकी वहाँ कोई स्थिति नहीं रहती है। यह ध्यान देने की बात है कि भले ही विभक्त जड़ पदर्थों की स्थिति न हो किन्तु अविभाग रूप से तो उनका सद्भाव रहता ही है। कहा गया है—

"अमित असीमित परमेश्वर के समस्त भाव स्वात्म भाव से परिपूर्ण ही भासित होते हैं। ई० प्र० २।१।७॥"

उस प्रमातात्म परतत्त्व में अविभाग रूप से व्यवच्छेदक भाव कैसे रहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

चिद्रूप प्रमाता परमेश्वर ही परम तत्त्व है। वही निजानन्द से चिदानन्द पर्यन्त समस्त विश्वात्मक आनन्दों में स्फुरित हो रहा है। विश्व रूप में भी वही परिदृश्यमान है। प्रमाता प्रमाण प्रमेयादि रूपों में उसी की अनाहत संवित् शक्ति उल्लसित है। स्वातन्त्र्य रूप सर्वातिशायी अमृत तत्त्व से वह उपबृंहित है। अत एव वही सर्वतोभावेन पूर्ण तत्त्व है। उसे किसी की अपेक्षा नहीं है। वहाँ

'तेनावधानप्राणस्य भावनादेः परे पथि ।
भैरवीये कथंकारं भवेत् साक्षादुपायता ॥' (त० २।१३)

तदेतत् प्रमात्रात्म चिदेकरूपं परं तत्त्वं जगता निजानन्दाद्यात्मना विश्वेन रूपेणानन्दो यत्र यतश्चेति जगदानन्दशब्दवाच्यम् अस्मभ्यं श्रीशंभुनाथ आदिशत्, न पुनरेतदस्माभिः स्वोपज्ञमेवोक्तमित्यर्थः ॥ ५१ ॥

नचैतदुपदेशमात्रादेव विरन्तव्यम्,—इत्याह

तत्र विश्रान्तिराधेया हृदयोच्चारयोगतः ॥ ५२ ॥

'हृदयानाम्' उक्तवक्ष्यमाणानां सृष्ट्याद्यात्मनां हृदयाच्चोच्चारः ॥

नन्वत्र विश्रान्त्या किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

या तत्र सम्यग्विश्रान्तिः सानुत्तरमयी स्थितिः ।

एतदेवोपसंहरति

भावना आदि की कोई संगति नहीं है । कोई भाव उसकी प्राप्ति में उपाय नहीं बन सकते । इसलिये यह निश्चित सिद्धान्त है कि वहाँ किसी प्रकार का कोई व्यवच्छेद नहीं है । यही तथ्य श्रीतन्त्रालोक द्वितीय आह्निक के तेरहवें श्लोक में प्रतिपादित है । वहो तत्त्व **'जगदानन्द'** शब्द से भी परिभाषित है ! श्री 'शंभुनाथ' नामक गुरुवर्य ने यह रहस्य श्रीमदभिनव गुप्त के लिये उद्घाटित किया था यह आनन्द की सप्तम भूमि है ॥ ५०–५१ ॥

इसे उपदेश मानकर ही इतिश्री नहीं समझ लेनी चाहिये वरन् अभ्यास-पूर्वक वहाँ विश्रान्ति करे, यही कह रहे हैं—

उस परमतत्त्व में विश्रान्ति का अभ्यास करना चाहिये । इस सर्जन रूप विश्व को 'हृदया'त्मक महत्त्व देते हुए और हृदय से समुद्भूत उच्चारों के योग से वहाँ विश्रान्ति सम्भव है । उच्चार का उस परमतत्त्व से योग कैसे होता है—यह शास्त्र से, स्वाध्यवसाय से या गुरुदेव से जाना जा सकता है ॥ ५२ ॥

वहाँ विश्रान्ति से क्या होता है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

वहाँ की विश्रान्ति विलक्षण होती है । उसे 'अनुत्तर दशा' कहते हैं । इसो तथ्य को दूसरी अर्धाली से और भी स्पष्ट कर रहे हैं कि वह स्वात्म तत्त्वमय परमधाम है । उसे 'हृदय' आदि शब्दों से भी व्यक्त करते हैं । यद्यपि

इत्येतद्हृदयाद्येकस्वभावेऽपि स्वधामनि ॥ ५३ ॥
षट्प्राणोच्चारजं रूपमथ व्याप्त्या तदुच्यते ।

यद्यपि स्वात्मतेजसो हृदादावेक एव स्वभावः, नहि हृदयाद्द्वादशान्तं ततोऽपि या हृदयमपक्रान्तस्य कश्चिद्विशेषः । यदुक्तम्

'**चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः ।**' (स्व० ४।३१०) इति । यदभिप्रायेणैव

'**चक्राधाराटव्यां भ्रमन्त्यसत्यां परिच्युतविवेकाः ।**'

इत्याद्यन्यैरुक्तम्, तथापि संकोचतारतम्येन भेदोल्लासात् सामान्यविशषरूपतया षट्प्रकारस्य प्राणस्य यः प्राणनापाननाद्यात्मोच्चारः, ततो जातं 'निरानन्दाद्यात्मकम् एतद्रूपम् इति' अनन्तरोक्तेन प्रकारेणोक्तमिति शेषः। इदानीमेतदेव मन्त्रव्याप्तिमुखेनाप्यभिधीयते, इत्याह 'अथ' इत्यादि ॥ ५३ ॥

तदेवाह

प्राणदण्डप्रयोगेन पूर्वापरसमीकृतेः ॥ ५४ ॥
चतुष्किकाम्बुजालम्बिलम्बिकासौधमाश्रयेत् ।

वह एक 'स्व' भाव रूप है, फिर भी उसमें उक्त छः प्रकार के प्राणों का उच्चार अनुभूति का विषय है। कहा गया है कि "चलकर कहाँ जाया जा सकता है ? सब जगह तो शिव ही व्याप्त हैं।" वस्तुतः स्वात्मतेज मय परम धाम का हृदय आदि में एक ही स्वभाव होता है। हृदय से द्वादशान्त अथवा द्वादशान्त से हृदय में विश्रान्ति की सक्रियता में सामरस्य दर्शन विवेकी साधक की साधना का विषय है। इसके विपरीत "अनन्त चक्रों की आधारात्मक अटवी में विवेक हीन लोग विवशता पूर्वक भटकते ही रह जाते हैं।" इस उक्ति के अनुसार वे भेदवाद की भूल भुलैया में फँस जाते हैं।

यह ध्यान देने की बात है कि संकोच के तारतम्य में भेद वाद की उत्पत्ति होती है। कहीं सामान्य और कहीं विशेष भाव का उल्लास होता है। तभी प्राणना और अपानना आदि उच्चार जन्म लेते हैं। यह सारा कथ्य शरीर व्याप्ति पर और इसके उच्चार पर ही आधारित है ॥ ५३ ॥

त्रिशूलभूमिं क्रान्त्वातो नाडित्रितयसङ्गताम् ॥ ५५ ॥
इच्छाज्ञानक्रियाशक्तिसमत्वे प्रविशेत् सुधीः ।

इह खलु योगी मत्तगन्धसंकोचादिक्रमेण प्राणस्य तिर्यक्प्रवाहनिरोधात् कुण्डलतापरिहारेण यो 'दण्डप्रयोगः'

'यथा दण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ।
सा तथैव विबुद्धयेत गुरुणा प्रतिबोधिता ॥'

इत्यादिनीत्या प्रबुद्धभावेन दण्डाकारतासादनं, तेन 'पूर्वापरयोः' प्राणापानवाहयोः 'समीकृतेः' विषुवद्रूपावलम्बनेन मध्यधामानुप्रवेशात् 'चतुष्किका' ब्रह्मरन्ध्राधोवर्ती चतुष्पथरूपश्चिन्तामण्यभिधान आधारः 'अम्बुजं' भ्रूमध्यवर्ती विद्याकमलनामाधारः, ते 'आलम्बते' ऊर्ध्वाधोवर्तितया स्वीकरोति तच्छीला येयं 'लम्बिका' तदूर्ध्वे सुधाया आधारः, 'सौधः' तं सुधाधारम् । अथच सुधाया इदं 'सौधं' सकारम् 'आश्रयेत् तत्र विश्रान्तिं कुर्यादित्यर्थः । 'अतो'ऽनन्तरमपि 'सुधीः' योगी नाडीत्रयसंघट्टात्मकत्वात् त्रिशूललक्षणं ब्रह्मरन्ध्रोर्ध्ववर्तिनीं नाड्याधाराभिधां 'भूमिम्' आक्रम्य

अब शरीर व्याप्ति के इस स्वरूप को मन्त्र व्याप्ति की प्रक्रिया से समझा रहे हैं—

साधक अश्विनी मुद्रा आदि गुरुनिर्दिष्ट पद्धति से प्राण के तिर्यक् प्रवाह को रोक लेता है । तिर्यक् प्रवाह से चक्र और कमल दल की मातृकायें प्रकाशित होती हैं । किन्तु इसके निरोध से प्राण की सीधी ऊर्ध्वगति कुण्डलिनी के कुण्डल को तोड़ देती है । इसे शास्त्र की भाषा में दण्ड प्रयोग कहते हैं । "दण्ड से आहत सर्प दण्ड की तरह सीधा हो जाता है । इसी तरह कुण्डलिनी गुरुदेव द्वारा या गम्भीर साधना से प्रतिबोधित होकर सीधी सहस्रार को मण्डित कर देती है ।" इस उक्ति के अनुसार प्राणवाह और अपानवाह—सम हो जाते हैं । प्राण सूर्य बिषुवद् पर लम्बवत् रश्मिप्रक्षेप करता है । वहीं मध्य धाम है । ब्रह्मरन्ध्र के नीचे चिन्तामणि नामक आधार कमल है । इसे चतुष्किका कमल भी कहते हैं । भौंहों के मध्य में अवस्थित है दूसरा विद्या कमल है । साधक इन दोनों का आलम्बन लेता है और सुधा के आधार भूत सौध अर्थात् सहस्रार का आश्रय प्राप्त कर लेता है । यह चक्र साधना के क्रम में आज्ञा से होते हुए सहस्रार तक की यात्रा का सांकेतिक चित्र है ।

'तच्छक्तित्रितयारोहात् भैरवीये चिदात्मनि ।
विसृज्यते हि तत्...................................॥' (४।१८७)

इत्याद्युक्तयुक्त्या 'इच्छाज्ञानक्रियाशक्तीनां समत्वे' तन्निर्भरे विसर्गादिशब्द-व्यपदेश्ये भैरवीये रूपे प्रकर्षेण शूलवर्णपरामर्शगर्भीकारेण 'विशेत्' तत्समावेश-भाग्भवेदित्यर्थः ॥ ५५ ॥

ननु कथमेतावतैवात्रानुप्रवेशः सिद्धयेत् ? इत्याशङ्क्याह

एकां विकासिनीं भूयस्त्वसंकोचां विकस्वराम् ॥ ५६ ॥
श्रयेत्भ्रूबिन्दुनादान्तशक्तिसोपानमालिकाम् ।

तु—शब्दो भिन्नक्रमो हेतौ । यतः प्रथमम् 'एकां' दुर्भेद्यत्वात् प्रधानां भ्रुवि बिन्दुः 'भ्रूबिन्दुः' इत्यनेन भ्रू पृष्ठादारभ्य बिन्दुनादनादान्तशक्तिव्यापिनी समना एव ऊर्ध्वोर्ध्वपदारोहोपायत्वात् 'सोपानानि' तेषां 'मालिकां श्रयेत्' ऊर्ध्वकुण्डलिनीपदसमासादनौत्सुक्यात् उद्घातक्रमेणाक्रामेदित्यर्थः ।

इन्हीं संकेतों में एक बीज मन्त्र का भी अभिव्यञ्जन हो रहा है । तन्त्र शास्त्र में सकार को सौध कहते हैं । यह शैव महाबीज का आदि अक्षर है । पूर्वापर रूप दो विन्दुओं का मध्य धाम "विसर्जनीयस्य सः" के अनुसार सकार ही है । उसमें अनुप्रवेश साधना का विषय है । साधक इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना के सामञ्जस्य से ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर का परिवेश प्राप्त कर लेता है । वही 'त्रिशूल भूमि' कहलाती है । उसको अतिक्रान्त करना आवश्यक होता है । तभी इच्छा, ज्ञान और किया शक्ति के समत्व में उसका प्रवेश हो पाता है । कहा गया है—"इन तीन शक्तियों पर आरूढ़ हो जाने पर भैरवीय चिद्रूप में संहार क्रम पूर्वक स्थिति हो जाती है ।" (तं० ४।१८७) और चतुर्दशधाम में प्रवेश हो जाता है ॥ ५४–५५ ॥

भैरवीय रूप में अनुप्रवेश के सम्बन्ध में शङ्का का समाधान कर रहें हैं—

इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों के समत्व की अवस्था में अनुप्रवेश के लिये भौंहों से समना पर्यन्त सीढ़ियों से मण्डित साधना मार्ग को अङ्गीकार करना पड़ता है । विन्दु, अर्ध चन्द्र, निरोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना रूपी इस सोपान परम्परा को पार करना अनिवार्य है । तत्र ऊर्ध्व कुण्डलिनी पद पर अधिष्ठित होने का अधिकार मिलता है ।

ननु

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम् ।' (स्व० ४।२७)

इत्यादिनीत्या बिन्द्वादीनां संकुचितमेव रूपं संभवेत्, तत् कथं नामैतत् नित्योदितत्वात् सततमेव विकस्वरामानन्दसंपदमवाप्तुमुपायतां यायात्, इत्याशङ्कयोक्तं 'विकासिनीम्' इत्यादि। अनेन हि एषां यथायथं विकासतारतम्यसद्भावात् नित्यविकस्वरेऽपि पदे युक्तमुपायत्वम्,—इत्युक्तम् स्यात् ॥ ५६ ॥

ननूर्ध्वकुण्डलिनीपदसमासादनेनापि किं स्यात् ? इत्याशङ्कयाह

तत्रोर्ध्वकुण्डलीभूमौ स्पन्दनोदरसुन्दरः ॥ ५७ ॥
विसर्गस्तत्र विश्राम्येन्मत्स्योदरदशाजुषि ।

यतस्तत्र औन्मनसे पदे 'स्पन्दनस्य' स्वात्मोच्छलत्ताया 'उदरम्' अनन्यस्फुरणात्मा सारस्तेन 'सुन्दरः' स्पृहणीयो 'विसर्गो' विसिसृक्षात्मकं परं पारमेश्वरं रूपं बिन्दुद्वयं चास्तीति, 'तत्र' विसर्गे 'विश्राम्येत्' तदैकात्म्येन प्रस्फुरेदित्यर्थः। 'स्पन्दनोदरसुन्दरः' इत्यनेनैव अस्योक्तेऽपि स्वरूपे 'मत्स्योदरदशाजुषि' इत्यनेन सर्वदैव अयं स्पन्ददशाधिशायी न तु कदाचिदेव, इत्युक्तं स्यात् ॥ ५७ ॥

स्वच्छन्दतन्त्र ४।२७ के अनुसार "समना तक अनन्त पाश हैं।" इस लिये इन संकुचित सीढियों पर चढ़ने से कोई लाभ नहीं यह शङ्का नहीं करनी चाहिये। वस्तुतः साधना में ये विकस्वर हो जाती है और विकास की उत्कर्ष दशा प्राप्त कर लेती हैं। इसलिये भैरवीय चिद्रूप में प्रवेश सरल हो जाता है ॥ ५६ ॥

इस क्रम से ऊर्ध्व कुण्डलिनी पद यदि मिल भी जाये तो इससे क्या लाभ ? इसी प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

समना भूमि को पार कर उन्मना का परिवेश प्राप्त होता है। इसमें भी अन्तिम छोर पर ऊर्ध्व कुण्डलिनी के अधिष्ठान में यहा 'विसर्ग' की सुषमा का साम्राज्य उल्लसित है। उसमें शाश्वत स्पन्द का उच्छलन होता रहता है। वह बड़ा ही स्पृहणीय है। विसिसृक्षा से विशिष्ट परमेश्वर की शक्ति के सामरस्य से विभूषित ये दोनों विन्दु मछलियों के उदर के संकोच और विकास के प्रतीक हैं। चन्द्र और सूर्य तथा सृष्टि और सहार के आधार हैं। श्वास से फूलते सिकुड़ते मछली के उदर की तरह उक्त विसर्ग भी शाश्वत स्पन्दित है। उक्त विसर्ग में विश्राम अत्यन्त रहस्यात्मक साधना से ही सम्भव है ॥ ५७ ॥

ननु तत्रापि विश्रान्त्या किं स्यात् ? इत्याशङ्कां दृष्टान्तप्रदर्शनेन उपशमयति

रासभी वडवा यद्वत्स्वधामानन्दमन्दिरम् ॥ ५८ ॥
विकाससंकोचमयं प्रविश्य हृदि हृष्यति ।
तद्वन्मुहुर्लीनसृष्टभावव्रातसुनिर्भराम् ॥ ५९ ॥
श्रयेद्विकाससंकोचरूढभैरवयामलाम् ।

यथा रासभी वडवा वा मूत्रादिकाले 'विकाससंकोचमयं बहिरन्तर्मुखतयानवरतं स्पन्दमानं वराङ्गलक्षणं 'स्वमानन्दमन्दिरं धाम प्रविश्य तदेकमना भूत्वा 'हृदि हृष्यति' स्वात्मन्यानन्दातिशयमनुभवति, तथा 'मुहुर्लीनाः' स्वात्मन्युपसंहृताः 'सृष्टा' बहिरुल्लासिताश्च प्रमातृप्रमेयाद्यात्मानः सर्वे 'भावाः' तैः सुष्टु 'निर्भराम्' अनन्याकाङ्क्षाम्, अत एव यथाभोगं 'विकाससंकोचयोः' सृष्टिसंहारयोः 'रूढं' तथात्वेन स्फुरितं 'पुमान् स्त्रिया' (पा० सू० १।२।६७) इत्येकशेषे 'भैरवस्य भैरव्याश्च यामलं' द्वन्द्वं यस्यामेवंविधां विसर्गभुवं 'श्रयेत्' स्वानन्दसंवित्तिनिमित्तं समाविशेदित्यर्थः । तदेव हि नाम अस्य परस्य प्रकाशस्यानन्यसाधारणं रूपं, यत् सदैव सृष्टिसंहारकारित्वम्,—इति अन्यथा हि अस्य जडेभ्यो वैलक्षण्यं न स्यात्,—इत्युपपादितं बहुशः । एवं सृष्टौ शक्तेः प्ररोहः, संहारे तु शक्तिमतः । यदुक्तम्

> **'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम् । (शि० सू० ३।३०)** इति ।
> **त्रितयभोक्ता वीरेशः । शि सू० १।११)**

इति च ॥ ५९ ॥

दृष्टान्त से उसमें प्रवेश की विधि का निर्देश कर रहे हैं—

विशेषतः गधी और घोड़ी या पशु जातियाँ जब मूत्र या पुरीष का उत्सर्ग करती हैं, तो वे अपनी योनि का संकोच विकोच करती हैं । लगता है वे अपने आत्यन्तिक आनंद की अनुभूतियों के अन्तराल में पहुँचकर मन ही मन पुलकायमान हो रही हैं । उसी तरह स्व में संहार और बाहर विसर्ग के विस्तार की भावना से संभृत साधक संकोच विकास प्रक्रिया में रूढ़ होकर भैरव-भैरवी-भाव की यामल भूमिका का आश्रय ग्रहण करता है । सृष्टि में शक्ति का

एतदेव संकलयति

एकीकृतमहामूलशूलवैसर्गिके हृदि ॥ ६० ॥
परस्मिन्नेति विश्रान्तिं सर्वापूरणयोगतः ।

'एकीकृतं' संविन्मात्रात्मनावस्थापितं पिण्डीभूतं च महामूलं' परमकारणत्वात् माया

'तत एव सकारेऽस्मिन् स्फुटं विश्वं प्रकाशते ।' (त० ३।१६५)

इत्याद्युक्त्या विश्वप्रतिष्ठास्थानत्वात् सकारश्च 'शूलम्' इच्छादिशक्तित्रयमौकारश्च 'वैसर्गिकम्' ऊर्ध्वकुण्डलिनीस्थानं बिन्दुद्वयं च यत्रैवंविधे 'परस्मिन्' परप्रमात्रात्मनि संहारहृदादिविलक्षणे च 'हृदि' बोधे पराबीजे च सर्वस्यान्तर्बहिर्वा यत् 'आपूरणं' स्वात्मसात्कारो भेदोल्लासश्च, तस्य 'योगो' युक्तिस्तस्मात् 'विश्रान्तिमेति' पराहंभावरूपतया स्वात्ममात्रनिष्ठस्तिष्ठेदित्यर्थः। अहंपरामर्शमात्ररूपत्वमेव हि गर्भीकृताशेषविश्वतया परं विश्रान्तिधाम,—इति नः सिद्धान्तः ॥ ६० ॥

विस्तार (शि० सू० १।११, ३।३० और संहार में शक्तिमान् का प्ररोह होता है। उसी में विश्रान्ति आवश्यक है ॥ ५९ ॥

उक्त तथ्य को संकलित कर रहे हैं—

साधना की उत्कर्ष दशा में सर्वभाव में चाहे वह आन्तरिक हो या बाहरी, सर्वत्र स्वात्मसात्कार की और भेदमयता की एकात्मक स्थिति का उल्लास होता है। इसे शास्त्र की भाषा में सर्वापूरण योग कहते हैं। परिणाम स्वरूप हृदय में अर्थात् परप्रमाता रूप बोध में विश्रान्ति हो जाती है। हृदय से पराबीज का अर्थ भी ग्रहण करते हैं। वस्तुतः—'हृदय' पराहंभाव या अहंपरामर्शमात्र दशा का ही बोधक है। यह सार्वात्म्यकी दशा अत्यन्त विलक्षण होती है। इसमें एकीभूत संवित् मात्र रूप से अवस्थित महामूलात्मक माया भी होती है। इसे शूल भी कहते हैं। इच्छा, ज्ञान और क्रिया तथा 'औ' एवं श्री तन्त्रालोक की ६।१६५ कारिका के अनुसार 'सकार' को भी शूल कहते हैं। सकार में सृष्टि की सत्ता (माया) भी विराजमान होती है और ऊर्ध्व कुण्डलिनी के परम चरम स्थान दो विन्दु भी यहाँ उल्लसित रहते हैं। दोनों बिन्दुओं की स्थिति वैसर्गिक होती है। वैसर्गिक बोध औकार में भी होता है। इस तरह सृष्टि का स्वर में संहार और पुनः सृष्टि रूप

अत आह

अत्र तत्पूर्णवृत्त्यैव विश्वावेशमयं स्थितम् ॥ ६१ ॥
प्रकाशस्यात्मविश्रान्तावहमित्येव दृश्यताम् ।

'अत्र' ऊर्ध्वकुण्डलिनीभूमावशेषविश्वक्रोडीकारेण पूर्णया वृत्त्या 'तदेव' अहंपरामर्शात्म परं हृदयं विश्रान्तिधामतयावस्थितं, यतः प्रकाशस्यात्मनि न तु प्रकाश्ये देहादौ विश्रान्तावहमित्येव परामर्शो दृश्यतां निरूप्यतामित्यर्थः। नहि अत्र प्रकाशातिरिक्तमन्यत् किंचिदपोह्यमपि संभवेत्,—इति का कथा परामर्शान्तरस्येति भावः ॥ ६१ ॥

नन्वनुत्तरं शान्तं परं ब्रह्मैवास्ति,—इति तत्र को नामायम् अहंपरामर्शो यस्यापि विश्रान्तिधामता स्यात्? इत्याशङ्कां शमयितुं प्राणतत्त्वसमुच्चारानन्तर्येणानुजोद्देशोद्दिष्टं चिदात्मनोच्चारमवतारयति

अनुत्तरविमर्शो प्राग्व्यापारादिविवर्जिते ॥ ६२ ॥
चिद्विमर्शपराहंकृत् प्रथमोल्लासिनी स्फुरेत् ।

विसर्ग में उदय से एक पराबीज मन्त्र बनता है। इस कारिका में श्लेषनिष्ठ पराहंभावात्मक विश्रान्ति और पराबीज दशा में विश्रान्ति दोनों का रहस्यात्मक संकेत है और यही प्रत्यभिज्ञा का सिद्धान्त है ॥ ६० ॥

इस लिये कह रहे हैं कि,

वहाँ ऊर्ध्वकुण्डलिनी की भूमि पर समस्त अन्तर्बाह्य व्यक्ताव्यक्त विश्व को आत्मसात् कर अपनी परम पूर्णता में वही परपरामर्शमय हृदय विश्रान्ति धाम के रूप में स्फुरित है। प्रकाश 'स्व' रूप में विश्रान्त रहता है। उस परम धाम का अहमात्मक परामर्श साधक के अनिर्वचनीय चिन्तन का चारुतम आधार है। उसी का निरूपण करता हुआ उपासक उपास्यरूप हो जाता है ॥ ६१ ॥

प्रश्न है कि अनुत्तर परम शान्त तो परमब्रह्म ही है। उसमें विश्रान्ति धाम रूप इस अहं परामर्श का क्या स्वरूप? इस आशङ्का के समाधान के लिये प्राणतत्त्व के समुच्चार के सन्दर्भ में चिदात्मक उच्चार की अवतारणा कर रहे हैं—

'प्राक्' पूर्वकोटौ उल्लिलसिषाद्यात्मभिर्व्यापारैरनुपहिते निस्तरङ्गजलधि-प्रख्ये 'अनुत्तरात्मनि विमर्शे' परस्मिन् प्रकाशे प्रथममुल्लसनशीला, अत एव व्यतिरिक्तविमृश्याभावात् 'चिद्विमर्शपरा' स्वात्ममात्रपरामर्शनतत्परा 'अहंकृत्' अहं परामर्शः स्फुरेत् येनास्य सर्वत्रैव स्वातन्त्र्यमुदियात्; स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्या-देव हि अनुत्तरप्रकाशात्मा परमेश्वरः स्वं स्वरूपं गोपयित्वा प्रमाणादिदशामधि-शयानः पृथग्भावजातमाभासयेत् ॥ ६२ ॥

तदाह

तत उद्योगसक्तेन स द्वादशकलात्मना ॥ ६३ ॥
सूर्येणाभासयेद्भावं पूरयेदथ चर्चयेत् ।

'ततो' ऽहंपरामर्शस्फुरणाद्धेतोः स परः प्रकाशः संकुचितप्रमातृभूमिकाव-भासनपुरस्सरम् 'उद्योगः' अर्थावबिभासयिषा, तत्र 'सक्तेन' सदैव बहिर्मखेन 'द्वादश' षण्ठवर्जमकारादिविसर्गान्ता याः 'कलाः' परामर्शास्तत्स्वभावेन प्राप्तपरिपूर्णस्वरूपेण प्रमाणात्मना 'सूर्येण' एकैकं भावम् आ ईषत्संकुचितेन

सृष्टि की पहली अवस्था में उल्लसित होने की आदिम आकांक्षा जागृत होती है। इससे पहले ऐसी आकांक्षा से रहित शान्त समुद्र के समान अनुत्तर विमर्श रूप पर-प्रकाश में चिद्विमर्श रूप स्वात्म परामर्श स्फुरित रहता है। यह सर्वतन्त्रस्वतन्त्र विमर्श है। इसी स्वातन्त्र्य के प्रभाव से अनुत्तर प्रकाश परमेश्वर अपने 'स्व' रूप का गोपन कर प्रमाण आदि दशाओं में शान्ति की नींद लेता है और पार्थक्य प्रथा का प्रथन करता है ॥ ६२ ॥

यही तथ्य इस कारिका में कह रहे हैं—

अहं परामर्श में जब संकोच का संस्कार स्फुरित होता है तो वही संकुचित प्रमाता बन जाता है और पदार्थ के अवभासन की इच्छा से उद्योग की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। परिणामतः सर्वप्रथम उसमें वह आसक्त होता है। पुनः १२ बारह कलाओं में उल्लसित होता है। 'अ' से लेकर विसर्ग तक १२ कलायें होती हैं। मन, ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि और कर्मेन्द्रियाँ भी १२ कलायें हैं। ऋ ॠ ऌ ॡ ये षण्ठ वर्ण हैं। इनकी गिनती यहाँ नहीं होती। इसलिये १६ − ४ = १२ कलाओं से कलित प्रमाण सूर्य इन कलाओं को पहले भासित करता है और पुनः इस कला समुदाय को स्वात्म सत्ता से पूरित भी करता रहता है।

नीलसुखादिना रूपेण 'भासयेत्' बहिः सृजेत्, 'पूरयेत्' तथात्वेनैव कंचित्कालं स्थापयेत्, 'चर्चयेत्' स्वात्मसात्कारेण संहरेदित्यर्थः। यः कश्चनार्थक्रियार्थी हि प्रमाता प्रमाणोपारूढमेवार्थजातं प्रथममालोचयेत्, अनन्तरम् 'इदमित्थम्' इति विकल्पयेत्, तदनु 'ज्ञातोऽयंमयार्थः' इति संतोषाभिमानाद्बहीरूपता-विलापनेन स्वात्मन्येव विश्रमयेत्,—इत्यनुभवसाक्षिकोऽयमर्थः॥ ६३॥

नन्वेवमवभासनादिरूपतामापन्नं भावजातं किं कुर्यात्? इत्याशङ्क्याह

अथेन्दुः षोडशकलो विसर्गग्रासमन्थरः॥ ६४॥

संजीवन्यमृतं बोधवह्नौ विसृजति स्फुरन्।
इच्छाज्ञानक्रियाशक्तिसूक्ष्मरन्ध्रस्रुगग्रगम् ॥ ६५॥
तदेवम् [तद] मृतं दिव्यं संविद्देवीषु तर्पकम्।

'अथ' प्रमोपारोहानन्तरं 'स्फुरन्' स्वेन रूपेणावभासमानोऽत एव 'षोडश' अकाराद्या बुद्धीन्द्रियाद्याश्च 'कला' यस्यासौ प्राप्तनिजपूर्णस्वरूपोऽत एव उच्छून-रूपतापत्त्या 'विसर्गस्य ग्रासः' सद्रूपतिरस्कारात्मान्तः, तेन 'मन्थरो' विस्रब्धो देहादिमयरूप इन्दुः, संजीवनी'

'पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम्।'

इत्याद्युक्त्या विश्वसंजीवनहेतुरमाख्या सप्तदशी कला कलाषोडशकाप्यायकारि-

---

यह अनुभव सिद्ध तथ्य है कि पहले कोई प्रमाता कर्त्ता प्रमाण के आधार पर किसी पदार्थ को देखता है। फिर 'यह इस प्रकार का है' यह विकल्प संस्कार जागृत करता है। तदनन्तर 'यह मुझे जान पड़ा', इस तृप्ति से बाह्य भाव का विलापन कर उसे स्वात्मसात् कर लेता है। इस चर्चा का यही भावार्थ है कि स्वात्मसात् करना संहार क्रम की अनुभूति है॥ ६३॥

भाव वर्ग का अवभासन हो जाने पर संविद् देवी का तर्पण कैसे होता है—यही कह रहे हैं—

१६ कलाओं से कलित कलेवर कलानिधि पूर्ण अपान-चन्द्र विसर्ग रूप व्यक्त भावराशि का ग्रास करता है अर्थात् इन्द्रियों द्वारा उन्हें ज्ञेय रूप से आत्मसात् करता है। परिणामतः वह मन्थर सा हो जाता है। धीर विश्रब्ध सा चन्द्र, संजीवनी शक्ति रूप अमृत को बोध की ज्वालामयी अग्नि शिखाओं को सौंप

धातुविशेषात्मकम् 'अमृतं बोधवह्नौ' परमिते प्रमातरि विसृजति' प्रमातृप्रमेयाद्यात्मना स्थूलेन रूपेण समुल्लसतीत्यर्थः यदुक्तेन प्रकारेणोल्लसितम् एतन्नीलसुखाद्यात्मना चिरस्य लब्धप्ररोहममृतम्, इच्छादय एव स्रुक्, तदग्रगं दिव्यं कृत्वा 'संविद्देवीषु तर्पकं' रूपादिविषयरसास्वादेन दृगादिदेवीः स्वात्ममात्रविश्रान्ता विदध्यादित्यर्थः। सूक्ष्माणि रन्ध्राणि गोलकरूपाणीन्द्रियद्वाराणि। इदमुक्तं भवति—यत्किंचिद्भावजातं तदेषणीयतासमासादनपुरस्सरम् इन्द्रियद्वारोपारोहेण ज्ञेयतामासाद्य तत्तदर्थक्रियाकारितया स्वात्ममात्रविश्रान्त्युपजननेन संविदः पूर्णतामावहतीति ॥ ६५ ॥

नन्वेवं संविद्देवीतर्पणेन कोऽर्थः,—इत्याशङ्क्याह

विसर्गामृतमेतावद् बोधाख्ये हुतभोजिनि ॥ ६६ ॥
विसृष्टं चेद्भवेत्सर्वं हुतं षोढाध्वमण्डलम् ।

यद्गुरुवरः

'सर्वभावमयभावमण्डलं विश्वशक्तिमयशक्तिबर्हिषि ।
जुह्वतो मम समोऽस्ति कोऽपरो विश्वमेधमययज्ञयाजिनः ॥' इति ॥

देता है। "संजीवनी शक्ति अमृता कला कहलाती है। इसे अमा कला भी कहते हैं। १६ कला वाले चन्द्र के अतिरिक्त वह सत्रहवीं कला है।' 'चन्द्रमा इसी अमृत को परिमित प्रमाता को अर्पित करता है। जड प्रमाताओं द्वारा स्थूल प्रमेय रूप नील आदि बाह्य पदार्थों का उपभोग अमृतमय ही लगता है। इच्छा, क्रिया और ज्ञान रूपी शक्तियाँ ही 'स्रुक्' हैं। अपने सूक्ष्मअस्तित्व के अग्रभाग में उसी दिव्य सुस्वादु उपभोग्य अमृत को रख कर इन्द्रिय देवियों को तृप्त करती हैं। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि यह समस्त भाव राशि (प्रमेय) इच्छा का विषय बनती है। इन्द्रियों द्वारा यह ज्ञेय है। इनमें प्रवृत्ति रूप अर्थ क्रिया होती है। इस इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से प्रमाता की स्वात्म विश्रान्ति होती है। यह संविद् देवी का तर्पक व्यापार संसार का शाश्वत सत्य है ॥ ६४-६५ ॥

इस प्रकार संविद्देवी के तर्पण से क्या लाभ ! इस पर कह रहे हैं—

इस विसर्ग रूपी अमृत को बोध वह्नि में आहुति देने वाले साधक का सारा विकल्प जल जाता है। उससे सब कुछ छूट जाता है। इसी साधना से वह छ प्रकार के अध्वाओं का भी हवन कर देता है। मेरे गुरुदेव की उक्ति है—

अत्रामृतबीजाद्युद्धारः प्राग्व्याख्ययैव गतार्थः,—इत्यतिरहस्यत्वात् नेह पुनरायस्तम् ॥ ६६ ॥

ननु यदि नामैतावत् विसर्गामृतं परप्रमात्रात्मना परामृष्टं, तावता षड्विधस्याध्वमण्डलस्य किमायातं तदेवमुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

यतोऽनुत्तरनाथस्य विसर्गः कुलनायिका ।
तत्क्षोभः कादिहान्तं तत्प्रसरस्तत्त्वपद्धतिः ॥ ६७ ॥

'कुलनायिका' इति कौलिकी शक्तिः । यदुक्तं प्राक्

'अनुत्तरं परं धाम तदेवाकुलमुच्यते ।
विसर्गस्तस्य नाथस्य कौलिकी शक्तिरुच्यते ॥ (३।१४३) इति ।

'तत्क्षोभ' इति तस्य विसर्गस्य क्षोभः, क्षोभाधार इत्यर्थः यदुक्तम्

'कादिहान्तमिदं प्राहुः क्षोभाधारतया बुधाः ।' (३।१८०) इति ।

'तत्प्रसर' इति तस्य कादिहान्तस्य क्षोभाधारस्य 'प्रसरः' प्रपञ्च इत्यर्थः । यदुक्तम्

'पृथिव्यादीनि तत्त्वानि पुरुषान्तानि पञ्चसु ।
क्रमात् कादिषु वर्गेषु मकारान्तेषु सुव्रते ॥

"मैं तो विश्वमेध करने वाला परम याज्ञिक हूँ । मेरे समान दूसरे कौन हैं ? मैंने विश्व शक्ति माँ की बोधमयी लपटों में सारा भाव मण्डल ही होम दिया है । इसमें अमृत बीज का संकेत है ॥ ६६ ॥

प्रश्न है कि यह विसर्गामृत परप्रमाता रूप से परामृष्ट है । इस प्रसङ्ग से छः प्रकार के अध्वा मण्डल पर क्या प्रभाव पड़ता है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

अनुत्तर परम शिव की कुल नायिका विसर्ग शक्ति है। उसी का क्षोभ 'क' से 'ह' पर्यन्त व्यक्त व्यञ्जन वर्णों में रूपायित है । यह सारा प्रसर इसी में समाहित है । यह सारी की सारी तत्त्व पद्धति इन्हीं बीजों में समाविष्ट है । इसी ग्रन्थ के ३।१४३ वीं कारिका में इसकी चर्चा की गयी है ।

उक्त सारा क्षोभ उसी विसर्ग का है। यह सब क्षोभ का आधार है। ३।१८० कारिका से भी समर्थित यह तथ्य है। परात्रीशिका (७) में कहा गया है—

वायव्वग्निसलिलेन्द्राणां धारणानां चतुष्टयम् ।
तदूर्ध्वं शादिविख्यातं पुरस्ताद्ब्रह्मपञ्चकम् ॥
अमूला तत्क्रमाज्ज्ञेया क्षान्ता सृष्टिरुदाहृता ।'
(परात्री० ७ श्लो०) इति ॥ ६७ ॥

ननु यदि नामानुत्तरनाथस्य विसर्गः कौलिकी शक्तिः, तन्मातृकोदये किमेवं प्रदर्शितं न वा ? इत्याशङ्क्याह

अंअ इति कुलेश्वर्या सहितो हि कुलेशिता ।

यदुक्तम्

'अत्र प्रकाशमात्रं यत्स्थितं धामत्रये सति ।
उक्तं बिन्दुतया शास्त्रे शिवबिन्दुरसौ मतः ॥'
(तं० ३।१३३) इति ।

'अस्यान्तर्विसिसृक्षासौ या प्रोक्ता कौलिकी परा ।
सैव क्षोभवशादेति विसर्गात्मकतां ध्रुवम् ॥'
(तं० ३। १३६) इति च ॥

ननु 'शक्तिमतः खलु शक्तिरनन्या' इत्याद्युक्त्युक्त्या शक्तिमतः शक्तेश्च विश्लेषो नास्ति,—इति कथमनयार्भेदेनोदयः प्रदर्शितः ? इत्याशङ्क्याह

"यह पृथ्वी से पुरुष तक २५ सांख्योक्त तत्त्व 'क' से 'म' तक के २५ वर्णों में व्यक्त हैं। वायु (य) अग्नि (र) सलिल (व) इन्द्र (ल) इन चारों तथा शकार से क्षकार तक ५ ब्रह्म वर्ण कुल ३४ वर्ण रूप सृष्टि सिद्धान्ततः 'अ' कार मूलक ही है। इससे यह स्पष्ट हो जाता कि उक्त अध्वा भी इसी विसर्ग रूपी अमृत की सीकर राशि हैं ॥ ६७ ॥

विसर्ग अनुत्तरनाथ की कौलिकी शक्ति है। मातृकाओं के उदित होने की अवस्था में यह प्रदर्शित है या नहीं—इस शङ्का का समाधान कर रहे हैं—

स्वर वर्णों के उदय के अनन्तर अनुत्तर का बिन्दु अं और विसर्ग अः संपर्क यह सिद्ध करता है कि कुलेश्वरी कौलिकी शक्ति कुलेश्वर के साथ ही विराजमान है। इस तथ्य का समर्थन तृतीय आह्निक की १३३ और १३६ वीं कारिकाओं से हो जाता है।

परो विसर्गविश्लेषस्तन्मयं विश्वमुच्यते ॥ ६८ ॥

विसर्गस्य 'विश्लेषो' विश्लिष्टो विसर्ग इत्यर्थः अत एव शक्तिमतो भेदित्वात् परः,—इत्युक्तम्। तत्स्फार एव च विश्वमित्युक्तं 'तन्मयं विश्वमुच्यते' इति। तदुक्तम्

'शक्तिश्च शक्तिमांश्चेति पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः॥' इति।

एवं विसर्गामृते परप्रमात्रात्मतया परामृष्टे षड्विधोऽपि अध्वा तत्सादेव भवेत्,—इति युक्तमुक्तं 'हुतं षोढाध्वमण्डलं भवेत्' इति॥ ६८॥

अतश्च तदधिकारेणैव सर्वमिदं बाह्यमर्चनादि विधेयम्? इत्याह

वित्प्राणगुणदेहान्तर्बहिर्द्रव्यमयोमिमाम्।
अर्चयेज्जुहुयाद्ध्यायेदित्थं संजीवनीं कलाम्॥ ६९॥

प्रश्न है कि परमेश्वर में उसकी शक्ति अनन्य भाव से विद्यमान है। इन दोनों का विश्लेष असम्भव है। फिर भी इनके भेद मय उदय की बात क्यों कहीं गयी है? इसका समाधान कर रहे हैं—

वस्तुतः विसर्ग का विश्लेष न कह कर विश्लिष्ट विसर्ग कहना स्वाभाविक है। शक्तिमान् का विस्फार संहार में होता है और सृष्टि में शक्ति का उल्लास। यह दशा अभेद में भी भेद का आकलन कराती है। यह असामान्य स्थिति है, इसीलिये इसे 'पर' स्थिति कहते हैं। उसी का विस्तार यह विश्व है। कहा गया है—

"शक्ति और शक्तिमधान् दो पदार्थ हैं। यह सारा जगत् सृष्टि शक्ति है। और शक्तिमान् वह परमेश्वर स्वयं है।" इस तरह इस विसर्गामृत में परप्रमाता रूप परमेश्वर का ही परामर्श करना चाहिये। इससे सभी छः प्रकार के अध्वाओं का परामर्श समाप्त हो जाता है। विसर्गामृत प्रज्वलित यज्ञनारायण है। उसमें इन अध्वाओं का हवन हो जाता है॥ ६८॥

क्या इसी बात को ध्यान में रखते हुए ही बाहरी पूजा आदि का समर्थन करते हैं? इसका उत्तर दे रहे हैं—

'इत्थम्' उक्तेन प्रकारेणेमामेव निखिलजगदाप्यायकारिणीममाख्यां संजीवनीं कलामाश्रित्य सार्वात्म्यप्रतिपत्तितत्त्वमर्चनादि विदध्यात्; यतो विद्याज्या परा संवित्, प्राणबुद्धिदेहात्मानः प्रमातारश्च याजकाः तदपेक्षया अन्तर्बहीरूपाणि रत्नपञ्चकतत्प्रतिनिधिरूपकुङ्कुमाद्यात्मकानि याग-साधनभूतानि द्रव्याणि च प्रकृतिर्यस्यास्तां तत्स्फारसारामित्यर्थः ॥ ६९ ॥

नन्वेवमर्चनादि सिद्ध्येत् विसर्गभूरासाद्येत, तदासादन एव हि महान् संरम्भो यो युगसहस्रैरपि पारं न यायात्,—इत्यपर्यवसितमेव शास्त्रार्थानुष्ठानं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

आनन्दनाडीयुगलस्पन्दनावहितौ स्थितः ।
एनां विसर्गनिःष्यन्दसौधभूमिं प्रपद्यते ॥ ७० ॥

आनन्दप्रधानं यत् सिद्धयोगिनीसंबन्धि वराङ्गलक्षणं 'नाडीयुगलं' तस्य यत् 'स्पन्दनं' रिरंसया परस्परौन्मुख्यं तत्र 'अवहितिः' षडरमुद्राप्रवेशादिक्रमेण तदेकागता तत्र 'स्थितः' प्ररोहं प्राप्तः सद् एनां संजीवनीं कलां 'विसर्गस्य' विसिसृक्षात्मकस्य पारमेश्वरस्य रूपस्य चरमधातोश्च 'निःष्यन्दः' प्रसरस्तस्य 'सौधभूमिं' विश्रान्तिस्थानं स एव आनन्दातिशयकारित्वात् 'सौधं' सुधासमूह-स्तस्य 'भूमिम्' आकारस्थानं प्रपद्यते, तदैकात्म्यमासादयेदित्यर्थः। एतदुक्तं भवति,—इह खलु सर्वेषां ग्राम्यधर्मसेवनं तावदनुक्तसिद्धं, तत्रैव युक्तिलेशमाश्रित्य

संवित्, प्राण, बुद्धि, और देह रूपी याज्य याजक भावमयी आन्तरिक और द्रव्यमयी बाह्य पूजा विहित मानी जाती है। यह शैव विसर्गामृतमयी संजीवनी कला सारे विश्व कोतृप्त करती है। इसे अमा कला भी कहते हैं। इसी के आश्रय से अर्चना, होम बिधान और ध्यान की महती उपयोगिता होती है ॥ ६९ ॥

उक्त विसर्ग भूमि की अनुभूति के सौभाग्य से अन्तर्बाह्य अर्चना अवश्य सिद्ध हो जाती है पर उसके तो जन्म जन्मान्तरों में भी मिलने की कोई समय सीमा नहीं फिर इस शास्त्र वचन की क्या मर्यादा ? उस पर कह रहे हैं कि—

शास्त्र की यह उक्ति शाश्वत सिद्ध है। चर्या में यह क्रिया सबको स्वयम् अनुभूत होती है। अवधान मात्र से वह विसर्ग भूमि प्राप्त हो जाती है। अतिशय आनन्द के कारण उसे सौध भूमि भी कहते हैं। इस कारिका में रति क्रिया के उद्दाम वेग में धातु निष्यन्द के चरम क्षण का शास्त्रीय परिभाषिक

अवधानमात्रमेव चेत् कृतं तदयत्नेनैव विसर्गभूः समासादिता भवेत्,—इति को नामात्र संरम्भो यदसिद्धया शास्त्रार्थानुष्ठानमप्यपर्यवसितं स्यादिति ॥ ७० ॥

नन्वस्तु नाम अस्योपायस्य सुखसाधनत्वं, किंतु यत्रोपायजालमपि भग्नशक्ति संवृत्तं, तत्र किमनेनैकेनैव कार्यम् ? इत्याशङ्क्याह

शाक्ते क्षोभे कुलावेशे सर्वनाड्यग्रगोचरे ।
व्याप्तौ सर्वात्मसंकोचे हृदयं प्रविशेत्सुधीः ॥ ७१ ॥

'शाक्ते क्षोभ' इति बाह्यशक्तिसंभोगे । यदुक्तं

'शक्तिसंगमसंक्षुब्धशक्त्यावेशावसानिकम् ।
यत्सुखं ब्रह्मतत्त्वस्य तत्सुखं स्वाक्यमुच्यते ॥'

(**वि० भै० ६९ श्लो०**) इति ।

शब्दों में वर्णन किया गया है। जब जन सामान्य को यह संभोग-समाधि-सुख-सहज ही प्राप्त है तो योगी साधक को सहस्रार के रन्ध्रावस्थित ऊर्ध्व विसर्गामृत की चरम अनुभूति भी आनन्द नाडी युगल के स्पन्दन में अवधान मात्र से सहज सम्भाव्य है। इससे अधिक इस रहस्य को यहाँ खोलना उचित नहीं है ॥ ७० ॥

सुखोपाय के इस एक प्रायोगिक दृष्टान्त से क्या लाभ ? यहाँ तो अनन्त उपाय भी व्यर्थ होते दीख पड़ते हैं ? इस पर कह रहे हैं—

बाह्य शाक्त क्षोभ, कुल (शरीर) के आवेश और समस्त नाडियों के अग्रभाग के इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष या आत्मिक संन्निकर्ष इन तीनों की व्याप्ति में समस्त बाह्य जगत् का संकोच हो जाता है। उस समय ही सुधी साधक हृदय रूप रहस्य के अन्तराल में प्रवेश कर जाता है ऐसे भाग्यशाली साधक के लिये रहस्य स्वतः उद्घाटित हो जाता है। इस कारिका के शाक्त क्षोभ, कुलावेश, सर्वनाडी के अग्रभाग, व्याप्ति, सर्वात्म संकोच एवं सुधी शब्दों की व्याख्या में विज्ञान भैरव ग्रन्थ की (६९–१०२) कारिकाओं के उद्धरण दिये गये हैं। उनके संक्षिप्त सार इस प्रकार हैं—

१—शाक्त क्षोभ (वि-भै-६९)—शक्ति शक्तिमान् के संगम में क्षोभ से विसर्ग विस्फार होता है। वही ब्रह्म सुख है। सर्वजन सामान्य रति चर्या सुख भी ऐसा ही है। इसमें भी शाक्त (बाह्य) क्षोभ होता है।

'कुलावेश' इति बाह्यशक्त्यभावेऽपि 'कुलस्य' शाक्तस्य स्वरूपस्य 'आवेशे' स्मरणपुरस्सरं भावनातिशयात् तन्मयीभावे इत्यर्थः। तदुक्तम्

'लेहनामन्थनाकोटैः स्त्रीमुखस्य भरात् स्मृतेः।
शक्त्यभावेऽपि देवेशि भवेदानन्दसंप्लवः॥'

(वि० भै० ७० श्लो०) इति।

'सर्वनाडीनामग्रगोचरे' प्रधाने पार्यन्तिके वा विषये द्वादशान्ते यदुक्तम्

'यथा तथा यत्र तत्र द्वादशान्ते मनः क्षिपेत्।
प्रतिक्षणं क्षीणवृत्तेर्वैलक्षण्यं दिनैर्भवेत्॥'

(वि० भै० ५१ श्लो०) इति।

यद्वा 'अग्रगोचरे' प्रान्तदेशे यत्र कक्षादाविवाङ्गुलीभिर्मृदुप्रचोदनेन महानानन्दो जायते। यदुक्तम्

'कुहनेन प्रयोगेन सद्य एव मृगेक्षणे।
समुदेति महानन्दो येन तत्त्वं विभाव्यते॥'

(वि० भै० ६६ श्लो०) इति।

'व्याप्तौ' इति सार्वात्म्यप्रतिपत्त्या सर्वाक्षेपकारिणी विकाससमाधावित्यर्थः। यदुक्तम्

'सर्वज्ञः सर्वकर्ता च व्यापकः परमेश्वरः।
स एवाहं शैवधर्मा इति दार्ढ्याच्छिवो भवेत्॥'

(वि० भै० १०९ श्लो०) इति।

२—स्मृति के परिवेश में भावनातिशय के कारण तादात्म्य को आवेश कहते हैं। स्त्रीप्रसङ्ग में लेहन मन्थन आदि व्यापारों में एक अनिर्वचनीय सुख मिलता है। वह बाह्य शक्त्यभावात्मक कुलावेश है (वि० भै० ७०)

३—द्वादशान्त में मन के निवेश से या अङ्गुलि आदि के कामशास्त्रीय मृदु समावेशन से रतिचर्या महानन्द विजृम्भित होती है। वह अग्रभागीय आनन्द है (वि० भै० ५१ एवं ६६)

४—व्याप्ति (१०९-११० वि० भै०) एक प्रकार की विकास-समाधि है। शिव भी व्यापक तत्त्व है। विकास समाधि में शैव व्याप्ति होती है। जल में लहर, आग की लपट और सूर्य की प्रभा की तरह मुझ भैरव की ही यह विश्वभङ्गी है। यहाँ भी व्याप्ति है।

'जलस्येवोर्मयो वह्नेर्ज्वालाभङ्गाः प्रभा रवेः ।
ममैव भैरवस्यैता विश्वभङ्ग्यो विभेदिताः ॥'

(वि० भै० ११० श्लो०)

इति च । सर्वात्मसंकोच' इति सर्वेणात्मना बाह्यस्य संकोचे 'नैतद्वस्तु सत् किंचित्' इति भावनायामित्यर्थः । यदुक्तम्

'निराधारं भवेज्ज्ञानं निर्निमित्तं भ्रमात्मकम् ।
तत्त्वतः कस्यचिन्नैतदेवं-भावी शिवः प्रिये ॥'

(वि० भै० ९९ श्लो०)

इति । तथा

'इन्द्रजालमयं विश्वं न्यस्तं वा चित्रकर्मवत् ।
भ्रमाद्वा ध्यायतः सर्वं पश्यतश्च सुखोद्गमः ॥'

(वि० भै० १०२ श्लो०)

इति । एवमादौ विषये 'सुधीः' पूर्णज्ञानो यः कश्चिदपश्चिमजन्मा स 'हृदयं प्रविशेत्' विसर्गभुवमधिशेत इत्यर्थः ॥ ७१ ॥

ननु यद्येवमत्रानेके उपायाः संभवन्ति तत् कथं शाक्तस्यैव क्षोभस्य प्राधान्येन निर्देशः कृतः ? इत्याशङ्क्याह

सोमसूर्यकलाजालपरस्परनिघर्षतः ।
अग्नीषोमात्मके धाम्नि विसर्गानन्द उन्मिषेत् ॥ ७२ ॥

५—यह कोई दृश्य वस्तु सत् नहीं है—इस प्रकार के वृत्ति संकोच से सुख की उपलब्धि होती है (वि० ९९, १०२) । इस प्रकार इस प्रकरण में शाक्त क्षोभ की प्रधानता ही दिग्दर्शित है ॥ ७१ ॥

शाक्त क्षोभ के प्राधान्य का कारण स्पष्ट कर रहे हैं—

सोम और सूर्य की कलाओं के आपसी संघर्ष विघर्ष में जो अग्नि-सोमात्मक तैजस धाम उज्जृम्भित होता है, उसमें जिस आनन्द का उद्रेक होता है, वही विसर्गानन्द है ।

'सोमसूर्ययोः' मेयमानयोर्यच्छब्दाद्यात्म श्रोत्रादिरूपं च 'कलाजालं' तस्य योऽसौ ग्राह्यग्राहकभावात्मा परस्परं संघट्टः ततस्तदुभयक्रोडीकारात् चक्रानुचक्रदेवीरूपं 'कलाजालं' तस्य परस्परं मेलनात्मा संघर्षः, ततः

'शुचिर्नामाग्निरुद्भूतः संघर्षात् सोमसूर्ययोः ।'

इत्याद्युक्त्या अग्नीषोमात्मके मध्यमे धाम्नि अनुप्रवेशेन 'विसर्गानन्द उन्मिषेत्' मुख्यया वृत्त्या चरमधातुप्रक्षेपात्म परं सामरस्यमुदियात्, यदनुकल्पतया पुनरन्यत्रानन्द उपचर्यते येन तदपि परसंविदनुप्रवेशे निमित्ततां यायात् ॥ ७२ ॥

एतदेवोपसंहरति

अलं रहस्यकथया गुप्तमेतत्स्वभावतः ।
योगिनोहृदयं तत्र विश्रान्तः स्यात्कृती बुधः ॥ ७३ ॥

यत एतद्योगिनीनां 'हृदयं' परमं विश्रान्तिस्थानम्, अत एव स्वभावतो गुप्तमित्याभिहितम्, यदभिप्रायेणैव

'एतन्नायोगिनीजातो नारुद्रश्चापि विन्दति ।'
(पराश्री० १० श्लो०)

सोम प्रमेय प्रवर्ग का प्रतीक है और सूर्य प्रमाण प्रवर्ग का। इन्हीं की कलाओं का ग्राह्य ग्राहक रूप पारस्परिक संघट्टन होता है। "इससे शुचि नामक अग्नि उत्पन्न होता है।" इसीलिये जगत् को अग्निसोमात्मक मानते हैं। अग्नि सोम का पारस्परिक मिलन विन्दु मध्य धाम है। उसमें अनुप्रवेश करने से 'विसर्ग' नामक आनन्द उत्पन्न होता है।

चर्या क्रम में भी यह होता है। चरम धातु के विसर्ग के समय एक प्रकार का स्थिति विस्मारक सामरस्य उल्लसित होता है। वह सामरस्य सुख की चरम अवस्था होती है। इसीलिये उसे आनन्द कहते हैं। पर संविद् में अनुप्रवेश करने में यह कारण बन सकता है। 'शुचि' नामक अग्नि का चमत्कार ही विसर्गानन्द है ॥ ७२ ॥

इसका उपसंहार कर रहे हैं—

यह रहस्य कथा है। 'कथ् वाक्य प्रबन्धे' के अनुसार परा से बैखरी तक की वाक् यात्रा का आकलन है। अतः स्वभावतः गोपनीय है। इसको इससे अधिक खोलकर नहीं कहा जाना चाहिये। योगिनी हृदय विश्रान्ति का सर्वोत्तम

इत्याद्यन्यत्रोक्तम् । 'तत्र' इति योगिनीहृदयात्मनि विसर्गोन्मेषे, 'बुध' इत्यनेनात्र ज्ञानित्वस्यैव प्राधान्यम्,—इति कटाक्षितम् ॥ ७३ ॥

नन्वत्र विश्रान्तस्य किं नामाभिज्ञानम् ? इत्याशङ्क्याह

हानादानतिरस्कारवृत्तौ रूढिमुपागतः ।
अभेदवृत्तितः पश्येद्विश्वं चितिचमत्कृतेः ॥ ७४ ॥

हेयोपादेयविषययोर्हानादानयोः

'मा किंचित्त्यज मा गृहाण ।' (**अनुत्तरा० ७ श्लो०**)

इत्याद्युक्तिवशात् यस्तिरस्कारः, तत्र येयं निर्विकल्पात्मिका वृत्तिः, तत्र 'चितिचमत्कृतेः' चिदैकात्म्यविमर्शात् प्ररोहं प्राप्तः सन् विश्वमभेदवृत्तितः 'पश्येत्' स्वात्मैकात्म्येन जानीयादित्यर्थः । तेनेदमेवास्य मुख्यं लक्षणं परतत्त्वान्तः-प्रवेशे—यत् हानादानतिरस्कारेण स्वात्ममात्र एवावस्थानमिति । अत एवानेन चिदात्मोच्चारानन्तर्येणानुजोद्देशोद्दिष्टः परतत्त्वान्तःप्रवेशोऽपि निर्णेतुमुपक्रान्तः । भेदेऽपि हि सति हेयोपादेयविभागः, स एव यस्य विगलितस्तस्य किं नाम हेयं किं वोपादेयम्,—इति पूर्णैवास्य परा संविदुल्लसेत् ॥ ७४ ॥

स्थान है । "योगिनी मातायें और उनके पुत्र और रुद्र ही इस रहस्य के वेत्ता हैं, दूसरे अयोगिनी पुत्र और अरुद्र (रुद्र-तादात्म्य-रहित) साधक नहीं ।" परात्री० १० उक्त विसर्ग का उन्मेष प्रसर और संहार क्रम विज्ञ जनों की अनुभूति का विषय है ॥ ७३ ॥

वहाँ विश्रान्त व्यक्तियों के वैशिष्ट्य की चर्चा कर रहे हैं—

हान और आदान, हेय और उपादेय वृत्तियों पर वह विजय प्राप्त कर लेता है । "इस विश्व में न कुछ छोड़ो और न कुछ ग्रहण करो" अनुत्तरामृत (७) की इस उक्ति के अनुसार निर्विकल्प वृत्ति का उदय उस अवस्था में हो जाता है । जड़ चेतन की भेद बुद्धि के स्थान पर चिदैक्य का अनुभव प्रौढ रूप से हो जाता है । पूरा विश्व अपने से अभिन्न देखने लगता है । 'स्व' में स्थिति हो जाती है । चिदात्म की उल्लीसित संविद् शक्ति अपने पूर्ण रूप में प्रस्फुरित हो जाती है । उस दशा में जब भेद ही नहीं रहा तो ग्रहण और त्याग की भावना कहाँ रही ? चिति के चमत्कार की अनिर्वचनीयता में ही वह विचरण करने- लगता है ॥ ७४ ॥

तदाह

अर्थक्रियार्थितादैन्यं त्यक्त्वा बाह्यान्तरात्मनि ।
स्वरूपे निर्वृतिं प्राप्य फुल्लां नाददशां श्रयेत् ॥ ७५ ॥

इह खलु तत्त्वान्तरनुप्रविष्टो योगी बाह्यान्तरस्वभावे नीलसुखादावर्थजाते हेयोपादेयविभागाभावात् तत्तत्प्रतिनियतार्थक्रियाकाङ्क्षादैन्यमपहाय सर्वभावानां संह्रियमाणत्वात् आकाशबीजस्योद्धारः । तदनु तस्यैव प्ररोहाद्बिकस्वरां 'नाददशां श्रयेत्' इति विमर्शात्मिकां विश्वोत्तीर्णां संविदमासादयेदित्यर्थः एवं च प्रथमं विश्वसंहारस्योपक्रान्तत्वात् आकाशबीजस्योदयः, तदनु तस्यैव प्ररोहात् संहारकुण्डलिनीबीजस्य,—इति श्रीपिण्डनाथसंबन्ध्याद्यवर्णद्वयमपि अनेनोद्धृतम् ॥ ७५ ॥

नन्वेवमासादितयापि अनया कोऽर्थः स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

वक्त्रमन्तस्तया सम्यक् संविदः प्रविकासयेत् ।
संविदक्षमरुच्चक्रं ज्ञेयाभिन्नं ततो भवेत् ॥ ७६ ॥

'तया' विश्वोत्तीर्णसंविद्रूपया नाददशया सम्यक् विश्वोपसंहारपुरस्सरं भेदतिरस्कारेण मार्गशुद्धिमादधानया विश्वोत्तीर्णत्वेऽपि विश्वमय्याः परस्याः

वही कह रहे हैं—

जब तक भेद बुद्धि है, आन्तर और बाह्य पदार्थों की उपयोगिता अनुपयोगिता के आधार पर ग्रहण-त्याग के भाव विद्यमान हैं, तब तक वस्तु विषयिणी अर्थ क्रिया का प्रभाव और उसके परिणाम स्वरूप भावाभाव रूपी हीन वृत्ति पुरुष को प्रभावित करती है। इस बाहरी भीतरी भावमयी अर्थिता का परित्याग अनिवार्यतः कर लेने पर 'सोऽहं' का महाभावजागृत हो जाता हैं। वही 'नाद' की विकसित दशा है। स्वात्म मात्र के इस चरम विमर्श में व्यक्ति विश्वोत्तीर्ण हो जाता है। संविद् के सम्यक् उल्लास के कारण वहाँ आकाश बीज का भी वहाँ 'उत्–आहरण' हो जाता है। संहार कुण्डलिनी में जिस बीज मन्त्र का परामर्श होता है—उसका उस साधक को स्वतः स्फुरण हो जाता है। यहाँ रहस्यमय आकाश बीज का संकेत है। उसे गुरु से जानना चाहिये ॥ ७५ ॥

संविदो 'ऽन्तर्वक्त्रम्' अन्तर्मुखं रूपम् एवंविधो योगी 'प्रविकासयेत्' विकास-योग्यं विदधातीत्यर्थः 'ततः' संविदो विकासयोग्यताधानाद्धेतोः 'संविदां' नीलादिज्ञानानाम् 'अक्षाणां' तदुत्पत्तिनिमित्तभूतानामिन्द्रियाणां 'मरुतां' तत्सामान्यवृत्त्यात्मनां प्राणादिरूपाणां यत् मातृमानमेयस्वभावं चक्रं, तत् शून्य-प्रमात्रपेक्षया विश्वाभावरूपं यज्ज्ञेयं, तदभिन्नमकिंचिद्रूपं भवेत् ॥ ७६ ॥

नन्वेवमपि भावसंस्कारस्य विद्यमानत्वात् एकान्ततो भेदविगलनं न वृत्तम्,—इति कथं संविन्मात्रात्मन्यनुप्रवेशः सिद्धयेत् ? इत्याशङ्क्याह

तज्ज्ञेयं संविदाख्येन वह्निना प्रविलीयते ।
विलीनं तत् त्रिकोणेऽस्मिञ्शक्तिवह्नौ विलीयते ॥ ७७ ॥

'तत्' अभावात्म ज्ञेयं परप्रमात्रात्मना संविदाख्येन वह्निना प्रकर्षेण निःसंस्कारं 'विलीयते' विगलति, संविदग्निरेवावशिष्यत इत्यर्थः । अनेनाभाव-स्यापि विलापनादग्निबीजस्योद्धारः कृतः । एवं 'विलीनं' संविन्मात्रात्मता-मापन्नमपि तज्ज्ञेयं संवित्त्वान्यथानुपपत्त्या अस्मिन् इच्छादिशक्तित्रयात्मनि 'त्रिकोणे शक्तिवह्नौ' सर्वशक्तिक्रोडीकारिण्यां स्वातन्त्र्यशक्तौ 'विलीयते'

इस अनुपम अनिर्वचनीय दशा के लाभ का वर्णन कर रहे हैं—

उस नादात्मक परामर्श दशा में योगी संविद् के हृदय में निवास करता है। वस्तु जन्य भेद संविद्, उनको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियों और इनसे सम्बन्धित वृत्तियों और प्रमाणप्रमेय आदि इन्द्रजाल को तोड़ देता है। परिणा-मतः ज्ञेय अकिंचित् 'विश्वाभाव' रूप हो जाता है ॥ ७६ ॥

इस स्थिति में भाव संस्कार के कारण भेद का सर्वथा विगलन न होने पर संविद् मात्र में अनुप्रवेश कैसे हो सकता है ? इस शङ्का समाधान कर रहे हैं—

यह बड़ी विलक्षण दशा है। भेद भूमि का ज्ञेय रूप तो विगलित होता ही है, यह विश्वाभाव रूप ज्ञेय भी संविद्-अग्नि के प्रज्ज्वलित होने पर उसी में विलीन हो जाता है। अर्थात् अभावात्मक अनुभूति भी समाप्त हो जाती है। यहाँ **अग्नि बीज,** का उल्लास होता है।

संविदग्नि में विलेय वह ज्ञेय त्रिकोणात्मक त्रिशक्ति रूप (इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप) स्वातन्त्र्य शक्ति की अग्नि में विलीन हो जाता है। यह

तन्मात्रसारतया प्रस्फुरतीत्यर्थः। एवमनेन संविन्मात्र एव विश्रान्तेः शक्तिबीजस्याप्युद्धारः कृतः। इह खलु इदमेव सविदः संवित्त्वं यत् परामृष्टृत्वं नाम, यस्य विमर्शः स्पन्दो हृदयं विसर्गः,—इत्यादयः सहस्रशो व्यपदेशाः। यदुक्तम्

'तस्य देवातिदेवस्य परबोधस्वरूपिणः।
विमर्शः परमा शक्तिः सर्वज्ञा ज्ञानशालिनी ॥' इति ॥ ७७ ॥

अतश्च मुख्यया वृत्त्या तत्रैव विश्रमणीयं येन साक्षात् परतत्त्वान्तरनुप्रवेशः सिद्धयेत् ? इत्याह

तत्र संवेदनोदारबिन्दुसत्तासुनिर्वृतः।
संहारबीजविश्रान्तो योगी परमयो भवेत् ॥ ७८ ॥

तत्रैवं स्थिते सति परप्रमात्रात्मनः 'संवेदनस्य' संवेदकत्वाधानात् 'उदारा' महती येयं 'बिन्दुसत्ता' विदिक्रियाकर्तृत्वात्मिका परा परामर्शदशा, तया सुष्ठु नैराकांङ्क्षयेण 'निर्वृतः' स्वात्मचमत्कारातिशयशाली, अत एव 'संहारबीजे' परप्रमात्रात्मनि बिन्दोरपि उदयात् श्रीपिण्डनाथे च 'विश्रान्तः' तदैकात्म्यमापन्नोऽत एव 'परमयो योगो भवेत्' परतत्त्वैक्यभाक् भवतीत्यर्थः ॥ ७८ ॥

स्वातन्त्र्य शक्ति समस्त शक्तियों को स्वात्मसात् करने वाली सर्वोच्च शक्ति है। शक्तिमात्र रूप से स्फुरित और संविन्मात्र में ही विश्रान्त स्थिति में **'शक्ति बीज'** का उल्लास होता है।

"पर-बोधमय देवाधिदेव की सब कुछ जानने वाली, सर्वज्ञान शालिनी परा शक्ति हो विमर्श है।" इस उक्ति के अनुसार संवित् शक्ति का यही सर्वोत्तम वैलक्षण्य है कि उसमें सर्व परामर्श शाश्वत उल्लसित है। उसे ही विमर्श, स्पन्द, हृदय, विसर्ग आदि अनन्त संज्ञाओं में विभूषित करते हैं ॥७७॥

इस लिये वह सर्वातिशायी विश्रान्ति धाम है। सिद्ध साधक वहीं विश्राम करे—यही कह रहे हैं—

संवेदना की भावातीत अवस्था की अत्यन्त उदात्त विन्दु सत्ता ही पर-परामर्श दशा है। उससे निर्वृत सौभाग्यशाली साधना-सिद्ध **'संहार बीज'** में विश्राम का अधिकारी होता है। ऐसा योगी चिदैक्यचमत्कारमयी चन्द्रिका के चेतनामृत से अहन्ता और इदन्ता को आप्यायित कर देता है ॥ ७८ ॥

ननु संविदपेक्षयापि विमर्शस्यैव विश्रान्ति स्थानत्वं प्राधान्येन कस्मा-दुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

अन्तर्बाह्ये द्वये वापि सामान्येतरसुन्दरः ।
संवित्स्पन्दस्त्रिशक्त्यात्मा संकोचप्रविकासवान् ।। ७९ ।।

स एव हि संवित्स्पन्दो 'ऽन्तः' परप्रमात्रात्मनि शिवतत्त्वे सर्वविशेष-स्वोकारात् सामान्यात्मा, अत एव प्रविकासवान् अहमिति; 'बाह्ये' मायातः क्षित्यन्तं भेदोल्लासाद्विशेषात्मा, अत एवान्योन्यव्यावृत्त्या संकोचवान् इदमिति; 'द्वये' ऽन्तर्बहीरूपे विद्यापदे समधृतपुलापुटन्यायेन 'अहमिदम्' इति सामान्य-विशेषात्मा, अत एव संकोचप्रविकासवान्, अत एवाशेषविश्वोल्लासकारित्वात् इच्छादिशक्तित्रयात्मा,—इति स एव परं विश्रान्तिस्थानम्, इति तत्रैवाव-धेयम् ।। ७९ ।।

ननु यद्येवं तर्ह्यस्य संकोचविकासवत्त्वेन नानात्वात् जाड्यमापतेत्,—इति समाप्तं विश्रान्तिस्थानत्वम् ? इत्याशङ्क्याह

असंकोचविकासोऽपि तदाभासनतस्तथा ।

संवित् की अपेक्षा विमर्श को ही विश्रान्ति स्थान के रूप में प्रधानता क्यों दी जाती है ? इस आशङ्का का उत्तर दे रहे हैं—

विमर्श संवित्–स्पन्द ही है । परप्रमाता शिव रूप अन्तरतत्त्व में सामान्य रूप से और माया से पृथ्वी पर्यन्त बाह्य विस्फार की भेदभूमि में विशेष रूप से शाश्वत उल्लसित है । इस क्रम में भेद स्वीकृति के कारण यह संकोचवान् है । जहाँ तक अहम् और इदम् के सामानाधिकरण्य दशा की बात है, वहाँ यह तराजू के दो पलड़ों की आनुपातिक समानता में सामान्य और विशेष दोनों है । संकोच और विकास दोनों धर्मों को एक साथ धारण करता है । समस्त सत्त्व के परामर्श के कारण इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों का स्वात्म रूप ही है । इसलिये इसकी प्रधानता स्वाभाविक है ।। ७९ ।।

संकोच प्रविकासवान् विमर्श में जड़ता की सम्भावना के कारण विश्रान्ति-स्थानता की समाप्ति के सन्देह का निराकरण कर रहे हैं—

वस्तुतः संविदेकस्वभावत्वात् असंकोचविकासोऽपि असौ संवित्स्पन्दः स्वस्वातन्त्र्येण तथा संकोचादिरूपतया अवभासते, - इति तथा 'संकोचविकासवान्' इत्युच्यते न तु वस्तुतस्तथा समस्तीति भावः ॥

ननु यदि नाम संकोचविकासाद्यस्य वस्तुतो नास्ति, तत् तदवभासने किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः परमं पदमश्नुते ॥ ८० ॥

इह हि 'बहिः' इदन्तापरामृश्ये देहघटादौ

'तत्तद्रूपतया ज्ञानं बहिरन्तः प्रकाशते ।
ज्ञानादृते नार्थसत्ता ज्ञानरूपं ततो जगत् ॥
नहि ज्ञानादृते भावाः केनचिद्विषयीकृताः ।
ज्ञानं तदात्मतां यातमेतस्मादवसीयते ॥'

इत्यादिश्रीकालिकाक्रमोक्त्या संवित्स्फारसारा एवैते,—इत्येवमात्मदृष्टिः, अत एव 'अन्तः' अहंपरामर्शात्मनि संवित्तत्वे सावधानो बाह्यविषयासङ्गेऽपि

वास्तव में संवित् तत्त्व में न संकोच है और न विकास। स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण ऐसा अवभासित होता है। विमर्श सिद्धान्ततः संकोच प्रविकासवान् नहीं है।

ऐसा न होने पर भी ऐसा अवभास क्यों होता है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

श्रीकालिका क्रम एक ग्रन्थ है। उसमें कहा गया है कि "ज्ञान ही नील-पीत, सुख-दुःख और देह-घट आदि में इदन्ता के परामर्श के कारण सर्वत्र प्रकाशित है। ज्ञान के अतिरिक्त अर्थ सत्ता नहीं। इसलिये जगत् भी ज्ञानरूप ही माना जाता है। कोई व्यक्ति ज्ञान के विना भाव का अनुभव नहीं कर सकता। इससे यह निश्चय होता है कि ज्ञान ही उस रूप में प्रकाशित हो जाता है।"

उक्त कथन से यह स्पष्ट कि 'संवित्' के स्फार का ही यह प्रसरात्मक चमत्कार है। यह आत्म-दृष्टि आवश्यक है। इसलिये अहं-परामर्शात्मक संवित्-रूप पर-तत्त्व में अन्तर्लक्ष्य योगी को सदा सावधान रहना चाहिये। बाह्य प्रसार को देखते हुए भी, इसमें रहते हुए भी आन्तरिक सत्य के प्रति सावधान रहने

स्वरूपपरामर्शपरत्वात् भैरवमुद्रानुप्रविष्टो योगी 'परमं पदमश्नुते' विमर्श-दशामधिशेते इत्यर्थः। तेन 'अविद्यैव विद्योपाय' इत्यादिन्यायेन संकुचितमपि बाह्यं रूपं विकस्वरस्वरूपापत्तौ निमित्ततां यायात्,—इत्युक्तं स्यात्। तत्र चोचितेन विमर्शेन भाव्यम्,—इति विशेषात्मन इदमिति परामर्शस्यापि उल्लासः,—इति युक्तमुक्तं 'तथाभासनतस्तथा' इति ॥ ८० ॥

अत आह

ततः स्वातन्त्र्यनिर्मेये विचित्रार्थक्रियाकृति।
विमर्शनं विशेषाख्यः स्पन्द औन्मुख्यसंज्ञितः ॥ ८१ ॥

'ततः' समनन्तरोक्ताद्धेतोः स्वस्वातन्त्र्योत्थापिते तत्तदर्थक्रियाकारिणि-भावजाते यदिदमिति विमर्शनं स विशेषाख्यः स्पन्दस्तत्तदर्थक्रियार्थिताता-रतम्येन प्रवृत्तेः 'औन्मुख्यसंज्ञित' औन्मुख्यशब्दव्यपदेश्यः स्यादित्यर्थः ॥ ८१ ॥

न च अत्रैव विश्रमणीयम्,—इत्याह

तत्र विश्रान्तिमागच्छेद्यद्वीर्यं मन्त्रमण्डले।
शान्त्यादिसिद्धयस्तत्तद्रूपतादात्म्यतो यतः ॥ ८२ ॥

तत्र

'इदमित्यस्य विच्छिन्नविमर्शस्य कृतार्थता।
या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम् ॥'

(अजडप्र० सि० १५ श्लो०)

से ही जीवन्मुक्ति रूप परम पद प्राप्त हो जाता है। कहा जाता है कि अविद्या ही विद्या की उपाय है। इससे यह संकुचित बाह्य भी विकस्वर दशा की प्राप्ति का कारण बन जाता है। अन्तर्विमर्श भी रहे और इदमात्मक विशेष पर आँख लगी रहे, यही व्यवहार सब के लिये श्रेयस्कर है ॥ ८० ॥

इस लिये कह रहे हैं—

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वातन्त्र्य शक्ति के बल से उठने वाले विचित्र विचित्र अर्थों की विविध विध क्रिया शीलता का उन्मेष भाव जगत् में होता ही रहता है।

यही इदमात्मक विमर्श है। यह **'विशेष'** नामक स्पन्द है। इसे **'औन्मुख्य'** भी कहते हैं ॥ ८१ ॥

इत्याद्युक्त्या इदंविमर्शविश्रान्तिधामनि अहंपरामर्शे विश्रान्ति कुर्यात्, यत् न केवलमत्र यावन्मन्त्रमण्डलेऽपि वीर्यः यतोऽहंपरामर्शानुविद्धमन्त्रमण्डलैकात्म्यादेव तत्फलभूता विचित्रेतिकर्तव्यताकाः शान्त्यादिसिद्धयो भवेयुरित्यर्थः संविद्विश्रान्तिमन्तरेण हि न किंचिदेव भवेदिति भावः। यद्वक्ष्यति

'यत्तत्र नहि विश्रान्तं तन्नभःकुसुमायते। (तं० ८।३) इति ॥८२॥

न केवलमेतदेवं यावदिन्द्रियाण्यपि,—इत्याह

दिव्यो यश्चाक्षसंघोऽयं बोधस्वातन्त्र्यसंज्ञकः।
सोऽनिमीलित एवैतत् कुर्यात्स्वात्ममयं जगत् ॥ ८३ ॥

इह खलु बाह्यार्थौन्मुख्येऽपि अन्तर्लक्ष्यत्वाद्दिव्योऽत शुद्धबोधैकरूपत्वात् बोधस्वातन्त्र्यशब्दाभ्यां न तु बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियशब्दाभ्यां व्यपदेश्यो योऽयमिन्द्रियसमूहः स बहिः 'अनिमीलितो व्यापृत एव सन् भैरवमुद्रानुप्रवेशक्रमेण एतज्जगत् 'स्वात्ममयं कुर्यात्' संविन्मात्रसारतया परामृशेदित्यर्थः ॥ ८३ ॥

इसी औन्मुख्य मात्र में विश्राम अपेक्षित नहीं है। यही कह रहे हैं—

यह इदमात्मक विशेष विमर्श जिसे स्पन्द और औन्मुख्य संज्ञाओं से विभूषित किया गया है—वस्तुतः यह विच्छिन्न-विमर्श है। यह एक आधार का काम करता है। इदमात्मक विश्रान्ति की इस भूमि पर उल्लसित अहमात्मक परामर्श में अन्तर्लक्ष्य योगी ही विश्राम करता है। वही उचित है।

'अहं' परामर्श से संवलित मन्त्र ही महत्त्व पूर्ण होते हैं। अहं परामर्श ही मन्त्रों का बल है। उनमें तादात्म्य पूर्वक विश्रान्ति से शान्ति आदि अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। अजड प्र० सि० श्लोक १५ के अनुसार "इदं विमर्श की यही उपयोगिता है कि उसमें 'सोहं' विमर्श का सातत्य बना रहे। स्वात्म में विश्रान्ति हो सके।" इस ग्रन्थ के आह्निक आठ के तीसरे श्लोक में भी यही बात कही गयी है ॥ ८२ ॥

यह प्रक्रिया केवल इदं विमर्श पर ही नहीं वरन् इन्द्रिय संघ पर भी लागू होनी चाहिये। यही कह रहे हैं--

बाह्य औन्मुख्य में भी अन्तर्लक्ष्य योगी अहमात्मक विमर्श में विश्राम करता है। उस दशा में ये ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ भी दिव्य हो जाती हैं। बोध और स्वातन्त्र्य इनका पर्याय हो जाता है। निमीलित न रह कर बाह्य

ननु कथमेवं भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

महासाहससंयोगविलीनाखिलवृत्तिकाः ।
पुञ्जीभूते स्वरश्म्योघे निर्भरीभूय तिष्ठति ॥ ८४ ॥
अकिंचिच्चिन्तकस्तत्र स्पष्टदृग्याति संविदम् ।
यद्विस्फुलिङ्गाः संसारभस्मदाहैकहेतवः ॥ ८५ ॥

महासाहसशब्दाभिधेयचकितमुद्रानुप्रवेशेने 'विलीना' बाह्याद्विगलिताः प्रत्यावृत्ता निखिला इन्द्रियवृत्तयो यस्य स तथा, अत एव 'अकिंचिच्चिन्तको' बहिरौन्मुख्याभावात् निरवधानोऽत एव 'स्वरश्म्योघे' तत्तदिन्द्रियमरीचिचक्र 'पुञ्जीभूते' भेदविगलनात् स्वात्मन्येव संघटितेऽत एव 'निर्भरीभूय' पूर्णतामासाद्य तिष्ठति सति, तत्र अन्तरहंपरामर्शात्मनि प्रमातृतत्त्वे 'स्पष्टदृक्' प्रस्फुटावबोधः संविदं याति' परतत्त्वान्तरनुप्रविशेत् यत्स्फारमात्रादयत्नत एव संसारापकृतिः सिद्ध्येत् ॥ ८४-८५ ॥

व्यापृत होने पर भी ये भैरवमुद्रा में अनुप्रवेश कर जगत् को स्वात्म मय और संविन्मात्रात्मक रहस्य रूप में देखने में या प्रत्यक्ष करने में समर्थ हो जाती हैं ॥ ८३ ॥

ऐसा कैसे होता है ? इस प्रश्न का समाधान कर रहे हैं—

'महा साहस' पारिभाषिक शब्द है। इसे 'चकित मुद्रा' भी कहते हैं। इस मुद्रा में प्रवेश करने की विधि है। उसके अनुसार साधना करने पर साधक को सारी इन्द्रिय वृत्तियाँ इन्द्रियार्थों से विमुख होकर अपनी इन्द्रियरश्मियों में समा जाती हैं। चिन्तन रहित अवस्था में ऐन्द्रयिक प्रकाश का पुंजीभूत रूप प्रकाशमान हो जाता है। यह स्वात्मनिर्भर दशा अनुभूति का विषय है।

उस समय साधक 'अकिंचित् चिन्तक' हो जाता है। यह एक प्रकार की शून्यात्मक स्थिति होती है। अन्तर में अहं परामर्श का स्वाभाविक स्पन्द अनायास चलता रहता है। उसका भी चिन्तन नहीं होता। बोध की लपलपाती लपटों का प्रमातृस्तरीय प्रकाश साधक को परा संवित् तत्त्व के स्तर पर पहुंचा देता है। बोधात्मक प्रकाश से प्रस्फुरित स्फुलिङ्गों में ही इतनी शक्ति होती है कि समग्र सांसारिकता तत्काल ही भस्मसात् हो जाये। जगत् जाल को जला देने की निमित्त यही किरणें हैं। इनसे ही परतत्त्व में अनुप्रवेश हो जाता है ॥ ८४-८५ ॥

न चैवमस्माभिः स्वोत्प्रेक्षितमेवोक्तमित्याह

तदुक्तं परमेशेन त्रिशिरोभैरवागमे ।

तदेव पठति

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि मन्त्रभूम्यां प्रवेशनम् ॥ ८६ ॥

'मन्त्रभूम्याम्' इति परतत्त्वान्तः ॥ ८६ ॥

किं तत् ? इत्याशङ्क्याह

मध्यनाड्योर्ध्वगमनं तद्धर्मप्राप्तिलक्षणम् ।
विसर्गान्तपदातीतं प्रान्तकोटिनिरूपितम् ॥ ८७ ॥

यन्नाम 'विसर्गान्तपदं द्वादशान्तपदमतिशयेन इतं प्राप्तं तदवधिकं 'मध्यनाड्या' उदानवाहक्रमेण 'ऊर्ध्वं गमनं' तन्मन्त्रभूम्यां प्रवेशनमुच्यते,—इत्यर्थाक्षिप्तम् । यतस्तस्याः संवित्तत्त्वात्मिकाया मन्त्रभूमेर्ये निरावरणत्वनिर्विकल्पत्वादयो 'धर्माः' तेषां 'प्राप्ति'स्तदेकात्म्येन स्फुरत्ता तद्रूपम्, अत एव प्रान्तकोटित्वेन निरूपितं सर्वत्रैव पराकाष्ठा,–इत्युद्घोष्यते इत्यर्थः । यदुक्तम्

'यन्निरावरणं संवित्सतत्त्वं कल्पनोज्झितम् ।
तत् परं पुत्रि कथितं सा काष्ठा सा परा गतिः ॥' इति ॥८७॥

आगम प्रामाण्य प्रस्तुत कर रहे हैं—

त्रिशिरो भैरव आगम में मन्त्रभूमि में प्रवेश की विधि पर स्वयं देवाधिदेव महादेव ने प्रकाश डाला है । उसी विधि से परतत्त्व में अनुप्रवेश हो सकता है ॥ ८६ ॥

उस विधि का रहस्यात्मक वर्णन कर रहे हैं—

उदानवाह क्रम से सुषुम्ना के मध्य पथ से होती हुई कुण्डलिनी सहस्रार को पार कर 'विसर्ग' की अन्तिम भूमि को आतिशय्य रूप से प्राप्त कर लेती है । वह ऊर्ध्व कुण्डली भूमि में शाश्वत विश्राम करती है । वह ऊर्ध्व द्वादशान्त भूमि है । वहाँ का बीज-मन्त्र गुरु गम्य है । उस मन्त्रात्मक रहस्य में अनुप्रवेश अनुभूति का विषय है । वह मन्त्रभूमि संवित्–तत्त्व रूप है । उसके कई मुख्य गुण हैं । जैसे निरावरण दशा, अथवा निर्विकल्प दशा आदि । संवित् तत्त्वाधिगत साधक में ऐसे लक्षग मिलने लगते हैं । प्रतिपत्ति दाढर्य की परा काष्ठा प्राप्त हो जाती है । कहा गया है—

तच्च कथं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

अधःप्रवाहसंरोधादूर्ध्वक्षेपविवर्जनात् ।
महाप्रकाशमुदयज्ञानव्यक्तिप्रदायकम् ॥ ८८ ॥

अनुभूय परे धाम्नि मात्रावृत्त्या पुरं विशेत् ।

'अधःप्रवाहस्य' अपानस्य 'ऊर्ध्वक्षेपस्य' प्राणस्य चापहस्तनात् तदुभय-घट्टनेन परे मध्यमे धाम्नि

'पीत्वा कुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत् कुले ।
पुनरेवाकुलं गच्छेन्मात्रायोगेन पार्वति ॥
सा च प्राणवहा ख्याता तन्त्रेऽस्मिन् पारमेश्वरे ।'

इत्यादिना निरूपितस्वरूपा या मात्रा तस्या 'आवृत्त्या' आवर्तनेन पुनः पुनर्गणनया

'उद्गच्छन्तीं तडिद्रूपा प्रतिचक्रं क्रमात्क्रमम् ।
ऊर्ध्वं मुष्टित्रयं यावत्तावदन्ते महोदयः ॥'
(वि० भै० २९ श्लो०)

इत्याद्युक्तयुक्त्या तत्तच्चक्रोल्लङ्घनक्रमेण द्वादशान्तभुवि 'सकृद्विभातोऽयमात्मा'

"आत्यन्तिक प्रकल्पना प्रसूत निरावण संवित्स्फुरण की महादशा ही बोध की पराकाष्ठा है और अन्तिम गति है ।"

उसकी विधि का निर्देश कर रहे हैं—

अधः प्रवाह ऊर्ध्व कुण्डली के मन्त्रात्मक विसर्ग से प्रारम्भ होता है । अमा कला से प्राण का ऊर्ध्व प्ररोह प्रारम्भ होता है । ये दोनों मध्यधाम में निवास करने वाले योगसिद्ध पुरुष में बन्द हो जाते हैं । उसके चक्रों का भेदन हो जाता है । चक्र भेदन क्रम में ही निम्नलिखित अनुभूति होती है—

"कुलामृत का पान कर साधक कुल में प्रवेश करता है । पुनः अकुल अनुप्रवेश की अनन्त यात्रा का पथिक हो जाता है । वहाँ साधक को मात्रा का अर्थात् 'अर्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्या' की अथवा विज्ञजनों द्वारा निरूपित तिथि मात्रा का अनुभव होता है । यह अनुभूति प्राणापानवाह की प्रक्रिया के पड़ावों में ही होती है ।"

इति न्यायेन अवभासनक्रियाविच्छेदाभावात् उदयप्रधानं नित्योदितं यदात्मज्ञानं तस्य 'व्यक्तिप्रदायकं तद्रूपतयावभासमानं परप्रमातृरूपं 'महाप्रकाशमनुभूय पुरं विशेत्' मन्त्रभूमिरूपां पूर्णां स्वात्मवृत्तिमासादयेदित्यर्थः ॥ ८८ ॥

सा च किंविधा ? इत्याशङ्क्याह

निस्तरङ्गावतीर्णा सा वृत्तिरेका शिवात्मिका ॥ ८९ ॥

चतुष्षड्द्विर्द्विगुणितचक्रषट्कसमुज्ज्वला ।

तत्स्थं [तस्थो] विचारयेत् खं खं
खस्थं खस्थेन संविशेत् ॥ ९० ॥

खं खं त्यक्त्वा खमारुह्य खस्थं खं चोच्चरेदिति ।
खमध्यास्याधिकारेण पदस्थाश्चिन्मरीचयः ॥ ९१ ॥

सा च स्वात्मरूपा वृत्तिर्निःशेषविश्वोपशमात् 'निस्तरङ्गा' स्वात्ममात्रविश्रान्त्या शान्तरूपेत्यर्थः । अतः एवैकेत्युक्तम् । न चैवमस्या विश्वोत्तीर्णमेकमेव रूपं संभवति, अपितु तथात्वेऽपि विश्वमयीत्याह 'अवतीर्णा' इति, तत्तद्रूपतया बहिरुल्लसितेत्यर्थः । अत एव तत्रत्यबहुग्रन्थार्थगर्भीकारेणाह 'चतुष्षड्द्विर्द्विगुणितचक्रषट्कसमुज्ज्वला' इति । यदुक्तं प्राक्

इस उक्ति के अनुसार अभ्यास में आवृत्ति का आकलन होता रहता है। "बिजली की तरह हर एक चक्रों में वह कौंधती हुई ऊपर उठती है। 'आज्ञा' के तीन मुठ्ठी ऊपर 'महोदय' दशा का उल्लास है।" वि भै० २९ की विधि के अनुसार क्रमशः पर मन्त्र भूमिरूप 'पुर' में प्रवेश हो जाता है ॥८८॥

मन्त्र भूमिरूप वह स्वात्म संविद् वृत्ति कैसी होती है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

वह स्वात्मवृत्ति निस्तरङ्ग बोध समुद्र रूपा होती है। एक होते हुए भी अनन्त रूपों में अवतीर्ण होती है। यह शिवात्मिका भी कही जाती है। उसके स्वरूप का कभी भी प्रच्याव नहीं होता। ४, ८, १६ तथा ६ १२ और २४ चक्रकमलों से वह प्रकाशमान है। इनमें विचरण करने वाला योगी पारिभाषिक शून्यता की चिन्तन दशा में रहकर शून्य के अन्तराल में निवास का अधिकारी बन जाता है। उसी स्थान पर चित् तत्त्व की चमत्कारमयी मरीचियों की

'चतुष्षड्द्विद्विगणनायोगात् त्रैशिरसे मते ।
षट्चक्रेश्वरता नाथस्योक्ता चित्रनिजाकृते ॥' (१।११४)

इति । एवमपि नास्याः स्वस्वरूपात् प्रच्यावः,—इत्युक्तं 'शिवात्मिका' इति । तेनास्या बहीरूपतया स्फुरत्तायामपि परप्रमात्रात्मनि स्वस्वरूपे एव विश्रान्तिः,—इत्युक्तं स्यात् यदभिप्रायेणैव भैरवमुद्राया अभिधानम् । एतच्च अतिरहस्यत्वात् गोपनीयम्,—इत्याशयेन भगवान्निगूढार्थतयाभिधत्ते 'खस्थम्' इत्यादिना । इह खलु योगी भूतिशब्दवाच्यमैश्वर्यात्मस्वातन्त्र्यलक्षणं 'खमारुह्य' अवलम्ब्य स्वस्वरूपं गोपयित्वा दिक्कालादिना संकुचत्तामवभास्य अणुशब्दव्यपदेश्ये खे स्थितं संकुचितात्मतया स्फुरितं 'खम्'

'परमात्मस्वरूपं तु सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
चैतन्यमात्मनो रूपं सर्वशास्त्रेषु पठ्यते ॥' (ने० तं० ८।२८)

इत्याद्युक्त्या पूर्णप्रथात्मकमवश्यज्ञेयमात्मानं 'विचारयेत्' किमस्य संकुचितमेव तात्त्विकं रूपं न वेति विमर्शपदवीं नयेदित्यर्थः । एवं हि पारमार्थिकस्य रूपस्य लाभो भवेदिति भावः । तदुक्तं तत्रैव

'खं हि यद्भैरवं ज्ञेयं सर्वमार्गान्तमन्तगम् ।
विचारयेत्तु यो धीमान् करणव्याप्तिमध्यगः ॥
भूमिकास्थो हि चक्रस्थो विन्दते परमार्थतः ।' इति ।

माङ्गलिकता का अवगम होता है । इन श्लोकों में वर्णित रहस्य प्रतीकों के समर्थन में विभिन्न उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं । योगिनी हृदय के छः शून्य भी इस सन्दर्भ में विचारणीय हैं ।

१. इसी ग्रन्थ के आ० १।११४ श्लोक में त्रैशिरस मत का उल्लेख है । उसमें ४×२=८, ८×२=१६, ६×२=१२ और १२×२=२४ के क्रम से चक्रों का और विश्वनाथ शिव की चक्रेश्वरता का वर्णन है ।

२. यह अतिरहस्यात्मक स्थिति है । इसको व्यक्त करने के लिए भैरव मुद्रा का आश्रय लेना पड़ता है । 'ख' चण्डभैरव का प्रतीकाक्षर है । भैरव विभूतिरूपस्वातन्त्र्य शक्ति भी 'ख' है । उसमें योगी आसीन होता है । उसे 'खस्थ' कहते हैं । वह अणु रूप 'ख' में (संकोच दशा में) रहकर 'ख' रूप "सर्वोपाधि रहित चैतन्य का चिन्तन करता है ।" ने. ८।२८

तच्च कथम् ? इत्याशङ्क्योक्तं 'खस्थेन खस्थं खं चोच्चरेदिति' चशब्दो हेतौ। यतः 'खे' रतावतिष्ठमानेन तदासक्तेन सावधानेन चेतसा 'खे' कुलमूले शक्त्युत्पत्त्यात्मनि जन्माधारे स्थितं 'खं' प्राणरूपां शक्तिमुच्चरेत्

'आमूलात् किरणाभासां सूक्ष्मसूक्ष्मपरात्मिकाम् ।
'चिन्तयेत्तां द्विषट्कान्ते शाम्यन्तीं भैरवोदयः ॥'

(वि० भै० २८ श्लो०)

इत्याद्युक्त्या मध्यधामप्रवेशक्रमेण ऊर्ध्वं द्वादशान्तं नयेत् येन क्रियाशक्त्यात्मनि 'खे' गतं दृश्यं तदुपरक्तां क्रियाशक्तिं प्रमेयभुवं, तथा 'खे' ज्ञानशक्ताववस्थितं द्रष्टारं तदुपरक्तां ज्ञानशक्तिं प्रमाणभुवं त्यक्त्वा प्रमाणप्रमेयात्मव्यवहारपरत्वेऽपि तदासङ्गमपहायेत्यर्थः। यद्यपि अत्रोभयत्रापि द्रष्टृदृश्योपरागः संभवति तथापि प्राधान्यादेवमुक्तम्। तथा 'खं' द्रष्टृदृश्याद्युपाधिवर्जितां स्वविमर्शमात्ररूपामिच्छाशक्तिम्, 'अधिकारेण अध्यास्य' स्वावष्टम्भबलेनाक्रम्य चितिशब्दाभिधेयं 'खं'

'विमर्शधाम तुर्यं च व्यापकं चोर्ध्वमध्यतः ।
सुशिरं तत्त्वराजानं पराकाशं प्रकीर्तितम् ॥'

इत्यादिनीत्या श्रीत्रिशिरोभैरवोक्त्या निरूपितस्वरूपं परतत्त्वलक्षणं तुर्यातीतपदं सम्यग्भैरवमुद्रानुप्रवेशक्रमेण 'विशेत्' समावेशभाक् भवेदित्यर्थः। एवं च 'चिन्मरीचयः' तत्तदिन्द्रियवृत्तयो बहिरौन्मुख्याभावात् 'पदस्थाः' तुर्यातीतदशामधिशयाना एव भवन्तीत्यर्थं ॥ ९१ ॥

---

३. ''ख' रूप भैरवभाव का विमर्श करता है। वही ज्ञेय है। साधना-जीवन का चरम लक्ष्य है। करण व्याप्ति के परिवेश में चक्र चिन्तन से परमार्थ की प्राप्ति सम्भव है।'' चर्या में 'ख' रूप कुलमूल में रुकना भी सिद्धि प्रद है।

४. 'ख' में रहना, 'ख' में स्थिति के माध्यम से 'ख का विमर्श करना मूलाधार में 'ख' रूप प्राण का चिन्तन और अनाहत में उपशम विज्ञान भैरव की एक विधि है।

५. 'ख' क्रियाशक्त्यात्मक प्रमेय भी है और प्रमाण भी। 'खस्थ' रहकर ही प्रमेय प्रमाण भूमियों का अपहस्तन होता है।

६. वहाँ से द्रष्टा दृश्य आदि उपाधियों से रहित 'ख' (विमर्श) के इच्छाशक्ति रूप 'ख' में पहुंचकर अन्त में 'ख' रूप भैरवमुद्रा में अनुप्रवेश करते हैं। वही तुर्य विमर्श धाम है। पराकाश है।

एवमप्यत्राप्रमत्तेन भाव्यम्,—इत्याह

भावयेद्भावमन्तःस्थं भावस्थो भावनिःस्पृहः ।
भावाभावगती रुद्ध्वा भावाभावावरोधदृक् ॥ ९२ ॥

एत्रामपि 'भावाभावगती रुद्ध्वा' प्राणापानक्षोभमपहाय 'अन्तःस्थं भावम्' आन्तरीं सत्तां योगी 'भावयेत्' मध्यधामानुप्रवेशक्रमेण पौनःपुन्येन तत्रैव आसक्तिं कुर्यात् येन व्युत्थानेऽपि अतः प्रच्यावो न स्यात्, अत एव स 'भावस्थो' ग्राह्यग्राहकसंक्षोभेऽपि बाह्यान्तःकरणवर्गेणालुप्तसंवित्तिः स्वात्ममात्रपरिनिष्ठित एवेत्यर्थः । यदुक्तं तत्रैव

'उर्ध्वाधोगमविक्षेपरहितः करणेच्छया ।
रूपं यस्य न हीयेत भावस्थोभावभासकः ॥
स्वरूपप्रतिपन्नोऽसावन्तःकरणवर्जितः ।
भावस्थं तं विजानीयाद्ग्राह्यग्राहकविप्लवे ॥' इति ।

अत एव 'भावाभावयोः' प्राणापानयोर्मध्यधामानुप्रवेशेन निरस्तरङ्गतया साम्यात्मा योऽसौ 'अवरोधः' तं पश्यति साक्षात्करोतीत्यर्थः । यदुक्तं तत्रैव

इस तरह 'ख' की सीढ़ियाँ चढ़कर इन्द्रिय वृत्ति देवियों की किरणें तुर्यातीत में प्रवेश कर जाती हैं ॥९१॥

साधना की यह पद्धति गुरुगम्य है । मूलाधार में ऊर्ध्व कुण्डलिनी तक के विश्वात्मक चित्र में चिन्तन का चमत्कार साधक को उत्कर्ष में कैसे अग्रसर करे—इसमें सावधानी अनिवार्य है । यही कह रहे हैं—

भाव प्राण है । अभाव अपान है । इन दोनों की गति प्राणचार कहलाती है । इसका नियमन इस प्रक्रिया में अनिवार्य है । तभी योगी आन्तर भाव सत्ता का भावन कर सकता है । मध्य धाम में प्रवेश मिले और वहाँ से गिर जाय तो जोवन व्यर्थ हो जाये । ऐसा न होने पाये । इसलिए 'भावस्थ' बनना अनिवार्य शर्त है । भावस्थ की परिभाषा ही है कि "प्राणापान क्षोभ से रहित इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के आकर्षण से सावधान भाव का भासन करने वाला ही भावस्थ है । वह 'स्व' रूपोपलब्धि कर लेता है । ग्राह्य ग्राहक रूप विप्लव से वह प्रभावित नहीं होता । वही 'भावस्थ' है ।"

'प्राणापानौ समौ यस्य साम्यावस्थानमागतौ ।
निस्तरङ्गप्रकारेण भावाभावावरोधदृक् ॥'इति ।

अत एव बहिरौन्मुख्याभावात् 'भावनिःस्पृहः' स्वस्वरूपनिष्ठ एवेत्यर्थः । यदुक्तं तत्रैव

'स्वरूपस्थितिसंयोगलक्षवृत्तिरतस्य च ।
भावनिःस्पृहमेतद्धि तत्पदत्यागवर्तिनः ॥' इति ॥ ९२ ॥

ननु खशब्दस्य स्वरूपाविशेषेऽपि कुतस्त्योऽयं दशधा भिन्नोऽर्थः ? इत्याशङ्क्याह

आत्माणुकुलमूलानि शक्तिर्भूतिश्चिती रतिः ।
शक्तित्रय द्रष्टृदृश्योपरक्तं तद्विवर्जितम् ॥ ९३ ॥
एतत्खं दशधा प्रोक्तमुच्चारोच्चारलक्षणम् ।

आत्मा परमात्मा, अणुः संकुचित आत्मा, कुलमूलं प्राणशक्ते- प्रभवस्थानं जन्माधारः, शक्तिर्मध्यमप्राणवाहिनी, भूतिः स्वातन्त्र्यलक्षणमैश्वर्यम्, चितिस्तुर्यातीतपदात्मिका परा संवित्, रतिरासक्तिः, शक्तित्रयं द्रष्टृपरक्ता ज्ञानशक्तिर्दृश्योपरक्ता क्रियाशक्तिस्तद्विवर्जितेच्छाशक्तिः, प्रोक्तमिति श्रीत्रिशिरोभैरवे । यदुक्तम्

'खमात्मा केवलं विद्यात् खमणुः सर्वदिक्कतः ।
कुलमूलं तु खं ज्ञेयं खं शक्तिः परिपठ्यते ॥

ऐसा भाग्यशाली साधक "सुषुम्ना में रमता हुआ साम्य अवस्था के शान्त समुद्र के उपशम का आनन्द लेता है । भाव अभाव अवरोध का वह साक्षी होता है ।" तथा

"स्वात्म स्वरूप में स्थिति प्राप्त करना, जीव का शिव में संयोजन करना तथा अपने लक्ष्य वेध में संलग्न रहना भाव निःस्पृहता के कारण हैं ।" साधना के इस स्तर पर स्वयं ही सर्वपरित्याग हो जाता है ॥९२॥

प्रश्न है कि 'ख' एक अक्षर से यह दश अर्थ कैसे अभिव्यक्त होते है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

आत्मा, अणु, कुलमूल (प्राणशक्ति का उद्गम स्थान), शक्ति (जिससे प्राणवाह की प्रक्रिया पूरी होती है), भूति (स्वातन्त्र्य रूप ऐश्वर्य), चिति

एकं तु खमिहोद्भाव्यं खद्वयं भूतिचिद्रतिः।
द्रष्टृदृश्योपरक्तं च शक्तित्रितयं खं विदुः॥
निष्पन्नपरिणामेन खमभूत्तत्त्वलक्षणम्।' इति।

उच्चारोच्चारलक्षणमिति यथायथं भावनाप्रकर्षेण परसंविदासादक-मित्यर्थः॥ ९३-९४॥

न केवलमत्र खशब्देनैव दशधा भिन्नोऽयमर्थ उच्यते यावच्छब्दान्तरे-णापि,—इत्याह

धामस्थं धाममध्यस्थं धामोदरपुटीकृतम्॥ ९४॥
धाम्ना तु बोधयेद्धाम धाम धामान्तगं कुरु।
तद्धाम धामगत्या तु भेद्यं धामान्तमान्तरम्॥ ९५॥

इह खलु योगी 'धाम्नो' भूतेः स्वातन्त्र्यस्य यत् 'उदरं' सतत्त्वं तेन 'पुटीकृतं' सर्वतः संवलितं नित्यावियुक्तम्, अत एव 'धाम्नि' अणौ स्थितं संकुचि-तात्मतया स्फुरितं 'धाम' आत्मानं बाधयेत् तद्बोधे समर्थमाचरेदित्यर्थः। तत्समर्थाचरणमेवाह 'धाममध्यस्थं धाम धाम्ना धामान्तगं कुरु इति। 'धाम्न' कुलमूलस्य जन्माधारस्य मध्ये स्थितं 'धाम' प्राणशक्ति 'धाम्ना' रत्या तदा-सक्त्या 'धाम्नः' चितेस्तुर्यातीतपदस्य 'अन्तः' परा काष्ठा तद्गत कुरु तदेक-रूपतया साक्षात्कुर्यादित्यर्थः। 'तत्' तस्मात् परतत्त्वसाक्षात्काराद्धेतोः 'धाम्नो' दृश्योपरक्तायाः क्रियाशक्तेः प्रमेयभुवो गत्या 'धाम' द्रष्ट्रुपरक्ता ज्ञानशक्तिः 'भेद्यं' भेदनीयं त्याज्यमित्यर्थः। यथाहि प्रमेयभूः सर्ववादिषु त्याज्यत्वेन सिद्धा तथा

(परा संवित्), रति (आसक्ति), शक्तित्रय (द्रष्टृ-दृश्य और द्रष्टृ-दृश्य साहित्य रूप ज्ञान, क्रिया और इच्छा शक्तियाँ) ये दश 'ख' एकाक्षर से अभिव्यक्त होते हैं। "यही बात त्रिशिरो भैरव में लिखी हुई है। वास्तव में परिणाम की दृष्टि से सभी 'ख' हैं।" इनके आधार पर सोपान परम्परा से साधना के बल पर परासंविद् स्वरूप की उपलब्धि हो जाती है॥९३-९४॥

'ख' के अतिरिक्त अन्य शब्दों से भी ऐसे अर्थ निष्पन्न होते हैं—यही कह रहे हैं—

ऐसा ही एक शब्द धाम है। धाम (भूति) से संपुटित, धाम (अणु) में स्थित रहकर धाम (आत्मतत्त्व) को जानना चाहिये। धाम (कुलमूल) में रहकर

प्रमाणभूतमपि ज्ञानं त्याज्यमेवेति भावः। तुशब्दो भिन्नक्रमो हेतौ। ततश्च 'आन्तरं' प्रमात्रैकात्म्यमापन्नं 'धामान्तम्' अन्त्यं धाम द्रष्टृदृश्याद्युपाधिशून्यां स्वविमर्शमात्ररूपामिच्छाशक्तिम् अर्थात् आश्रयेत् येन तत्रैव प्ररोहमियात्—इति शब्दार्थसंगतिः। वाक्यार्थस्तु प्राग्वत् स्वयमेवाभ्यूह्यः॥ ९५॥

नन्वन्येऽपि परतत्त्वान्तःप्रवेशे बहव उपायाः सम्भवन्ति तत्कथमस्यैव रहस्यत्वं येन गोपनीयत्वेन निगूढार्थतयैवमुपदेशः ? इत्याशङ्कयाह

भेदोपभेदभेदेन भेदः कार्यस्तु मध्यतः ।

यः पुनरन्यो भेदोपभेदात्मोपायभेदः सम्भवति स मध्यतः कार्यो मध्यमो नैवं-विध उत्तम इत्यर्थः॥

एतदेवोपसंहरति

इति प्रवेशोपायोऽयमाणवः परिकीर्तितः ॥ ९६ ॥

श्रीमहेश्वरनाथेन यो हृत्स्थेन ममोदितः ।

न केवलमेतदिहैवोक्तं यावदन्यत्रापि,—इत्याह

श्रीब्रह्मयामले चोक्तं श्रीमान् रावो दशात्मकः ॥ ९७ ॥

स्थूलः सूक्ष्मः परो हृद्यः कण्ठ्यस्तालव्य एव च ।

सर्वतश्च विभुर्योऽसौ विभुत्वपददायकः ॥ ९८ ॥

(धाम प्राणशक्ति) को, धाम (रति-आसक्ति) से धाम (चिति) के अन्तराल में धाम को पहचानना चाहिये। धाम (क्रियाशक्ति) और धाम (ज्ञानशक्ति) का त्याग करे। इसके बाद आन्तर धाम (परमतत्त्व) में प्रवेश करना चाहिये॥ ९४–९५॥

परतत्त्व में प्रवेश के अन्य बहुत से उपाय हैं। यहाँ इसे इतना रहस्यमय बनाने का क्या प्रयोजन ? यही स्पष्ट कर रहे हैं—

यह आणव प्रवेशोपाय है। इसे हमारे हृदय में विराजमान स्वयं महेश्वर शिव ने निर्दिष्ट किया। इसके अतिरिक्त श्रीब्रह्मयामल में भी दश प्रकार के 'राव' का वर्णन है। स्थूल, सूक्ष्म और पर (हृद्य, कण्ठ्य, तालव्य) भेद से पश्यन्ती, मध्यमा तथा बैखरी के गुणन से नौ भेद तथा 'परावाक्' रूपी दसवाँ

श्रीमानिति विमर्शरूपतया प्रकाशस्यापि जीवितभूतत्वात्। इहास्य परवाग्रूपस्य अहं विमर्शात्मनो रावस्य प्रथमं तावद्धृदादिभवत्वात् पश्यन्तीमध्यमा-बैखरीरूपतया त्रैविध्यं प्रत्येकं च स्थूलसूक्ष्मपरत्वेन त्रैविध्ये नवधात्वम्, एषां नवानामपि भित्तिभूतः परवागात्मा दशमः स एव हि स्वस्वातन्त्र्यादेवमवभासयेत्, अत उक्तं 'सर्वतश्च विभुः' इति। स एव च विश्रान्तिस्थानम्,—इत्युक्तं 'विभुत्व-पददायक' इति। एतच्च प्राक्

तस्य प्रत्यवमर्शो यः परिपूर्णोऽहमात्मकः ।
स स्वात्मनि स्वतन्त्रत्वाद्विभागमवभासयेत् ॥
विभागाभासने चास्य त्रिधा वपुरुदाहृतम् ।
पश्यन्ती मध्यमा स्थूला वैखरीत्यभिशब्दितम् ॥
तासामपि त्रिधा रूपं स्थूलसूक्ष्मपरत्वतः ।' (३।२३७)

इत्यादिना 'तत्परं त्रितयं तत्र शिवः परचिदात्मकः'। (३।२४८) इत्यन्तेन निर्णीतप्रायम्,—इति तत एवैतत्सतत्त्वमवधारणीयम् ॥ ९८ ॥

तदेवमत्रैव परमवधातव्यं येन पारमार्थिक-स्वरूपलाभो भवेत्,—इत्याह

जितरावो महायोगी संक्रामेत्परदेहगः ।
परां च विन्दति व्याप्तिं प्रत्यहं ह्यभ्यसेत तम् ॥ ९९ ॥
तावद्यावदरावे सा रावाल्लीयेत राविणी ।

'जित' आक्रान्तो वशीकृत उत्तरोत्तरो रावो येनासावेवंविधो महायोगी अर्थादुत्तरोत्तरत्यागेनोर्ध्वमूर्ध्वं रावं संक्रामेत् येन 'परदेहगो' यथायथमुत्कृष्टो-त्कृष्टरावस्वरूपनिष्ठः 'परां व्याप्तिं विन्दति' पारमार्थिकं स्वरूपं लभते इत्यर्थः। यदुक्तम्

'राव' (अहं विमर्श) के भेद से ही ये दस भेद माने जाते हैं। यह राव सर्वैश्वर्यों का मूल रहस्य है और विभुत्व प्रदायक है। इस ग्रन्थ के आ० ३ के २३७वीं और २४८वीं कारिकाओं में भी इसी रहस्य का स्फोरण है ॥९८॥

पारमार्थिक स्वरूपोपलब्धि के लिए इन विन्दुओं पर अत्यधिक अवधान और अभ्यास की आवश्यकता पर बल दे रहे हैं—

'नदते दशधा सा तु दिव्यानन्दप्रदायिका।
चिनीति प्रथमः शब्दश्चिञ्चिनीति द्वितीयकः॥
चीरवाकी तृतीयस्तु शङ्खशब्दश्चतुर्थकः।
तन्त्रीघोषः पञ्चमश्च षष्ठो वंशरवस्तथा॥
सप्तमः कांस्यतालस्तु मेघशब्दरवस्तथा।
नवमो दावनिर्घोषो दशमो दुन्दुभिस्वनः॥
नव शब्दान् परित्यज्य दशमो मोक्षदायकः।
अनेन विधिना येन व्याहरेद्दशधा रवम्॥' इति।

अतश्च तावतत्र प्रतिदिनमभ्यासः कार्यो यावत् सा परवागात्मा विमर्शशक्ति-स्तत्तद्रावरूपतया प्रस्फुरणात् राविणी रावादेकमेकं रावं विलाप्य विभागविगल-नात् 'अरावे'ऽहंपरामर्शरूपे स्वात्मनि 'लीयेत' विश्राम्यतीत्यर्थः॥ ९९॥

एवं परतत्त्वान्तःप्रवेशं निर्णीय तदानन्तर्योद्दिष्टानि तत्पथलक्षणान्यपि लक्षयितुमाह

अत्र भावनया देहगतोपायैः परे पथि॥ १००॥
विविक्षोः पूर्णतास्पर्शात्प्रागानन्दः प्रजायते।
ततोऽपि विद्युदापातसदृशे देहवर्जिते॥ १०१॥

'राव' के इन सोपानों पर उत्तरोत्तर ऊपर-ऊपर उठता हुआ साधक इस शरीर में ही एक विलक्षण दिव्य शरीर का अनुभव करता है। वह-वह नहीं रह जाता। क्रमशः वह पराव्याप्ति में प्रवेश करता है। राव से अराव की दिशा की इस दिव्य यात्रा में 'राविणी' नामक विमर्श शक्ति ही सहायक बनती है। एक-एक राव को विलीन करती हुई 'अराव' दशातक पहुंचा देती है। "दश राव की ध्वनि का सादृश्य निर्देश आगमों में है। यह दिव्य आनन्द प्रदान करने वाली १. चिनी, २. चिञ्चिनी, ३. 'चीरवाकी', ४. 'शङ्ख', ५. तन्त्री, ६. मुरली, ७. कांस्यध्वनि, ८. मेघ, ९. दाव और १०. दुन्दुभि मोक्षप्रद दिव्य ध्वनियाँ हैं। नौ ध्वनिस्तरों को पार कर दसवीं में प्रवेश से जीवन्मुक्ति मिल जाती है। साधक इसका अभ्यासपूर्वक अनुभव करे। यह अध्यवसाय साध्य आनन्द है॥ ९९॥

धाम्नि क्षणं समावेशादुद्भवः प्रस्फुटं प्लुतिः ।
जलपांसुवदभ्यस्तसंविद्देहैक्यहानितः ॥ १०२ ॥
स्वबलाक्रमणाद्देहशैथिल्यात् कम्पमाप्नुयात् ।
गलिते देहतादात्म्यनिश्चयेऽन्तर्मुखस्वतः ॥ १०३ ॥
निद्रायते पुरा यावन्न रूढः संविदात्मनि ।

अत्र समान्तरोक्ते उपायविशेषे या 'भावना' अभ्यासरतया तथोक्त-वक्ष्यमाणैरुच्चारकणादिभिः 'देहगतैरुपायैः परे पथि' परतत्वान्तर्वेष्टुमिच्छोर्न तु तत्र प्रविष्टस्य, तस्य हि पूर्णतैव भवेदिति भावः, पूर्णतायाः 'स्पर्शात्' औन्मुख्य-मात्रात् न तु तदावेशात् प्रथमम् 'आनन्दः' चमत्कारविशेषः प्रकर्षेण स्वात्म-विषयीकारेण 'जायते' अनुभवपदवीमासादयेदित्यर्थः । तत आनन्दादप्यनन्तरं विद्युदापातसदृशे' यथा, विद्युति पतितायां सर्वं स्वरूपत्यागेन तन्मयीभवति, एवं 'धाम्नि' परतत्त्वे समावेशात् प्रस्फुटं कृत्वा देहादावात्मग्रहविगलनेनाधस्त-नदशाविश्लेषात् परधामाधिरोहात्मक 'उद्भवः प्लुतिः' ऊर्ध्वंगमनं भवेदित्यर्थः। अत एव 'देहर्वाजते' इत्युक्तम् । क्षणमिति, चिरस्य हि समावेशे पारिपूर्ण्यमेव भवेदिति भावः । एवं पांसूदकवदनेकजन्माभ्यस्तस्य संविद्देहैक्यस्य या 'हानिः' विभागेन ज्ञप्तिः, ततः क्षणं संविदात्मनः स्वस्य यत् 'बलम्' अहन्तालक्षणं वीर्यं तस्य 'आक्रमणात्' आत्मन्येवाभिमानोदयात् अनात्मन्यात्माभिमानः शिथिली-भवेत्—इति देहादीनां भङ्गुरायमाणत्वात् 'कम्पमाप्नुयात्' तत्र दार्ढ्यं जह्यादि-त्यर्थः । एवं 'पुरा' पूर्वं प्रथमं देहस्य संविदैक्याभिनिवेशे निवृत्ते सति संबिदौन्मु-

---

इसके बाद की अवस्थाओं या यात्रापथ का निर्देश कर रहे हैं—

यह शरीर से अशरीर की यात्रा है । उपाय शरीरगत हैं । परिणाम अशरीरगत हैं । पर तत्त्व में प्रवेश का अभिलाषी पूर्णता का स्पर्श कर यह चमत्कारमय आनन्द उपलब्ध करता है । फिर लगता है—बिजली कौंध गयी । उस समय यह देहाध्यास जल जाता है । फिर पर धाम में प्रवेश हुआ प्रतीत करता है । इसे 'उद्भव' स्थिति कहते हैं । यह एक प्लुति है । ऊँची कूद की तरह है । फिर धूल जैसे धुल जाय, वैसे लगता है कि एक अध्यास देह धुल गया । संवित् शरीर अलग अनुभूत हुआ । परिणामतः अहन्ता रूप अपने बल से आक्रान्त होकर काँपने लगता है । देहात्मभाव मर जाता है । अन्तर्मुखता

ख्यमात्रात् 'निद्रायते' बाह्यवृत्तिव्युपरमात् आन्तरस्य च कस्यचिदनुभवस्य स्फुटमनुदयात् निद्रायमाण आस्ते इत्यर्थः। कियत्कालमेवमास्ते ? इत्याह 'यावन्न रूढः संविदात्मनि' इति। अत्रास्य प्ररोहे हि लक्षणान्तरमुदियादिति भावः ॥१०३॥

तदाह

ततः सत्यपदे रूढो विश्वात्मत्वेन संविदम् ॥१०४॥
संविदन् घूर्णिर्महाव्याप्तिर्यतः स्मृता।

'ततो' ऽनन्तरं परसंविदात्मनि 'सत्यपदे' प्राप्तप्ररोहः सन् निखिलस्यास्य देहघटाद्यात्मनो जगतः संविदेव सतत्त्वं न पुनस्तदतिरिक्तं नामैतत् किंचित्—इति साक्षात्कुर्वन् 'घूर्णते' भ्रमति, चलति स्पन्ददशाधिशायी भवेदित्यर्थः। एतद्-शाधिशायिनो हि योगिनः सदैव सृष्टिसंहारकारित्वेन परं पारमेश्वर्यमुदियात्—इत्युक्तं 'घूर्णिर्महाव्याप्तिर्यतः स्मृता' इति ॥१०४॥

ननु

'दशावस्थाश्रिनोत्यन्तः शक्तितेजोपबृंहितः।
कम्पो भ्रमस्तथा घूर्णिः प्लवनं स्थिरतापि च॥
चित्प्रकाशस्तथानन्दो दिव्यदृष्टिश्चमत्कृतिः।
अवाच्यो दशमो भावः शिवतत्त्वे प्रवेशनात्॥
संस्पर्शः प्राप्यते यावत्तावन्मुक्तो भवार्णवात्।'

उद्दीप्त हो उठती है और आनन्द की नींद आ जाती है। ये सारी क्रियायें तभी तक चलती हैं, जब तक वह साधक संवित् तत्त्व में आरूढ़ नहीं हो जाता ॥१००-१०३॥

वही कह रहे हैं—

साधक इसके बाद सत्य पदवी रूप संविद् धाम में आरूढ हो जाता है। यह सारा देह घटपट आदि समस्त विश्व संविद्रूप रह जाता है। उसके लिये संविद् के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रह जाता। ऐसे साक्षात्कार के अनन्तर साधक की सारी क्रिया स्पन्द रूप हो जाती है। यह स्पन्द रूपता 'घूर्णि' कहलाती है। यह महाव्याप्ति भी मानी जाती है ॥ १०४ ॥

इत्याद्युक्त्या परतत्त्वान्तर्विविक्षोर्लक्षणान्तराण्यपि संभवन्ति,—इति यावत् तानि नोदितानि तावत्कथमेतावतैव तदनुप्रवेशो भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

आत्मन्यनात्माभिमतौ सत्यामेव ह्यनात्मनि ॥१०५॥
आत्माभिमानो देहादौ बन्धो मुक्तिस्तु तल्लयः ।

इह खलु द्विधा बन्ध आत्मन्यनात्माभिमानोऽनात्मन्यात्माभिमानश्च,—इति तदेव चाणवं मलमुच्यते । यदाहुः

'स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥
(ई० प्र० ३।२।४) इति ।

तदेव च कार्ममायीयहेतुत्वात् इयतः संसारस्य मूलभूतम् । यदुक्तम्
'मलः कर्म निमित्तं तु नैमित्तिकमतः परम् ।' (स्व० ३।१७६) इति ।

प्रश्न उपस्थापित कर रहे हैं कि—

"शक्ति के तेज से दीप्तिमन्त हो कर कम्प, भ्रम, घूर्णि, प्लव, स्थैर्य, चिदैक्यानुभूति, आनन्द दिव्यदृष्टि, चमत्कृति और अनिर्वचनीयता ये दश भाव शिवत्व के अनुप्रवेश के समया साधक में परिलक्षित होते हैं। इनके संस्पर्श मात्र से संसार सागर से छुटकारा मिलता है।" इस वचन के अनुसार दश लक्षण ही कहे गये हैं। इसके अतिरिक्त अन्य लक्षण हो सकते हैं।

मुख्य बात तत्त्व में अणु के प्रवेश की है। प्रधानतया उसी की कथन कर रहे हैं—

बन्ध दो प्रकार के हैं। १—आत्म में अनात्म का अभिमान और २—अनात्म में आत्माभिमान। इस स्थिति को आणव मल कहते हैं। कहा गया है कि—

"बोध के स्वातन्त्र्य की हानि और स्वातन्त्र्य की न जानकारी ये दो स्थितियाँ स्वात्म स्वरूप के अपहस्तन से होती हैं। ये दोनों आणव मल हैं।" (ई० प्र० ३।७७") यह कार्म और मायीय मलों की हेतु हैं। संसार के बन्धन भी यही हैं। "स्वच्छन्द तन्त्र के ३।१७६ श्लोक से भी मल को कर्म का निमित्त माना गया है।"

अतश्च 'स एष मूले निहितः कुठारः' इतिवत् तत्रैव यतितव्यं येनाशेष-बन्धव्युपरमो भवेदिति भावः। तदेवेह प्राधान्येनोक्तम्, अतश्च मुख्यया वृत्त्या स एव बन्धस्तल्लय एव च मुक्तिरिति संक्षेपार्थः ॥ १०५ ॥

तल्लयश्च किमक्रमेणैव भवेदुतान्यथा ? इत्याशङ्क्याह

आदावनात्मन्यात्मत्वे लीने लब्धे निजात्मनि ॥ १०६ ॥
आत्मन्यनात्मतानाशे महाव्याप्तिः प्रवर्तते ।

प्रथमं हि 'अनात्मनि' देहादावात्माभिमानस्य विलये सति आत्मन्य-नात्मत्वाभिमानस्य नाशो भवेत् येन संविल्लक्षणे स्वस्मिन्नेवात्मन्यभिमानोदये सति महाव्याप्तिः प्रवर्तते, परं पारमेश्वर्यमुदियादित्यर्थः ॥ १०६ ॥

एवं प्रथमं विशिष्टापूर्वस्पर्शोदयात् आनन्दमात्रानुभवो न तु द्विविधस्यापि बन्धस्य व्युपरमः। तदनु देहादावात्माभिमानविगलेन आत्मन्येवात्माभिमान उदेति किंतु क्षणमात्रं पुनरपि व्युत्थानादौ तादवस्थ्यादनन्तरं देहादावात्माभि-मानस्य साक्षाद्विलयः, तदनु सत्संकारस्यापि यादवन्ते यथायथमात्मन्येवात्माभि-मानस्य प्ररोहान्महती व्याप्तिः प्रवर्तते,—इति पञ्चभिरेव लक्षणैः पर्याप्तम्-–इति तान्येवोपात्तानि न पुनरन्यानि तेषामत्रैवान्तर्भावात् ॥ १०६ ॥

इसकी जड़ में कुल्हाड़ी से आघात आवश्यक है। ऐसी साधना करनी चाहिये जिससे इनका विनाश हो सके। इनकी समाप्ति का नाम ही मुक्ति है ॥ १०५ ॥

बन्ध के विलय-क्रम और अक्रम की चर्चा कर रहे हैं—

इसकी पहली शर्त्त है अनात्म में आत्मभाव की समाप्ति। स्वात्म स्वरूप की उपलब्धि उसी का परिणाम है। आत्मभाव जाग्रत होने पर अनात्म भाव अनायास ही मिट जायेगा। इस अवस्था में ही 'महाव्याप्ति' का उदय होता है। स्वात्म संविद् वपुष् योगी में परम पारमैश्वर्य भाव उदीप्त हो जाता है।

यह ध्यान देने की बात है कि साधक यह स्थिति क्रमशः प्राप्त करता है। पहले बैठे, अभ्यास करे तभी भाग्यवश किसी अपूर्व का स्पर्श होता है। एक विलक्षण आनन्द मिलने लगता है। इसके बाद देहाध्यास समाप्त होता है। स्वरूप की उपलब्धि होती है। संस्कार शुद्ध हो जाते हैं। तब यह महाव्याप्ति की महनीय अवस्था आती है ॥ १०६ ॥

यदभिप्रायेणैवागमोऽपि,—इत्याह

आनन्द उद्भवः कम्पो निद्रा घूर्णिश्च पञ्चकम् ॥ १०७ ॥
इत्युक्तमत एव श्रीमालिनीविजयोत्तरे ।

यदुक्तं तत्र

'अनया शोध्यमानस्य शिष्यस्यास्य महामतिः ।
लक्षयेच्चिह्नसंघातमानन्दादिकमादरात् ॥
आनन्द उद्भवः कम्पो निद्रा घूर्णिश्च पञ्चकम् ।'
(मा० वि० ११।३५।) इति ॥१०७॥

ननु योगिनः समग्रलक्षणोदये महाव्याप्तिर्भवेत्,—इत्युक्तं, यदा पुनरेकैकमेव लक्षणमुदियात् तदास्य किं भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

प्रदर्शितेऽस्मिन्नानन्दप्रभृतौ पञ्चके यदा ॥ १०८ ॥
योगी विशेत्तदा तत्तच्चक्रेशत्व हठाद् व्रजेत् ।

यदा पुनरानन्दप्रभृतौ समनन्तरोक्ते पञ्चके योगी 'विशेत्' युगपत्तत्प्रवेश विरोधात् एकैकमेव लक्षणमनुभवेत् तदास्य हठात् स्वरसत एव तत्र तत्र नियते चक्रे त्रिकोणादावीशत्वं भवेत्, तत्तच्चक्रजयो जायते इत्यर्थः ॥ १०८ ॥

ननु पूर्णतास्पर्शादिवमनुभवोदयः,—इति पूर्णे सर्वस्य भावात् कथं नैयत्येनैवं भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

आगम प्रामाण्य उपस्थित कर रहे हैं—

श्रीमालिनी विजयोत्तर तन्त्र में आनन्द, उद्भव, कम्प, निद्रा और घूर्णि इन पाँचों की चर्चा है। "उसके ११।३५ वे श्लोक में वृत्ति शोधन के अनन्तर शिष्य में, साधक में ये लक्षण प्रकट होते हैं ॥ १०७ ॥

उक्त सभी लक्षणों से योगियों में महाव्याप्ति लक्षित होती है। यदि एक एक भी कहीं लक्षण दीख पड़े तो ? यही कह रहे हैं—

वस्तुतः एक समय में सब में प्रवेश हो ही नहीं सकता। एक एक लक्षण प्रकट हो, यह शुभ का संकेत है। क्रमशः मूलाधार त्रिकोण आदि में सिद्ध होने पर चक्र जय तो होता ही है ॥ १०८ ॥

यथा सर्वेशिना बोधेनाक्रान्तापि तनुः क्वचित् ।। १०९ ।।

किंचित्तु प्रभवति चक्षुषा रूपसंविदम् ।
तथैव चक्रे कुत्रापि प्रवेशात्कोऽपि संभवेत् ।। ११० ।।

यद्वत् सर्वव्यापिना बोधेन 'आक्रान्ता' तदभेदमापन्नापि तनुः क्वचिदेव किंचिदेव कर्तुं प्रभवति चक्षुषा रूपस्यैव न तु गन्धादेः, अर्थात् संनिकृष्ट एव देशे न तु विप्रकृष्टे संविदम्; एवं कुत्रापि त्रिकोणादौ प्रतिनियते चक्रे प्रवेशात् कोऽपि आनन्दादिरेकैक एवानुभवविशेषः संभवेत् न तु सर्वः,–इति युक्तमुक्तं 'तत्तच्चक्रेशत्वं हठाद् व्रजेत्' इति ॥ १०९-११० ॥

ननु किं कस्य चक्रम् ? इत्याशङ्क्याह

आनन्दचक्रं वह्न्यश्रि कन्द उद्भव उच्यते ।
कम्पो हृत्तालु निद्रा च घूर्णिः स्यादूर्ध्वकुण्डली ।। १११ ।।

'वह्न्यश्रि' इति त्रिकोणं योगिनीवक्त्रमित्यर्थः । 'ऊर्ध्वकुण्डली' इति द्वादशान्तः । एषां चाभेदोपचारात् सामानाधिकरण्येन निर्देशः ॥ १११ ॥

पूर्णानन्द का अनुभव तो पूर्णता के स्पर्श होने पर ही होता है । किन्तु पूर्णता में सभी भावों का समावेश तो रहता ही है । इस तरह किसी एक नियत चक्र के वशीभाव से ऐसा कैसे ? इसी का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

जैसे शरीर को लीजिये, माना कि इसमें सर्वव्याप्ति का बोध जागृत है फिर भी रहेगा तो यह अपनी ही सीमा में । आँख रूप का ही दर्शन करेगी–गन्ध का तो नहीं कर सकेगी। इसी तरह नियत चक्र में रह कर उसी को विजित किया जा सकता है ॥ १०९ ॥

कौन चक्र किसका है ? यह स्पष्ट कर रहे हैं—

मूलकन्द में स्थित आनन्द चक्र त्रिकोणात्मक है। उद्भव इससे ही सम्बन्धित है । कम्प हृदय और तालु गत है । निद्रा और घूर्णि ऊर्ध्व कुण्डली ही हैं। ऊर्ध्व कुण्डली को द्वादशान्त कहते हैं । इनमें अभेद के उपचार से सामानाधिकरण्य के कारण प्रथमान्त प्रयोग है ॥ १११ ॥

नन्वेषामेवं प्रतिनियमे किं प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह

एतच्च स्फुटमेवोक्तं श्रीमत्त्रैशिरसे मते ।

तत्र चैतत् षष्ठसप्तमयोरेवानन्तप्रमेयपुरःसरीकारेण बहुना ग्रन्थेन कटाक्षितम्—इति ग्रन्थविस्तरभयात् न संवादितम्,—इति तत एवावधार्यम् ॥

तदेवमियतोपायजातेन समासादनीयस्य परस्य तत्त्वस्य नैमित्तिकं व्यपदेशान्तरमप्यस्ति,—इत्याह

एवं प्रदर्शितोच्चारविश्रान्तिहृदयं परम् ॥११२॥
यत्तदव्यक्तलिङ्गं नृशिवशक्त्यविभागवत् ।

'एवम्' उक्तेन प्रकारेण प्रदर्शिता येयमुच्चारादीनां विश्रान्तिः, तस्या यत् 'परं हृदयं' योगिनीहृदयादिशब्दव्यपदेश्यमहंपरामर्शमयं संवित्स्पन्दात्मकं प्रकृष्टं सतत्त्वं तन्नरशक्तिशिवाविभागवत्त्वादव्यक्तलिङ्गमुच्यते, इत्यर्थः ॥११२॥

नन्वेवं व्यपदेशस्य किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

अत्र विश्वमिदं लीनमत्रान्तःस्थं च गम्यते ॥११३॥
इदं तल्लक्षणं पूर्णशक्तिभैरवसंविदः ।

चशब्दो भिन्नक्रमो हेतौ । यतो 'ऽत्र' अहंपरामर्शमये परस्मिन् हृदये नरशक्तिशिवात्मकम् 'इदं विश्वं लीनम्' अविभागेनावस्थितम्,—इति यावत् ।

इसका प्रमाण दे रहे हैं—

श्री त्रैशिरस्मत में यह स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त है । वहाँ अनन्त प्रमेयों के साथ छठें और सातवें चिह्नों का भी निर्देश है । अनन्त उपायों से प्राप्तव्य परतत्त्व का नैमित्तिक नामान्तर भी वहाँ दिये गये हैं । जैसे—इस प्रकार उच्चार-विश्रान्ति के विमर्श रूप हृदयात्मक संवित् स्पन्द को 'अव्यक्त लिङ्ग' कहा गया है । यह नरशक्ति शिवात्मक होता है ॥ ११२ ॥

यह कहने का कारण है । वही कह रहे हैं—

इस अहं परामर्शमय 'पर' हृदय में नरशक्ति शिवात्मक यह विश्व लीन है । ऐसे उसमें मिला है मानो दूध पानी मिले हों । वहाँ लाख और लकड़ी के जोड़ सा मिलाप नहीं है । उस पूर्ण शक्तिमन्त भैरव संविद् का यही लक्षण है कि विश्व उसी में लीन रहता है और वहीं से उदित भी होता रहता है ।

न चैतज्जतुकाष्ठवत् अपि तु क्षीरनीरवदित्युक्तम् 'अत्रान्तःस्थं च गम्यते' इति, ऐकात्म्यमापन्नं सत् प्रतीयते इत्यर्थः । इदमेव हि तन्निरूपितस्वरूपायाः परस्याः संविदो लक्षणं यत् तत एव विश्वमुदेति तत्रैव च विलीयते इति । यदुक्तम्

'लिङ्गशब्देन विद्वांसः सृष्टिसंहारकारणम् ।
लयादागमनाच्चाहुर्भावानां पदमव्ययम् ॥ इति ॥११३॥

नन्विह त्रिविधं लिङ्गमुक्तं व्यक्तं व्यक्ताव्यक्तमव्यक्तं च—इति, तत्राव्यक्तं परैव संवित्,—इत्युक्तम् । अन्यद्द्वयं पुनः किं तस्या एव स्फारो न वा ? इत्याशङ्क्याह

देहगाध्वसमुन्मेषे समावेशस्तु यः स्फुटः ॥११४॥
अहन्ताच्छादितोन्मेषिभावेदंभावयुक् स च ।
व्यक्ताव्यक्तमिदं लिङ्गं मन्त्रवीर्यं परापरम् ॥११५॥
नरशक्तिसमुन्मेषि शिवरूपाद्विभेदितम् ।

'देहगाध्वसमुन्मेषे' देहादावात्माभिमाने सत्यपि यः पुनरपरिम्लानः परतत्त्वान्तःसमावेशः तदिदं व्यक्ताव्यक्तं लिङ्गम्—इति सम्बन्धः । ननु यद्येवं तद्व्यक्तादस्य को विशेष ? इत्याशङ्क्याह अहन्तेत्यादि । अहन्ताच्छादित 'उन्मेषिषु' बहिरुल्लसत्सु भावेषु योऽसौ 'इदंभाव' इदन्ता तेन युज्यते, इदमहमिति प्रतीतिरूप इत्यर्थः । अत एवास्य विद्यादशावदहन्तेदन्तयोः सामानाधिकरण्यात्

कहा गया है कि—

"विज्ञ लोग भावों के लय होने और आगमन के कारण उसे अव्यय उद्गम स्थान रूप मानते हैं । सृष्टि और संहार का वह कारण है । वही लिङ्ग है ।" लिङ्ग की यह नैरुक्तिक व्याख्या है ॥ ११३ ॥

व्यक्त, अव्यक्त और व्यक्ताव्यक्त तीन लिङ्ग होते हैं । अव्यक्त लिङ्ग ही परा संवित् है । अन्य दो लिङ्गों के विषय में विचार प्रकट कर रहे हैं—

शरीर अध्वा का ही उन्मेष है । इसीलिये इसमें आत्मभावाभिमान भी होता है । इसमें नित्य विकसित स्वात्मसमावेश भी होता है । यही व्यक्ताव्यक्त लिङ्ग है । अलक्षित अहन्ता से आच्छादित होते हुए भी इससे सतत इदन्ता का

व्यक्ताव्यक्तत्वम्, अत एव शुद्धाहंपरामर्शरूपत्वाभावात् शिवरूपाद्विभेदितं सत् नरशक्तिभ्यां समुन्मेषणशीलं नरशक्तिरूपमिति यावत्। एवमपि परापरं शक्तिप्रधानमित्यर्थः। नरप्रधानं हि व्यक्तं लिङ्गं भविष्यतीत्याशयः। अत एव मन्त्रवीर्यम्। एतद्दशामधिशयानो हि मन्त्रः स्वोचितफलदानसामर्थ्यभाग्भवतीति भावः। यदुक्तम्

'न पुंसि न परे तत्त्वे शक्तौ मन्त्रं नियोजयेत्।
पुंस्तत्त्वे जडतामेति परे तत्त्वे तु निष्फलः॥
शक्तौ मन्त्रो नियुक्तस्तु सर्वकर्मफलप्रदः।' इति ॥११४-११५॥

न केवलं व्यक्ताव्यक्तमेव लिङ्गमस्याः स्फारो यावत् व्यक्तमपि—इत्याह

यन्न्यक्कृतशिवाहन्तासमावेशं विभेदवत् ॥११६॥
विशेषस्पन्दरूपं तद् व्यक्तं लिङ्गं चिदात्मकम्।

यन्नाम गुणीकृतपराद्वयरूपाहन्तापरामर्शम्, अत एव 'विभेदवत्' बहीरूपतया स्फुरत् विशेषस्पन्दरूपम्,—इति विमर्शनं तदव्यक्तं लिङ्गमुच्यत इत्यर्थः। एवमपि चिदात्मकम्, अन्यथा हि एतन्न किंचिद्भवेदिति भावः ॥११६॥

बाह्य उन्मेष लक्षित है। जैसे विद्यादशा की अनुभूति होती है, उसी तरह यहाँ भी अहन्ता और इदन्ता का सामानाधिकरण्य है। व्यक्त भी है और अव्यक्त भी। यह ध्यान देने की बात है कि शुद्ध अहं परामर्श यहाँ नहीं होता। इसलिये शिव रूप से यह भिन्न है, नरता और शक्तिमत्ता से उन्मेष शील है। अतएव पर और अपर दोनों शक्तियों का यहाँ एक स्तरीय प्राधान्य ही है। यह मन्त्रवीर्यात्मक भी है। कहा गया है कि—

"पुरुष तत्त्व और पर तत्त्व में मन्त्र प्रयोग निष्फल होता है। क्योंकि पुरुष में मन्त्र योग से जड़ता आती है और पर तत्त्व में यह व्यर्थ होता है। इसीलिये मन्त्र का विनियोजन शक्ति में ही करते हैं। तभी वह मन्त्र पूर्ण फल प्रद होता है ॥ ११४–११५ ॥

व्यक्त लिङ्ग के विषय में कह रहे हैं—

भेद भिन्न बाह्य स्पन्द जहाँ मुख्य और पराद्वय रूप अहन्ता का पर परामर्श गौण हो गया है, ऐसा लिङ्ग ही व्यक्त लिङ्ग है। बाह्य स्पन्दित होने पर भी यह चिदात्मक ही होता है ॥ ११६ ॥

न केवलमेषां स्वरूपत एव भेदो यावत् फलतोऽपि,—इत्याह

व्यक्तात्सिद्धिप्रसवो व्यक्ताव्यक्ताद्द्वयं विमोक्षश्च ।
अव्यक्ताद्बलमाद्यं परस्य नानुत्तरे त्वियं चर्चा ॥ ११७ ॥

यदुक्तम्

'प्रतिमापूजनाद्भुक्तिर्मुक्तिर्लिङ्गार्चनात् सदा ।
मुखलिङ्गार्चनात्पुंसां भुक्तिमुक्त प्रसिद्ध्यतः ॥ इति ।

'बलमाद्यं परस्य' इति अव्यक्तं व्यक्ताव्यक्तस्य तद् व्यक्तस्य । ननु यद्येवं तदेतद्भित्तिभूते सर्वसर्वात्मकेऽनुत्तरे धाम्नि पुनः का वार्ता ? इत्याशङ्क्याह 'नानुत्तरे त्वियं चर्चा' इति तत्र हि पारिपूर्ण्येन नैराकाङ्क्ष्योत्पादात् को नाम सिद्ध्यादिप्रविभाग,—इति भावः ॥ ११७ ॥

नन्वाद्यमेव परस्य विश्रान्तिस्थानं न तु विपर्ययः,—इत्यत्र किं निबन्धनम् ? इत्याशङ्क्याह

आत्माख्यं यद् व्यक्तं नरलिङ्गं तत्र विश्वमर्पयतः ।
व्यक्ताव्यक्तं तस्माद्गलिते यस्मिंस्तदव्यक्तम् ॥ ११८ ॥

यन्नाम समनन्तरोक्तस्वरूपं नरप्रधानत्वात् आत्माख्यमिदंविमर्शास्पदं व्यक्तं लिङ्गं तत्र आत्माख्ये लिङ्गे 'यदिदं तदहमेव' इत्येवंरूपतया विश्वं विलापयतो योगिनोऽहन्तेदन्तयोः सामानाधिकरण्येन स्फुरणात् व्यक्ताव्यक्तं

स्वरूप भेद के साथ यहाँ फल भेद भी होता है। यही कह रहे हैं—

व्यक्त लिङ्ग से और व्यक्ताव्यक्त लिङ्ग से सिद्धि और उसका प्रसव होता है। अव्यक्त लिङ्गार्चन से मुक्ति मिलती है। अव्यक्त ही व्यक्ताव्यक्त का बल है और व्यक्ताव्यक्त व्यक्तलिङ्ग का बल है। अनुत्तर दशा में निराकाङ्क्ष परिपूर्णता होती है। वहाँ सिद्धि आदि को कोई चर्चा भी नहीं की जा सकती ॥ ११७ ॥

पहला लिङ्ग दूसरे का बल है—इसका प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं—

इदं विमर्शात्मिक नरशक्ति शिवात्मक व्यक्त लिङ्ग ही आत्म लिङ्ग है। इसमें 'यह मैं ही हूँ' यह भाव होता है और विश्वरूप इदं का आत्मरूप अहं में विलय होता है। इस तरह इसी में व्यक्ताव्यक्त भाव भी आ जाता है। इस

लिङ्गं, तस्माद् व्यक्ताव्यक्तादपि लिङ्गात् तस्मिन् विश्वस्मिन् 'गलिते'ऽहंपरामर्श-शेषतामापन्ने तदव्यक्तं लिङ्गं भवेदित्यर्थः ॥ ११८ ॥

नन्वनेन किमुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

तेनात्मलिङ्गमेतत् परमे शिवशक्त्यणुस्वभावमये ।
अव्यक्ते विश्राम्यति नानुत्तरधामगा त्वियं चर्चा ॥ ११९ ॥

इत्थम् 'एतत्' नरप्रधानं व्यक्तमात्मलिङ्गम् अर्थात् नरशक्तिप्रधाने व्यक्ताव्यक्ते लिङ्गे विश्रान्तिमासाद्य, शिवप्राधान्येऽपि गर्भीकृतावान्तररूपत्वात् नरशक्तिशिवात्मनि, अत एव 'परमे' लिङ्गान्तरवैलक्षण्यादुत्कर्षभाजि अव्यक्ते लिङ्गे 'विश्राम्यति' तत्तादात्म्येन प्रस्फुरतीत्यर्थः। ननु यथा व्यक्तादिलिङ्ग-द्वयमव्यक्ते विश्राम्यति तथैव तदप्यनुत्तरे धाम्नि,—इति कस्मान्नोक्तम् ? इत्याशङ्क्याह 'नानुत्तरधामगा त्वियं चर्चा'—इति। तद्धि अनुत्तरमेव धामा-व्यक्तादिलिङ्गत्रयात्मना प्रस्फुरति,—इति सदैव तत्र तद्विश्रान्तमन्यथा ह्यस्य भवनमेव न स्यात् ॥ ११९ ॥

अत एवाह

एकस्य स्पन्दनस्यैषा त्रैधं भेदव्यवस्थितिः ।

इह खलु 'एकस्य' प्रधानस्यानुत्तरात्मनो योगिनीहृदयादिशब्दव्यपदेश्यस्य 'स्पन्दनस्यैषा' व्यक्तादिलिङ्गात्मिका त्रिविधेन भदेन 'व्यवस्थितः' परिस्फुरणं न तु तदतिरिक्तमेतत् किंचिदित्यर्थः।

व्यक्ताव्यक्त से भी विश्व के विगलित हो जाने पर अहं परामर्श शेष अव्यक्त लिङ्ग ही स्फुरित होता है ॥ ११८ ॥

इससे क्या फलितार्थ हुआ ? इस पर कह रहे हैं–

नरप्रधान यह आत्मलिङ्ग नरशक्ति प्रधान व्यक्ताव्यक्त लिङ्ग में और वह भी नरशक्ति शिवात्मक अव्यक्त लिङ्ग में विलीन-विश्रान्त हो जाता है। ऐसी चर्चा अनुत्तर धाम में नहीं होती क्योंकि उसी में इन तीनों का स्फुरण होता है ॥ ११९ ॥

इसलिये कह रहे हैं कि—

एक की ही यह विविध भेद भिन्नता दीख पड़ती है। उसके अतिरिक्त इनका अस्तित्व ही नहीं हो सकता। इस लिए इस त्रैविध्य के चक्र में न

अतश्च व्यक्तादिलिङ्गपरिहारेणात्रैव विश्रान्तिः कार्या,--इत्याह

अत्र लिङ्गे सदा तिष्ठेत् पूजाविश्रान्तितत्परः ॥ १२० ॥

यदुक्तम्

'मृच्छैलधातुरत्नादिभवं लिङ्गं न पूजयेत्।
यजेदाध्यात्मिकं लिङ्गं यत्र लीनं चराचरम् ॥
वहिर्लिङ्गस्य लिङ्गत्वमनेनाधिष्ठितं यतः।'
(मा० वि० १८।४२) इति ॥ १२० ॥

नन्वत्र विश्रान्त्या किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

योगिनीहृदयं लिङ्गमिदमानन्दसुन्दरम् ।
बीजयोनिसमापत्त्या सूते कामपि संविदम् ॥ १२१ ॥

इदं स्पन्दनात्म योगिनीहृदयाभिधेयमानन्दमयं लिङ्गं बीजयोन्यात्मक-शिवशक्त्यैकात्म्येन 'कामपि संविद सूते' परसंविदावेशमाविष्कुर्यादित्यर्थः। अथ च चर्याक्रमेणाप्येवं परसंविदनुप्रवेशो भवेदित्यपि कटाक्षितम्। यदुक्तम्

'त्रिकोणमण्डलं पूज्यं शक्तित्रयसमन्वितम्।
तन्मध्ये चेतनं चिन्त्यं लिङ्गं वै पश्चिमामुखम् ॥' इति। तथा

पड़कर उसी सर्वात्मिक लिङ्ग में विश्रान्ति ही श्रेयस्कर है। उसी में पूजा परायणता उचित है। मालती विजयोत्तर १८।४२ में कहा गया है कि

"मिट्टी, प्रस्तर, धातु अथवा रत्न आदि किसी लिङ्ग की पूजा नहीं करनी चाहिए। केवल आध्यात्मिक लिङ्ग की ही पूजा उचित है। उसी में चराचर विश्रान्त है। बाह्य लिङ्गों की शक्ति भी उसी से अधिष्ठित है।" ॥ १२० ॥

उसमें विश्रान्ति के परिणाम की चर्चा कर रहे हैं—

यह लिङ्ग आनन्दमयलिङ्ग है। शास्त्र की भाषा में उसे योगिनी हृदय कहते हैं। यह लिङ्ग बीजयोनि रूप होता है। शिवशक्त्यात्मक होता है। इसके अर्चन से पर संविद् आवेश की सिद्धि होती है।

"शक्तित्रय से समन्वित त्रिकोण मण्डल की पूजा करनी चाहिए। उसके बीच में पश्चिमाभिमुख चेतन लिङ्ग का चिन्तन श्रेयस्कर है।" तथा

'आनन्दस्यन्दि यद्गीतं सर्वप्रसवकारणम् ।
उपस्थाख्येयमेतत्तु सौषुम्नं रूपमुच्यते ॥' इति ॥१२१॥

नन्वत्रैव विश्रान्त्या कथमेवं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

अत्र प्रयासविरहात्सर्वोऽसौ देवतागणः ।
आनन्दपूर्णे धाम्न्यास्ते नित्योदितचिदात्मकः ॥१२२॥

यदुक्तम्

'त्रिकोणे देवताः सर्वा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।' इति ॥१२२॥

न केवलमत्र सर्व एव देवतागण आस्ते यावत् पारमेश्वरी शक्तिरपि—इत्याह

अत्र भैरवनाथस्य ससंकोचविकासिका ।
भासते दुर्घटा शक्तिरसंकोचविकासिनः ॥१२३॥

अत्रानन्दपूर्णे धाम्नि 'असंकोचविकासिनो' निस्तरङ्गजलधिप्रख्यस्य प्रकाशस्य 'ससंकोचविकासिका' सदैव सृष्टिसंहारमयी, अत एव दुर्घटकारिणी स्वातन्त्र्याख्या शक्तिः 'भासते स्वात्मैकात्म्येन प्रथते, यन्माहात्म्यादियान् विश्वस्फारः सदैव सृष्टिसंहारदशाधिशायितामेतीत्यर्थः ॥१२३॥

"आनन्दरस की वर्षा करता है। समस्त सर्जन का हेतु है। उसे ही उपस्थ कहते हैं। सौषुम्न आनन्द का यह मुख्य धाम है।"

चर्याक्रम में उक्त दोनों उद्धरण यही दिशा निर्दिष्ट करते हैं ॥१२१॥

वहाँ विश्रान्ति से ऐसा कैसे होता है ? यही कह रहे हैं—

आगम में कहा गया है कि "ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर त्रिदेव इस त्रिकोण में ही विश्राम करते हैं।" इसी उक्ति की समर्थिका इस कारिका का अवतरण करते हैं। अनायास ही इस आनन्द मन्दिर में नित्योदित चिदात्मक देव-समुदाय निवास करता है ॥ १२२ ॥

देव समुदाय के अतिरिक्त परमेश्वर की शक्ति का भी वहाँ निवास बता रहे हैं—

भैरवनाथ विश्वनाथ की अघटित घटना पटीयसी संकोच विकासमयी शक्ति भी वहाँ शाश्वत भासित है। उसी से सृष्टि-संहार का यह चिरन्तन-चक्र निरन्तर चल रहा है ॥ १२३ ॥

तदाह

एतल्लिङ्गसमापत्तिविसर्गानन्दधारया ।
सिक्तं तदेव सद्विश्वं शश्वन्नवनवायते ॥१२४॥

एतस्मिन्ननुत्तरधामात्मनि समनन्तरोक्ते 'लिङ्गे समापत्तिः' ऐकात्म्यं यस्यैवंविधो यो 'विसर्गः' स्वातन्त्र्याख्या कौलिकी शक्तिस्तस्य या 'आनन्दधारा'

> **'विसर्गता च सैवास्या यदानन्दोदयक्रमात् ।**
> **स्वष्टीभूतक्रियाशक्तिपर्यन्ता प्रोच्छलत्स्थितिः ॥'**
> (तं० ३।१४४)

इत्याद्युक्त्यानन्दोदयक्रमेणोच्छलत्ता तया 'सिक्तं' बहिरुच्छूनतामापादितं सत् तत्कालमेव शश्वद्विश्वं 'नवनवायते' सदैव सृष्टिसंहारपात्रतामासादयतीत्यर्थः । अथ च चर्याक्रमेण एतयोर्वज्रपद्मादिशब्दव्यपदेश्योर्लिङ्गयोः 'समापत्त्या' संभोगेन विसर्गरूपा येयमानन्दधारा तया 'सिक्तं' दत्तबीजं सत् स्त्रीपुमाद्यात्म विश्वमनवरतमुत्पद्यत इत्यर्थः ॥१२४॥

ननु भेदप्राणविकल्पसंस्काराधायित्वाद्बुद्धिध्यानादीनां स्पष्टमेवाणवोपायत्वम्,—इति युक्तमत्र तदभिधानं, परतत्त्वान्तः प्रवेशलक्षणः पुनरयमुपायो निर्विकल्पस्वरूपत्वान्न तथा,—इति कथमस्यात्राभिधानम् ? इत्याशङ्क्याह

वही कह रहे हैं—

यह अनुत्तर परमधाम इन त्रिविध लिङ्गों के उल्लास की विसर्गात्मक अमृतमयी आनन्दधारा से शाश्वत सिक्त है । इसी ग्रन्थ के ३।१४४ में भी इसका संकेत है । यही कारण है कि यह विश्व नित्य अभिनव और रमणीय बना रहता है ।

चर्या क्रम में भी लिङ्गयोनि समापत्ति से रेतस विसर्ग की आनन्दधारा बहती है । उसी से सिक्त होकर स्त्रीपुरुष रूप अभिनव सृष्टि अनवरत उल्लसित रहती है ॥ १२४ ॥

बुद्धि और ध्यान आणवोपाय रूप हैं । इनसे विकल्प संस्कारवान् होते हैं । परतत्त्व में अनुप्रवेश रूप उपाय अनुत्तर उपाय है । यहाँ उसकी चर्चा का कारण स्पष्ट कर रहे हैं—

अनुत्तरेऽप्युपायोऽत्र ताद्रूप्यादेव र्वाणतः ।
ज्वलितेष्वपि दीपेषु घर्मांशुः किं न भासते ॥१२५॥

'अत्र' आणवोपायप्रकाशनपरेऽप्याह्निके साक्षादनुत्तरनिमित्तं परतत्त्वान्तःप्रवेशात्मायम् 'अभ्युपायस्ताद्रूप्यात्' अनुत्तराभ्युपायरूपत्वादेवोक्तः। अत्र दृष्टान्तः, यथा तत्तदर्थप्रकाशनाय परिमितप्रकाशेषु दीपादिषु सत्स्वपि महाप्रकाशस्य धर्मांशोरवस्थाने न कश्चिद्दोषः, एवमत्रापीति तात्पर्यार्थः ॥१२५॥

नन्वेवं त्रयाणामप्याणवादीनामुपायानां सांकर्येणैवोपदेशः कार्यः—इति किं पृथक् पृथगाह्निकपरिकल्पनेन ? इत्याशङ्क्याह

अर्थेषु तद्धोगविधौ तदुत्थे
दुःखे सुखे वा गलिताभिशङ्कम् ।
अनाविशन्तोऽपि निमग्नचित्ता
जानन्ति वृत्तिक्षयसौख्यमन्तः ॥१२६॥

'अर्थेषु' नीलादिषु 'तद्धोगविधौ' नीलादिबुद्धौ 'तदुत्थे' नीलादिकृते दुःखे सुखे वेत्येवमर्थक्रियापर्यन्तं प्राप्तप्रतिष्ठाने बाह्येऽर्थजाते 'निमग्नचित्ताः' तत्तद्धानादानादि कुर्वाणा अपि तत्र 'गलिताभिशङ्कमनाविशन्तः' स्वप्नार्थवदसदेवेदमिति निःसंदेहं तद्वैवश्यमभजमाना योगिनो वृत्तिक्षयसौख्यमन्तर्जानन्ति

आणवोपाय प्रकाशन के इस प्रकरण में परतत्त्वान्तः प्रवेश रूप जिस उपाय की चर्चा यहाँ की गयी है, वह मात्र ताद्रूप्य के कारण है। जैसे प्रमेय प्रकाशन के लिए दीप जलाये ही जाते हैं। वहाँ यदि दिवस की रश्मियों का प्रकाश हो जाय वह अर्थप्रकाशन में बाधक नहीं होता ! ॥ १२५ ॥

तब तो यही उचित है कि तीनों उपायों का सहकथन किया जाय ? फिर अलग-अलग आह्निक परिकल्पना क्यों ? इस सम्बन्ध में कह रहे हैं—

नील-पीत सुख दुःख आदि पदार्थों की नील आदि की प्रमा से उनका ज्ञान होता है। उसकी प्राप्ति पर्यन्त प्रमाता बाह्यवृत्ति में ही डूबते-उतराते रहते हैं। उन्हें उनमें कोई शङ्का भी नहीं होती। यद्यपि उनमें उनका प्रवेश नहीं रहता फिर भी प्रभावित रहते ही हैं। वे विवश होते हैं। जब बाह्यवृत्ति नष्ट होती है, तो भीतर ही भीतर वे उस सौख्य का अनुभव करते हैं। कहा गया है—

'अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः परमं पदमश्नुते ।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या बहिस्तत्तदव्यवहारपरत्वेऽपि स्वात्ममात्रविश्रान्त्या परं चमत्कारातिशयमनुभवन्तीत्यर्थः । अतश्च भेदमयत्वेऽप्यभेदरूपत्वमस्य,—इत्यामुखे भेदस्यावस्थानादिहैतदभिधानम,—इति न कश्चिद्दोषः । एतदेव हि योगिनः परं विस्फूर्जितं यद्भेदमयत्वेऽप्यभेदरूपतयावस्थानमिति ॥ १२६ ॥

तदाह

सत्येवात्मनि चित्स्वभावमहसि स्वान्ते तथोपक्रियां
तस्मै कुर्वति तत्प्रचारविवशे सत्यक्षवर्गेऽपि च ।
सत्स्वर्थेषु सुखादिषु स्फुटतरं यद्भेदबन्ध्योदयं
योगी तिष्ठति पूर्णरश्मिविभवस्तत्तत्त्वमाचीयताम् ॥ १२७ ॥

इह खलु चित्स्वभावत्वार्कादिप्रकाशविलक्षणे परप्रमातृरूपे पूर्णे आत्मन्येव सति स्वात्मसाक्षात्कारावसरे चिदेकरूपत्वादविभागतया तथा 'तस्मै' निरूपित

"अन्तर्लक्ष्य और बाहरदृष्टि रखनेवाले योगी परम पद प्राप्त करते हैं।" इस उक्ति के अनुसार व्यवहार परायण रहते हुए भी स्वात्ममात्र में विश्रान्ति-सुख का वे अनुभव करते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि भेद अवस्था में भी अभेद भावना का लाभ योगी को या साधक को सामान्य रूप प्राप्त होता है। भेदमयता में भी अभेद रूपात्मक स्थिति की ऊर्जा से योगिवर्य विभूषित रहते हैं ॥१२६॥

वही कह रहे हैं—

'चित्' तत्त्व का प्रकाश ही 'स्व'भाव है। इस प्रकाश की परिभाषा सूर्य के जड़ प्रकाश में चरितार्थ नहीं होती। पर-प्रकाश रूप ही आत्मतत्त्व है। इसी तत्त्व के साक्षात्कार में योगी संलग्न रहता है। आत्मानुभूति के परम पावन पीयूष रस का पान करता है। श्रीमदभिनवगुप्त साधकों का आंवाहन कर उन्हें प्रोत्साहित कर रहे हैं कि इसी अमृत रस का पान सभी करें।

अभेद की चिन्मय दशा में स्वात्मसाक्षात्कार पहली और सर्वोत्कृष्ठ अवस्था की अनुभूति है। दूसरी अवस्था भेदाभेदमयी है। इसमें इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से ज्ञत्व कर्तृत्व की संकुचित अनुभूति होती है। स्वान्तःकरण की वृत्तियों के संचार से बुद्धिप्रमाता विवश हो जाता है।

स्वरूपायात्मने संकुचत्तावभासनेन नियतज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणाम् 'उपक्रियां' कुर्वंति 'स्वान्ते'ऽन्तःकरणवर्गे सति बुद्धिप्रमातृदशायामासूत्रितविभागतया तथा 'तस्य' स्वानन्दस्य योऽसौ 'प्रचार' इत्थमहमिदं वेद्मीत्याद्यात्म प्रकृष्टे चरणं 'तद्विवशे' तदायत्ते इत्यर्थः। यन्नाम न हि बुद्ध्यादावुपारूढं तत्र बाह्येन्द्रियाणि किं विदध्यु-रित्यभिप्रायः। एवंरूपे चक्षुरादीन्द्रियकलापे सति देहादिप्रमातृदशायां विभक्ततया विद्यमानेषु सुखादिषु इष्टानिष्टरूपेष्वर्थेषु,—इत्येवमभेदभेदाभेदभेदात्मनि कक्ष्या-त्रयेऽपि स्फुटतरं कृत्वा 'भेदवन्ध्योदयं' निर्विशेषं यद्योगो तिष्ठति तदेव नाम भैरवमुद्रानुप्रवेशात्म 'तत्त्वं' पारमार्थिकं रूपमाचीयतां ग्राह्य ग्राहकाद्यात्मक-बाह्यक्षोभमयत्वेऽपि तदासङ्गमपहाय स्वात्ममात्रनिष्ठ एवावतिष्ठेतेत्यर्थः। अत एव बाह्याकाङ्क्षासंक्षयात् सदैव प्रक्षीणनिखिलेन्द्रियवृत्तितया 'पूर्णरश्मिविभव' इत्युक्तम्। यद्गीतम्

'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमव्ययमश्नुते ॥'
(गी० ५।२१) इति ॥ १२७ ॥

एवमेतदुपसंहृत्य तदानन्तर्येणोद्दिष्टस्य करणस्य प्रविवेचनं प्रतिजानीते

इत्युच्चारविधिः प्रोक्तः करणं प्रविविच्यते ।

भेदावस्था की तीसरी देह प्रमाता की अनुभूति है। इसमें सुख दुःख रूप इष्ट-अनिष्टादि अनुभूतियाँ संचार करती हैं। ये तीन दशायें साधकों की साधना के क्रम में होती हैं। वास्तव में सुख तो तीनों में है पर भेदानुभूतियाँ जब बन्ध्या बन जाती हैं, उस समय एक अनिर्वचनीय अमृत स्रोतस्विनी का उद्गम हृदय हिमालय से हो जाता है। योगी का प्रवेश भैरव-महाभाव में हो जाता है। बाह्य वृत्तियों के समाप्त हो जाने पर साधक की पूर्णता प्रकाश का पुंज बनकर सार्वात्म्य के ऐश्वर्य से ओत-प्रोत हो जाती है। ब्रह्मद्रव का उद्रेक हो जाता है। उसी पूर्ण तत्त्वामृत का पान सभी करें। श्रीमद्भगवद्गीता ५।२१ में यही बात भगवान् श्रीकृष्ण ने कही है—

"बाह्यविषयों में आसक्ति रहित आत्म-साक्षात्कार में योगी जिस रस का आस्वादन करता है, वही अक्षय सुख का अमृत है। वह ब्रह्म योग में युक्त महात्मा पुरुष है" ॥ १२७ ॥

उच्चार एव हि प्राणचिदात्मना प्रथमं द्विविधः। तत्र चिदात्मापि चित्प्राधान्येन विमर्शप्राधान्येन च भवन् द्विधा भवति,—इति स एव त्रिविधः। तत् परतत्त्वान्तः प्रवेशात्मनोऽप्युपायस्य तद्भेदत्वादुच्चारात्मकत्वमेव,—इति युक्तमुपसंहृतम् 'उच्चारविधिः प्रोक्त इति ॥

तच्च करणं न स्वोपज्ञमेवास्माभिः क्रियते, इत्याह

तच्चेत्थं त्रिशिरःशास्त्रे परमेशेन भाषितम् ॥ १२८ ॥
ग्राह्यग्राहकचिद्व्याप्तित्यागाक्षेपनिवेशनैः ।
करणं सप्तधा प्राहुरभ्यासं बोधपूर्वकम् ॥ १२९ ॥
तद्व्याप्तिपूर्वमाक्षेपे करणं स्वप्रतिष्ठता ।

'चित्' संवित्तिः 'निवेशनं' संनिवेशः। इह ग्राह्यादिभिः सप्तभिः प्रकारै-र्भिन्नं करणं नाम बोधपूर्वकमभ्यासं प्राहुः, बोध्यन्यग्भावेन स्वात्मैकतानतामापन्नं बोधमेव कथितवन्त इत्यर्थः। तद्धि करणं

'सोऽहं ममायं विभव इत्येवं परिजानतः ।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता ॥'
(ई० प्र० ४।३।१२)

आणवोपाय में उच्चार के बाद करण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अब 'करण' के विवेचन भी प्रतिज्ञा कर रहे हैं—

चित्प्राधान्य और विमर्श प्राधान्य की दृष्टि से चिदात्मक उच्चार दो प्रकार का और प्राणोच्चारको मिला कर उच्चार तीन प्रकार का होता है। इन तीनों विधियों की व्याख्या हो चुकी। अब 'करण' रूप दूसरे आणवोपाय का वर्णन शुरू कर रहे हैं। यह प्रविभाग त्रिशिरः शास्त्र में परमेश्वर द्वारा प्रोक्त है ॥ १२८ ॥

ग्राह्य, ग्राहक, चित् (संवित्) व्याप्ति, त्याग, आक्षेप और निवेशन भेद से करण सात प्रकार का होता है। बोध पूर्वक अभ्यास ही 'करण' है। बोध के प्रधान और बोध्य के गौण हो जाने पर "मैं वह हूँ—जिसका यह विश्व का ऐश्वर्य है—इस बोध के रहने पर भी विश्वात्मक विकल्प का प्रसार उसे प्रभावित करता है। महेशता का संस्कार सुप्त नहीं होता" । ई. प्र. ४।३।१२

इत्याद्युक्तनीत्या व्याप्तिपूर्वं विश्वस्याक्षेपे 'स्वप्रतिष्ठता' स्वात्मन्येव विश्रान्तिरित्यर्थः। यदुक्तं तत्र

'ग्राह्यं च ग्राहकं चैव संवित्तिं च तृतीयिकाम्।
सनिवेशं तथा व्याप्तिमाक्षेपं त्यागमेव च॥
करणं सप्तधा ख्यातमभ्यासं बोधपूर्वकम्।
तद्व्याप्तिपूर्वमाक्षेपे करणं स्वप्रतिष्ठता॥' इति।

ग्राह्यादीनां च तत्रैव

'ग्राह्यस्वरूपविज्ञानं द्रव्यत्वे यद् व्यवस्थितम्।
व्यक्तिनिष्ठं तु मन्तव्यं ग्राहकं तु स्फुटार्थकम्॥
ग्राहयेच्चित्स्वरूपं तु व्यक्ताव्यक्तविचारकम्।
प्रत्यक्षादिप्रमाणैश्च ग्रहीता गोलकस्थितिः॥
गोलकंद्वारमित्युक्तं मनसा बाह्यतां ततः।
न जहाति न गृह्णाति ग्रहीता ग्राहकः स्मृतः॥
लक्ष्यलक्षसमायोगात् प्रतिज्ञावस्तुयोगतः।
उभयोर्नान्यविश्लेषं यथैवानुभवं स्मृतम्॥
विचार्यमाणं यत्किंचित्स्वरूपविभवात्मकम्।
संनिवेशं तु यज्ज्ञेयं तद्व्याप्तिरभिधीयते॥
स्वरूपस्थितिभावस्य एकदेशगतस्य च।
घोणार्चिःप्रविकासं तु स्थानात्स्थानपदक्रमात्॥
ज्ञायते वस्तुबोधज्ञस्त्रिप्रकारेण वस्तुनि।
व्याप्तिस्तु कथिता सा तु सर्वज्ञा सर्वगा परा॥
अनुभय स्वरूपं तु निवृत्तिं नैव गच्छति।

उक्त स्थिति आकलनीय है। व्याप्ति पूर्व विश्व के आक्षेप होने पर भी स्व में प्रतिष्ठा बनी रहती है। त्रिशिरः शास्त्र में उक्त श्लोकोक्त भेदों के उल्लेख के बाद उनकी परिभाषा भी दी गयी है। जैसे ग्राह्य—व्यक्तिनिष्ठ द्रव्यत्व में व्यवस्थित विज्ञान। ग्राहक—ग्रहण त्याग रहित कर्त्ता। चित्—व्यक्त और अव्यक्त में उल्लसित तत्त्व। व्याप्ति—सर्ववस्तु विचारनिष्ठ वृत्ति। त्याग—

ज्ञानभेदपदप्राप्त्या अत्याक्षेपगमात्मनः ॥
स्वरूपं चिन्त्यमानोऽपि ग्राह्यप्राकारधर्मधीः ।
त्यजेत्पूर्वपदाद्भेदात् त्यागं तु परिकीर्कितम् ॥
पदस्थस्त्यागभागी च संवृतात्मपरस्य च ।
आक्षेपं तं विजानीयात्सर्वत्रावस्थितं प्रिये ॥'

इत्यादिना स्वरूपमुक्तम् ॥१२९॥

नन्विहैतन्निर्भज्य कस्मान्नोक्तं किमागमपाठमात्रेण ? इत्याशङ्क्याह

गुरुवक्त्राच्च बोद्धव्यं करणं यद्यपि स्फुटम् ॥१३०॥
तथाप्यागमरक्षार्थं तदग्रे वर्णयिष्यते ।

इह यद्यप्यनुभवैकगोचरत्वात् करणस्वरूपं गुरुमुखादेव स्फुटमवगन्तव्यं तथाप्यागमार्थो मा विच्छेदीत्येतदग्रे 'वर्णयिष्यते' अन्तरान्तरा पुरस्ताच्चर्चयिष्यते इत्यर्थः । तथाहि

'अर्थस्य प्रतिपत्तिर्या ग्राह्यग्राहकरूपिणी ।
सा एव मन्त्रशक्तिस्तु वितता मन्त्रसंततौ ॥'
(तं १६।२५३)

इत्यादिना षोडशाह्निके ग्राह्यग्राहकयोः ।

'यत्तु सर्वाविभागात्म स्वतन्त्रं बोधसुन्दरम् ।
सप्तत्रिंशं तु तत्प्राहुस्तत्त्वं परशिवाभिधम् ॥'
(तं० ११।२१)

ग्राह्य धर्म की दृष्टि से एक का अस्वीकार। आक्षेप—निवृत्ति निषेध पूर्वक अन्यान्य की प्राप्ति का स्वभाव। निवेशन—विचार निष्ठ लक्ष्य-लक्ष की दृष्टि से वस्तु स्वरूप के विभव का चिन्तन ॥ १२९ ॥

आगमिक का कारण बता रहे हैं—

करण स्वयम् अनुभव का विषय है। इसे गुरुदेव से जानना चाहिये। फिर भी आगम शास्त्र निर्माण के उत्तरदायित्व के कारण आगे के प्रकरणों में यथा स्थान इनकी चर्चा है जैसे–

१—इसी ग्रन्थ के आ० १६।२५३ में "ग्राह्य गाहक रूपिणी अर्थ प्रतिपत्ति को मन्त्र शक्ति कहा गया है"।

इत्यादिनैकादशाह्निके संवित्तेः।

**'इह किल दृक्कर्मेच्छाः शिव उक्तास्तास्तु वेद्य-
खण्डलके।'** (तं० १५।३३८)

इत्यादिना पञ्चदशाह्निके व्याप्तेः।

**'एवं त्रिविधविसर्गविशरमापत्तिधाम्नि य उदेति।
संवित्परिमर्शात्मा ध्वनिस्तदेव मन्त्रवीर्यं स्यात्॥'**
(तं० २९।१४०)

इत्यादिना

**'तत्र सर्वे लयं यान्ति दह्यन्ते तत्त्वसंचयाः।
तां चितिं पश्य कायस्थां कालानलसमप्रभाम्॥'**
(तं० २५।१७२)

इत्यादिना चैकोनत्रिंशाह्निके त्यागस्याक्षेपस्य च तत्तन्मुद्रास्वरूपनिरूपण-द्वारेण द्वात्रिंशाह्निके संनिवेशस्य स्वरूपं वक्ष्यति,—इति तत् एवैतत्सतत्त्वं स्वय-मेवावधारणीयम्। एवं च व्यावर्णनेऽस्यायमभिप्रायो यदेकप्रघट्टकेनैव रहस्यार्थो-पदेशो न न्याय इति। यदुक्तमनेनैवान्यत्र

**'नातिरहस्यमेकत्र ख्याप्यं न च सर्वथा गोप्यम्
इति हि अस्मद्गुरवः।'** इति।

तदस्माकमपि एवं-व्याख्याने श्रीमदभिनवगुप्तपादा एव प्रमाणम्,—इति नात्र विद्वद्भिरस्मभ्यमसूयितव्यम्॥ १३०॥

२—आ० ११।२१ में "सैंतीसवें परमशिव की सार्वात्म्यभाव-बोध-सुन्दर और स्वतन्त्र संवित्ति का वर्णन है"।

३—आ० १५।३३८ में "दृक् क्रिया और इच्छा आदि सब शिव ही हैं-- इस कथन द्वारा व्याप्ति का वर्णन है।

४—आ० २९।१४० में 'संवित्परामर्शमयी ध्वनि ही मन्त्रवीर्य है। यह त्रिविध विसर्गों के आवेश की उच्च अवस्था में होती है। इसमें त्याग और विक्षेप का संकेत है।

५—आ० २५।१७२ के अनुसार 'जहाँ सभी लय होते हैं, जिस बोध-वह्नि में सारे तत्त्व जल जाते हैं, शरीर में ही रहने वाली कालाग्नि सरीखी उस चितिशक्ति

एवं करणस्वरूपमुट्टङ्क्य तदनन्तरोद्दिष्टं वर्णतत्त्वं वक्तुमुपक्रमते

उक्तो य एष उच्चारस्तत्र योऽसौ स्फुरन् स्थितः ॥१३१॥
अव्यक्तानुकृतिप्रायो ध्वनिर्वर्णः स कथ्यते ।

य एष प्राणात्मा प्रागुच्चार उक्तस्तत्र स्फुरन् स्थितः

'नास्योच्चारयिता कश्चित्प्रतिहन्ता न विद्यते ।
स्वयमुच्चरते देवः प्राणिनामुरसि स्थितः ॥' (स्व० ७।५७)

इत्याद्युक्त्या स्वरसत एवोच्चरन् । तथा

'एको नादात्मको वर्णः सर्ववर्णाविभागवान् ।
सोऽनस्तमितरूपत्वादनाहत इहोदितः ॥' (तं० ६।२१६)

इत्यादिवक्ष्यमाणयुक्त्या सर्ववर्णाविभागस्वभावत्वादव्यक्तप्रायो योऽसावनाहतरूपो नादः स वर्णोत्पत्तिनिमित्तत्वाद्वर्ण उच्यते वर्णशब्दाभिधेयो भवेदित्यर्थः ॥१३१॥

नन्वेवं-विधोऽयं वर्णः कुत्रोपलभ्यते ? इत्याशङ्क्याह

सृष्टिसंहारबीजं च तस्य मुख्यं वपुर्विदुः ॥ १३२ ॥

तस्य च सृष्टिबीजं संहारबीजं चेति बीजद्वयं 'मुख्यं वपुः' प्रधानमभिव्यक्तिस्थानमित्यर्थः ॥ १३२ ॥

का वर्णन है । ये रहस्य की बातें जहाँ से मिले ग्राह्य हैं । अलग अलग आह्निकों में कहने का तात्पर्य है कि "रहस्य एक स्थान पर ही नहीं खोलना चाहिये । यह हमारे गुरुवर्यों के आदेश हैं" ॥ १३० ॥

करण के बाद वर्ण तत्त्व का विमर्श कर रहे हैं—

प्राण रूप उच्चार में स्फुरित अव्यक्त ध्वनि ही वर्ण है । स्व० तन्त्र ७।५७ के अनुसार "इसका उच्चार कोई नहीं कर सकता । उसका प्रतिघात भी नहीं किया जा सकता । प्राणियों के हृदय में यह दिव्य शक्ति सम्पन्न तत्त्व स्वयम् उच्चरित होता है ।

श्रीतं० आ० ६।२१६ में "सर्व वर्णों से अविभाजित रूप से स्थित नादात्मक अनाहत ध्वनि को वर्ण कहा गया है" । वर्णों की उत्पत्ति का निमित्त होने के कारण ही इसे वर्ण कहते हैं ।

नन्वेवमस्य परिज्ञानेन किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

तदभ्यासवशाद्याति क्रमाद्योगी चिदात्मताम् ।

तच्छब्देन सृष्टिबीजादावभिव्यज्यमानो नादः परामृष्टः ॥

तदेवोपपादयति

तथा ह्यनच्के साच्के वा कादौ सान्ते पुनःपुनः ॥ १३३ ॥
स्मृते प्रोच्चारिते वापि सा सा संवित्प्रसूयते ।

इह हि

'..........**द्विजमाद्यमजीवकम्** । (**मा० वि० १७।२९**)

इत्याद्युक्तेः 'अनच्के' स्वररहिते

'**वामजङ्घान्वितो जीवः**..........।' (**मा० वि० ३।५४**)

इत्याद्युक्त्या 'साच्के' स्वरसहिते च ककारादिसकारान्ते वर्णकलापे पुनःपुनरुच्चारिते स्मृतेऽपि वा सा सा मर्मनिकृन्तनाप्यायनादिरूपा परस्परविलक्षणा

प्रश्न है कि ऐसा वर्ण मिलता कहाँ है ? इसी का उत्तर दे रहे हैं—

इस वर्ण के मुख्य शरीर दो हैं। १—सृष्टि बीज और २—संहार बीज। ये दोनों वर्ण की अभिव्यक्ति के मुख्य स्थान हैं ॥ १३२ ॥

ऐसी जानकारी से क्या लाभ जो अधूरी हो ? इसी का उत्तर दे रहे हैं—

सृष्टि बीज से अभिव्यक्त नादानुसन्धान के अभ्यास से योगी क्रमशः चिन्मयता को प्राप्त कर लेता है। यही पुनः कह रहे हैं कि 'अनच्क (स्वर-रहित) या साच्क (स्वर के साथ) 'क' से 'स' तक के वर्णों के स्मरण या उच्चारण से उसी प्रकार की संवित्ति तरङ्गें उत्पन्न होती हैं। मालिनीविजयोत्तर तन्त्र १७।२७--३२ श्लोकों द्वारा "आग्नेयीकरण के सन्दर्भ में स्वर रहित अजीवक अर्थात् अनच्क आद्य वर्ण की चर्चा की गयी है।" तथा ३।५२--६० तक के श्लोकों में रुद्रशक्ति के सन्दर्भ में वाम स्थित (कूट रहस्यात्मक) साच्क (स्वर सहित) वर्णों के उच्चारण अथवा स्मरण मात्र से भी काल रात्रि रूपिणी धर्म निकृन्तनी देवी (१७।३०) अथवा आप्यायन करने वाली अमृता

'संवित्' अनुभवो जायते। तेन सृष्टिबीजादावभिव्यज्यमानं नादं पौनःपुन्येनोच्चारयन् स्मरन् वापि योगी चिदैकात्म्यमनुभवेत्,—इति युक्तयुक्तं 'तदभ्यासवशाद्याति क्रमाद्योगी चिदात्मताम्' इति ॥ १३३ ॥

न केवलं वाच्यार्थव्यतिरेकिणो लोकोत्तरा मान्त्रा वर्णा एवं यावल्लौकिका अपि,—इत्याह

बाह्यार्थसमयापेक्षा घटाद्या ध्वनयोऽपि ये ॥ १३४ ॥
तेऽप्यर्थभावनां कुर्युर्मनोराज्यवदात्मनि ।

वस्तुवृत्तेनासंभाविनं बाह्यं पृथुबुध्नोदरादिरूपम् 'अर्थम्' उत्तमवृद्धादिना कल्पितमिदमस्याभिधेयमित्येवमात्मकं 'समयं' चापेक्षमाणा अपि ये घटाद्याः शब्दास्ते स्ववाच्यार्थवार्तामात्रानभिज्ञा अपि आत्मन्यर्थादुच्चारिताः स्मृता वा पृथुबुध्नोदरादेरर्थस्य 'भावनां' साक्षात्कारं मनोराज्यवदिति, यथा स्वोत्प्रेक्षाविकल्पादौ कान्तादिशब्दाः कामशोकादिना भाव्यमानास्तत्रासंनिहितस्यापि कान्तादेरर्थस्य कुर्युः, एवं संभाव्यते इत्यर्थः। एवं समयादिनिरपेक्षाणां संविदैकात्म्येन वर्तमानानां मान्त्राणां वर्णानां पुनरेवंसंभावने का नाम शङ्का भवेदिति भावः ॥ १३४ ॥

आगमोऽप्येवमित्यर्थद्वारेणाह

तदुक्तं परमेशेन भैरवो व्यापकोऽखिले ॥ १३५ ॥
इति भैरवशब्दस्य संततोच्चारणाच्छिवः ।

रूप विलक्षण संवित् शक्तियों के प्रादुर्भाव की चर्चा है। इसलिये साधक कादि सान्त वर्णों का चक्रों के माध्यम से स्मरण या उच्चारण कर चिदैकात्मता की अनुभूति कर सकता है। यह क्रिया सहस्रार या विशुद्ध से मूलाधार के मध्य में होती है। साधना के इन रहस्यों का ज्ञान गुरु से प्राप्त करना चाहिये ॥ १३३॥

मन्त्रों में प्रयुक्त लोकोत्तर वर्ण ही नहीं अपितु सामान्य लौकिक वर्ण समुदाय भी रहस्यमयी आर्थी शक्तियों को उत्पन्न करते हैं। यही कह रहे हैं—

बाह्य और और अपने वाच्यार्थ से अनभिज्ञ घट-कान्ता आदि ध्वनियाँ भी स्वात्म गर्भ में रहस्यार्थों को धारण करती हैं। प्रयोग में उसे व्यक्त करती हैं। मन पर उनका सीधा प्रभाव पड़ता है। मान्त्रवर्णों की अनन्त शक्तियों के उल्लास की कोई सोमा ही नहीं ॥ १३४॥

'भैरव इति निरुक्तदृष्ट्या सर्वं भ्रियाद्धारयति पुष्णाति रचयति अन्तर्बहिर्वा करोति सृष्टिस्थितिसंहारकृत् अखिले व्यापकः सकलजगत्क्रोडीकारेण भरितत्वात् पूर्ण,—इत्येवमात्मव्याप्तिगर्भीकारेण भैरवशब्दस्य पौनःपुन्येन 'उच्चारणात्' मध्यधाम्नि हृदयात् द्वादशान्तं यावत्परामर्शनाच्छिवो भवेत्, भैरवैकात्म्यमनुभवेदित्यर्थः। उक्तमिति श्रीविज्ञानभैरवे। यदुक्तं तत्र

'भ्रियात्सर्वं रचयति सर्वदो व्यापकोऽखिले।
इति भैरवशब्दस्य संततोच्चारणाच्छिवः॥'
(वि० भै० १९३ श्लो० इति ॥ १३५ ॥

ननु यदि नामैवमनुच्चारणाद्भवेत् तदस्तु, स्मरणात् पुनरेतत् कथम्? इत्याशङ्क्याह

श्रीमत्त्रैशिरसेऽप्युक्तं मन्त्रोद्धारस्य पूर्वतः ॥ १३६ ॥

मन्त्रोद्धारस्य पूर्वत इति,

'अधुना श्रोतुमिच्छामि मन्त्रोद्धारस्य लक्षणम्।'

इति भगवत्या प्रश्ने कृते हि तत्समाधानमारभमाणेन भगवतैतत्स्मरणस्वरूपं प्रथमतरमेवोक्तमित्यर्थः। एतदेव हि विचार्यमाणं मन्त्राणां परं वीर्यमिति भावः। यदुक्तमनेनैव सूत्रविमर्शिन्याम्।

आगमिक उद्धरण से अर्थ द्वारा इसी का प्रतिपादन कर रहे हैं—

विज्ञान भैरव श्लो० १२ के अनुसार स्वयं परमेश्वर शिव ने कहा है कि इस जगत् में 'भैरव' सर्वत्र व्याप्त है। उसका सतत उच्चारण करना चाहिये। इससे शिवता की प्राप्ति होती है। निरुक्त की व्याख्या के अनुसार 'भैरव' सब का भरण, पोषण, निर्माण और जीवन्तता प्रदान करने वाला, सर्व व्यापक तत्त्व है। वह पूर्ण है। उस शब्द के भी बारम्बार उच्चारण या जप से अर्थात् हृदय से द्वादशान्त पर्यन्त इसके परामर्श से भैरव महाभाव की उपलब्धि हो जाती है ॥ १३५ ॥

उच्चारण की तरह स्मरण से भी श्रेयः प्राप्ति की चर्चा कर रहे हैं—

श्री मत्त्रैशिरस् शास्त्र में मन्त्रोद्धार के प्रसङ्ग में माँ जगदम्बा भगवतो के प्रश्न के उत्तर का समाधान करते हुए शिव ने कहा है कि स्मरण मात्र से

'तत एव सकलसिद्धिवितरणचतुरचिन्तामणिप्रख्य-
मागमिकाः स्मरणमेव मन्त्रादिप्राणितं मन्यन्ते ।
(ई० प्र० वि० १।४।१) इति ॥ १३६ ॥

तदेव पठति

स्मृतिश्च स्मरणं पूर्वं सर्वभावेषु वस्तुतः ।
मन्त्रस्वरूपं तद्भाव्यस्वरूपापत्तियोजकम् ॥१३७॥

इह अनुभवप्रत्यभिज्ञादिप्रत्ययान्तरवैलण्येनोज्जृम्भमाणं 'स' इति प्रत्यवमर्शनात्मकमनुभूतार्थप्रकाशासंप्रमोषणरूपं 'स्मरणं स्मृतिः' तद्रूपा पारमेश्वरी शक्तिरित्यर्थः । तच्च वाच्यवाचकात्मकेषु स्फुरत्सु भावेषु 'पूर्वम्' उपादित्सादिपूर्वकोटाववश्यं भावि, अन्यथा हि

'स्मरणादभिलाषेण (पेन) व्यवहारः प्रवर्तते ।

इत्यादिनीत्या तन्मूलः समग्र एव व्यवहार उत्सीदेत् । पूर्वमनुभूतोऽर्थ इदानीं नास्तीति निर्विषयत्वात् स्मृतिरेव नोल्लसेत्; अस्तित्वे वा तस्यानुभव एव भवेत्— इति कथं तन्मूलोऽयं व्यवहारः सिद्धयेदित्याशङ्क्योक्तं 'वस्तुतो मन्त्रस्वरूपम्'

कल्याण होता है । यही मन्त्रवीर्य का महत्त्व है । ई० प्र० वि० १।४।१ कारिका के अनुसार "स्मरण एक चिन्तामणि है । यह सम्पूर्ण सिद्धियों का प्रदाता है । ऐसा आगमिक मानते हैं" ॥ १३६ ॥

श्रीमत्त्रैशिरस् के वचन उद्धृत कर रहे हैं—

स्मरण ही स्मृति है । यह अनुभव और प्रत्यभिज्ञा आदि के ज्ञान से कुछ विलक्षण परमेश्वर की शक्ति है । वाच्यवाचक रूप से स्फुरित होने वाले जितने जागतिक स्फुरण हैं, उनमें वस्तुओं को उत्पन्न करने के पहले ही संस्कार रूप से रहने वाली एक सूक्ष्म स्पन्दनमयी स्फूर्ति है । यदि यह न होती तो "यह सारा व्यवहार ही उच्छिन्न हो जाता क्योंकि वही आदि उत्पादयित्री शक्ति है ।

यह मन्त्र स्वरूपा होती है । मन्त्र पर-प्रमाता माना जाता है । सारे विश्वव्यवहार को जैसे परप्रमाता स्वात्ममय परामर्श करता है, उसी तरह यह भी करती है । यह मन्त्र स्वरूप प्रमाता को सारे भाव्य अर्थात् अनुभवनीय घट-पट नील पीत आदि अर्थों से योजित करती है । कहा गया है कि,

इति। तद्धि स्मरणं वस्तुवृत्तेन मन्त्रयति स्वाभेदेन विश्वं परामृशति,—इति 'मन्त्रः' परः प्रमाता तस्य स्वरूपं तदेकविश्रान्तमित्यर्थः। नन्वेमपि किं स्यात्? इत्याशङ्क्याह 'तद्भाव्यस्वरूपापत्तियोजकम्' इति। यतस्तत्परप्रमात्रात्म मन्त्र-स्वरूपं 'भाव्यस्य' अनुभवनीयस्य घटादेरर्थ 'स्वरूपापत्तिः' स्वात्मसात्कारस्तत्र योजयति, तथात्वेन व्यवस्थापयतीत्यर्थः। यदि नाम हि तदविभागेन निखिलमिदमनुभूत वस्तु न संभवेत् तत् स्मरणमेव न भवेदिति भावः। यदुक्तम्

'सर्वेऽनुभूता यदि नान्तरर्थास्त्वदात्मसात्कारसुरक्षिताः स्युः।
विज्ञातवस्त्वप्रतिमोषरूपा काचित् स्मृतिर्नाम न संभवेत्तत्॥'

इति ॥ १३७ ॥

तामेव विशिनष्टि

स्मृतिः स्वरूपजनिका सर्वभावेषु रञ्जिका।
अनेकाकाररूपेण सर्वत्रावस्थितेन तु ॥१३८॥
स्वस्वभावस्य संप्राप्तिः संवित्तिः परमार्थतः।
व्यक्तिनिष्ठा ततो विद्धि सत्ता सा कीर्तिता परा ॥१३९॥

यतः सा स्मृतिः, 'व्यक्तिः' अर्थप्रकटनात्मा प्राच्योऽनुभवः 'तन्निष्ठा' तद-भेदमापन्ना सती स्वस्येदानीन्तनकालावच्छिन्नस्य रूपस्य 'जनिका' स्मर्यमाणार्था-वभासिकेत्यर्थः। प्राच्यस्यैव ह्यनुभवस्येदानीन्तनकालावच्छेदेन पुनरुन्मेषो नाम

"यदि सभी पदार्थ आन्तरिक रूप से तुझ पर-प्रमाता द्वारा स्वात्मसात् प्रक्रिया से सुरक्षित न होते तो विज्ञात वस्तुओं को व्यक्त भाव में प्रत्यय कराने वाली कोई 'स्मृति' नामक वृत्ति न होती"। अर्थात् अद्वय भाव से अनुभूत पदार्थों का स्मरण ही न हो पाता ॥१३७॥

इसी का विश्लेषण कर रहे हैं—

स्मृति वस्तु के 'स्व' रूप को अभिव्यक्त करती है। यह व्यक्तिनिष्ठ और पूर्व अनुभूतियों का एक तरह का प्रकटीकरण है। इस तरह स्मृति ही स्मरण और उन्मेष रूप से स्फुरित होती रहती है। यह समस्त भावों का रञ्जन करने वाली शक्ति सत्ता है। असंख्य आकारों में यह अपने को रूपायित करती है। अपने स्वरूप में स्थित होते हुए भी पूर्व आभासों का स्मरण दिलाती है।

स्मरणम्, अत एव पूर्वापरोभयकालावलम्बनेनौचित्योपनतः 'स' इति परामर्शोऽस्य परामार्थः। नन्वेवमपि स्मृतेर्विकल्पविशेषत्वात् निर्विषयत्वेन कथमर्थावभासकत्व-मित्युक्तं 'सर्वभावेषु रञ्जिका' इति अनेकाकाररूपेण सर्वत्रावस्थितेन तु' इति। सा हि 'सर्वत्र' सर्वेषु पूर्वाविभातेषु घटादिषु भावेष्वर्थितादिवशाद्धटकाञ्चनद्रव्यत्वा-द्यात्मकेन 'अनेकेनैवाकारेण' कदाचिदपि स्वालक्षण्यात् स्वस्वरूप एवावस्थितेन घटाभासमात्राद्यात्मना 'रञ्जिका' स्वकाले स्फुटमेवावभासिकेत्यर्थः। यदुक्तम्

'भासयेच्च स्वकालेऽर्थात्पूर्वाभासितमामृशन्।
स्वलक्षणं घटाभासमात्रेणाथाखिलात्मना॥' इति।

एवं प्राच्यस्यानुभवस्य स्मृत्यभेदेनैवावभासात् स्मृत्यनुभवयोरैक्यं सिद्धम्,—इति सा स्मृतिरेव स्वात्मनः संप्राप्तिः, परमार्थिकी च संवित्तिरित्युक्तं 'स्वस्वभावस्य संप्राप्तिः संवित्तिः परमार्थतः' इति। यदुक्तम्

'न च युक्तं स्मृतेर्भेदे स्मर्यमाणस्य भासनम्।
तेनैक्यं भिन्नकालानां संविदां वेदितैष सः॥'
(ई० प्र० १।४।३) इति।

ई० प्र० १।४।२ में कहा गया है कि "स्मृति अपने समय में अपने सामर्थ्य से ही पूर्व आभासित अर्थों का आमर्श करती है। आभास तो भाव का स्वरूप ही होता है। संकोच से ग्रस्त व्यापक और नित्य पुरुष जैसे अपनी स्वलक्षण-रूपा संकोच अवस्था में देहप्रमाता का आमर्श करता है। उसी तरह घट का भी पूर्वविभासित स्वलक्षण अर्थ हो स्मृति में स्फुट होता है।"

स्मरण में स्वलक्षण अर्थ (घटपट आदि) अवभासित होते हैं। यहाँ पहले के अनुभव और स्मृति प्रायः अभिन्न हो जाते हैं। इसी आधार पर स्वात्मप्राप्ति रूप स्मृति को पारमार्थिक संवित्ति भी मानते हैं। इसी मत का समर्थन ई० प्र० १।४।३ कारिका से भी होता है—

"स्मृति द्वारा स्मर्यमाण के भासन में भेद नहीं होता। वरन् अनुभूयमान और स्मर्यमाण एक स्तरीय हो जाते हैं।

१. जब प्रमाता अन्तर्मुख विमर्श करता है और २. उसी अर्थ का बहि-र्भावावभास करता है तो समय की भिन्नता प्रतीत होती है किन्तु वह तात्कालिक अवभास अन्तर्मुख स्थिति ही है। दोनों संवित्तियों का वेदिता (प्रमाता) ऐक्य

अत एव च

'सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥' (ई० प्र० १।५।१४)

इत्यादिना निरूपितस्वरूपा पराकृत्रिमाहन्तापरामर्शात्मिका मान्त्री वीर्यभूमिरियम्, अत्रैवावधातव्यमित्युक्तं 'विद्धि सत्ता सा कीर्तिता परा' इति । विद्धीत्यत्र वाक्यार्थस्य कर्मत्वम् ॥ १३८-१३९ ॥

तदेवं लौकिकानां घटादीनां शब्दानामेवमुच्चारणात् स्मरणाद्वा यत्र संविदैकात्म्यावाप्तावुपायत्वं तत्र सृष्टिबीजादीनां का वार्ता ? इत्याह

किं पुनः समयापेक्षां विना ये बीजपिण्डकाः ।
संविदं स्पन्दयन्त्येते नेयुः संविदुपायताम् ॥१४०॥

एते संविदुपायतां नेयुरिति काक्वा व्याख्येयम् ॥१४०॥ — not explained or translated

---

का ही अनुसंधान करता है । पहली अवस्था में 'वही' प्रमाता दूसरी अवस्था में 'यही' हो जाता है ।" इसीलिए ई० प्र० १।५।१४ कारिका में कहा गया है कि,

"यह आभासमान संवित्ति ही स्फुरता है । यह महासत्ता स्वरूपिणी है । सारी क्रियाओं में स्वतन्त्र भाव से स्पन्दनशील है । यहाँ तक कि 'ख' पुष्प में भी पुलकित होती है । देश और काल इसमें कोई विशेषता नहीं उत्पन्न कर सकते । विभु और नित्य शक्ति सम्पन्ना यह प्रत्यभिज्ञामयी सत्ता परमेष्ठी की हृदय है । हृदय प्रतिष्ठा का स्थान होता है । यह 'सार' रूपा है और यह 'सार शास्त्र' में विशेष रूप से वर्णित है ।"

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह पराशक्ति है । अकृत्रिम 'अहं' का परामर्श करती है । यह मन्त्रों के तेज की तीर्थस्थली है ॥१३८–१३९॥

स्मृत और उच्चारित घट आदि शब्दों की अपेक्षा बीजपिण्डों की शक्ति का या विशेषता का वर्णन कर रहे हैं—

बीज मन्त्रों की शक्ति संविद् तत्त्व को समय की अपेक्षा के विना ही व्यक्त करती है । लौकिक, 'स्मृत या उच्चारित' शब्द संविद् को ही स्पन्दित करते हैं पर इनमें समय की अपेक्षा होती है । स्पष्ट है कि लौकिक शब्दों से बीज पिण्ड विशिष्ट होते हैं ॥१४०॥

ननु समयानपेक्षमेव कथमेवमेते कुर्वन्ति ? इत्याशङ्कयाह

वाच्याभावादुदासीनसंवित्स्पन्दात्स्वधामतः ।
प्राणोल्लासनिरोधाभ्यां बीजपिण्डेषु पूर्णता ॥१४१॥

संविदैकात्म्येन स्फुरणात् व्यतिरिक्तस्य वाच्यस्याभावात्, यथा 'उदासीनः, स्वात्ममात्रविश्रान्तेरबहिर्मुखो योऽसौ संवित्स्पन्दस्तद्रूपात् 'स्वधामतः, स्वस्फारात्, तथा प्रमाणात्मनः 'प्राणस्योल्लासात्' प्रमेयोन्मुखं प्रसरणात्, तथा 'निरोधात्' अन्तर्मुखरूपे विश्रमात् सृष्टिसंहारकारित्वात् सृष्टिबीजादिरूपेषु 'बीजपिण्डेषु पूर्णता' अनन्योन्मुखत्वात् नैराकाङ्क्षयमित्यर्थः । घटादिषु लौकिकेषु पुनः शब्देषु वाच्यसद्भावादेरपूर्णत्वात् समयाद्यपेक्षत्वमित्यर्थसिद्धम् ॥१४१॥

एवमेतत् सामान्येनाभिधाय विशेषमुखेनापि दर्शयति

सुखसीत्कारसत्सम्यक्साम्यप्रथमसंविदः ।
सवेदनं हि प्रथमं स्पर्शोऽनुत्तरसंविदः ॥१४२॥
हृत्कण्ठ्योष्ठ्यत्रिधामान्तर्नितरां प्राविकासिनि ।
चतुर्दशः प्रवेशो य एकीकृततदात्मकः ॥१४३॥

विना किसी की अपेक्षा के ये ऐसा करते हैं ? यही स्पष्ट कर रहे हैं—इसके कई कारण हैं। जैसे—

१. बीज शब्दों में कोई वाच्य अर्थ नहीं होता। २. स्वात्ममात्र में विश्रान्त रहने के कारण इनमें संविद् का स्पन्द अन्तर्मुखी रहता है। ३. स्वात्म विश्रान्ति के कारण उनका स्वात्मविस्फार शाश्वत रहता है। ४. प्रमाणरूपी प्राण के प्रमेय की ओर उल्लास रूप सृष्टि-शक्ति और निरोध अर्थात् अन्तर्विश्रान्ति रूप संहार शक्ति दोनों से संयुक्त रहने के कारण ये बीज पूर्ण होते हैं। अतः ये सर्व समर्थ होते हैं ॥ १४१ ॥

विशिष्ट सृष्टि बीज के माध्यम से यही रहस्य व्यक्त कर रहे हैं—

१. इसमें संवित् शक्ति के उल्लास का चमत्कार भरा 'सुख' होता है। २. सृष्टि का सीत्कार इसमें समाहित रहता है । ३. सत् अर्थात् अस्तित्व का सौन्दर्य इसमें भरा होता है। ४. 'सम्यक्' रूप से सर्व का सन्निवेश इसमें रहता

ततो विसर्गोच्चारांशे द्वादशान्तपथावुभौ ।
हृदयेन सहैकध्य नयते जपतत्परः ॥१४४॥

सुखादिसंबन्धिन्याः 'प्रथमाया' आद्यायाः संविदो यत् 'प्रथमम्' आद्यमेव संवेदनम्, अनन्तरं हि संवेद्याद्यारूषितत्वमपि भवेदिति भावः। स नाम अनुत्तर-संविदः 'स्पर्शः' परसंवित्साक्षात्कार इत्यर्थः। 'सुखं' चमत्कारातिशयः, 'सीत्कारः' तत्कारणं 'सत्' रमणीयं बाह्यं स्त्र्यादिवस्तु, सम्यगरमणीयमपि स्वोचितेन संनिवेशेनावस्थितं, 'साम्यं' रागद्वेषादिद्वन्द्वपरिहारः । अथ च सुखादीनामाद्या सकारमात्ररूपा या संवित् तस्याः संवेदनादप्येवम्, इति पराबीजगतस्यामृतवर्ण-स्यापि तत्त्वं प्रदर्शितम् । यदुक्तं प्राक्

'क्षोभाद्यन्तविरामेषु तदेव परमामृतम् ।
सीत्कारसुखसद्भावसमावेशसमाधिषु ॥' (श्रीत० ३।१६७) इति,

अस्य च दन्त्यत्वेऽपि कन्दे विश्रान्तिरिति

'कन्दहृत्कण्ठताल्वग्र……।' (श्रीत० ५।१४५)

इत्यादिवक्ष्यमाणार्थबलादवगन्तव्यम् । ततोऽपि 'अन्तः' मध्यधाम्नि नाडीत्रयस्यापि संमिलिततयात्यन्तं विकस्वरे ब्रह्मरन्ध्रोर्ध्ववर्तिनि नाड्याधाराभिधे परस्मिन्ना-धारे यः प्रवेशः स चतुर्दशः, तस्येदं विश्रान्तिस्थानमित्यर्थः । नन्वत्र किमसौ केवलतयैव विश्राम्यत्युतान्यथा ? इत्याशङ्क्योक्तम् 'एकीकृततदात्मक' इति । 'एकीकृतः' स्वाभेदेनावस्थापितः--

---

है। ५. इसमें साम्य की समरसता होती है। इन रूपों में सृष्टि बीज 'सकार' की आदिम संवित्ति का स्रोत शाश्वत जीवन अमृत की वर्षा करता है। यह अनुत्तर संविद् का एक प्रकार का लोकोत्तर आद्य स्पर्श होता है, जो 'स' कार से प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ के आह्निक ३।१६७ और ५।१४५ में इसका विश्लेषण किया गया है।

हृदय (परमेष्ठी की महास्फुरता का सार रूप 'स्'), कण्ठ्यौष्ठ्य (औ) हृत् (कण्ठ ओष्ठ) रूप त्रिशूल भूमि इन तीनों के अन्तर् में शाश्वत उल्लसित और ब्रह्मरन्ध्र के नाड्याधार सहित चार दशाओं (चतुर्भिर्दशाभिर्युक्त)

'ओंतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।' (श्रीम० गी० १७।२३)

इत्यादिनीत्या तस्य परस्य ब्रह्मण आत्मा येनासावमृतवर्णसंभिन्न इत्यर्थः । ननु यद्येतदस्य विश्रान्तिस्थानमुदयस्थानं पुनः किम् ? इत्याशङ्क्याह 'हृत्कण्ठ्यौष्ठ्य-त्रिधामा' इति तात्स्थ्यात् हृदकारः, कण्ठौष्ठ्यश्च औकारस्तयोः संहृतत्वात् हृत्कण्ठौष्ठानि त्रीणि धामानि' उदयस्थानानि यस्यासावेवंविधः, तेन हृदयाद्युदय-क्रमेण त्रिशूलभूमौ विश्राम्यति—इति शूलवर्णतत्त्वम् । यदनन्तरमपि विसर्गो-च्चारांशे सावधानो जपतत्परो योगी उभौ 'द्वादशान्तपथौ' नासिक्यशिवद्वादशान्तौ सृष्ट्यात्मना 'हृदयेन सहैक्यं नयते' शक्त्यादिसामरस्येन द्वादशान्तपर्यन्तं परा-बीजमुच्चारयेदित्यर्थः ॥ १४२-१४४ ॥

एतदेव संकलयति

कन्दहृत्कण्ठताल्वग्रकौण्डिलीप्रक्रियान्ततः ।
आनन्दमध्यनाड्यन्तः स्पन्दनं बीजमावहेत् ॥१४५॥

'कौण्डिली' शक्तिद्वादशान्तः 'प्रक्रियान्तः' शिवद्वादशान्तः एवं कन्दात् प्रभृति तत्तदाधारोल्लङ्घनक्रमेण द्वादशान्तर्यन्तं मध्यधामान्तरिदं सृष्टिबीजं 'स्पन्दनमावहेत्' अनुत्तरसंविदामर्शात्मना प्रस्फुरेदित्यर्थः ॥१४५॥

से अनुप्राणित विसर्गानुप्रवेश ! इन सबका एकीकृत तादात्म्यस्पर्शी रूप, शक्ति द्वादशान्त से शिव द्वादशान्त पर्यन्त एक चामत्कारिक चिदैक्य की चारुता का संचार करता है। श्रीमद्भगवद्गीता १७।२३ श्लोक में 'सत्' ब्रह्म का निर्देश ओंकार के साथ किया गया है। साधक उक्त विश्लेषण में व्यक्त पराबीज (रूप गोपनीयमन्त्र 'सौः') का जप स्वात्म सामरस्य के लिये अवश्य करे ॥१४२-१४४॥

इनका संकलित कथन कर रहे हैं—

कन्द, हृदय कण्ठ तालु के अग्रभाग से सम्बन्धित शक्ति·कुण्डलिनी और प्रक्रियान्त साधना योगियों का अन्तरङ्ग विषय है। यह कुण्डलिनी कन्द (मूलाधार) रूपी शक्ति द्वादशान्त से उठती हुई ऊर्ध्व शिवद्वादशान्त तक पहुँचती है। अधः और ऊर्ध्व के मध्य में यह संचार करती है और अनुत्तर संविद् का परामर्श करती हुई प्रस्फुरित होती है। इसी मध्य धाम में सृष्टि बीज की अमृत वर्षा होती है ॥ १४५ ॥

एवमेतद्वर्णतत्त्वं संहारबीजानुसारेणापि अभिधत्ते

संहारबीजं खं हृत्स्थमोष्ठ्यं फुल्लं स्वमूर्धनि ।
तेजस्त्र्यश्रं तालुकण्ठे बिन्दुरूर्ध्वपदे स्थितः ॥१४६॥

तत्र खस्य कण्ठ्यत्वेऽप्युरस्यतोद्रेकेण हृत्स्थत्वं, 'फुल्लं' फकारस्तच्चौष्ठ्य-मोष्ठत एवोच्चारात्, तेजो' रेफस्तस्य मूर्धन्यत्वान्मूर्धन्येवावस्थानम् । त्र्यश्रमेका-रस्तस्यापि कण्ठतालव्यत्वात् तालुकण्ठ एवावस्थितिः । 'ऊर्ध्वपद' इति शक्तिशिवद्वादशान्तरूपे । एवं हृदादिस्थानविश्रान्तिपुरस्सरमेवोच्चारो भवेदिति भावः । यस्तु

'खरूपे निर्वृतिं प्राप्य.........।' (श्रीत० ५।७५)

इत्यादिना संवित्क्रमेण प्रागुच्चारे उक्तः सोऽप्यत्रानुसंधेयः, संवित्क्रमस्य सर्वत्रैव भावात् ॥१४६॥

नन्वेवमुक्तेन वर्णतत्त्वेन किं भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

इत्येनया बुधो युक्त्या वर्णजप्यपरायणः ।
अनुत्तरं परं धाम प्रविशेदचिरात् सुधीः ॥१४७॥

बुधः सुधीरित्यत्र 'ज्ञानित्वस्यात्र प्राधान्यमुक्तम्' इति दर्शितम् ॥१४७॥

सृष्टि बीज प्रक्रिया के बाद संहार बीज प्रक्रिया का भी सांकेतिक वर्णन कर रहे हैं—

संहार बीज 'ख' (ॐकार) से प्रारम्भ होता है। यह (ख) हार्दिक उद्रेक का प्रतीक है। इसके साथ विकसित ओष्ठ्य वर्ण (फ्), मूर्धन्य तेज (र्) त्र्यस्र कण्ठतालव्य (त्रिकोण ए), इनके ऊपर विन्दु से निर्मित बीज मन्त्र 'संहार बीज' है। यह भी शक्ति द्वादशान्त पर्यन्त उच्चरित होता है। इसी ग्रन्थ के ५।७५ श्लोक में 'ख' की चर्चा है। वहाँ भी संवित्क्रम का उल्लेख है। संवित्शक्ति के विमर्श के समय इसका अनुसन्धान आवश्यक है ॥ १४६ ॥

वर्णतत्त्व के इस विवेचन से क्या लाभ ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

सम्यक् एवं सुन्दर प्रतिभा से विभूषित विद्वान् पुरुष यदि इस प्रक्रिया के अनुसार जप करना आरम्भ करे तो अनुत्तर परम धाम में उसका अनुप्रवेश अनायास हो जाता है ॥ १४७ ॥

तदेवं वर्णतत्त्वमभिधाय भङ्ग्यन्तरेणाप्याह

वर्णशब्देन नीलादि यद्वा दीक्षोत्तरे यथा ।

ननु किमेतत् स्वमनीषिकयैवोक्तमुत निबन्धान्तरं किंचिदत्रास्ति ? इत्याशङ्क्याह 'दीक्षोत्तरे यथा' इति । अर्थाद्दीक्षोत्तराख्ये ग्रन्थे यथोक्तमिति ॥

तदेवाह

संहारत्रग्निमरुतो रुद्रबिन्दुयुतान्स्मरेत् ॥१४८॥
हृदये तन्मयो लक्ष्यं पश्येत्सप्तदिनादथ ।
विस्फुलिङ्गाग्निवन्नीलपीतरक्तादिचित्रितम् ॥१४९॥
जाज्वलीति हृदम्भोजे बीजदीपप्रबोधितम् ।
दीपवज्ज्वलितो विन्दुर्भासते विधनार्कवत् ॥१५०॥

'संहारः' क्षकारो 'ना' पुमान् मकारः 'अग्नि' रेफः 'मरुत्' यकारः, एतान् पिण्डीभूतान् रुद्रेणै (णो) कारेण बिन्द्वर्धचन्द्रादिना च युतान् तावद्धृदयं स्मरेत् यावत्तदेकतानः सन् सप्तदिनादूर्ध्वं 'लक्ष्यं पश्येत्' ध्येयं किंचित् प्रकटीभवेदित्यर्थः । तद्धि अस्य लक्ष्यमुक्तस्वरूपं, यद्बीजं तदेव प्रकाशतादात्म्यात् दीपस्तेन, 'प्रबोधितम्' अभिव्यञ्जितं सत् विस्फुलिङ्गप्रधानाग्निन्यायेन नीलपीताद्यनेकवर्ण-

---

'वर्ण, नील आदि पदार्थों के गुणों की संज्ञा भी है। इसी सन्दर्भ में दीक्षोत्तर तन्त्र की उक्ति उद्धृत कर रहे हैं—

संहार (क्ष), नृ (म), अग्नि (रेफ), मरुद् (य्) रुद्र (उ) और इन वर्णों के साथ विन्दु के संयुक्त करने से एक महत्त्वपूर्ण बीजमन्त्र उल्लसित होता है। इसका हृदय में स्मरण करना चाहिये और एकतान होकर मन्त्र तादात्म्य की अनुभूति करते हुए तन्मय होना चाहिये। सात दिन लगातार ऐसा करने से परम लक्ष्य का साक्षात्कार हो जाता हैं।

यह बीज मन्त्र प्रकाशमय होने के कारण दीप की तरह उद्दीप्त हो जाता है। चिनगारियों से भरे ज्वलनशील अग्नि की तरह उससे भी अनेक वर्णों की नीली पीली किरणें प्रकाशराशि बिखेरने लगती हैं। हृदय कमल खिल उठता

चित्रीकृतं हृदम्भोजे 'जाज्वलीति स्पष्टनिरीक्षणीयतामेतीत्यर्थः । एवमत्राप्येकतानस्य सतोऽस्य भावनातारतम्येन दीपवद्ग्रैष्मार्कवच्च यथायथं दीप्तो 'विन्दुः' वेदयिता स्वात्मा भासते,

'आत्मानमत एवायं ज्ञेयीकुर्यात् ।' (ई० प्र० १।५।१५)

इत्याद्युक्तयुक्त्या लक्ष्यतामेतीत्यर्थः ॥ १४८-१५० ॥

नन्वेवं लक्ष्यतामाप्तेनात्मनास्य किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

स्वयंभासात्मनानेन तादात्म्यं यात्यनन्यधीः ।
शिवेन हेमतां यद्वत्ताम्रं सूतेन वेधितम् ॥१५१॥

अनेनेति आत्मना । शिवेनेति, स्वात्मैव हि परमेश्वरः शिवः,—इति न सिद्धान्तः, इत्यभिप्रायः ॥१५१॥

न चैवमस्यैव मन्त्रस्य वीर्यं यन्नीलपीताद्यनेकवर्णोदयद्वारेण स्वात्मसाक्षात्कारोऽपि तु सर्वेषाम्,—इत्याह

उपलक्षणमेतच्च सर्वमन्त्रेषु लक्षयेत् ।

ननु सर्वेषां मन्त्राणां प्रतिनियतमेव फलं संभवेत्,—इत्यविवादः न हि अमृतबीजं मारणादि कर्तुमुत्सहते क्रूरबीजं वाप्यायनादि,—इति कथं मन्त्रान्तरनिर्वर्त्ययं कर्म मन्त्रान्तरेष्वपि भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

है । ग्रीष्म कालीन सूरज भी दीप कहलाता है । खिले हृदय कमल में जाज्वल्यमान सूरज की तरह एक प्रकाश पुंज विन्दु बन कर चमक उठता है ई० प्र० १।५।१५ कारिका के अनुसार "इस प्रकार आत्मसाक्षात्कार हो जाता है ।" इसलिये इसका अभ्यास योगी के लिये अनिवार्य है ॥ १४८-१५० ॥

इसके परिणाम की चर्चा कर रहे हैं—

इस प्रकार स्वात्मसाक्षात्कार से और अनन्य भावना से उपासना करने वाला साधक शैव तादात्म्य की प्राप्ति कर लेता है । जैसे ताँबा स्वर्णकार द्वारा सौत प्रक्रिया से सोना में परिणत हो जाता है ॥१५१॥

न केवल उक्त मन्त्र से अपितु सभी शास्त्रोक्त मन्त्रों से स्वात्मसाक्षात्कार हो जाता है—यही कह रहे हैं—

उक्त मन्त्र से स्वात्मसाक्षात्कार का कथन तो उपलक्षण मात्र है । ऐसा सभी मन्त्रों से होता है । इसमें यह ध्यान देना है कि अमृत बीज से मारण और

यद्यत्संकल्पसंभूतं वर्णजालं हि भौतिकम् ॥१५२॥
तत् संविदाधिक्यवशादभौतिकमिव स्थितम् ।

यद्यन्नाम हि

'विकल्पयोनयः शब्दा..............।'

इत्यादिनीत्या संकल्पसंभूतत्वात् 'भौतिकं' भेदानुप्राणितं मायीयं वर्णजातं तत्सर्वमेव संविदाधिक्यवशात् भौतिकत्वन्यग्भावनेन संविद एवोद्रेकादभौतिकमिव स्थितं, भेदरूपत्वेऽपि संविदद्वैतपरमार्थमेवेत्यर्थः । इदमुक्तं भवति—यद्यपि संविद एवायं सकलः स्फारः तथापि तस्या आधिक्येनाप्रतीतौ भेदमयत्वात् एषां प्रतिनियतार्थक्रियाकारित्वम्; आधिक्येन प्रतीतौ पुनः सर्वेषां स्वात्मसाक्षात्कारलक्षणमविशिष्टमेव फलमिति । यदुक्तम्

'एवमेषां स्वरूपांशस्पर्शे शिवमयी स्थितिः ।
तदनाच्छुरणे भिन्नसंसारस्थितिवर्तनम् ॥ इति ॥ १५२ ॥

क्रूर बीजों से तर्पण आदि नहीं किये जा सकते । यहाँ सर्वमन्त्रों में लक्षित करने की उक्ति से वदतो व्याघात हो रहा है । इस आशङ्का का उत्तर दे रहे हैं कि—

संकल्पों से सम्भूत जितने भेदानुप्राणित मायीय वर्ण हैं, उनको भौतिक वर्णराशि कहते हैं । उनमें संविद् गौण प्रतीत होती है । जब संविद् तत्त्व का अतिरिक्त रूप से अधिक उद्रेक हो जाता है, तब वही वर्ण अभौतिक की तरह हो जाते हैं । कहा भी गया है कि—

"शब्द विकल्पों से ही उत्पन्न हैं............।" अर्थात् संकल्पित नाद शुद्ध वर्णों का उत्पादक है । यद्यपि यह सारा स्फार संविद् तत्त्व का ही है फिर भी संविद् के आधिक्य की अनुभूति न रहने पर भेद प्रतीति होती है और प्रतिनियत कार्य करने में पुरुष सक्षम होते हैं । संविद् के आधिक्य में अनुत्तर विमर्श रूप ही प्रस्फुरित होते हैं । कहा गया है कि—

इन वर्णों के स्वरूपांश का स्पर्श उन्हें शिवमयी दशा में स्फुरित रखता है और स्वरूप स्पर्शाभाव की भौतिक दशा में संसार की भेद भिन्नता का उज्जृम्भण हो जाता है" ॥ १५२ ॥

अतश्च सर्वेषामेव मन्त्राणां संविदात्मन्यनुपाधौ रूपे विश्रान्तस्ताद्रूप्यमेवासादयेत्,—

अतस्तथाविधे रूपे रूढो रोहति संविदि ॥ १५३ ॥
अनाच्छादितरूपायामनुपाधौ प्रसन्नधोः ।

नन्विह सर्वमन्त्राणां स्वरूपे तावदविवादसिद्ध एव भेदः,—इति स फलेऽप्यवश्यमापतेत् कारणभेदाधीनत्वात् तस्य, तत् कथमेवमुक्तम्? इत्याशङ्क्याह

नीले पीते सुखे दुःखे संविद्रूपमखण्डितम् ॥ १५४ ॥
गुरुभिर्भाषितं तस्मादुपायेषु विचित्रता ।

'गुरुभिः' वामनदत्ताचार्येण, भाषितमिति संवित्प्रकाशे। अनेनेदमुक्तं भवति—नीलादेर्वाच्यवाचकात्मनो विश्वस्य संविद्रूपत्वाविशेषात् कश्चिद्वास्तवो भेदः संभवेदिति। ननु यद्येवं तत् कथमिदं वाच्यवाचकात्मवैचित्र्यमपह्नूयतां नहि भातमभातं भवेत्, तदत्र किं प्रतिपत्तव्यम्? इत्याशङ्क्याह 'तस्मादुपायेषु

सभी मन्त्रों की संविदात्म उपाध्यतीत दशा में विश्रान्ति होने पर ताद्रूप्य की चर्चा कर रहे हैं—

ऐसी स्थिति में संविद् तत्त्व में आरोहण स्वाभाविक है। संवित् तत्त्व की अनावृत्त दीप्ति से मन्त्री साधक प्रसन्न हो उठता है और उसकी बुद्धि का विकास हो जाता है ॥१५३॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि मन्त्र स्वरूप भिन्न हैं। परिणामतः फलभेद भी अनिवार्य है। क्योंकि कारण के अनुसार ही कार्य होंगे? क्या ऐसी स्थिति मे भी यह चमत्कार होता है। यही कह रहे हैं—

श्री वामनदत्ताचार्य ने संवित्प्रकाश नामक ग्रन्थ में यह चर्चा की है। वस्तुतः नीलादि भेद भिन्न इस विश्व में संविद् शक्ति सामान्य रूप से सर्वव्याप्त है। इसलिए यह भेद वास्तविक नहीं हैं। कठिनाई तो यह है कि वाच्य वाचक भाव के वैचित्र्य का अपह्नव नहीं हो पाता। पर ध्यान देने पर यह निश्चय हो

विचित्रता' इति। एव संवित्स्वातन्त्र्योल्लसितं यन्नामेदं वैचित्र्यं तदुपायमात्र-विषयमेव पर्यवस्येत्, न तूपेयविषयमपीत्यर्थः यदभिप्रायेणैव

'संवित्तिफलभेदोऽत्र न प्रकल्प्यो मनीषिभिः (मा० वि०२।२५)

इत्याद्युक्तम् ॥ १५३-१५४ ॥

एवमेकस्मिन्नेवोपेये प्राप्तव्ये परमियदुपायजातमुपदिष्टम्,—इत्याह

उच्चारकरणध्यानवर्णैरेभिः प्रदर्शितः ॥ १५५ ॥

अनुत्तरपदप्राप्तावभ्युपायविधिक्रमः ।

ननूच्चारादीनामागमेऽप्यनेनैव क्रमेण पाठः,— इति कथमिह तदुल्लङ्घनेन ध्यानोपक्रममेषां निर्देशः कृत ? इत्याशङ्क्याह

अकिंचिच्चिन्तन वीर्यं भावनायां च सा पुनः ॥ १५६ ॥

ध्याने तदपि चोच्चारे करणे सोऽपि तद्ध्वनौ ।

स स्थानकल्पने बाह्यमिति क्रममुपाश्रयेत् ॥ १५७ ॥

'अकिंचिच्चिन्तनं' शांभवः 'भावना' शाक्तः। सेति भावना। तदिति करणं। स्थानकल्पन इति षष्ठादाह्निकात् प्रभृति वक्ष्यमाणे। एवं पूर्व-पूर्वमुत्तर-त्रोत्तरत्र वीर्यमिति पाठ्यक्रममपहाय

जाता है कि उपाय वैचित्र्य से ही यह भेद प्रतीति होती है। उपेय दशा में कोई भेद नहीं होता। कहा गया है कि,

"मनीषियों द्वारा संवित्ति में फल भेद की कल्पना नहीं करनी चाहिए"। (मा० वि० २।२५) ॥ १५४ ॥

वस्तुतः प्राप्तव्य उपेय रूप एक परमेश्वर ही है उसी की प्राप्ति के लिये सारे उपाय हैं। यही कह रहे हैं—

आणवोपाय के भेद के रूप में उच्चार, करण, ध्यान, और वर्ण की विधियों का यह प्रदर्शित क्रम मात्र अनुत्तर पद की प्राप्ति के ही उद्देश्य से ही यहाँ उल्लिखित है ॥ १५५ ॥

यहाँ उपायो का क्रम आगमोक्त क्रम से भिन्न क्यों हैं ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

'यो हि यस्माद्गुणोत्कृष्टः स तस्मादूर्ध्वमिष्यते ।
(मा० वि० २।६०)

इत्यादिनीत्यार्थक्रमावलम्बनेनान्यथैवं निर्देश, कृतः,—इति बलीयस्त्वादयमेव क्रमः समाश्रयणीय इत्यर्थः ॥ १५५-१५७ ॥

ननु यद्येवं तत् किमनेनैव क्रमेणोपेयप्राप्तिर्भवेदुतान्यथापि ? इत्याशङ्क्याह

लङ्घनेन परो योगी मन्दबुद्धिः क्रमेण तु ।

'पर' इति तीव्रशक्तिपातानुविद्धः । योगीति, परतत्त्वैक्यभाग्भवेदित्यर्थः ।
ननु पूर्वं पूर्वमुत्तरस्योत्तरस्य वीर्यमित्युक्तेन किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

वीर्यं विना यथा षण्ठस्तस्याप्यस्त्यथ वा बलम् ।
मृतदेह इवेयं स्याद् बाह्यान्तःपरिकल्पना ।। १५८ ॥

यथा पुंस्त्वापादकं वीर्यं विना पुरुषोऽपि 'षण्ठः' स्वकर्मण्यकिंचित्करः, अथवा तस्यापि चेष्टाद्यन्यथानुपपत्त्या किंचिद्वीर्यमस्ति,—इत्यत्यन्तं जडप्रायत्वात् यथा शवशरीरमकिंचित्करम्, एवं स्थानकल्पनादिरूपा बाह्यान्तरुपायकल्पनापि निर्वीर्या सत्यकिंचित्कर्येव भवेदित्यर्थः ॥ १५८ ॥

वस्तुतः शाम्भवोपाय में तो चिन्तन का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। यही उसका वीर्य है। शाक्तोपाय में भावना का ही प्राधान्य है। भावना ध्यान से भी महत्त्वपूर्ण है। उच्चार में ध्यान, करण 'में' उच्चार, ध्वनि रूपवर्ण में उच्चार तथा स्थान कल्पन में ध्वनि यह उत्तरोत्तर वीर्य क्रम छोड़ कर "जो जिससे गुणों में उत्कृष्ट होता है, वह उससे अच्छा माना जाता है (मा० वि० २।६०)" इस नीति का अनुसरण किया गया है। इसीलिये यहाँ भी बलीयान् तत्त्वों का क्रम अपनाया गया है ॥ १५७ ॥

इसी क्रम से उपेय की प्राप्ति होती है या इसके अतिरिक्त भी ? इसी का समाधान कर रहे हैं—

योगी की प्रतिभा पर सब कुछ निर्भर करता है। प्रतिभा के बल से यदि वह क्रम का उलङ्घन कर अन्य क्रम अपनाता है तो वह मन्दता को तिरस्कृत कर तीव्र शक्तिपात से पुष्ट होकर परतत्त्व से तादात्म्य स्थापित कर लेता है ॥ १५८ ॥

इदानीमाह्निकार्थमेव श्लोकस्य प्रथमार्धेनोपसंहरति

इत्याणवेऽनुत्तरताभ्युपायः प्रोक्तो नयः स्पष्टपथेन बाह्यः ।

बाह्यो नय इति उच्चारादिः, इति शिवम् ॥

गुरुवरचरणप्रसादप्रध्वस्तसमस्तदुर्विकल्पौघः　।
विवरणमेतदरचयज्जयरथ इति पञ्चमाह्निके कश्चित् ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य-श्रीमदभिनवगुप्तविरचिते तन्त्रालोके
श्रीजयरथविरचित विवेकाभिख्यव्याख्योपेते
आणावोपाय प्रकाशनं नाम पञ्चममाह्निकं समाप्तम् ॥ ५ ॥

पहले कहा गया कि पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तर उत्तर में बल होता है। इस उक्ति का क्या होगा ? इस पर कह रहे हैं--

वीर्य से ही पुरुषत्व की सिद्धि होती है। उसके विना नर, नपुंसक बन कर रह जाता है। निर्वीर्य में भी कुछ बल होता है। उसके आधार पर ही उसकी बलवत्ता का आकलन होता है। उसके भो न रहने पर मृत देह को तरह जडता ही ग्रस्त करती है। यही स्थान-कल्पन रूप उपायों के बाह्य और आन्तर गुणों के प्रकर्ष के सन्दर्भ में भो कहा जा सकता है।

इस प्रकरण का उपसंहार कर रहे हैं—

इस प्रकार आणवोपाय के माध्यम से अनुत्तर प्रकर्ष की प्राप्ति की चर्चा की गयी और बाह्य नयका विश्लेषण प्रस्तुत किया गया।

गुरुपदपद्म - मरन्द पी, जयरथ ने की पूर्ण।
पञ्चम आह्निक विवृति यह विचिकित्सा चिति चूर्ण ॥

'हंस'स्य मे न समुदेति हृदन्तराले
काचिद्विकल्पकलना ध्रुवमाणवीया ।
येषां भवेत्, कृतिरहो पठितैव रक्षे-
त्तान् पञ्चमाह्निककलाकलनात्मनीना ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तविरचित श्रीराजानक
जयरथकृत विवेकव्याख्योपेत डॉ० परमहंसमिश्र विरचित
नीर-क्षीर-विवेक-भाषा-भाष्य संवलित श्रीतन्त्रालोक का
आणावोपाय प्रकाशन नामक पञ्चम आह्निक
सम्पूर्ण शिवाय हृसौं ॥ ५ ॥

अथ

श्रीतन्त्रालोकस्य

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तपादविरचितस्य

श्रीमदाचार्यजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेतस्य

डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक

हिन्दी भाष्य संवलितस्य

षष्ठमाह्निकम्

कवलयितुं किल कालं कलयति यो व्यायतास्यतां सततम् ।
जयति स सुजयः साक्षात्संसारपराकृतौ सजयः ॥

इदानीमाणवोपायस्यैवाङ्गभूतमुच्चारादिप्रमेयचतुष्टयानन्तरोद्दिष्टं स्थानकल्पनाख्यं परमं प्रमेयं द्वितीयार्धेनावतारयितुमुपक्रमते

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तपादाचार्यविरचित

श्रीराजानक जयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत

डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीरक्षीरविवेक

हिन्दीभाष्यसंवलित

श्रीतन्त्रालोक

षष्ठ आह्निक

काल-कवल की लालसा, से संतत वितताास्य ।
जगदुद्धारक जय सजय, शिव मम परमोपास्य ॥

'परम प्रमेय रूप स्थानप्रकल्पन' आणवोपाय का ही एक अङ्ग है। उसी की अवतारणा कर रहे हैं—

स्थानप्रकल्पाख्यतया स्फुटस्तु
बाह्योऽभ्युपायः प्रविविच्यतेऽथ ॥१॥

अथशब्दोऽधिकारे । तेनेतः प्रभृत्याद्वादशाह्निकं यत्किंचिदुच्यते तत्सर्वं स्थानकल्पनाधिकारेण, इति पञ्चदशाह्निकात्प्रभृति पुनरेतदेव बाह्यस्थण्डिलमण्डलाद्यधिकृत्याभिधीयते,—इत्याग्रन्थपरिसमाप्तेः प्राधान्यात् स्थानकल्पनस्यैव सकलोऽयं प्रपञ्च इति ॥१॥

तदेवाह

स्थानभेदस्त्रिधा प्रोक्तः प्राणे देहे बहिस्तथा ।

एषामपि भेदान्तराणि सन्ति,—इत्याह

प्राणश्च पञ्चधा देहे द्विधा बाह्यान्तरत्वतः ॥२॥
मण्डलं स्थण्डिलं पात्रमक्षसूत्रं सपुस्तकम् ।
लिङ्गं तूरं पटः पुस्तं प्रतिमा मूर्तिरेव च ॥३॥
इत्येकादशधा बाह्यं पुनस्तद्बहुधा भवेत् ।

'पुस्तं लेपादिनिर्मिताकृतिः । मूर्तिर्गुर्वादिसम्बन्धिनी । तदित्यानन्तर्याद्बाह्यं, पुनरित्येकादशविधत्वेऽपि, बहुधेति मण्डलादीनामप्येकशूलत्रित्रिशूलादिक्रमेण नानात्वात् ॥ २-३ ॥

इस छठें आह्निक से बारहवें आह्निक तक इसी स्थान प्रकल्पन के अधिकार में तथा पन्द्रहवें आह्निक के बाह्य स्थण्डिल और मण्डल के अधिकरण में इसी विषय का विचार किया जा रहा है । प्रायः ग्रन्थ की समाप्ति पर्यन्त प्रधानतया स्थान प्रकल्पन को प्रपञ्चित किया गया है ॥१॥

वही कह रहे हैं—

प्राण, देह और बाह्यभेद से स्थान तीन प्रकार के होते हैं। इनके भेद और भेदान्तर भी बहुत हैं। जैसे प्राण ५ प्रकार के होते हैं। बाह्य और आभ्यन्तर भेद से इसके दो भेद और भी होते हैं। मण्डल, स्थण्डिल, पात्र, अक्षसूत्र, पुस्तक, लिङ्ग, तूर पट, पुस्त, मूर्त्ति ये बाह्य स्थान के ग्यारह भेद हैं। इनमें भी मण्डल आदि के बहुत से एक शूल त्रिशूल आदि भेद सम्भव हैं ॥२-३॥

एवं स्वरूपतः स्थानभेदमभिधाय तद्गतं विधिमप्युपदेष्टुं प्रतिजानीते

तत्र प्राणाश्रयं तावद्विधानमुपदिश्यते ॥४॥

तदेवाह

अध्वा समस्त एवायं षड्विधोऽप्यतिविस्तृतः ।
यो वक्ष्यते स एकत्र प्राणे तावत्प्रतिष्ठितः ॥५॥

वक्ष्यत इति भुवनाध्वप्रकाशनादौ । 'प्राण' इति सामान्यस्पन्दनात्मनि । यदुक्तम्

'षड्विधाध्वविभागस्तु प्राणैकत्र यथास्थितः ।' (स्व० ४।२३२) इति ।

विशिष्टे पुनः पदमन्त्रवर्णात्मा त्रिविध एव । यद्वक्ष्यति

'षड्विधादध्वनः प्राच्यं यदेतत्त्रितयं पुनः ।
एष एव स कालाध्वा प्राणे स्पष्टं प्रतिष्ठितः ॥'

(श्रीत० ६।३७) इति ॥ ५ ॥

तदेवोपपादयति

अध्वनः कलनं यत्तत्क्रमाक्रमतया स्थितम् ।
क्रमाक्रमौ हि चित्रैककलना भावगोचरे ॥६॥

नन्वेतत्क्रमाक्रमात्मतयैव कस्मात्स्थितमित्याशङ्क्याह 'क्रमेत्यादि' । इह द्विधैव भावानामवभासः क्रमेणाक्रमेण च; तत्र क्रमेण यथा कार्यकारणादौ,

---

यह स्थान का स्वरूप सम्बन्धी विवेचन हुआ । इनकी विधि का भी उपदेश कर रहे हैं—

अध्वा ६ प्रकार के होते हैं । प्राण ही इनका प्रतिष्ठा स्थान है । सामान्यतया स्पन्दमान प्राण के विषय में स्व० ४।२३२ में भी यही बात कही गयी है । इसी ग्रन्थ के ६।३७ में भी इस विषय की चर्चा है कि ये सारे अध्वा प्राण में ही प्रतिष्ठित हैं ॥४–५॥

उसी का प्रतिपादन कर रहे हैं—

जगत् में भाव पदार्थों का अवभासन दो प्रकार से होता है । १. क्रम से और २. अक्रम से । कार्यकारण भाव की स्थिति में क्रमिक अवभासन होता है ।

अक्रमेण यथा चित्रज्ञानादौ। स च चित्रे यदैकस्यैवैकदैव च क्वचित्पूर्वकाल-भाविनं समानकालभाविनं च भावमपेक्ष्य क्रमेणाक्रमेण चावभासः,—इति। तद्या नाम भावानामेवं 'कलना' परिच्छित्तिः स एव क्रमाक्रमात्मा काल इति ॥६॥

ननु सर्वमिदं जगत्संविल्लग्नमेवावभासतेऽन्यथा ह्यस्य भावमेव न भवेत्, संविदि च नित्यत्वात्कालयोगो नास्ति, इति कथमसौ तदनुषक्तस्य भावजातस्यापि स्तात्? इत्याशङ्क्याह

क्रमाक्रमात्मा कालश्च परः संविदि वर्तते।

नन्वेवं 'क्रमाक्रमकथातीतं संवित्तत्त्वं सुनिर्मलम्' इत्याद्युक्तं व्याहन्येत, सौगतमतान्तःपातश्च स्यात्,—इत्याशङ्क्याह

कालो नाम परा शक्तिः सैव देवस्य गीयते ॥ ७ ॥

यन्नाम परस्य प्रकाशस्य कालेन योगः सास्य 'शक्तिः' स्वेच्छावभासितस्य प्रमातृप्रमेयाद्यात्मनो जगतस्तत्तद्रूपतया कलने सामर्थ्यं न पुनः स्वात्मनि कश्चिदक्रमः क्रमो वा,—इति, न ह्यग्नेर्दाहशक्तियोगे स्वात्मनि स्फोटाद्याविर्भावः ॥ ७ ॥

चित्र दर्शन में अक्रम रूप से ही अवभास होता है। चित्र में भी एक-एक अंश के दर्शन में क्रमिकता और समग्र दर्शन में अक्रमिकता होती है। इस तरह क्रम और अक्रममयी इस भाव कलना को काल कहते हैं ॥६॥

यह सारा प्रपञ्च संविद् तत्त्व में रहकर ही अवभासित होता है। अन्यथा इसका भान ही नहीं होता। संविद् शाश्वत सत्य है। उसमें काल का कोई प्रभाव नहीं हो सकता। शङ्का होती है कि संविद् में ही स्फुरित भाववर्ग में कालयोग क्यों होता हैं? इसका उत्तर दे रहे हैं—

यह क्रमाक्रमात्मक काल भी संविद् अधिकरण में ही स्फुरित है। "क्रमाक्रम की चर्चा से परे संवित् तत्त्व है" इस उक्ति में कोई विरोध अथवा बौद्धमतवाद का समर्थन भी यहाँ नहीं होता क्योंकि पर-प्रकाश रूप संविद् का कालात्मक समायोजन उसी परमेश्वर की शक्ति है। प्रमातृ प्रमेय रूप जगत् के आकलन की शक्ति को ही 'काली' शक्ति कहते हैं। संविद् के स्वात्मभाव में न तो कोई क्रम अथवा न कोई अक्रम भाव ही हुआ करता है।

तदाह

सैव संविद्बहिः स्वात्मगर्भीभूतौ क्रमाक्रमौ ।
स्फुटयन्ती प्ररोहेण प्राणवृत्तिरिति स्थिता ।। ८ ।।

सैव कालशक्तियोगिनी संवित्स्वाविभागेनावस्थितौ क्रमाक्रमौ बहिः प्ररूढतयावभासयन्ती प्राणवृत्तिरिति स्थिता, प्राणनात्मतया प्रस्फुरितेत्यर्थः ।।८।।

ननु कथं नामेयं प्राणवृत्त्यात्मना प्रस्फुरिता,–इत्याशङ्क्याह

संविन्मात्रं हि यच्छुद्धं प्रकाशपरमार्थकम् ।
तन्मेयमात्मनः प्रोज्झ्य विविक्तं भासते नभः ।। ९ ।।

यन्नाम हीदं प्रमातृप्रमेयात्मनो विश्वस्य स्वाविभागेनैवावभासनात्प्रकाश-परमार्थकम्, अत एव तदारूषणाया अभावाच्छुद्धं संविन्मात्रं तत्स्वस्वातन्त्र्यात् स्वात्मन्यपूर्णत्वावविभासयिषया स्वाविभागेनावस्थितं विश्वात्म 'मेयं' आत्मनः सकाशात् 'प्रोज्झ्य' पृथक्कृत्य 'विश्वस्मादुत्तीर्णोऽहम्' इत्यामृश्य विविक्तं नभोऽ-वभासते' सकलभावशून्यत्वान्निरावरणरूपतया प्रस्फुरतीत्यर्थः ।। ९ ।।

इसीलिए वह काल शक्तियोगिनी संवित् स्वात्मरूप में ही अवस्थित क्रम और अक्रम भाव को बाहर अवभासित करती हुई 'प्राण' वृत्ति कहलाती है। प्राण रूप से वही स्फुरित है ।।८।।

संवित् के प्राणवृति के रूप में स्फुरित होने के कारण की चर्चा कर रहे हैं—

परम प्रकाश रूपा संवित् की दो अवस्थायें होती हैं। जब वह शुद्ध प्रकाश रूप होती है तो यह प्रमाता-प्रमेय मय विश्व अविभाग रूप से उसी में अवस्थित रहता है। उस समय वह शुद्ध संवित् होती है।

अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण जब वह इस प्रमेयात्मक विश्व को अपने से पृथक् विभासित करने की इच्छा से अलग कर देती है, उस समय अपने को सूना-सूना महसूस करती हैं। 'मैं विश्व से उत्तीर्ण हूँ' यह स्वतन्त्र विमर्श उसमें उल्लसित होता है। समस्त भावों से रहित वह निरावरण अवस्था होती है। उसी दशा का प्रतीक यह 'नभ' है ।।९।।

अत एवाह

तदेव शून्यरूपत्वं संविदः परिगोयते ।

'शून्यरूपत्वम्' इति शून्यप्रमातृत्वमित्यर्थः। शून्यत्वं चास्य सर्वस्य संवेद्यस्य संक्षयात् न तु संविदोऽपि, तथात्वे हि निखिलमिदमनेलमूकप्रायं स्यात् । यदुक्तम

'अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते ।
अभावः स समुद्दिष्टो यत्र भावाः क्षयं गताः ॥'

(स्व० ४।२९१) इति ।

'सर्वालम्बनधर्मैश्च सर्वसत्त्वैरशेषतः ।
सर्वक्लेशाशयैः शून्यं न शून्यं परमार्थतः ॥ इति च ।

एतच्च परमुपेयमितो बाह्यानामित्याह

नेति नेति विमर्शेन योगिनां सा परा दशा ॥ १० ॥

सेयं

'न भावो नापि चाभावो मध्यमाप्रतिपत्तितः'

इत्याद्युक्तयुक्त्या भावाभावविषयेण नेति नेति परामर्शद्वयेन मध्यमपदावेश-शालिनां 'योगिनां परा' शून्यातिशून्यरूपा 'दशा' विश्रान्तिस्थानमित्यर्थः । यदाहुः

इसोलिए—इसे संवित् की शून्य रूपता मानते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि यह शून्यरूपता संवेद्य प्रमेयों के अभाव रूप में ही अनुभूत होती है। संविद् तत्त्व तो आश्रय रूप से उल्लसित रहता है। स्वच्छन्द तन्त्र ४।२९१ में कहा गया है कि "जिसे शून्य कहते हैं, वह वस्तुतः चिदानन्दघन परमतत्त्व है, अतः अशून्य है। शून्य तो 'अभाव' को कहते हैं। भाव प्रमेय प्रपञ्च की सत्ता को कहते हैं। वह जहाँ नहीं होता, वही अभाव है।" तथा

"समस्त आलम्बन धर्मों से, समस्त सत्त्वों से और समस्त क्लेशों से शून्य ही शून्य है, पारमार्थिक शून्य नहीं"।

इसलिए योगियों की अनुभूति की वह पराकाष्ठा है, जहाँ नेति नेति का विमर्श होता है। पहला न इति, भाव की सत्ता नहीं और दूसरा 'न इति' अभाव की सत्ता भी नहीं इन दोनों अर्थों को व्यक्त करते हैं।

'शून्यतावस्थितः　पश्चात्संवेदनविवर्जितः ।
निर्वाणः कृष्णवर्त्मेव निरुपाख्यो भवत्यसौ ॥' इति ॥१०॥

स एव च शून्यप्रमाता बहिर्मुखीभवन्प्राणप्रमातृतामासादयति,—इत्याह

स एव स्वात्मा मेयेऽस्मिन्भेदिते स्वीक्रियोन्मुखः ।
पतन्समुच्छलत्त्वेन　प्राणस्पन्दोर्मिसंज्ञितः ॥ ११ ॥

स एव च 'स्वात्मा' शून्यप्रमाता

'............अभिलाषो मलोऽत्र तु ।' (स्व० ४-१०४)

इत्याद्युक्तेरपूर्णम्मन्यतात्मकाणवमलयोगात्साकाङ्क्षतया पुनस्तत्स्वीकरणोन्मुखः सन् स्वस्मात् 'भेदिते' पृथक्कृतेऽस्मिन् नीलसुखादिरूपे 'मेये समुच्छलत्त्वेन पतन्' बहिर्मुखीभवन् प्राणादिशब्दव्यपदेश्यो भवेदित्यर्थः। किञ्चिच्चलनात्मनः स्वविमर्शरूपस्य स्पन्दतस्यैवायमाद्यः प्रसरः,—इत्युपचारात्तच्छब्दव्यपदेश्यो न तु स एवायं तस्य शून्यप्रमातृल्लासादप्यूर्ध्वं भावात् । एवमूर्मिशब्दादावुत्तरत्रापि ज्ञेयम् ॥११॥

वस्तुतः जहाँ भाव सत्ता और अभाव सत्ता दोनों का विसर्जन हो जाता है, उसे मध्यमाप्रतिपत्ति कहते हैं। उसमें विश्रान्ति ही योगियों की परा दशा मानी जाती है।

"पहले शून्यता की अवस्था का फिर संवेदन का भी समाप्त होना निर्वाण दशा है। यह अंगार के बुझ जाने जैसा है, जहाँ आग की गर्मी नहीं रह जाती। एक अनिर्वचनीय अवस्था ही होती है वह !" इस कथन से शून्यता का और योगियों की परा दशा की समानता का समर्थन हो जाता है ॥१०॥

वह दशा शून्यप्रमाता की मानी जाती है। वह बाह्य की ओर उन्मुख होकर प्राणप्रमाता हो जाता है। यही कह रहे हैं—

वही शून्य प्रमाता "अभिलाष रूपी मल (स्व० ४।१०४)" के प्रभाव से आणवमल ग्रस्त हो जाता है। मेय को स्वेच्छा से स्वीकार करने लगता है और भेदवाद की भूमि पर गिर पड़ता है। उसमें स्वात्म विमर्श का संस्कार तो रहता है। विमर्श के कारण उसमें उच्छलन होना शुरू हो जाता है। यह आद्य स्पन्द का आदिम स्वरूप है। पतन और उच्छलन दोनों में ऊर्मियों का उल्लास ही 'प्राणस्पन्दोर्मि' शब्द से व्यपदिष्ट है ॥११॥

यदभिप्रायेणैव भट्टश्रीकल्लटादयोऽप्येवमूचुः,—इत्याह

तेनाहुः किल संवित्प्राणे परिणता तथा ।
अन्तःकरणतत्त्वस्य वायुराश्रयतां गतः ॥१२॥

यद्यपि शून्यतावभासनपुरःसरं संवित्प्राणरूपतया परिस्फुरिता तथापि तदवभासनेऽस्या न कश्चिद्रूपान्तरोपग्रहः,—इत्युक्तं 'प्राक्संवित्प्राणे परिणता' इति। तैरप्येतन्निर्मूलमेव नोक्तम्,—इत्यागमोऽपि संवादितः 'अन्तःकरणे-त्यादिना'। अन्तःकरणानां 'तत्त्वं' सारभूता बुद्धिस्तस्य बुद्धिप्रमातुरित्यर्थः। तेन बुद्धिप्रमातुः पूर्वं प्राणोल्लासः,—इति सिद्धम् । अन्यथा कथं स तस्याश्रयः स्यात् ॥१२॥

एवमयमेव परस्याः संविदः प्रथमः परिस्पन्दः,—इति तदभेदवृत्त्यैव सर्वत्रास्य व्यवहारः,—इत्याह

इयं सा प्राणनाशक्तिरान्तरोद्योगदोहदा ।
स्पन्दः स्फुरत्ता विश्रान्तिर्जीवो हृत्प्रतिभा मता ॥१३॥

'आन्तर' आद्यो योऽसौ 'उद्योग' उद्यन्तृतात्मा परिस्पन्दस्तत्र 'दोहदो'ऽभिलाषो यस्याः सा तदेकनिष्ठेत्यर्थः ॥१३॥

नन्वेवमुल्लसिताया अस्याः किं प्रयोजनम् ? इत्याशङ्क्याह

सा प्राणवृत्तिः प्राणाद्यैः रूपैः पञ्चभिरात्मसात् ।
देहं यत्कुरुते संवित्पूर्णस्तेनैष भासते ॥१४॥

इसी अभिप्राय को भट्ट श्रीकल्लट आदि भी इस तरह व्यक्त करते हैं—

कि 'पहले संवित् प्राण रूप में परिणत हुई।' और इसी के फलस्वरूप अन्तःकरण की तत्त्व रूपिणी बुद्धि का आश्रय भी यह प्राणवायु ही बन सका ॥१२॥

परासंविद् के आद्य परिस्पन्द के विषय में कह रहे हैं—

इस आन्तर उद्योग की इच्छा प्राणना वृत्ति में हमेशा रहती है। इसे स्पन्द, स्फुरत्ता, विश्रान्ति, जीव, हृदय और प्रतिभा आदि कई नामों से परिभाषित करते हैं ॥१३॥

सेयं सामान्यपरिस्पन्दात्मा प्राणवृत्तिः पञ्चभिः प्रणापानाद्यै रूपैर्यत्त दन्तर्बहिष्करणाद्याक्रान्तं पाञ्चभौतिकं 'देहमात्मसात्कुरुते' व्याप्यावतिष्ठते तेनैष देहो घटादिवत्संवेद्यत्वेऽपि संवित्पूर्णो भासते संवेतृतया प्रथत इत्यर्थः। अत एव मूढानामयं भ्रमो यच्चैतन्यविशिष्टात्कायादन्यः कश्चिन्नास्ति इति। यदुक्तम्

'चैतन्यखचितात्कायान्नात्मान्योऽस्तीति मन्वते।' इति ॥१४॥

तदाह

प्राणनावृत्तितादात्म्यसंवित्खचितदेहजाम्।
चेष्टां पश्यन्त्यतो मुग्धा नास्त्यन्यदिति मन्वते ॥ १५ ॥

'मुग्धा' इति देहात्मनोर्विवेकमजानानाः। अयमेषां भावः—भूतान्येव हि मृदाद्यवस्थायामचेतनान्यपि सुराकारतया परिणता गुडपिष्टादय इव मदशक्ति, शरीराकारपरिणतानि चैतन्यं प्रतिपद्यन्ते, कालान्तरे च परिणामविशेषभाक्त्वाच्च तच्छून्यतामुपगच्छन्ति, तावन्तं च कालं चेतन्यानपायात्स्मृत्यनुसन्धानादिव्यवहारनिपुणतया चेष्टन्ते,—इति किमन्येन तदतिरिक्तेनात्मनेति ॥ १५ ॥

प्राणनावृत्ति के उल्लास का प्रयोजन बतला रहे हैं—

सामान्य परिस्पन्द वाली प्राणनावृत्ति प्राण अपान आदि पाँच रूपों से इस पाञ्चभौतिक शरीर में व्याप्त है। यही कारण है कि घट-पट के समान मात्र प्रमेय रूप यह देह संवित् शक्ति से परिपूर्ण प्रतीत होता है। जो यह कहते हैं कि "चैतन्य से विशिष्ट शरीर के अतिरिक्त आत्मा नहीं" वे सचमुच अनुभूति के क्षेत्र में अभी अबोध ही हैं ॥१४॥

इसी तथ्य का प्रतिपादन कर रहे हैं--

प्राणनावृत्ति का तादात्म्य संवित् तत्त्व से है। यह तत्त्व इस देह को व्याप्त करता है। उसी से इसमें चेष्टा होती है। इस तथ्य को न जानने वाले देहात्मवादी सचमुच अबोध ही हैं। वे सोचते हैं कि जैसे मधूक, मधु और गुड-यव आदि के सड़ने से शराब और नशा की उत्पत्ति होती है, उसी तरह भूत-संघट्ट से स्मृति आदि शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसलिए ऐसे चैतन्य की विशेषता वाले देह के अतिरिक्त आत्मा का कोई अस्तित्व ही नहीं ॥१५॥

एतदधिशयाना एव 'चार्वाका' इत्युच्यन्ते,—इत्याह

तामेव बालमूर्खस्त्रोप्रायवेदितृसंश्रिताम् ।
मतिं प्रमाणीकुर्वन्तश्चार्वाकास्तत्त्वदर्शिनः ॥ १६ ॥

तामेव मतिमिति, 'चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः' इत्याद्युक्त्या चैतन्यखचितो देह एवात्मा न पुनस्तदतिरिक्तः कश्चित्,—इत्येवंरूपाम् । बालादिसंश्रयेणास्या महाजनानुपसेव्यत्वं दर्शितम् । प्रमाणीकुर्वन्त इति, देहादूर्ध्वमपि यदि कश्चित्तदतिरिक्त आत्मा संभवेत्तत्स्य पूर्वशरीरमपहाय शरीरान्तरमधितिष्ठत एतच्छरीरशैशवादिदशानुभूतार्थस्मरणवत् पूर्वपूर्वशरीरानुभूतार्थस्मरणमपि भवेत् । न हि तस्य शरीरभेदेऽपि नित्यत्वात्स्मरणविशेषे कारणं किंचिदुपश्यामो येनेह जन्मन्येवानुभूतं स्मरति नान्यजन्मानुभूतम्,–इति तस्मादूर्ध्वमन्यः कश्चिन्नात्मास्तीत्येव युक्तम् । यच्छ्रुतिरपि

'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति' (बृ० उ० ४।५।१३) इति ।

इस सिद्धान्त के अनुयायी चार्वाक कहलाते हैं—इसी की चर्चा कर रहे हैं—

चैतन्य विशिष्ट शरीर ही आत्मा है, इसके अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं। इसी सिद्धान्त को ये प्रमाण मानते हैं। बालकों, स्त्रियों और मूर्ख व्यक्तियों की अबोध विचारधारा से समर्थित इस सिद्धान्त का समर्थन कोई विचारक व्यक्ति नहीं करता। इनका कहना है कि यदि इस देह के अतिरिक्त कोई आत्मा होता तो, इस शरीर के शैशव आदि की स्मृतियों की तरह पूर्व-पूर्व शरीरों की स्मृतियाँ बनी रहतीं ! यदि आत्मा नित्य है तो स्मृति भी नित्य होनी चाहिये। अनुभव इसके विपरीत है। स्मृति इसी जीवन की होती है। अतः कहना उचित है कि चैतन्य विशिष्ट देह के अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है। श्रुति भी इसी तथ्य का प्रतिपादन करती है—

"इस भूतार्थ समुदाय से ही समुदित विज्ञानघन चैतन्य नमक की तरह इसी में समाप्त हो जाता है। मृत्यु के उपरान्त किसी प्रकार की किसी संज्ञा का अस्तित्व नहीं"। (वृ० उ० ४।५।१३)

अतश्च परलोकादिचिन्तामपास्य यावज्जीवं सुखमेवासितव्यम्,—इत्येषां तत्त्वमित्युक्तं 'तत्त्वदर्शिन' इति । यदाहुः

'यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्युरगोचरः ।
भस्मीभूतस्य शान्तस्य पुनरागमनं कुतः ।।' इति ।।१६।।

नन्वेवं तत्त्वमनुशीलयतामेषां किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

तेषां तथा भावना चेद्दाढर्यमेति निरन्तरम् ।
तद्देहभङ्गे सुप्ताः स्युरातादृग्वासनाक्षयात् ।।१७।।

'सुप्ता' इत्यपवेद्यप्रलयाकलप्राया इत्यर्थः ।।१७।।

तद्वासनाक्षये त्वेषां किं भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

तद्वासनाक्षये त्वेषामक्षीणं वासनान्तरम् ।
बुद्धं कुतश्चित्संसूते विचित्रां फलसम्पदम् ।।१८।।

इसलिए परलोक आदि की चिन्ता को छोड़कर जीवन पर्यन्त सुखपूर्वक समय यापन करना चाहिये—यह बात चार्वाक तत्त्वदर्शी कहते हैं । उनका कहना है कि—

"जब तक जिओ, सुख से जियो । मरना तो है ही । मृत शरीर के जल जाने पर, फिर आवागमन नहीं होता ।" फिर चिन्ता की कोई बात नहीं ।।१६।।

प्रश्न है कि इस तत्त्ववाद का अनुशीलन करने वालों की क्या गति होती है ? इसी का उत्तर दे रहे हैं—

इन लोगों की यह भावना क्रमशः दृढ़ और बद्धमूल होती जाती है । मरने पर उनको सारी वृत्तियाँ सो जाती हैं । उनकी वासनाओं का क्षय जैसा चाहिये वैसा नहीं होता और प्रलयाकलप्राय अवस्था में ही समाप्त हो जाते हैं ।।१७।।

वासनाक्षय की स्थिति के परिणाम की चर्चा कर रहे हैं—चैतन्य विशिष्ट देह की वासना के क्षय हो जाने पर भी कई प्रकार की वासनायें संस्कार रूप से जागृत रहती हैं । उनके अनुसार विचित्र-विचित्र परिणामों की प्राप्ति होती रहती है । यह सब वासना का ही विकास है ।।१८।।

नन्वेषां सांख्यदिभिरपि साम्यं यत्तेषामप्येवंप्रायैव मुक्तिः, पुनरपि तत्तद्वासनानुसारं विचित्रफलोपभोगस्योदयात् । तद्वक्ष्यति,

'सांख्यवेदादिसंसिद्धाञ्छ्रीकण्ठस्तदहर्मुखे ।
सृजत्येव पुनस्तेन न सम्यङ्मुक्तिरीदृशी ॥'
(श्रीतं० ६-१५३) इति,

तत्सर्वत्रास्यैव कथमवरतया निर्देशः । यदाह 'चार्वाकास्तु वराकाः प्रतिक्षेप्तव्या एव कः क्षुद्रतर्कस्य तदीयस्येह गणनावसर' इति । तत्किमेतत् ? इत्याशङ्क्याह

अदार्ढ्यशङ्कनात्प्राच्यवासनातादवस्थ्यतः ।
अन्यकर्तव्यशैथिल्यात्संभाव्यानुशयत्वतः ॥१९॥

अतद्रूढान्यजनताकर्तव्यपरिलोपनात् ।
नास्तिक्यवासनामाहुः पापात्पापीयसीमिमाम् ॥२०॥

यदप्यस्मदपेक्षया दर्शनान्तराणां तुल्यमेव पापत्वं तथापि नास्तिक्य-वासनायास्ततोऽप्यतिशयेन पापत्वं, यतः 'प्राच्या' अनिषेध्यत्वात्पूर्वभाविनी येयमास्तिक्यवासना तस्यास्तादवस्थ्यं; नहि नास्तिक्यवासनाया दार्ढ्येन प्ररोहोऽस्ति येनैतदुपरमो भवेन्निर्मूलत्वेनादार्ढ्यस्यात्राशङ्क्यमानत्वात् । यथा परं ब्रह्म मूलत्वेनावलम्ब्य प्रपञ्चो मिथ्या,—इत्याद्युच्यमानं दार्ढ्येन प्ररोहमियान्नैवमेतत्; आत्मनो हि नास्तित्वे किमन्यदवशिष्यते यन्नामाजडं मूलभूतमधिकृत्य सर्वमिदं सुव्यवस्थितं स्यात्; जडानामेव च परिणामो भवेदिति न चेतनत्वेनासौ युज्यते,—इत्यन्यैर्बहूक्तमिति तत एवावधार्यम् । अत एवास्तिक्यवासनायास्ताद-वस्थ्येन 'अन्येषां' दर्शनान्तरस्थानाम् 'अग्निहोत्रं जुहुयात्, न हिंस्यात्सर्वभूतानि'

प्रश्न उपस्थित होता है कि "सांख्य और वेद आदि की दृष्टि से सिद्ध पुरुषों को भी भगवान् श्रीकण्ठ सृष्टि के आदि में उत्पन्न करते हैं इत्यादि (तं० ६।१५३) उक्ति के अनुसार सांख्यादि सिद्धों से इन चार्वाकों को समानता प्रतीत होती है फिर भी इन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता है, उनके तर्कों को क्षुद्र माना जाता है—यह क्यों ? इसका उत्तर दे रहे हैं—कि पाँच कारणों से चार्वाक मत समर्थित नास्तिक्यवाद को अत्यन्त पापीयसी वासना मानते हैं । वे कारण हैं—

१. ब्रह्मवाद की तरह इसमें दृढ़ता नहीं होती क्योंकि यह सिद्धान्त ही निर्मूल है । २. नास्तिकता की प्रबलता के कारण उसी ओर उन्मुखता बनी

इत्याद्यात्मना विधिनिषेधरूपेण 'कर्तव्येन' शैथिल्यमस्या जायते । यदात्मनोऽस्तित्वे यदि कैश्चित्पारलौकिकं किंचिदनुष्ठोयते तद्यावद्दूरे आस्ताम्; आत्मनः पुनर्नास्तित्वेऽप्यन्यैः कुशलप्रवृत्तिरकुशलविरतिश्च क्रियते,—इत्यत्र निमित्त किंचित्संभवेत्, अन्यथा सर्व एव किमेवं कुर्युः। अस्माकं च किंचिदपि कर्तव्यं नास्ति,—इत्यस्थान एवास्माभिर्भ्रान्तं, किमिदं व्यामूढैरिवासितम्,—इत्येवमात्मा पश्चात्तापोऽप्यत्र संभावनीयस्तस्मिन्नुत्पन्ने सति सुखमेव न्यायोपन्यासकदर्थनां परिहृत्य

'सन्दिग्धेऽपि परे लोके त्याज्यमेवाशुभं बुधैः ।
यदि नास्ति ततः किं स्यादस्ति चेन्नास्तिको हतः ॥'

इत्यादिना मित्रसंमतेनाप्युपदेशेन तस्यामास्तिक्यवासनाया रूढयान्यया दर्शनान्तरस्थया जनतयावश्यमेवास्याः परिलोपः कार्यः,—इति ॥२०॥

तदेवमत्र प्रसक्तानुप्रसक्तिकया परदर्शनकथा मा प्रसाङ्क्षीत्,—इति प्रकृतमेवानुसरति

अलमप्रस्तुतेनाथ प्रकृतं प्रविविच्यते ।

रहती है । ३. श्रुति के विधान जैसे 'यज्ञ करना चाहिए, जीव हिंसा नहीं करनी चाहिये' वचनों के कारण विधि निषेधात्मक संस्कार ही प्रबल रहते हैं। परिणामतः आस्तिकता में शिथिलता आ जाती है । ४. अनुशय के कारण मन में यह पश्चात्ताप बना रहता है कि कहाँ से कहाँ इस विभ्रम में मैं भ्रान्त हो गया। ५. उसमें आस्था न रखने वाली जनता द्वारा नास्तिक्य के विरोध के कारण। कहा जाता है कि,

"यद्यपि परलोक को सन्देह का विषय मानते हैं किन्तु यह सर्वसम्मति से स्वीकार्य है कि अशुभ का परित्याग विज्ञजन को करना ही चाहिये। परलोक के न रहने पर भी पुण्यकर्ता का तो कुछ नहीं बिगड़ता पर नास्तिक विचारा तो परलोक रहने पर मारा ही गया।"

इस उक्ति के अनुसार नास्तिकता से अनर्थ की सम्भावना बनी रहती है। परिणामतः इसे अत्यन्त हेय और नीच कोटि का मतवाद मानते हैं। इसका लोप आवश्यक है ॥१९-२०॥

प्रसङ्ग में अप्रासंङ्गिक विषय का सम्पर्क न हो जाय, अतः प्रकृत का अनुसरण कर रहे हैं—

तदेवाह

यावान्समस्त एवायमध्वा प्राणे प्रतिष्ठितः ॥२१॥

द्विधा च सोऽध्वा क्रियया मूर्त्या च प्रविभज्यते ।

द्विधेति देशकालभेदेन। तत्र क्रियया कालाध्वा प्रविभज्यते मूर्त्या च देशाध्वा। यदुक्तम्

'मूर्तिवैचित्र्यतो देशक्रममाभासयत्यसौ ।
क्रियावैचित्र्यनिर्भासात्कालक्रममपीश्वरः ॥'
(ई० प्र० २।१।५) इति ।२१॥

ननु

'अध्वा समस्त एवायं चिन्मात्रे संप्रतिष्ठितः ।
यत्तत्र नहि विश्रान्तं तन्नभःकुसुमायते ॥' श्रीतं० ८।३)

इत्यादिवक्ष्यमाणनीत्यास्य संविदि प्रतिष्ठितत्वं युक्तं न जडात्मनि प्राणे,—इत्याशङ्क्याह

प्राण एव शिखा श्रीमत्त्रिशिरस्युदिता हि सा ॥ २२ ॥

बद्धा यागादिकाले तु निष्कलत्वाच्छिवात्मिका ।

'शिखा परिमिता शक्तिर्भैरवस्य तु कथ्यते ।
क्रियाशक्तिरिति ख्याता .... ॥' इति ॥ २२ ॥

यह सारा अध्वमण्डल प्राण में ही प्रतिष्ठित है। यह भी क्रिया और मूर्ति दो भेदों में विभक्त है। क्रिया से कालाध्वा और मूर्त्ति से देशाध्वा का विभाजन स्वाभाविक है। कहा गया है—

"मूर्त्ति की विचित्रता से देश का आभासन भगवान् करते हैं। क्रिया वैचित्र्य से काल के क्रम का निर्भासन होता है।" ई० प्र० २।१।५ ॥ २१ ॥

तं० के ८।३ श्लोक में "अध्वा चिन्मात्र में प्रतिष्ठित है।" जो वहाँ नहीं है वह आकाश कुसुम है। चिन्मात्र में प्रतिष्ठा की बात तो ठीक है—जडात्मक प्राण में यह कैसे प्रतिष्ठित माना गया है--इसका उत्तर दे रहे हैं—

त्रैशिरस् शास्त्र में कहा गया है कि प्राण में ही--"शिखा रूपी क्रिया शक्ति प्रतिष्ठित है।" याग आदि के समय यह बाँधी जाती है। यह निष्कल होने के कारण शिवात्मक होती है ॥२२॥

ननु को नामास्या बन्धो येन यागादौ निष्कलत्वाच्छिवात्मिकेयं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

यतोऽहोरात्रमध्येऽस्याश्चतुर्विंशतिधा गतिः ॥ २३ ॥
प्राणविक्षेपरन्ध्राख्यशतैश्चित्रफलप्रदा ।

यत्षष्टिघटिकासंख्याकस्य बाह्यस्याहोरात्रस्य मध्येऽस्याः प्राणरूपायाः पारमेश्वर्याः क्रियाशक्ते प्राणचाराणां रन्ध्राख्यैर्द्वारसंख्याकैर्नवभिः शतैरुपलक्षिता, अत एव चतुर्विंशतिभिः संक्रान्तिलक्षणैः प्रकारैरैहिकामुत्रिकभेदाच्चित्रफलप्रदा गतिरूर्ध्वाधरवाहलक्षणश्चारो भवेदित्यर्थः। अयमत्राभिप्रायः—इह खलु सर्वप्राणिनां

'मनोऽप्यन्यत्र निक्षिप्तं चक्षुरन्यत्र पातितम् ।
तथा प्रवर्तते प्राणस्त्वयत्नादेव सर्वदा ॥' (स्व० ७।५७)

इत्याद्युक्त्या स्वरसत एव मध्यमः प्राणो वहति,—इति बाह्येनाहोरात्रेण

यह शिखाबन्ध क्या है ? याग आदि में निष्कल शिवात्मिका शिखा प्राणशक्त्यात्मिका कैसे रहती है ? इनके उत्तर में पहले प्राणचार की चर्चा कर रहे हैं--

इस प्राणरूपा पारमेश्वरी शक्ति के प्राणचार की गति बाह्य ६० घड़ी के अहोरात्र की २४ संक्रान्तियों में ९०० की गुणनपरिगति तुल्य अर्थात् २१६००० होती है। प्राण विक्षेप ही संक्रान्तियाँ होती हैं। रन्ध्र शरीर के द्वार हैं। ये ९ हैं। इनकी परिधि में ऊर्ध्व और अधः प्राणवाह चलता है। ऊर्ध्व होने पर यह ऐहिक देह विश्व में रहता है और अधःवाह में यह शरीर से बाहर विश्वातीत चिति केन्द्र से सम्पृक्त होता है। जीवन-मृत्यु दोनों का यह उत्स है।

सामान्य जनों की दशा इसके विपरीत है। वे उक्त प्रकार के प्राणवाह से परिचित नहीं होते। उनके "मन अन्यत्र और दृष्टि अन्यत्र होती है। जहाँ तक प्राण का प्रश्न है, वह अनायास प्रवर्त्तित होता रहता है" (स्व० ७।५७) योगियों की भी यह दशा होती है। उनके मन विषयों से अलग और दृष्टि स्वात्म संविद् विमर्श वपु परमेश्वर की ओर होती है। हंसः सोहम् के ऊर्ध्व अधः प्रवाह में प्राण अनायास मध्य धाम का स्पर्श करता रहता है।

'षट् शतानि वरारोहे सहस्राण्येकविंशतिः ।
अहोरात्रेण बाह्येन अध्यात्मं तु सुराधिपे ॥' (स्व० ७।५३)

इत्याद्युक्त्यान्तः सषट्शता सहस्रैकविंशतिः प्राणचाराणां भवेत् । तत्र प्रतिघटिकं

'शतानि त्रीण्यहोरात्राः षष्टिरेव तथाधिकाः ।
वर्षमेतत्समाख्यातं बाह्ये वै घटिका च सा ॥' (स्व० ७।५१)

इत्याद्युक्त्या प्राणचाराणां सषष्टिस्त्रिशती,—इति सार्धेन घटिकाद्वयेन नवशतानि भवन्ति, स एव च संक्रान्तीनां प्रत्येकमुदयः । यदुक्तम्

'चतुर्विंशतिसंक्रान्त्यः समधातोः स्वभावतः ।
शतानि नव वै हंस एकामेकां वहेत्सदा ॥'
(स्व०७।१६८) इति ।

सार्धं च घटिकाद्वयं चतुर्विंशतिधा गुणितं षष्टिर्घटिका भवन्ति,—इत्यहोरात्रमध्ये तत्संख्याकानामुदयः । यदुक्तम्

'बाह्ये चैव त्वहोरात्रे अध्यात्मं तु वरानने ।
चतुर्विंशतिसंक्रान्तीः प्राणहंसस्तु संक्रमेत् ॥
अहनि द्वादश प्रोक्ता रात्रौ वै द्वादश स्मृताः ।'
(स्व० ७।१६७) इति ।

यद्यपीयन्तः प्राणचारा अहोरात्रमध्ये भवन्ति,—इत्येतावदत्र वक्तव्यं, तथापि तथात्वे तेषां गणनामात्रं प्रदर्शितं भवेत्, तु तत्तद्विचित्रफलोदयनिमित्तत्वमपीत्येवमुक्तम् ॥२३ ॥

स्व० ७।५४ के अनुसार "बाह्य अहोरात्र में आत्मा के आश्रय से इक्कीस हजार छः सौ प्राणचार होते हैं ।" स्व० ७।५२ के अनुसार घटिका साठ 'चषक' की होती है । ६ अंगुल का एक 'चषक' होता है । अतः ६० × ६ = ३६० प्राणचार एक घड़ी में होते हैं ।" इनमें ६० घड़ियों का गुणा करने पर एक अहोरात्र में २१६०० श्वास चार सिद्ध हो जाता है । २½ घड़ी में यही प्राणवाह ९०० होते हैं । स्व० ७।१७० के अनुसार "वात पित्त और कफ इन तीनों पर विजय प्राप्त कर शरीर गत समस्त धातुओं को समस्तर पर रखने वाले योगी के प्राणवाह में २४ संक्रान्तियाँ होती हैं । २४ संक्रान्तियों में ९०० प्राणवाह का (जो २½ घड़ी में होते हैं) गुणा करने पर २१६०० संख्या अहोरात्र के कुल प्राणवाहों की होती है ।

नन्वेवंविधः शिखाया बन्धः,—इति वक्तुं प्रस्तुते किमिदमप्रस्तुतमभिधीयते यत्प्राणचाराणामियती गतिरिति। नैतत्, अयमेव हि शिखाबन्धो यत्प्राणशक्तेः प्रतिचारमादिमध्यान्तेष्ववधानेन पुनः पुनः परामर्शनं नाम। यदभिप्रायेणैव

'षट् शतानि दिवा रात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः।
जपो देव्याः समुद्दिष्टः सुलभो दुर्लभो जडैः॥' (वि०भै० १५६)

इत्याद्यन्यत्रोक्तं, तदाह

क्षपा शशी तथापानो नाद एकत्र तिष्ठति॥ २४॥

जीवादित्यो न चोद्गच्छेत्तुटचर्धं सान्ध्यमोदृशम्।
ऊर्ध्ववक्त्रो रविश्चन्द्रोऽधोमुखो वह्निरन्तरे॥ २५॥
माध्याह्निकी मोक्षदा स्याद् व्योममध्यस्थितो रविः।
अनस्तमितसारो हि जन्तुचक्रप्रबोधकः॥ २६॥

स्व० ७।१६७–१६८ के अनुसार भी "दिन में बारह और रात में बारह कुल चौबिस संक्रान्तियों में प्राण हंस चंक्रमण करता रहता है। यह चंक्रमण आत्मा के अधिकार क्षेत्र के एक अहोरात्र में होता है।" इस में प्राणचार की गणना प्रदर्शित की गई है॥ २३॥

शिखाबन्ध सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर में प्राणचार की गणना देना अप्रासंगिक लगता है, पर ऐसी बात नहीं है। प्राणशक्ति के प्रति संचार में आदि, मध्य और अन्त का अवधान पूर्वक परामर्श ही शिखाबन्ध कहलाता है। अतः प्राणचार का प्रकरण अप्रांसगिक नहीं, सही है। विज्ञान भैरव १५६ में कहा गया है कि "दिन रात मिलाकर २१६०० बार देवी का जप योगियों को सुलभ है और मन्दमति मूर्खों के लिए दुर्लभ। इसी तथ्य को अपने शब्दों में व्यक्त कर रहे हैं—

योगियों के जप के लिये तीन महासन्ध्याओं का बहुत ही महत्त्व है। १—प्रातः सन्ध्या, २—मध्याह्न सन्ध्या और ३—सान्ध्य महासन्ध्या। इनके अतिरिक्त पक्ष सन्ध्याओं का भी महत्त्व है। जिस समय वाम पार्श्व में द्वादशान्त से हृदय में चार करने वाला अपान चन्द्र अपनी गति समाप्त कर लिया

विन्दुः प्राणो ह्यहश्चैव रविरेकत्र तिष्ठति ।
महासन्ध्या तृतीया तु सुप्रशान्तात्मिका स्थिता ॥ २७ ॥

यदात्रैकत्र वामपार्श्वे द्वादशान्ताद्धृदन्तं चरन्क्षपाशशी तिष्ठति हृदये निवृत्तगतिर्भवतिप्राणादित्यश्च ततो नोद्गच्छति तदेदृशमपानीयमन्त्यं तुटयर्धं सान्ध्यं वक्ष्यमाणनीत्योद्गच्छत्प्राणार्काद्यतुटयर्धसंमीलनया सचतुर्भागाङ्गुलद्वय-प्रमाणप्राणचाररूपा प्राभातिकी सन्ध्या भवेदित्यर्थः यदुक्तं तत्र

'स चन्द्रो विद्यमानोऽपि अपानो हृदि मध्यतः ।
यदा तूत्सन्नता याति जीवावित्यो न चोद्गमेत् ॥
प्राभातिकीति विज्ञेया आत्मतत्त्वप्रबोधिनी ।
क्षपा शशी तथापानो नाद एकत्र तिष्ठति ॥
तुटयर्धं ज्ञानमहसा सन्ध्या वै समुदाहृता ।' इति ।

तदनन्तरं च यदा प्राणात्मा रविरूर्ध्वमुखत्वेन चरंस्ताल्वाद्यात्मन्यन्तरे स्थित-श्चन्द्रश्चापानात्माधोमुखत्वेन,—इति तयोः प्रमाणप्रमेयात्मनोः संघट्टात्प्रमातृ-रूपो वह्निरुदियात्तदेयं माध्याह्निकी सन्ध्या मोक्षदा स्यात्; यतो मध्यनाडीसंबन्धितो 'व्योम्नः' सुषिरस्य 'मध्ये' तालुस्थाने स्थितो बहिर्मुख-

---

होता है और प्राण सूर्य अभी ऊर्ध्व की ओर गतिशील नहीं हुआ रहता है, उस समय की अपान सन्धि की अन्तिम तुटिका आधा और उद्गत होने को तत्पर प्राण सूर्य की आधा तुटि अर्थात् २½ अंगुल का प्राणचार का समय प्राभातिकी सन्ध्या का समय होता है। विज्ञान भैरव में इसी का प्रतिपादन किया गया है कि "अपान चन्द्र के अस्तमन और जीवादित्य के उद्गमन के अन्तिम और आदि तुट्यर्ध का समय आत्मतत्त्व का प्रबोधक होता है। बोध का प्रकाश करने वाली वह प्रभात कालीन सन्ध्या होती है।"

इसके बाद प्राणसूर्य आगे बढ़ता है। तुटियों और चषकों को पार करता हुआ ताल्वादि के मध्य भाग में चार करता रहता है, उस समय अपान चन्द्र का मुख नीचे की ओर रहता है। सूर्य प्रमाण और चन्द्र प्रमेय का वहाँ संघट्ट होता है। इस संघट्ट से प्रमाता रूप अग्नि का उदय होता है। सौषुम्न आकाश के मध्य में सूर्य मध्याह्न काल का द्योतन करता है। यह ध्यान देने की बात है कि बहिर्मखता में यद्यपि सूर्य प्रमाण होता है फिर भी संवित् तत्त्व

त्वेन प्रमाणत्वेऽपि प्रमातृरूपस्यानपायादनस्तमितसारो रविर्जन्तुचक्रस्य प्रकर्षेण 'बोधकः' प्रमाणप्रमेयत्वेऽपि प्रमातृरूपतयावभासक इत्यर्थः । यदुक्तं तत्र

'ऊर्ध्ववक्त्रः स्थितो भानुश्चन्द्रश्चाधोमुखः स्थितः ।'

इत्युपक्रम्य

'तदन्तराले उदितस्ताल्वाकाशान्तगोचरे ।
प्रमाणरहितो भाव्यः सुशान्तः शान्तबोधनात् ।।
व्योमवद्व्योमवह्निस्तु त्रुटयर्धं कालकल्पनात् ।
माध्याह्निकी तु विज्ञेया संध्या मोक्षप्रदायिका ।।
व्योममध्यस्थितः सूर्यः परादित्येति कथ्यते ।
अनस्तमितसारो हि जन्तुचक्रप्रबोधकः ।।' इति ।

तदनन्तरं च विन्द्वाद्यात्मना रविर्यदेकत्र द्वादशान्ते 'तिष्ठति' निवृत्तगतिर्भवति, अर्थाच्चापानचन्द्रश्च नोद्गच्छति तदा निःशेषविश्वोपशमात्स्वप्रशान्तात्मिका, अत एवेयं महती सन्ध्या तृतोया 'स्थिता' स्वरसोदितत्वेन वर्तमानेत्यर्थः । यदुक्तं तत्र

'बिन्दुः प्राणोऽप्यहश्चैव रविरेकत्र तिष्ठति ।
सुप्रशान्तं तु संतिष्ठेन्मनोव्यावृत्तिवर्जितः ।।
कृत्वा प्रशान्तभूमौ च स्वरूपं सन्धिदेशतः ।
महासन्ध्या तु विज्ञेया तृतीया परिकीर्तिता ।।' इति ।।२७।।

संस्कृत होने के कारण उसमें प्रमातृ भाव का सार कभी अस्त नहीं होता। इस लिये प्राणियों को प्रबोध प्रदान करने में यह समर्थ होता है। यह समय मध्याह्न सन्ध्या का होता है। यह सन्ध्या मोक्ष प्रदान करने वाली है। विज्ञान भैरव के उद्धृत श्लोकों में उक्त अर्थ ही व्यक्त है।

इसके बाद सूर्य वहाँ से चल कर क्षीण होता हुआ विन्दु रूप से द्वादशान्त में (चितिकेन्द्र में) पहुंचता है। वहीं प्राण की समष्टि, वहीं दिन सभी अमा कला में अवस्थित होते हैं। अभी अपान चन्द्र भी ऊर्ध्वमुख नहीं होता। उस समय मानो समग्र विश्व शान्त हो जाता है। मन की गति समाप्त हो जाती है। यह वेला तीसरी महासन्ध्या की वेला होती है। श्वास ७२ अंगुल के चार में ६ सन्ध्याओं में विश्रान्ति का अनुभव करता हुआ साधक योग की पराकाष्ठा

एतच्चोपसंहारद्वारेण प्रकृते योजयति

एवं बद्धा शिखा यत्र तत्तत्फलनियोजिका ।

एवमुक्तेन प्रकारेण क्रमेण यत्र यागादौ प्राणशक्त्यात्मिका शिखा बद्धा मार्गान्तरखिलीकारेण मध्यधामन्येव निश्चलत्वमापादिता तत्र तस्य तस्य मन्त्रसंनिधानादेः फलस्य नियोजिका भवेदित्यर्थः । तदुक्तं तत्र

'तया निबद्धया देहे संनिधानं गुणेश्वराः ।
विदध्युः साधकेन्द्राणां देवि नास्त्यत्र संशयः ।।' इति ॥

एवं प्राणः पारमेश्वरी शक्तिरिति तत्र यदध्वनः प्रतिष्ठानमुक्तं तत्संविद्येव पर्यवस्येत्,—इत्याह

अतः संविदि सर्वोऽयमध्वा विश्रम्य तिष्ठति ।।२८।।

नन्वमूर्तायां निष्क्रियायां च संविदि मूर्तः क्रमिकश्चाध्वा कथमास्ते ? इत्याशङ्क्याह

को प्राप्त कर लेता है ।[१] यह ध्यान देने की बात है कि इडा क्रिया शक्ति प्रधान नाद नाडी, पिङ्गला ज्ञान प्रधान बिन्दु नाड़ी और सुषुम्ना इच्छा शक्ति प्रधान उत्तम नाड़ी है[२] ॥ २४–२७ ॥

इस प्रसङ्ग का उपसंहार कर प्रकृत की चर्चा कर रहे हैं—

इस प्रकार याग में या साधना में प्राणशक्ति रूपा यह शिखा जिसके द्वारा निर्धारित क्रम में उन स्थानों पर नियन्त्रित कर ली गयी है, वे साधकों में अग्रणी हैं । यदि उन स्थानों पर विशिष्ट मन्त्रों के जप किये जाएँ तो वे मन्त्र विशेष फलप्रद हो जाते हैं । कहा गया है—

"शरीर में शिखा के बाँध लेने पर गुणों के अध्यक्ष देव गण ऐसे साधकों को सन्निधान प्रदान करते हैं । हे देवि ! इसमें संशय नहीं ।"

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि प्राण परमेश्वर की स्वात्म शक्ति है । इसमें अध्वा की प्रतिष्ठा का तात्पर्य संविद् शक्ति में प्रतिष्ठा से ही है । इसलिये श्लोक के अन्त में इसकी घोषणा करते हैं कि समस्त अध्वा संविद् तत्त्व में ही विश्राम प्राप्त कर उल्लसित हैं ॥ २८ ॥

१. तन्त्रसार प्रथमभाग—पृ० २२७–२२ २. स्व० ७।१९

अमूर्तायाः सर्वगत्वान्निष्क्रियायाश्च संविदः ।
मूर्तिक्रियाभासनं यत्स एवाध्वा महेशितुः ॥२९॥

एवमेवंविधायाः संविदो यन्नाम मूर्तिक्रियात्मनावभासनं स एव भुवनादिरूपो मन्त्रादिरूपो वाध्वा न त्वतिरिक्तः कश्चिदाधेयो येनेवमाशङ्का स्यात् ॥२९॥

नन्वत्राध्वशब्दस्य प्रवृत्तौ किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

अध्वा क्रमेण यातव्ये पदे संप्राप्तिकारणम् ।
द्वैतिनां भोग्यभावात्तु प्रबुद्धानां यतोऽद्यते ॥३०॥

'यातव्ये पदे' इति शिवतत्त्वात्मनि । भेददशायां हि तत्तत्तत्वोल्लङ्घनक्रमेण षट्त्रिंशं शिवतत्त्वं प्राप्यत्वेनोक्तम् । भोग्यभावादित्यदनीयत्वात्; अधिगतसंवित्तत्त्वा हि सर्वं स्वात्मसात्कुर्वन्तीति भावः । तेनाध्वैवाध्वा, अद्यत इत्यध्वा चेति ॥३०॥

ननु सर्वशब्दानां समयमात्रादेवार्थप्रतिपादनं सिद्ध्येत्,—इति किमत्रानु-[न्वर्थ] स्मरणेन नहि सर्वत्रैवैतत्संभवेत् ? इत्याशङ्क्याह

इह सर्वत्र शब्दानामन्वर्थं चर्चयेद्यतः ।

प्रश्न है कि अमूर्त्त और निष्क्रिय संवित् शक्ति में मूर्त्त और सक्रिय क्रमिक अध्वा कैसे हो सकते हैं ? इसका उत्तर दे रहे हैं--

अमूर्त और सर्वव्याप्त होने पर निष्क्रिय लगने वाली संविद् शक्ति की मूर्त्ति और क्रिया रूपों का आभासन ही अध्वा है। वही भुवन रूपों में और मन्त्रादि रूपों में आभासित है। यह कोई अतिरिक्त आधेय नहीं ॥ २९ ॥

इन अर्थों में अध्वा शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त बतला रहे हैं--

अध्वा का अर्थ मार्ग होता है। मार्ग मंजिल की प्राप्ति का कारण होता है। जीवन का अन्तिम उद्देश्य, यातव्य अथवा प्राप्तव्य परमेश्वर शिव है। अध्वा उस परम पद की सम्प्राप्ति का कारण है। द्वैत मार्ग के पथिकों के लिए भोग्य रूप में इसका उपभोग हो रहा है और प्रबुद्ध साधकों द्वारा यह स्वात्मसात् ही किया जा रहा है।। ३० ॥

यद्यप्यर्थाभिधाने शब्दानां त्रयी गतिर्यौगिको रूढा योगरूढा च। तत्रापि यौगिक्या एव प्राधान्यं सनिमित्तं तत्र तस्याः प्रवृत्तेः, अत एवान्यद्द्वयमत्रैव यथाकथंचिदन्तर्भावनीयं येन सर्वत्रैवान्वर्थचर्चा पारं यायात्॥

तदाह

उक्तं श्रीमन्निशाचारे संज्ञात्र त्रिविधा मता ॥ ३१ ॥

नैमित्तिकी प्रसिद्धा च तथान्या पारिभाषिकी।

पूर्वत्वे वा प्रधानं स्यात्तत्रान्तर्भावयेत्ततः ॥ ३२ ॥

अतोऽध्वशब्दस्योक्तेयं निरुक्तिर्नोदितापि चेत्।

क्वचित्स्वबुद्ध्या साप्यूह्या कियल्लेख्यं हि पुस्तके ॥ ३३ ॥

प्रसिद्धेति, सनिमित्तत्वेऽपि क्वचिदेव रूढेः। यदुक्तं तत्र

'संज्ञा हि त्रिविधा ज्ञेया शिवशास्त्रेषु सर्वदा।
पारिभाषिकनैमित्ती सद्धा चासौ प्रसिद्धिभाक्॥
इह नैमित्तिकी संज्ञा निमित्तात्तु समागता।' इति।

एवमिह सर्वसंज्ञानां निमित्ततात्यवश्यं वाच्येत्यत्रैवमुक्तमित्याह 'अत' इति। ननु यद्येवं तत्सर्वत्रैव कस्मादेवं नोक्तमित्याशङ्क्याह नोदितेत्यादि। कियदिति, नह्यत्र शब्दव्युत्पादनं प्रस्तुतमिति भावः॥ ३३ ॥

सभी शब्दों के प्रयोग मात्र से ही अर्थ प्रतीति हो जाती है। यहाँ प्रयोग के बाद अर्थ का अनुस्मरण करना पड़ रहा है? ऐसा क्यों? इसी का उत्तर दे रहे हैं--

प्रयोग की दृष्टि से यौगिक, योगरूढ़ और रूढ़ शब्दों के ३ भेद होते हैं। दो शब्दों के योग से यौगिक शब्द बनते हैं। इस योग से एक शक्ति उत्पन्न होती है। उसे यौगिकी शक्ति कहते हैं। यौगिक शब्दों से अर्थ की जानकारी इसी शक्ति से होती है। अन्य रूढ और योगरूढ़ शब्दों के अर्थ प्रकट करने में यही यौगिक शक्ति किसी न किसी तरह काम आती है। अतः अर्थ का अनुस्मरण होता है।

निशाचर शास्त्र में इनके तीन भेद कहे गये हैं--

१. नैमित्तिकी २. प्रसिद्धा और ३. पारिभाषिकी।

ननु परस्याः संविदो मूर्तिक्रियाभासनमध्वेत्युक्तं तत्र क्रियावभासने कतरोऽध्वा मूर्त्यवभासने च कतर? इत्याशङ्क्याह

तत्र क्रियाभासनं यत्सोऽध्वा कालाह्व उच्यते ।
वर्णमन्त्रपदाभिख्यमत्रास्तेऽध्वत्रयं स्फुटम् ।। ३४ ।।

यस्तु मूर्त्यवभासांशः स देशाध्वा निगद्यते ।
कलातत्त्वपुराभिख्यमन्तर्भूतमिह त्रयम् ।। ३५ ।।

ननु यदि नाम मूर्तिक्रिययोर्वैचित्र्यावभासाद्देशकालभेदेनाध्वनो द्वैविध्यमुच्यते तदास्तां, तत्रापि प्रत्येकं त्रैविध्ये किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

त्रिकद्वयेऽत्र प्रत्येकं स्थूलं सूक्ष्मं परं वपुः ।
यतोऽस्ति तेन सर्वोऽयमध्वा षड्विध उच्यते ।। ३६ ।।

तेनेति, स्थूलसूक्ष्मपरत्वेन पदवर्णमन्त्रात्मतया भुवनतत्त्वकलात्मतया च प्रत्येकं त्रैविध्येन हेतुनेत्यर्थः । यदुक्तम्

'पदानि मन्त्रारब्धानि मान्त्रा वर्णैकविग्रहाः ।
वर्णाः स्वनिष्ठा इत्येषां स्थूलसूक्ष्मपरात्मता ।।' इति ।

अर्थ किसी निमित्त से ही प्रधानतया व्यक्त होते हैं । इससे अद् धातु का भोग्य अर्थ या सम्प्राप्ति का अर्थ, दोनों अध्वा के अन्तर्गत ही आयेंगे । जहाँ शब्दतः कथन न हो वहाँ स्वयम् अर्थ का ऊहन करना चाहिए ।। ३३ ।।

परासंविद् के मूर्त्ति या क्रिया के अवभासन को अध्वा कहते हैं । प्रश्न है कि क्रिया के अवभासन में कौन और मूर्त्ति के अवभासन में कौन अध्वा होता है ? इसी प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

क्रियावभासन में 'काल' नामक अध्वा होता है । इसके तीन भेद होते हैं । १. वर्ण, २. मन्त्र और ३. पद । मूर्त्ति के अवभासन में भी तीन १–कला, २–तत्त्व और ३–पुर (भुवन) नामक अध्वा-भेद विधायें होती हैं ।। ३४–३५ ।।

प्रत्येक के ३–३ भेद का कारण स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि ये तीनों भेद स्थूल सूक्ष्म और पर भेद के कारण होते हैं । कहा गया है कि

तथा

'भुवनव्यापिता तत्त्वेष्वनन्तादिशिवान्तके ।' (स्व० ४।९५) इति ।

तथा

कलान्तर्भाविनस्ते वै निवृत्याद्यास्तु ताः कलाः ।।
(स्व० ४।९७) इति ॥ ३६ ॥

तत्र प्रस्तुतं कालाध्वानं तावदवतारयति

षड्विधादध्वनः प्राच्यं यदेतत्त्रितयं पुनः ।
एष एव स कालाध्वा प्राणे स्पष्टं प्रतिष्ठितः ।। ३७ ।।

प्राच्यमिति पूर्वोद्दिष्टं पदमन्त्रवर्णाख्यम् ।

'प्राण' इत्युपलक्षणं, तेनापानादावप्येवमेव ।। ३७ ॥

नन्वेवं क्रमाक्रमात्मा काल उक्तः स एव किं तत्त्वानामन्तःपरिगणितो न वा ? इत्याशङ्क्याह

तत्त्वमध्यस्थितात्कालादन्योऽयं काल उच्यते ।

अन्यस्तद्वैलक्षण्यात् ।।

"पद मन्त्रात्मक शब्दांशों के योग से बनते हैं। मन्त्र मात्र वर्णों से निर्मित होते हैं किन्तु वर्ण आत्मनिष्ठ होते हैं। इस तरह पद स्थूल, मन्त्र उससे सूक्ष्म और वर्ण स्वात्म संविद् के 'परात्मक' स्पन्द होते हैं।" ये कालाध्वा के भेद हैं।

स्व० तन्त्र के ४।९६-९७ में देशाध्वा के पुर (भुवन) को स्थूल कहा गया है क्योंकि इस स्थूलता में तत्त्वों की अर्थात् सूक्ष्म की व्याप्ति होती है। और इनकी परात्मक अभिव्यक्ति कला के ही अन्तराल में होती है। निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ता और शान्तातीता ये कलायें होती हैं। ये उत्तरोत्तर पर अर्थात् श्रेष्ठ हैं ॥ ३६ ॥

कालाध्वा की अवतारणा कर रहे हैं —

छः प्रकार के अध्वा भेद में पहले तीन कालाध्वा के अन्तर्गत हैं। समस्त कालाध्वा प्राण में प्रतिष्ठित है। प्राण उपलक्षण शब्द के आधार पर अपान आदि में भी यही क्रम गृहीत होते हैं ॥ ३७ ॥

तदेवाह

एष कालो हि देवस्य विश्वाभासनकारिणो ।। ३८ ।।
क्रियाशक्तिः समस्तानां तत्त्वानां च परं वपुः ।

'परं वपुः' इत्युत्पत्तिस्थानम्, अत एव 'विश्वावभासनकारिणी' इत्युक्तम् ॥ ३८ ॥

ननु परस्याः संविदो विश्वावभासकारित्वं नाम बहिरुन्मेष उच्यते तदेवमस्येश्वररूपत्वमुक्तं स्यादित्याह

एतदीश्वरतत्त्वं तच्छिवस्य वपुरुच्यते ।। ३९ ।।
उद्रिक्ताभोगकार्यात्मविश्वैकात्म्यमिदं यतः ।

'तत्' तस्माद्बहिरुन्मेषलक्षणाद्विश्वावभासकारित्वाद्धेतोरेतदीश्वरतत्त्वमुच्यते, कालात्मनः क्रियाशक्तेरेवैतद्विश्वकलनात्मकत्वं बहिर्मुखं रूपमित्यर्थः। ननु मायादीनामप्येवं रूपं संभाव्यते, इत्येतदेव कथमुक्तमित्याशङ्क्याह 'शिवस्य वपुः' इति। बहिरौन्मुख्येऽपि स्वात्मन्येव विश्रान्तं, यत इदं बहिर्मुखत्वस्य धाराधिरूढत्वादुद्रिक्ताभोगम्, अत एव कार्यात्म यद्विश्वं तस्य 'इदमहम्' इति प्रतीतेः 'ऐकात्म्यं' स्वात्मसात्कार इत्यर्थः। अत एव भेदाभेददशेयमिति सर्वैरुद्घोष्यते ॥ ३९ ॥

क्रमात्मक काल से इस काल का अन्तर स्पष्ट कर रहे हैं--

तत्त्वों के बीच में जिस काल का परिगणन किया गया हैं—वह काल यहाँ नहीं है। वह काल तो कञ्चुक है पर यह काल तो परमेश्वर की क्रिया शक्ति ही है। यह सभी तत्त्वों का उत्स रूप है। इसी से विश्व प्रकाशित होता है ॥ ३८ ॥

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि, परासंविद् समस्त तत्त्वों का ब्राह्य उन्मेष अर्थात् विश्व का अवभासन करती हैं। तो यहाँ क्यों क्रियाशक्ति ईश्वर की कही गयी है ? इसी का उत्तर दे रहे हैं कि,

यह ईश्वर तत्त्व ही है। शिवतत्त्व का ही यह भी एक बाह्य उल्लास है। विश्व की कलना ही कालात्मक क्रिया शक्ति से है। विश्व क्रियाशक्ति का बहिर्मुख रूप ही तो है। यह ध्यातव्य है कि बाह्य उन्मुखता में भी स्वात्मविश्रान्ति

नन्वेवमनेनैव विश्वकलनात्कालतत्त्वस्य पृथक्परिगणनं न प्राप्तमिति,

एवं कालः प्रसर्तव्यस्तच्च तत्त्वमनिन्दितम्।'

इत्यादिश्रुतिविरोध आपतेदिति किमेतत् ? इत्याशङ्क्याह

एतदीश्वररूपत्वं परमात्मनि यत्किल ॥ ४० ॥

तत्प्रमातरि मायीये कालतत्त्वं निगद्यते ।

ननु मायाप्रमातरि किमेवं कालतत्त्वमेवोत तत्त्वान्तराण्यपि,—इत्याशङ्क्याह

शिवादिशुद्धविद्यान्तं यच्छिवस्य स्वकं वपुः ॥ ४१ ॥

तदेव पुंसो मायादिरागान्तं कञ्चुकीभवेत् ।

शिवादीत्यनेन शिवशब्देनानाश्रितभट्टारक उक्तः। स्वकं वपुरित्यानन्दादिशक्तिरूपत्वात्। 'पुंस' इति शिवस्यैव स्वस्वातन्त्र्याद्गृहीतपशुभावस्येत्यर्थः ॥ ४१ ॥

एतदेव विभजते

अनाश्रितं यतो माया कलाविद्ये सदाशिवः ॥ ४२ ॥

ईश्वरः कालनियती सद्विद्या राग उच्यते ।

की स्थिति यहाँ बनी रहती है। बहिरौन्मुख्य में उद्रेक तो है, पर—उच्छलन तो है, पर बाह्यावभास नहीं है। यह भेदाभेद दशा ही है। इसे विश्व की एकात्मक इदमहमात्मक स्थिति कह सकते हैं ॥ ३९ ॥

शङ्का उपस्थित होती है कि विश्वकलना के कारण दोनों काल की परिभाषाओं में अन्तर नहीं सिद्ध हुआ। साथ ही "काल प्रसार सम्बन्धी श्रुति का विरोध" भी उपस्थित हुआ। इसी को स्पष्ट कर रहे हैं—

परमेश्वर परमशिव में जो रूप ईश्वर तत्त्वरूपी 'काल' का है, वही मायाप्रमाता में कञ्चुकवाची 'काल' का है ॥ ४० ॥

'काल' के अतिरिक्त मायाप्रमाता में कितने अन्य तत्त्व प्रकाशित होते हैं—यही स्पष्ट कर रहे हैं—

शिव से शुद्ध विद्या तक शिव के जो पाँच रूप हैं, वही पाशबद्ध पुरुष के लिये 'माया' से 'राग' तक के तत्त्व के कंचुक होते हैं ॥ ४१ ॥

यदुक्तं

'शक्त्यादिस्तत्त्ववर्गस्तु कञ्चुकत्वेन वै पशोः।
शक्तिर्माया कला विद्या कालो नियतिरेव च ॥
सदाशिवेश्वरौ विद्या रागस्तु वरवर्णिनि।' इति ॥४२॥

न केवलमेषामेवंरूपत्वमेव यावत्प्रमातृत्वमपि,—इत्याह

अनाश्रितः शून्यमाता बुद्धिमाता सदाशिवः ॥ ४३ ॥
ईश्वरः प्राणमाता च विद्या देहप्रमातृता ।

नन्वेषां शून्यादिप्रमातृत्वे किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

अनाश्रयो हि शून्यत्वं ज्ञानमेव हि बुद्धिता ॥ ४४ ॥
विश्वात्मता च प्राणत्वं देहे वेद्यैकतानता ।

शून्यमिति, विश्वोच्छेदात्। ज्ञानमिति, सदाशिवस्य **ज्ञानशक्तिप्राधा-न्यात्**। 'विश्वात्मता' इति बहिरुन्मेषरूपत्वात्। **वेद्यैकतानतेति तत्रैवाभिष्वङ्गात्** ॥ ४४ ॥

उसी को स्पष्ट कर रहे हैं—

अनाश्रित अर्थात् 'शक्तितत्त्व' ही बाह्यावभास में माया, 'सदाशिव' ही कला और विद्या, 'ईश्वर' ही काल और नियति तथा 'सद्विद्या' ही राग बन कर व्यक्त होते हैं। आगमिक उदाहरण से भी यह स्पष्ट प्रमाणित है ॥ ४२ ॥

इनके प्रमाता रूपों की भी पुष्टि कर रहे हैं—

माया के प्रमाता अनाश्रित (शक्ति तत्त्व) बुद्धि के प्रमाता सदाशिव, प्राण के प्रमाता ईश्वर और देह की प्रमाता सद्विद्या हैं ॥ ४३ ॥

इसका कारण स्पष्ट कर रहे हैं—

शून्यता में आश्रय का स्वरूप नहीं रह जाता। इसलिये अनाश्रय का उत्सर्ग शून्य में होता है। इसी प्रकार ज्ञान सदाशिव रूप होता है। ज्ञान बुद्धि का विषय है। इसलिये बुद्धि प्रमाता सदाशिव होते हैं। विश्वात्मकता बाह्य उन्मेष ही तो है। इसमें प्राण का संचार तो अनिवार्य ही है। प्राण संवित्तत्त्व की परिणति है। इसका प्रमाता ईश्वर ही हो सकता है। देह में बड़ा मोह

एवं प्राणे विश्वात्मत्वमस्ति,--इति तदेवात्र संप्रत्यभिधीयते,-इत्याह

तेन प्राणपथे विश्वाकलनेयं विराजते ॥ ४५ ॥
येन रूपेण तद्वच्मः सद्भिस्तदवधीयताम् ।

येन रूपेणेति, कालात्मना ॥ ४५ ॥

ननु प्राणस्य सर्वशरीरव्यापकत्वेनावश्यमवस्थानमस्ति, अन्यथा हि कानिचिदङ्गानि स्तम्भादिवत्स्तब्धान्येव भवेयुः, तदस्य श्रीस्वच्छन्दशास्त्रादौ हृदयादारभ्यैव चारः कस्मादुक्तः ? इत्याशङ्क्याह

द्वादशान्तावधावस्मिन्देहे यद्यपि सर्वतः ॥ ४६ ॥
ओतप्रोतात्मकः प्राणस्तथापीत्थं न सुस्फुटः ।

इत्थमिति, ओतप्रोतत्वेन । न सुस्फुट इति, सर्वत्रैव देहे; क्वचिद्धि शरीरे सुस्फुटत्वेन प्राणोऽवभासते क्वचिच्चास्फुटत्वेनेति ॥ ४६ ॥

होता है । देह को ही सब कुछ जानकर मनुष्य उसी में अभिमान बढ़ा लेता है । देह को जानने में विद्या ही कारण बनती है । इसलिये इसकी प्रमाता शुद्ध विद्या होती है ॥ ४४ ॥

प्राण में सारी विश्वात्मकता भरी रहती है । इसी तथ्य को स्पष्ट कर रहे हैं—

यह विश्व की सारी कलना प्राण के पन्थ में ही प्रस्फुटित है । प्राण को ही 'काल' संज्ञा से सम्बोधित कर सकते हैं । साधक इस पर अवधान दें—यह ग्रन्थकार का मन्तव्य है ॥ ४५ ॥

प्राण सारे शरीर में व्याप्त है । अन्यथा इसमें गति ही न आ पाती । स्वच्छन्द आदि शास्त्रों में इसको हृदय से ही क्यों स्वीकार करते हैं ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

स्फुटता ही इसका कारण है । यद्यपि प्राण का संचार ऊर्ध्व द्वादशान्त से अधः द्वादशान्त तक है और शरीर में सर्वत्र व्याप्त है फिर भी इसकी प्रतीति हृदय से ही होती है । यहाँ यह स्फुट और अन्यत्र अस्फुट है ॥ ४६ ॥

अत एवाह

यत्नो जीवनमात्रात्मा तत्परश्च द्विधा मतः ॥ ४७ ॥
संवेद्यश्चाप्यसंवेद्यो द्विधेत्थं भिद्यते पुनः ।
स्फुटास्फुटत्वाद्द्वैविध्यं प्रत्येकं परिभावयेत् ॥ ४८ ॥

'यत्न' इति प्राणीयः स्पन्दः । जीवनमात्रात्मेति, स्वारसिको येनावयवानां स्तब्धतैव न स्यात् । तत्पर इच्छापूर्वकः । प्रत्येकमिति, चतुर्णां द्वैविध्येऽष्टधा प्राणीयो यत्न इति सिद्धम् ॥४८॥

तत्र स्वारसिकः प्राणीयो यत्नः कन्दात्प्रभृत्येव संवेद्यते किंत्वस्फुटत्वेन,—इत्याह

संवेद्यजीवनाभिख्यप्रयत्नस्पन्दसुन्दरः ।
प्राणः कन्दात्प्रभृत्येव तथाप्यत्र न सुस्फुटः ॥४९॥

इसलिये कह रहे हैं—

प्राण के स्पन्द को 'यत्न' कहते हैं। इस स्पन्द से शरीर के अवयवों में गतिशीलता और स्फूर्त्ति बनी रहती है। यह यत्न (स्पन्द) दो प्रकार का होता है। १—संवेद्य और २—असंवेद्य। कहीं यह स्वारसिक होता है और कहीं इच्छा पूर्वक। कहो स्फुट, कहीं अस्फुट। इस तरह आठ प्राणीय यत्न होते हैं। जैसे—
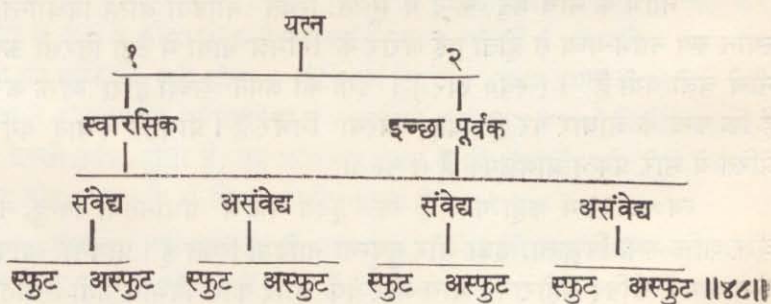
स्वारसिक प्राणीय स्पन्द कन्द से ही उत्पन्न अनुभूत है। पर यह अस्फुट ही रहता है। यही कह रहे हैं—

यदभिप्रायेणैव श्रीस्वच्छन्दशास्त्रे ततः प्रभृति प्राणादेरवस्थानमुक्तम्,—इत्याह

कन्दाधारात्प्रभृत्येव व्यवस्था तेन कथ्यते ।
स्वच्छन्दशास्त्रे नाडीनां वाय्वाधारतया स्फुटम् ॥५०॥

तेनेति, प्राणस्य संवेद्यत्वेन हेतुनेत्यर्थः । यदुक्तं तत्र

'नाभ्यधो मेढ्रकन्दे च स्थिता वै नाभिमध्यतः ।
तस्माद्विनिर्गता नाड्यस्तिर्यगूर्ध्वमधः प्रिये ॥'
(स्व० ७।८) इति ॥५०॥

ननु यद्येवं तत्त्रैव

'हृच्चक्रे तु समाख्याताः साधकानां हितावहाः ।
प्राणो वै चरते तासु अहोरात्रविभागतः ॥
तथा ते कथयिष्यामि प्रविभज्य यथा स्फुटम् ।' (स्व० ७।२१)

इत्यादिना हृदयात्प्रभृति वितत्य पुनः प्राणचारः कस्मादुक्तः ? इत्याशङ्क्याह

संवेद्य स्वारसिक यत्न जीवनात्मक स्पन्द से सुन्दर 'प्राण' रूप होता है । यह कन्द से ही प्रस्फुरित होता है किन्तु स्फुटतापूर्वक उसका वहाँ संवेदन नहीं होता ॥ ४९ ॥

स्वछन्द शास्त्र में भी इसी मत का प्रतिपादन है । वहीं का वचन उद्धृत कर रहे हैं—

"नाभि के नीचे मेढ्र कन्द में मूलतः स्थित नाडियाँ आत्म विश्रान्ति के स्थान रूप नाभि-मध्य से होती हुई शरीर के बिभिन्न भागों मे टेढ़ी तिरछी ऊपर नीचे चली गयीं हैं" । (स्व० ७।२) । इसी को अपने शब्दों द्वारा व्यक्त करते हैं कि कन्द के आधार पर ही यह व्यवस्था निर्भर है । प्राणादि ५ वायु वर्ग से प्रेरित ये सारे प्रयत्न प्राणात्मक हैं ।। ५० ॥

स्व० ७।२१ में कहा गया है कि "हृदय चक्र में प्रधानतया विन्दु, नाद और शक्ति रूपा पिङ्गला, इडा और सुषुम्ना नाडियाँ स्थित हैं । प्राणना व्यापार रूपा वायवी संविद् अहोरात्र, मास और वर्ष आदि काल विभाग मयी स्थिति में यहाँ उल्लसित है ।" इसके अनुसार प्राण संचार हृदय चक्र से है । यहाँ कन्द से कहा गया है । यह अन्तर क्यों ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

तत्रापि तु प्रयत्नोऽसौ न संवेद्यतया स्थितः ।

'तत्र' कन्दाधारे ह्यसावपीच्छापूर्वकः प्रयत्नो न स्फुटं संवेद्यते,—इति न तत्र वितत्य प्राणचार उक्तः । न हि स्वारसिकेन प्राणचारेणोक्तेन किंचित्फलं, स्वेच्छया हि चारितः प्राणस्तत्तत्सिद्धिनिमित्तं योगिनां स्यात् यदर्थमेवमुपदेशः । तच्च हृदयात्प्रभृत्येव भवेत्,--इति तत्रैवासौ तथा निर्दिष्टः ॥

एतच्चास्माभिरप्येवमेवोच्यत,—इत्याह

वेद्ययत्नात्तु हृदयात्प्राणचारो विभज्यते ॥५१॥

वेद्ययत्नादिति, अर्थादिच्छापूर्वकस्य । 'विभज्यत' इति तुट्याद्यात्मना विभागेनोच्यत इत्यर्थः ॥५१॥

ननु व्यापकत्वात्सर्वत्राविशेषेऽपि प्राणनस्य क्वचित्स्फुटं तदीयो यत्नः संवेद्यते, क्वचिच्चान्यथेत्यत्र किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

प्रभोः शिवस्य या शक्तिर्वामा ज्येष्ठा च रौद्रिका ।
सतदन्यतमावात्मप्राणौ　　यत्नविधायिनौ ॥५२॥

इह खलु परमेश्वरसंबन्धिन्या तासां वामादीनां मध्यादन्यतमया शक्त्या सहभूतावात्मप्राणौ यत्नविधायिनौ, प्रभुशक्तिरात्मा प्राणश्चेति त्रयः संमिलिताः प्राणस्पन्दं विदधतीत्यर्थः ।

वस्तुतः कन्द ही प्राण प्रयत्न का आधार है । यह इच्छा पूर्वक किया गया प्रयत्न कन्द से स्फुट-संवेद्य नहीं होता । इसीलिये कन्द से न कह कर हृदय से जहाँ से संवेद्य होता है—प्रवर्त्तन माना गया है । स्वारसिक प्राणचार फल की दृष्टि से नहीं होता । योगि-वर्य उद्देश्य पूर्वक प्रयत्न करते हैं । वह हृदय से ही फलवान् प्रतीत होता है । इसलिये यहाँ कहा गया है कि संवेद्य-प्रयत्न जो इच्छा पूर्वक होता है, वह प्राणचार हृदय से ही होता है और तुटि, चषक, वार और पक्ष आदि में विभक्त प्रतीत होता है ॥ ५१ ॥

प्राणना व्यापार देह में व्याप्त है । फिर भी यह कभी स्फुट संवेद्य और कभी अस्फुट संवेद्य क्यों होता है ? इसके कारण पर प्रकाश डाल रहे हैं—

परमेश्वर शिव की तीन शक्तियों १—वामा, २—ज्येष्ठा और ३—रौद्री में कोई एक, आत्मा और प्राण सभी मिलकर प्राणस्पन्द के कारण हैं ।

यदुक्तं

'तत्रात्मा प्रभुशक्तिश्च वायुर्वैनाडिभिश्चरन् ।

(स्व ७।७) इति ॥५२॥

एवमेषां समानेऽपि यत्नविधायित्वे क्वचित्कस्यचिन्मुख्यत्वम्,—इत्याह

प्रभुशक्तिः क्वचिन्मुख्या यथाङ्गमरुदीरणे ।
आत्मशक्तिः क्वचित्कन्दसंकोचस्पन्दने यथा ॥५३॥
प्राणशक्तिः क्वचित्प्राणचारे हार्दे यथा स्फुटम् ।
त्रयं द्वयं वा मुख्यं स्याद्योगिनामवधानिनाम् ॥५४॥

'अङ्गमरुदीरणे' चक्षुःस्फुरणादौ । अत्र हि भाविशकुनाशकुनप्रकाशनाद्यर्थं प्रभुशक्तेरेव प्राधान्येन प्राणस्पन्दने कर्तृत्वम् । 'कन्दस्य' आनन्देन्द्रियस्य

स्व० तन्त्र ७।७ में स्वच्छन्द शिव की स्वयं की यह उक्ति है कि "छः कोशों, पंच महाभूत, तन्मात्राओं, मन, ज्ञान कर्मेन्द्रियों आदि सभी तत्त्वों और देवों से संयुक्त देह का अधिष्ठाता, संविद् के संकोच के कारण कर्मानुष्ठाता और फलभोक्ता आत्मा, स्वच्छन्द भैरव की शक्ति (प्रभुशक्ति) और वायु अर्थात् नाडियों में सञ्चार करने वाला प्राण तीनों से ही यह प्रपञ्च परिचालित है ।" प्रयत्न में कहीं स्फुटता और अस्फुटता इन्हीं तीनों के सन्तुलन की विषमता से सम्भव है ॥ ५२ ॥

यत्न विधान में कहीं इनकी मुख्यता और कहीं अमुख्यता की चर्चा कर रहे हैं—

कहीं 'प्रभुशक्ति' मुख्य होती है । जैसे--पलकों के उन्मेष निमेष, अंग स्फुरण आदि । 'आत्मशक्ति' कन्द के संकोच और विकास में मुख्य काम करती है । इसी प्रकार योगियों द्वारा स्वेच्छा से चक्र भेद और कुण्डलिनी जागरण आदि में 'प्राणशक्ति' प्रयुक्त होती है । सिद्ध योगियों की प्रक्रिया में कही तीनों समान रूप से मुख्य होते हैं । कहीं दो ही मुख्य होते हैं ॥ ५३-५४ ॥

इनमें केवल मुख्यामुख्य भाव ही नहीं, अपितु विपर्यय भी देखने को मिलता है । वही कह रहे हैं—

संकोचे विकासात्मनि स्पन्दने चात्मन एव प्राधान्यं, तत्र हि तदिच्छैव निबन्धनम् । हृदि च प्राधान्येन प्राणस्यैव स्वरसवाहित्वात्स्पन्दने कर्तृत्वम्, इतरद्द्वयं पुनः सर्वत्रैव गुणभावेन स्थितमन्यथैवंभावाभावात् । एवमेषां स्वारसिकत्वेन गौण-मुख्यभावमुक्त्वा प्रायत्निकत्वेनाप्यभिधत्ते 'त्रयम्' इत्यादिना । योगिनो हि तत्तत्फलेप्सवो यत्रैवावधानातिशयात्प्राणं योजयन्ति, तत्रैवात्मानं प्रभुशक्तिं तद-न्यतमं वेति ।।५४।।

न केवलमेषां गौणमुख्यभावो भवेद्यावदन्यथापि,—इत्याह

अवधानाददृष्टांशाद्बलवत्त्वादथेरणात् ।
विपर्ययोऽपि प्राणात्मशक्तीनां मुख्यतां प्रति ।।५५।।

अवधानाद्यथा योग्यपि स्वावधानेनैव चक्षुः स्फारयेत्,—इत्यत्रात्मनः प्राधान्यम् । अदृष्टांशाद्यथा गवामपि जन्मान्तरीयसंस्कारवशात् स्वारसिक्यैव प्राणशक्त्या नियतमङ्गं स्फुरेत् येनात्र तस्या एव प्राधान्यम् । बलवत्त्वाद्यथा मल्लादीनां श्रमाद्यभ्यासादायत्तीकृतया प्राणशक्त्यैव तत्तत्प्लुत्यादिसिद्धिः । ईरणाद्यथा वाताभिभूतानां प्राणस्य बलवत्त्वेऽपि प्रभुशक्त्यैव तत्तदङ्गपरि-स्पन्दो भवेत्,—इति तस्या एव मुख्यत्वम् । एवमेषां यत्रैवोद्रिक्तत्वेनावस्थानं तत्रैव प्राणोयस्यापि यत्नस्य स्फुटतया संवेद्यत्वमन्यथा पुनरतथात्वमिति सिद्धम् ।।५५।।

१—योगी द्वारा अवधान पूर्वक आँख आदि अंगों का स्फार देखने में आता है । इसमें प्राण शक्ति के स्थान पर आत्मशक्ति का प्राधान्य होता है ।

२—अदृष्टांश से विपर्यय जैसे गौ में कुछ नियत अंगों में प्राण शक्ति की प्रधानता, चमड़ी को स्पन्दित करना आदि ।

३—बलवत्ता से विपर्यय । जैसे मल्ल व्यायाम के अभ्यास से कई प्रकार की शक्ति पा लेते हैं । यहाँ आत्मशक्ति के स्थान पर प्राण शक्ति का विपर्यय हैं ।

४—प्रेरणा में विपर्यय–वात से अभिभूत अङ्ग में प्राण की प्रमुखता होती है पर प्रभुशक्ति द्वारा ही उसमें परिस्पन्द होता हैं ।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ जिस शक्ति का उद्रेक होता है, वहाँ प्राण शक्ति स्फुटतया संवेद्य होती है अन्यथा नहीं ।। ५५ ।।

ननु प्रभुशक्तिर्यद्यात्मप्राणाभ्यां सह प्राणीयं यत्नं विदधाति तदस्तु तस्यास्तु त्रैविध्यं किमर्थमुक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

वामा संसारिणामीशा प्रभुशक्तिर्विधायिनी ।
ज्येष्ठा तु सुप्रबुद्धानां बुभुत्सूनां च रौद्रिका ॥५६॥

'विधायिनी' इत्यर्थात्प्राणीयं यत्नं विदधातीति ॥५६ ॥

अत्र किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

वामा संसारवमना ज्येष्ठा शिवमयी यतः ।
द्रावयित्री रुजां रौद्री रोद्ध्री चाखिलकर्मणाम् ॥५७॥

वामाद्या हि प्राभव्यः शक्तयः सृष्टिसंहारस्थित्यात्मिकाः,—इति तथैषां प्राणीयं यत्नं विदधति यथा संसारिणामधोधः पातो भवेत्, सुप्रबुद्धानां शिवीभावापत्तिर्बुभुत्सूनां च शिवीभावौन्मुख्येन संसार एवावस्थानमिति । तदुक्तम्

'अणुं स्वरूपदृश्वानं वामाधो विनिपातयेत् ।
रौद्री सांसारकिानन्दं कदाचिद्वितरेदपि ॥
ज्येष्ठा स्वातन्त्र्यलेशं तु तनुते ज्ञानकर्मणोः । इति ॥५७॥

प्रभुशक्ति के तीन भेदों के विषय में कह रहे हैं—

'वामा' प्रभुशक्ति समस्त प्राणियों में प्राणीय यत्न का विधान करती है। 'ज्येष्ठा' प्रभुशक्ति बोध-प्रकाश-प्रबुद्ध साधकों के प्राणीय प्रयत्न की कारण है। 'रौद्री' प्रभु शक्ति भोगेच्छा प्रधान व्यक्तियों के प्राणीय प्रयत्न में हेतु बनती है ॥ ५६ ॥

ऐसा कैसे होता है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

'वामा' संसार का वमन करती है। यह सृष्टि विधात्री है। इसलिए प्राणियों की अधःपात मयी प्राणवत्ता की कारण होती है। 'ज्येष्टा' शिवमयो है। यह स्थितिमती है और 'रौद्री' सांसारिक सौख्य में ही लोगों को डालने में दक्ष है और संहारात्मिका है। कहा गया है कि,

"वामा अणु को और भी अणुत्व प्रदान करती है । 'रौद्री' सांसारिक सौख्य का वितरण करती है। 'ज्येष्ठा' ज्ञान और क्रिया शक्तियों के उत्कर्ष से स्वातन्त्र्य का बोध करा देती है।" प्रभु शक्ति के ये भेद स्वाभाविक हैं ॥ ५७ ॥

नन्वेतत्स्वरसत एव सिद्धयेदिति किमनेनैवमुपदिष्टेन ? इत्याशङ्क्याह

सृष्ट्यादित्त्वमज्ञात्वा न मुक्तो नापि मोचयेत् ।

नन्वत्र किं प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह

उक्तं च श्रीयोगचारे मोक्षः सर्वप्रकाशनात् ॥५८॥

सर्वप्रकाशनादिति, सर्वस्य सृष्ट्यादेर्यथातत्त्वं परिज्ञानादित्यर्थः । नहि तदत्तिरिक्तमन्यत्किंचित्संभवेदिति भावः ॥५८॥

अत एवाह

उत्पत्तिस्थितिसंहारान् ये न जानन्ति योगिनः ।
न मुक्तास्ते तदज्ञानबन्धनैकाधिवासिताः ॥५९॥

'तदज्ञानं' सृष्ट्यादितत्त्वासंवित्तिः ॥५९॥

ततश्च प्रकृते किम् ? इत्याशङ्क्याह

सृष्टयादयश्च ते सर्वे कालाधीना न संशयः ।
स च प्राणात्मकस्तस्मादुच्चारः कथ्यते स्फुटः ॥६०॥

स्वाभाविक रूप से घटित होने वाली क्रियाओं के सम्बन्ध में रहस्य की बात बताने की आवश्यकता पर बल दे रहे हैं—

जो साधक इस प्रकार सृष्टि आदि के रहस्य से परिचित नहीं होता, वह न तो स्वयं मुक्त होता है और न ही किसी को मुक्त कर सकता है। इसका प्रमाण 'श्री योगचार' की वह उक्ति है जिसमें कहा गया है कि, मोक्ष तभी सम्भव है, जब सृष्टि आदि के वास्तविक रहस्य का प्रकाशन हो जाय। इसके विना मुक्ति असंभव है ॥ ५८ ॥

कहा गया है कि,

उत्पत्ति, स्थिति और संहार तत्त्व को जो योग युक्त साधक नहीं जानते वे मुक्त नहीं है। कारण यह है कि उन्हें सृष्टि आदि तत्त्वों की जानकारी नहीं होती ॥ ५९ ॥

प्रकृत सन्दर्भ में उक्त विचारों का समायोजन कर रहे हैं—

कालाधीना इति, सृष्टिः स्थितिः संहारश्चेति क्रमात्मकत्वात्। 'उच्चार' इति प्राणचारः, तत्कथनेन हि सृष्ट्यादीनां यथातत्त्वं परिज्ञानं भवेदिति भावः ॥६०॥

हृदयात्प्राणचारश्च नासिक्यद्वादशान्ततः ।
षट्त्रिंशदङ्गुलो जन्तोः सर्वस्य स्वाङ्गुलक्रमात् ॥६१॥

नसते कुटिलं गच्छतीति नासिका शक्तिः, तस्या इदं (अयं) 'नासिक्यः' शाक्तो द्वादशान्तः। तदुक्तम्

'षट्त्रिंशदङ्गुलश्चारो हृत्पद्माद्यावशक्तितः।
(स्व० ४।२३५) इति ॥६१॥

ननु यद्येवं तदतिक्षुद्रे मशकादिसंबन्धिन्यतिमहति वा हस्त्यादिसत्के देहे कथमेतत्संगच्छते ? इत्याशङ्कयाह

क्षोदिष्ठे वा महिष्ठे वा देहे तादृश एव हि ।

'तादृशः' षट्त्रिंशदङ्गुल एव किंतु स्वाङ्गुलापेक्षया ॥

ये सभी सृष्टि, स्थिति और संहार क्रमात्मक होने के कारण काल शक्ति के ही अधीन हैं। काल की कलना प्राणात्मक है। उच्चार अर्थात् प्राणचार का कथन इसलिये आवश्यक है कि इससे सृष्टि आदि का सम्यक् परिज्ञान हो जाता है ॥६०॥

प्राण का उच्चार हृदय से स्फुट रूप से अनुभूत होता है। (वस्तुतः यह कन्द के स्पन्द से होता है पर अस्फुट रहता है) हृदय से चलकर नासिका के बाहर 'द्वादशान्त' (चिति केन्द्र) तक पहुंच कर चिति में विलीन हो जाता है। वही स्थान अमा कला का है। हृदय से (नाभि) चिति केन्द्र की दूरी ३६ अंगुल की होती है। प्राणियों की अपनी अंगुलियों से इस दूरी का मापन प्रसिद्ध है। चिति केन्द्र को शाक्त द्वादशान्त भी कहते हैं। स्व० ४।२३५ में भी यही बात कही गयी है इसमें यावत् के 'त्' का लोप ऐश्वर है ॥ ६१ ॥

अत्यन्त छोटे मशक-दंश और बहुत बड़े शरीर वाले हाथी आदि में भी उक्त नियम लागू होता है। भले ही प्राणी क्षोदिष्ट अर्थात् छोटे से छोटा हो या बड़े से बड़ा हो। न केवल प्राणचार ही समान होता है, अपितु वीर्य, ओज, बल, स्पन्द और प्राणचार सभी समान होते हैं। योगवाशिष्ठ में भी कहा गया है कि

न च सर्वस्य जन्तोः प्राणचार एव समो यावद्वीर्यादयोऽपि,—इत्याह

वीर्यमोजो बलं स्पन्दः प्राणचारः समं ततः ॥ ६२ ॥

अयमत्राशयः—संविद एव ह्ययं स्फारो यत्क्षोदिष्ठो महिष्ठो वा जन्तुवर्गः समुज्जृम्भते, न च तस्याः क्वचित्कश्चिद्विशेषः। यदुक्तम्

'यैव चिद्गगनाभोगभूषणे भाति भास्वति।
धराविवरकोशस्थे सैव चित्कीटकोदरे ॥' (वासिष्ठे) इति।

तदाहिताश्च वीर्यादयः—इति तेषामपि विशेषे न किंचिन्निमित्तमुत्पश्यामः। यत्पुनरेषां तारतम्यमभिलक्ष्यते तत्र कर्मवैचित्र्यमपराध्यति, यत्पुंसामप्यन्योन्यापेक्षया वीर्याद्यतिशाययतीति ॥ ६२ ॥

एवं सपोठिकाबन्धं प्राणस्य चारमानमभिधाय तदानन्तर्येणानुजोद्देशोद्दिष्टमहोरात्राद्यपि विभक्तुमुपक्रमते

षट्त्रिंशदङ्गुले चारे यद्गमागमयुग्मकम्।
नालिकातिथिमासाब्दतत्सङ्क्रोऽत्र स्फुटं स्थितः ॥ ६३ ॥

'गमागमौ' प्राणापानरूपावारोहावरोहौ। तच्छब्देन नालिकादीनां सर्वेषामेव परामर्शः ॥ ६३ ॥

एतदेव क्रमेण विभजते

तुटिः सपादाङ्गुलयुक्प्राणस्ताः षोडशोच्छ्वसन्।
निःश्वसंश्चात्र चषकः सपञ्चांशेऽङ्गुलेऽङ्गुले ॥ ६४ ॥

"जो चित् शक्ति समस्त प्रकाशमान दहराकाश में या धरा-कोश में प्रभा की भास्वर आभा की भव्यता से भरी हुई है, वही लघुकाय कीट के उदर देश में भी भासमान है।" कर्म वैचित्र्य के प्रभाव से कुछ अन्तर भले ही परिलक्षित होता है, पर वास्तविकता चिदैक्य चमत्कार से परिपूरित है ॥ ६२ ॥

प्राणचार में पारम्परिक मान्यता की बात कर रहे हैं—

इस ३६ अंगुल के प्राणचार में प्राण की द्वादशान्त पर्यन्त गति और पुनः ३६ अंगुल की हृदय तक प्राण की आगति अर्थात् ७२ अंगुल में तुटि अंगुल, तिथि, मास, और संक्रान्ति और वर्ष आदि की स्फुट रूप से कलना होती है। साधक प्रतिपल इसका अनुभव करते हैं ॥ ६३ ॥

श्वासप्रश्वासयोर्नाली प्रोक्ताहोरात्र उच्यते ।
नवाङ्गुलाम्बुधितुटौ प्रहरास्तेऽब्धयो दिनम् ॥ ६५ ॥
निर्गमेऽन्तर्निशेनेन्दू तयोः संध्ये तुटेर्दले ।

सचतुर्भागमङ्गुलयुग्मं तुटिरुच्यते,--इति तत्षोडशधा गुणितं षट्त्रिंशदङ्गुलानि भवन्तीत्युक्तं 'प्राणस्ताः षोडशोच्छ्वसन्' इति । अपानवाहेऽप्येवमित्युक्तम् 'निश्वसंश्चेति' 'तेनोभयत्र द्वात्रिंशत्तुटयः । यदुक्तम्

'प्राणापानाश्रिते वाहे द्वात्रिंशत्तुटयः स्थिताः ।' इति ।

तथात्र षट्त्रिंशदङ्गुलात्मनि प्राणचारे सपञ्चभागमङ्गुलं प्रति चषकः,—इति त्रिंशद्धा विभक्ते प्राणवाहे त्रिंशच्चषका भवन्ति, एवमपानवाहेऽपि,—इति प्राणापानोभयमीलनेन चषकषष्टयात्मनो घटिकाया उदयः,--इत्युक्तं 'श्वासप्रश्वासयोर्नाडी प्रोक्ता इति । 'निर्गमे' प्राणस्य बहिरुल्लासे, 'नवाङ्गुलाम्बुधितुटौ' नवाङ्गुलिस्थानासु चतसृषु तुटिषु प्रहरो, नवस्वङ्गुलीष्वसावुदेतीत्यर्थः । यदुक्तम्

'..................प्रहरः स्यान्नवाङ्गुलः ।' इति ।

'ते' इति नवाङ्गुलिमानाः प्रहराः 'अब्धयः' चत्वारः, अन्तरित्यर्थादपानस्योदये । एवं निशापि चत्वारः प्रहरा तदुक्तम्

'अहोरात्रस्त्वथोऽष्टभिः.................।' (स्व० ७।२८) इति ।

उसी को विभक्त रूप से व्यक्त कर रहे हैं—

"सवा दो अंगुल = तुटि, १ तुटि × १६ = ३६ अंगुल होते हैं । एक प्राणवाह में १६ और एक अपानवाह में १६ = ३२ तुटियाँ होती हैं ।" ३६ अंगुल के प्राणचार में १$\frac{1}{5}$ अंगुल का एक चषक होता है । अतः ३६ अंगुल में ३० चषक हो जाते हैं । इसी तरह अपावनाह में भी होता है ।[1] श्वास प्रश्वास की नाली ही अहोरात्र है ।

दोनों प्राणचारों में ६० चषक की एक घड़ी का उदय हो जाता है । एक घड़ी में ७२ अंगुल और ३२ तुटियाँ हुई । ९ अंगुल अथवा अंवुधि अर्थात् ४ तुटियों का एक प्रहर होता है । "नवाङ्गुलों का एक प्रहर प्रसिद्ध है ।" ४ प्रहर का एक दिन और ४ प्रहर की एक रात मिलकर ८ प्रहर का अहोरात्र होता है । स्व० ७।२८ में भी "आठ प्रहरों का अहोरात्र" माना गया है ।

---

१. तन्त्रसार, प्रथम खण्ड पृ० १९४

तावेव च प्राणापानौ 'इनेन्दू' सूर्याचन्द्रमसौ भवत इत्यर्थः । यदुक्तम्

'वासरे तु चरेत्सूर्यो धारायां संचरञ्छशी ।
चन्द्रसूर्योदयो ह्येष·································॥'

(स्व० ७।४०) इति ।

तयोः प्राणापानरूपयो रात्रिदिनयोरर्थाद्द्वादशान्ते हृदि च तुटेर्दले संध्ये । सायंप्रातःसंध्ययोः प्रत्येकं प्राणोयस्यापानीयस्य चान्त्यस्यान्त्यस्य च तुट्यर्धस्य संमेलनया सकलैव तुटिरुदयस्थानमित्यर्थः । अत एव संध्ययोस्तुटिद्वयमहोरात्रस्य च त्रिंशत्तुटयः । यदाहुः

संध्याकालं विना त्रिंशत्तुटिकोऽहोरात्रः ।' इति ।

यत्तु

'चतुर्थान्ते च देवेशि प्राणसूर्यः सदास्तगः ।
ततोऽस्तमयसंध्यात्र तुट्यर्धं तु भवेत्प्रिये ॥'

(स्व० ७।३६) इति ।

तथा

'हृत्पद्मं तु यदा प्राप्तः प्रभातसमयस्तदा ।
तुट्यर्धं तु वरारोहे पूर्वसंध्या भवेत्ततः ॥' (स्व० ७।३९)

इत्याद्युक्तं तत्केवलमेव प्राणवाहमधिकृत्यापानवाहं चेत्यधिगन्तव्यम् । एवं

'शक्तेर्मध्योर्ध्वभागे तु तुट्यर्धं यत्प्रकीर्तितम् ।
पक्षसन्धिस्त्वसौ ज्ञेयः·······························॥'(स्व० ७।६८)

प्राण सूर्य और अपान चन्द्र का संचरण क्रमशः दिन और रात में होता है। स्व० ७।४० के अनुसार यहाँ चन्द्र और सूर्य का उदयास्त नित्य हो रहा है। प्राण का प्रवेश सूर्योदय और अस्तमन से रात मानी गयी है। "रात दिन के प्रवेश और निर्गम स्थल अर्थात् द्वादशान्त और हृदय में तुटि के आधे आधे भाग (तुट्यर्ध) की दो सन्ध्यायें होती हैं।" इसलिये दानों सन्ध्याओं में २ तुटियाँ होती हैं। इन्हें निकाल देने पर ३० तुटियों का अहोरात्र होता है। १५ तुटियों के दिन की १५ तिथियाँ और १५ तुटियों के रात की १५ तिथियाँ ज्योतिषशास्त्र में स्वीकृत हैं। (स्व० ७।३९) के अनुसार यहाँ हृदय में पूर्व संध्या का वर्णन है।

इत्यादौ पक्षसन्धिग्रन्थेऽप्ययमेवाशयो योज्यः । अन्यथा ह्येका तुटिरकृतविनियोगा स्यात् ॥६५॥

न केवलमत्र सूर्याचन्द्रमसोरेवोदयो यावद्ग्रहान्तराणामपि,—इत्याह

केतुः सूर्ये विधौ राहुर्भौमादेर्वारभागिनः ॥६६॥
प्रहरद्वयमन्येषां ग्रहाणामुदयोऽन्तरा ।

केतुः सूर्येऽन्तर्भवति, एवं विधौ राहुः । तेन य एव सूर्याचन्द्रमसोरुदयः स एवानयोरित्यर्थः । यदुक्तम्

'राहुश्चरति सोमेन केतुश्चरति भास्वता ।' (स्व० ७।४२) इति ।

वारभागिनः पुनर्भौमादेर्ग्रहस्य प्रहरद्वयमुदयस्तस्य प्रत्यहोरात्रमाद्यन्तार्धप्रहर-चतुष्टयोपभोगात्, अन्येषां षष्ठपञ्चमानां ग्रहाणामन्तरा प्रहरं प्रहरं प्रत्येकमुदयः प्रत्यहोरात्रमर्धप्रहरद्वयोपभोगात् । तदुक्तम्

स्व० ७।६८ के अनुसार ४ तुट्यर्धों की २ पक्ष सन्धियाँ भी बतलाई गयीं हैं। इन तुट्यर्धों की इस गणना से तिथियों की संख्यायें प्रमाणित हो जाती हैं ॥६५॥

सूर्योदय चन्द्रोदय के प्राणचार प्रसङ्ग में अन्य ग्रहों के उदयास्त की चर्चा कर रहे हैं—

केतु सूर्य में और राहु चन्द्र में अन्तर्भूत होते हैं । इन दोनों के उदय का वही काल है । स्व० ७।४२ के अनुसार "राहु केतु का संचरण सोम और सूर्य के साथ माना गया है।" इसीलिये अमा में सूर्य ग्रहण और पूर्णिमा में चन्द्रग्रहण होते हैं। इसके बाद मंगल आदि वार-भागी ग्रहों के उदय होते हैं। २ पहर इनके निर्धारित हैं। प्रति अहोरात्र के आदि और अन्त के २ + २ = ४ प्रहरों में यह उपभोग करते हैं। शेष ग्रह प्रति अहोरात्र के आधे आधे पहर के योग से एक-एक पहर में उदय होते हैं। वस्तुतः हृदय से द्वादशान्त की प्राण यात्रा में भी और द्वादशान्त से हृदय पथ में भी इन शेषग्रहों, बुध गुरु शुक्र और शनि के भोग होते हैं। कहा गया है--

"दिन का पहला और दिन का अन्त यह सूर्य के भोग के समय हैं। शेष ५ ग्रहों में एक-एक ग्रह दिन के आधे प्रहर में और रात के भी आधे पहर में उदय होते हैं। इनको इस तरह समझ सकते हैं—

'पूर्वोऽष्टभागो दिवसाधिपस्य तथैव चान्ते दिवसस्य विद्यात्।
शेषाः ग्रहाः षट्परिवर्तनेन भुञ्जन्ति होरां निशि पञ्चमेन ॥' इति ॥६६॥

अत्रैव प्रथमार्धप्रहरादारभ्य क्रमेण फलं निर्दिशति

सिद्धिर्दवीयसी मोक्षोऽभिचारः पारलौकिकी ॥६७॥

ऐहिकी दूरनैकट्यातिशया प्रहराष्टके ।

सिद्धिर्दवीयसीत्यादिना सप्त भेदाः ॥६७॥

ननु संध्यायाश्चतुर्धोदयोऽपि कथं द्विधैवोक्त ? इत्याशङ्क्याह

मध्याह्नमध्यनिशयोरभिजिन्मोक्षभोगदा ॥ ६८ ॥

---

[१] (२) ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ [३०] ये सोलह दिन की तुटियाँ हैं। पहली और सोलहवीं निर्विभाग अवस्था की तुटियाँ हैं। दूसरी और पन्द्रहवीं सूर्योदय और सूर्यास्त के कारण सूर्य ग्रह की तुटियाँ हैं। शेष १२ तुटियों में ३ प्रहर होते हैं। इन प्रहरों के आधे-आधे प्रहर अर्थात् दो-दो तुटियों में भी [१५] (१४) १३ १२ ११ १० ९ ८ ७ ६ ५ ४ ३ २ (१) [१६] बड़े कोष्ठ चिह्नवाली इन तुटियों में विभाग नहीं होते। छोटे कोष्ठचिह्नवाली अर्थात् प्रतिपदा और चौदस में चन्द्र का भोग होगा। शेष बारह में आधे-आधे प्रहर के ग्रह काल होते हैं। अहोरात्र मिलाकर वारभागी ग्रह १-१ प्रहर भोग करते हैं।[1] "दिन के ६ ग्रहों के परिवर्तन स्पष्ट हैं। रात्रि में ५वें ग्रह मंगल से परिवर्त्तन प्रारम्भ होता है।" क्योंकि अमाकला में सूर्य और चन्द्र दानों होते हैं। उन्हीं में राहु और केतु भी हैं। पाँचवें मंगलग्रह से परिवर्तन स्पष्ट है ॥ ६६ ॥

श्वासचार के इस सन्दर्भ में पहले आधे प्रहर से क्रमशः फल का निर्देश कर रहे हैं--

इन आठ प्रहरों में केवल ७ के फल ही निर्दिष्ट हैं क्योंकि आदि और अन्त के प्रहरार्द्ध निर्विभाग होते हैं। इनसे १–मोक्ष, २–अभिचार ३–परलौकिकी, ४–ऐहिकी, ५–दूर, ६–निकट और ७–अतिशय सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥६७॥

चार सन्ध्याओं के रहते केवल दो के कथन का कारण बतला रहे हैं—

---

१. स्व० ७।३६ स्व० ७.४१-४२

अभिजयति सर्वान्विघ्नानित्यभिजिन्नक्षत्रविशेषः । यदुक्तम्

'मध्याह्ने चार्धरात्रे च उदयोऽभिजितो भवेत ।
अभीप्सितं फलं तत्र साधकानां भवेदिह ॥'

(स्व० ७।४७) इति ।

स च तालुनि, इत्यधिगन्तव्यम् । यदुक्तम्

'......................मध्याह्नस्तालुमध्यतः ।'

(स्व० ७।३३) इति ॥ ६८ ॥

न केवलमत्राभिजित एवोदयो यावदश्विन्यादीनामपि,—इत्याह

नक्षत्राणां तदन्येषामुदयो मध्यतः क्रमात् ।

'तदन्येषाम्' इति राशितारादीनाम् । यदुक्तम्

'ऋक्षाणि राशयश्चैव तारास्त्वशास्तथैव च ।
प्राणे वै उदयन्त्येते अहोरात्रेण सुव्रते ॥'

(स्व० ७।३१) इति ।

अत्र च नक्षत्राणां सत्रिभागमङ्गुलमुदयस्थानम्, एवमन्येषामपि संख्यानुसारमुदयस्थानं परिकल्पनीयम् ॥

प्रहराष्टके च न नक्षत्राणामेवोदयोऽपि त्वन्येषामपि,—इत्याह

नागा लोकेशमूर्तीशा गणेशा जलतत्त्वतः ॥ ६९ ॥

दोपहर और निशीथ की सन्ध्याओं का फल विशेष रूप से अभिजित् नक्षत्र में होता है। स्व० त० ७।४८ में भी इसकी पुष्टि की गयी है। स्व० त० ७।३४ के अनुसार तालु मध्य में मध्याह्न होता है ॥६८॥

अभिजित् के अतिरिक्त अन्य नक्षत्रों के उदय की चर्चा कर रहे हैं--

इसके बाद अश्विनी आदि नक्षत्रों का उदय भी अपने क्रम से होता है। इसके साथ ही राशियों और तारा आदि के उदय भी अनुभूति के विषय हैं। स्व० त० ७।३१ के अनुसार" नक्षत्र, राशि, तारा, अंश आदि प्राणचार में ज्योतिश्चक्र की तरह ही उदित होते हैं।" इनमें प्रति १⅓ अंगुल पर नक्षत्रों का उदय हो जाता है। गणित की कल्पना के अनुसार सबके उदय के स्थान और समय निर्धारित हैं।

प्रधानान्तं नायकाश्च विद्यातत्त्वाधिनायकाः ।
सकलाद्याश्च कण्ठचोष्ठ्यपर्यन्ता भैरवास्तथा ॥ ७० ॥
शक्तयः पारमेश्वर्यो वामेशा वीरनायकाः ।
अष्टावष्टौ ये य इत्थं व्याप्यव्यापकताजुषः ॥ ७१ ॥

स्थूलसूक्ष्माः क्रमात्तेषामुदयः प्रहराष्टके ।

'नागा' इत्यनन्ताद्याः । यदुक्तम्

'इनस्त्वनन्त इत्युक्तः सोमो वासुकिरुच्यते ।
तक्षकः कुज इत्युक्तः कर्कोटः सोमजो भवेत् ॥
सरोजो गुरुराख्यातो महाब्जः शुक्र उच्यते ।
शङ्खो मन्दगतिर्ज्ञेयः सप्त नागाः ग्रहाः क्रमात् ॥
अष्टमः कुलिको नाम राहुः क्रूरग्रहो भवेत् ।' इति ।

एषां च ग्रहवदेव षट्परिवृत्त्यादिक्रमेणोदयः किन्तु कुलिकस्य शङ्खवन्मन्दगतिनैव सहोदय । यदुक्तम्

'शनैश्चरस्य यः कालस्तं भुङ्क्ते कुलिकः प्रिये ।
सोऽपि दुष्टः समाख्यातः सर्वकर्मस्वसिद्धिदः ॥' इति ।

लोकेश्वरादीनां पुनराद्यार्धप्रहरक्रमेणैवोदयोऽन्यथा सप्तानां ग्रहाणामष्टकैः सह संगत्ययोगात् । एते च सर्व एवाष्टका भुवनाध्वनि वक्ष्यन्ते,--इति तत एवावधार्याः,--इति किं तद्व्यावर्णनग्रन्थविस्तरेण । व्याप्यव्यापकत्वे स्थूलसूक्ष्मत्वं हेतुः, स्थूलं हि सूक्ष्मेण व्याप्यत इति भावः । यथा ग्रहाणां नागा व्यापकास्तेषामपि लोकेश्वराः,-इत्याद्युत्तरोत्तरम् अत एव क्रमादित्युक्तम् ।

"इसी आठ पहर भी अवधि में सातों ग्रहों की तरह अनन्त, (सूर्य) वासुकि (सोम) तक्षक (मंगल) कर्कोट (बुध) सरोज (गुरु) महासरोज (शुक्र) शङ्ख (शनि) रूप ये नाग भी उत्पन्न होते हैं" इनमें कुलिक नाम नाग की उत्पत्ति शनि के साथ ही होती है । ये दोनों क्रूर हैं ।

इसी तरह लोकेश मूर्तीश गणेश, भैरव, शक्तियाँ वामेशी आदि, वीरनायक आदि के अष्टक (स्व० ७।४३) भी उत्पन्न होते हैं । यह ध्यान देने की बात है कि ये ग्रहों पर नागों की तरह उत्तरोत्तर व्यापक होते हैं ।

तदुक्तम्

'ये ग्रहास्ते च वै नागा लोकपालाष्टकं च ते।
मूर्तयश्चैव ते चाष्टावष्टौ ते च गणेश्वराः ॥'
(स्व० ७।४३) इत्यादि।

एवमनेन

'तेन प्राणपथे विश्वाकलनेयं विराजते।' (तं० ६।४५)

इत्यादि यदुक्तं तत्स्मारितमित्यवसेयम् ॥ ७१ ॥

ननु यत्र प्रहराष्टके फलभेद उक्तस्तत्र दिननिशयोः कथं न ? इत्याशङ्क्याह

दिने क्रूराणि सौम्यानि रात्रौ कर्माण्यसंशयम्। ७२ ॥

ननु

'वासनाभेदतः प्राप्तिः साध्यमन्त्रप्रचोदिता।'

इत्यादिदृशानुसन्धानभेदेन फलमपि भिद्यते,--इति कथमेवं नियम एव भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

क्रूरता सौम्यता वाभिसन्धेरपि निरूपिता।

तेन कदाचिद्व्यत्ययोऽपि भवेदिति भावः॥

ननु संध्याद्वयस्य फलं निर्दिष्टं सायंप्रातः संध्ययोः पुनः किं न ? इत्याशङ्क्याह

अत एव श्रीत० ६।४५ के अनुसार यह मान्य सिद्धान्त है कि "प्राणचार में सारी विश्व की सक्रियता की कल्पना की जाती है" ॥ ६९-७१ ॥

प्राणपथ के आठ पहरों के महत्त्व और उनके फल का निर्देश यहाँ किया गया है किन्तु दिन और रात के विषय में कुछ नहीं कहा गया है। क्यों ? इसी का उत्तर दे रहे हैं कि,

दिन में क्रूर कर्म और रात में सौम्य कार्य करना श्रेयस्कर है। किसी आगमिक के "वासना भेद से सान्ध्य मन्त्रों से प्रेरित फल भेद भी होते हैं" इस मत के अनुसार क्रूर और सौम्य कर्मों में सन्धि जन्य फल भेद होते हैं। चार-सन्ध्याओं में दिन क्षय और रात्रि क्षय की अर्थात् सायं और प्रातःकाल की

दिनरात्रिक्षये मुक्तिः सा व्याप्तिध्यानयोगतः ॥ ७३ ॥
ते चोक्ताः परमेशेन श्रीमद्वोरावलीकुले ।

'दिनरात्रिक्षये' इति सायंप्रातः सन्ध्ययोः। 'ते' इति व्याप्तिध्यानादयः ॥ ७३ ॥

तदेव पठति

सितासितौ दीर्घह्रस्वौ धर्माधर्मौ दिनक्षपे ॥ ७४ ॥

क्षीयेते यदि तद्दीक्षा व्याप्त्या ध्यानेन योगतः ।
अहोरात्रः प्राणचारे कथितो मास उच्यते ॥ ७५ ॥

यदि नाम प्राणपानरूपौ सितासितौ परस्परव्यावृत्त्या वर्तमानौ दीर्घह्रस्वादिशब्दव्यपदेश्यौ शुभाशुभौ पक्षौ 'क्षीयेते' अपोहात्मविकल्परूपताघट्टनेन निर्विकल्पात्मपरसंविद्रूपत्वेन परिस्फुरतस्तदेव व्याप्त्या ध्यानेन योगेन च दीक्षा, ज्ञानयोगक्रियात्मिकया दीक्षया निर्यन्त्रणमेव मुक्तिर्भवेदित्यर्थः। एतदेव हि व्याप्तिध्यानयोगानां मुख्यं रूपं यत्सितासितादिपक्षयोः प्रक्षयो नामेति। तदुक्तं तत्र

> 'सतिासितौ च यौ पक्षौ दीर्घह्रस्वौ च कीर्तितौ ।
> धर्माधर्ममयौ पाशौ महाघोरौ भयानकौ ॥
> द्वयोर्यत्र भवेच्छेदः क्षयेन्माया तु योगिनी ।
> क्षये शून्यं परं ज्ञेयं दीक्षा ह्येषा प्रकीर्तिता ॥

सन्ध्याओं में ध्यान योग में लगे साधक को मोक्ष की प्राप्ति होती है। 'वीरावलीकुल' नामक आगम में स्वयं परमेश्वर ने यह बात कही है ॥ ७२–७३ ॥

वहीं का उद्धरण दे रहे हैं—

इन सन्ध्याओं में स्वात्म व्याप्ति की साधना, ध्यान साधना और यौगिक रहस्य साधना के द्वारा मन के समस्त अच्छे-बुरे, छोटे-बड़े, धर्म-अधर्म आदि विकल्पों का विनाश होना आवश्यक है। तभी दिन का प्रतीक 'दी' और क्षपा का प्रतीक 'क्षा' इनके मिलने से सच्ची दीक्षा चरितार्थ होती है।

श्रीमद्वीरावली कुल में कहा गया है कि "शुभ अशुभ रूप द्वन्द्वात्मक विकल्प बड़े भयानक होते हैं। इनके नष्ट होने पर ही माया का प्रभाव मिटता

नान्यथा भवते दीक्षा रजसां पातने न तु।
नैव शास्त्रैर्भवेन्मुक्तिर्यजने नैव याजने ॥
एषा ब्रह्मविदां दीक्षा नान्यथा तु वदाम्यहम् ।' इति।

तथा

सितासितौ कथिष्यामि नामपर्यायवाचकैः ।' इत्युपक्रम्य
'अहः शुक्लस्तथा प्राणः........................।' इति,
'अधर्मश्च क्षपा चैव ....।' इति, च

एवमहोरात्रमुपसंहृत्य मासमवतारयति 'अहोरात्र' इत्यादिना ॥ ७५ ॥

तमेवाह

दिनं कृष्णो निशा शुक्लः पक्षौ कर्मसु पूर्ववत् ।

पूर्ववदिति, रात्रिन्दिनवत्। तेन कृष्णपक्षे क्रूराणि कर्माण्यन्यत्र च सौम्यानीति। तदुक्तम्

'क्रूरकर्माणि तत्रैव कुर्वन्सिद्धिमवाप्नुयात्।
शुभकर्माणि कृष्णे च न च सिद्ध्यन्ति सुव्रते ।।' इति।

तथा

'तदारभ्य च कर्माणि शुभान्याभ्युदयानि च।
ध्यानमन्त्राभियुक्तस्य सिद्ध्यन्ते नात्र संशयः ।।' इति ॥

है। निर्विकल्पक, शून्य रूप परमात्मा का ज्ञान होता है। वही दीक्षा है। जब तक राजस तामस का विलोप नहीं होगा और सात्त्विकता का अहंकार नहीं मिटेगा तब तक दीक्षा का कोई फल नहीं हो सकता। शास्त्र पढ़ने से मुक्ति नहीं मिलती। ब्रह्मविद् की दीक्षा तो मोक्षप्रदा दीक्षा ही है।"

इसी प्रसङ्ग में सितासित कर्मों का सविस्तर वर्णन वहाँ किया गया है। दिन-रात, शुक्ल प्राण, अधर्म रात आदि तथा प्राणपथ में अहोरात्र के अनन्तर मास की चर्चा भी वहाँ स्पष्ट प्रदर्शित है ॥ ७४–७५ ॥

वही कह रहे हैं—

दिन कृष्ण पक्ष है। और रात शुक्ल पक्ष है। कृष्ण पक्ष में क्रूर और शुक्ल पक्ष में सौम्य कर्म का निर्देश पहले किया जा चुका है। कहा गया है कि,

तत्रैव तिथिभागमाह

याः षोडशोक्तास्तिथयस्तासु ये पूर्वपश्चिमे ॥ ७६ ॥
तयोस्तु विश्रमोऽर्धेऽर्धे तिथ्यः पञ्चदशेतराः ।

उक्ता इति, प्राणवाहेऽपानवाहे वा । तयोरिति, पूर्वपश्चिमयोस्तुट्योः । विश्रम इति, पक्षसंधित्वेन वक्ष्यमाणः । अर्धेऽर्ध इति, प्राणीयेऽपानीये च । तयोश्च संमेलनात्तुटिविश्रमस्थानं स्यान्नतु तुट्यर्धम् । 'इतरा' इति हृदि द्वादशान्ते च विश्रमस्थानत्वेनाधीधिकयोक्तायाः षोडश्यास्तुटेरन्या इत्यर्थः । यदुक्तम्

> **'तुटचर्धं चाप्यधश्चोर्ध्वं विश्रमः परिकीर्तितः ।**
> **मध्ये पञ्चदशोक्ता यास्तिथयस्ताः प्रकीर्तिताः ॥'**
>
> (स्व० ७।६१) इति ॥ ७६ ॥

अत्राप्यहोरात्रविभागमाह

सपादे द्व्यङ्गुले तिथ्या अहोरात्रो विभज्यते ॥ ७७ ॥
प्रकाशविश्रमवशात्तावेव हि दिनक्षपे ।

'विभज्यत' इति प्रकाशविश्रमात्मना विभागेन व्यवस्थाप्यत इत्यर्थः । क्वचित् ह्यत्र प्रकाशस्य प्राधान्यं, क्वचिच्च विश्रमात्मन आनन्दस्य; तत्र प्रकाशप्राधान्ये

"दिन में क्रूर और रात में शुभ कर्म को सिद्धि होती है ।" तथा "ध्यान आदि में लगे साधकों के ऐसे कर्म निर्देशानुसार ही सिद्ध होते हैं ।" इसी प्रसङ्ग में प्राणवाह और अपानवाह में १६ तुटियों में पहली और अन्तिम में प्राणीय और अपानीय विश्रान्ति के कारण १५ तिथियाँ ही कही गयीं हैं । स्व० ७।६१ में भी यही बात कही गयी है जैसे—

$\frac{१}{२}+\frac{१}{२}$ = विश्राम की एक तुटि और पुनः प्रतिपदा से क्रमशः १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४, ३०, अमा फिर क्रमशः पूर्णिमा १५, १४, १३, १२, ११, १०, ९, ८, ७, ६, ५, ४, ३, २, १, और विश्राम की पहली तुटि ! ॥ ७६ ॥

अब अहोरात्र के विश्राम की चर्चा कर रहे हैं—

वस्तुतः अहोरात्र दिन और रात को कहते हैं किन्तु यहाँ प्रति तुटि में अहोरात्र का सूक्ष्म निर्वचन कर रहे हैं । तुटि २$\frac{१}{४}$ अंगुल की होती है । इसमें

दिनमन्यथा तु रात्रिरित्युक्तं 'तावेव हि दिनक्षपे' इति। तेनैकैकस्यास्तुटेः साष्टभागाङ्गुलपरीमाणमाद्यमर्धं प्रकाशरूपं दिनं, परं तु विश्रान्त्यात्मा रात्रिरिति। तदुक्तम्

'प्रथमोदये हृत्पद्मात्तुट्यर्धं तु दिनं भवेत्।
द्वितीये चैव तुट्यर्धे यदा चरति शर्वरी॥'

(स्व० ७।६३) इति॥ ७७॥

ननु यदहोरात्रस्य प्रकाशविश्रान्तितारतम्येन दिननिशाविभाग उक्तस्तदास्तां को दोषः, यत्पुनर्बाह्याहोरात्रक्रमातिक्रमेणाप्युक्तमन्तः प्राणापानरूपं दिननिशाविभागमुल्लङ्घ्य तुट्यन्तरमितयोरवस्थानमुच्यते तदपूर्वमिव नः प्रतिभाति,—इत्याशङ्क्याह

संवित्प्रतिक्षणं यस्मात्प्रकाशानन्दयोगिनी॥ ७८॥
तौ क्लृप्तौ यावति तया तावत्येव दिनक्षपे।

प्रतिक्षणमिति, सदैव प्रकाशानन्दमयीत्यर्थः। अतश्च तथा संविद उदयः प्रमातॄणां वेद्यग्रहणपरत्वादेस्तारतम्यात्कस्यचित्क्षणः कस्यचित्कल्पः कस्यचिन्निमेषोऽपि वा स्यात्॥ ७८॥

१⅛ अंगुल का दिन होता है। दूसरा भाग विश्रान्ति का है। अतः उसे रात कहते हैं। एक भाग प्रकाशात्मक और दूसरा प्रकाश की विश्रान्ति का समय होता है। विश्रान्ति आनन्द को कहते हैं। रात में आनन्द की प्रधानता होती है। स्व० ७।६३ में यही कहा गया है॥ ७७॥

बाह्य दिन रात, प्रकाश और उसकी विश्रान्ति की दिन रात तथा प्राण और अपान रूप दिन रात, इन तीनों में संवित् शक्ति का ही अपूर्व चमत्कार है। यही कह रहे हैं—

संवित् शक्ति प्रतिक्षण प्रकाश और आनन्द के योग से स्पन्दित होती है। यह प्रमाता की योग्यता पर निर्भर करता है कि वेद्य ग्रहण करने में वह कितना समय यापन करता है। वही क्षण किसी के लिये केवल क्षण और किसी के लिये कल्प सदृश हो जाता है॥ ७८॥

अत एवाह

यावत्येव हि संवित्तिरुदितोदितसुस्फुटा ॥ ७९ ॥
तावानेव क्षणः कल्पो निमेषो वा तदस्त्वपि ।

नन्वेवमपि भवतु को दोषस्तत्राप्यस्या वेद्यग्रहणपरत्वं स्वात्मनि विश्रान्तिपरत्वं वा किं तुल्यकक्ष्यतयैव भवेदुतान्यथापि ? इत्याशङ्क्याह

यावानेवोदयो वित्तेर्वेद्यैकग्रहतत्परः ॥ ८० ॥
तावदेवास्तमयनं वेदितृस्वात्मचर्वणम् ।

'वित्तेः' इति संविदः। अस्तमयनमिति, वेद्यप्रकाशस्य न्यग्भावात्। 'चर्वणम्' इति विश्रान्तिः। एवकाराभ्यां च साम्यमेव द्योतितम् ॥ ८० ॥

ननु स्वात्मविश्रान्तिपरत्वेऽप्यन्तारूपाणां सुखादीनां वेद्यानां सद्भावात् तद्ग्रहणपरत्वं न हीयेत,—इति कथमनयोस्तुल्यकक्ष्यत्वं स्यात्, इत्याशङ्क्याह

वेद्ये च बहिरन्तर्वा द्वये वाथ द्वयोज्झिते ॥ ८१ ॥
सर्वथा तन्मयोभूतिर्दिनं वेत्तृस्थता निशा ।

वेद्यं नाम बहिरस्त्वन्तर्वा, मा वा भूत्किमनेन प्रयोजनं, यावता हि तन्मयीभावो नाम सर्वथा दिनं वेत्तृस्थता स्वात्मविश्रान्तिश्च निशा,—इत्यस्माकं विवक्षितं; तेन यावद्वेद्यग्रहस्तावद्दिनमन्यथा तु रात्रिरिति। यदाहुः

वेद्य के संवेदन और स्वात्म में विश्रान्ति दोनों, संवित्ति के उदय और विश्रान्ति के ही क्षण हैं। ये ही क्षण, निमेष और कल्प की कालावधि की संवेदन योग्यता रखते हैं ॥ ७९ ॥

वेद्य के संवेदन क्षण एवं स्वात्मविश्रान्ति के साम्य पर विचार कर रहे हैं—

संवित् शक्ति का उदय और अस्त अनुभूति का विषय है। वेद्य का ग्रहण और ग्रहणोपरान्त वेद्य प्रकाश, अनुभूति और चर्वण दशा में आनन्द बन कर स्पन्दित होता है, यह शाश्वत क्रम है ॥ ८० ॥

स्वात्म चर्वण में सुख आदिवेद्यों का ग्रहण होने के कारण चर्वण और ग्रहण दोनों की समानता का स्तर व्यक्त कर रहे हैं—

'ततो यत्र यावत्तावदनया वेद्यग्रहवेदकविश्रान्तिभूमौ प्रकाशानन्दावाभास्येते तत्र तावद्रूपे एव दिननिशे' इति। अतश्च दिननिशयोस्तुल्यकक्ष्यत्वमेव भवति, इति न कश्चिन्नियमः। 'द्वयोज्झिते' इत्यनेन वेद्यस्यानवक्लृप्तिरेवोपोद्वलिता न त्वेवमस्य संभवो दर्शितः, नह्यनन्तर्बहीरूपं वेद्यं किंचित्संभवेत् ॥ ८१ ॥

ननु योऽयं संविदः प्रकाशविमर्शयोरेकतरप्राधान्याद्विशेष उक्तः स किं प्रमातृणामपि संभवेन्न वा ? इत्याशङ्क्याह

वेदिता वेद्यविश्रान्तो वेत्ता त्वन्तर्मुखस्थितिः ॥ ८२ ॥

'वेदिता' इति ज्ञाता, 'वेत्ता' इति विचारयिता विम्रष्टेत्यर्थः। तेनैकत्र प्रकाशप्राधान्यमन्यत्र तु विमर्शस्य,—इति प्रमातुरपि द्वैविध्यम् ॥ ८२ ॥

वेत्तापि द्विधा,—इत्याह

पुरा विचारयन्पश्चात्सत्तामात्रस्वरूपकः ।

विमर्शनान्तरीयक एव हि स्वरूपलाभो भवेदिति भावः। एवमत्र ज्ञान-विचारसत्तार्थतया त्रिविधोऽपि विधिराश्रयणीयो येन प्रमातुस्त्रैविध्यं सिध्येदिति भावः ॥

वेद्य चाहे बाह्य हो या आन्तरिक, जब तक ग्रहण करने की—तन्मयता होती है, तब तक प्रमाता का प्रकाश दिन रूप में प्रकाशित होता है और ज्यों ही स्वात्मविश्रान्ति का अर्थात् प्रकाश के गौण होने की स्थिति होगी, उस समय रात होती है। वेद्य ग्रह को दिन (प्रकाश) और विश्रान्ति को निशा (आनन्द) कहना ही उचित है। वेद्य की बाह्य और आन्तरिक समस्थिति की बात छोड़ कर केवल यह ध्यान देना चाहिये कि वेद्य का ग्रहण और वेदक में विश्रान्ति दोनों कैसे हो रहे हैं ? यहाँ तर्क नहीं, अनुभव आवश्यक है। दिन और रात के साम्य का कोई आग्रह नहीं। विना अन्तः स्थिति, बाह्य वेद्य असंभव है ॥ ८१ ॥

संविद् में वेद्य ग्रहण रूप प्रकाश और विश्रान्ति रूप विमर्श दोनों की तरह प्रमाता में भी विशेष भाव का निर्देश कर रहे हैं—

वस्तुतः प्रमाता दो प्रकार के होते हैं १–वेदिता और २–वेत्ता। वेदिता' ज्ञाता होता है। उसका विमर्श करने वाला 'वेत्ता' होता है। वेत्ता अन्तर्मुख होता है और वेदिता वेद्य की सीमा में विश्राम करता है। यहाँ प्रकाश और विमर्श की प्रधानता का ही निर्देश है ॥ ८२ ॥

अत्रैव प्रसङ्गाज्जाग्रदादिस्वरूपमपि निरूपयति

जाग्रद्वेदितृता स्वप्नो वेतृभावः पुरातनः ॥ ८३ ॥
परः सुप्तं क्षये रात्रिदिनयोस्तुर्यमद्वयम् ।

जाग्रदिति, वेद्यविश्रान्तेरेव प्राधान्यात् । पुरातन इति, विमृष्टृतात्मकः । स्वप्न इति, वेद्यस्य कथंचिदप्राधान्यात् । पर इति, सत्तामात्रनिष्ठः । सुप्तमिति, वेद्यक्षोभप्रक्षयात् अद्वयमिति, प्रमातृभेदस्यापि विगलनात् अनेन च 'विश्वात्मता च प्राणत्वम्' इत्याद्युक्तं स्मारितम् ॥ ८३ ॥

ननु रात्रिदिनयोर्बहिः कदाचित्साम्यं भवेत् कदाचिच्च वैषम्यमित्यत्र किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

कदाचिद्वस्तुविश्रान्तिसाम्येनात्मनि चर्वणम् ॥ ८४ ॥
वेद्यवेदकसाम्यं तत सा रात्रिदिनतुल्यता ।

यन्नाम कदाचिद्वेद्ये स्वात्मनि च तुल्यकक्ष्यतया विश्रान्तिर्भवेत् तदेव वेद्यवेदकयोः साम्यं भवेत्, तदनुप्राणितं च रात्रिदिनयोरतुल्यत्वं, यत्सर्व एव योगिनो महापुण्यं विषुवत्कालमाचक्षते । यदुक्तम्

वेत्ता भी दो प्रकार के होते हैं—यही कह रहे हैं—

पहले वेत्ता विमर्श करता है । विना विमर्श के स्वरूप की उपलब्धि नहीं हो सकती । इसलिये दूसरी वेत्ता की दशा को 'सत्ता' कहते हैं । स्वरूपलाभ ही सत्ता है । इस तरह पहले ज्ञान, फिर विमर्श और इसके बाद स्वरूप सत्ता ! प्रमाता की यह तीन प्रकार की दशा स्वाभाविक है ।

जहाँ तक वेद्य में विश्रान्ति है, प्रकाश प्राधान्य में दिन की दशा होती है । उसे हो 'जाग्रत्' अवस्था मानते हैं । जब प्रकाश प्रधान नहीं रहता तो ज्ञान गौण जाता है । उस दशा को 'स्वप्न' कहते हैं । विमर्श के बाद स्वरूप की उपलब्धि में विमर्श की विचारात्मकता भी शान्त हो जाती है । इस अवस्था को 'सुषुप्ति' कहते हैं । इस अवस्था में वेद्य आदि के क्षोभ समाप्त हो जाते हैं । रात दिन का भेद विगलित हो जाता है । इसे तुरीय अवस्था कहते हैं । 'प्राण' विश्वात्मक होता है । उक्त विश्लेषण से यह उक्ति स्पष्ट हो जाती है ॥ ८३ ॥

ऊपर रात दिन के साम्य वैषम्य की चर्चा की गयी है । उसे और स्पष्ट कर रहे हैं—

'वेद्यवेदकसाम्येन वस्तुविश्रमचर्वणम् ।
यदा कदाचिद्भवति सा रात्रिदिनतुल्यता ॥
विषुवत्कालयोगोऽसौ योगिभिः समुदाहृतः ।' इति ॥८४॥

एवं च वेद्यस्य वेदकस्य च विश्रान्तेराधिक्ये दिनस्य निशायाश्च दैर्घ्यं भवेदन्यथा त्वपचयः, तदाह

वेद्ये विश्रान्तिरधिका दिनदैर्घ्याय तत्र तु ॥ ८५ ॥
न्यूना स्यात्स्वात्मविश्रान्तिर्विपरीते विपर्ययः ।
स्वात्मौत्सुक्ये प्रबुद्धे हि वेद्यविश्रान्तिरल्पिका ॥ ८६ ॥

न्यूनेति, अन्यथा हि वेद्यविश्रान्तेराधिक्यमेव न स्यात् । स्यादित्यर्थाद्राव्यपचयनिमित्तम्, 'विपरीत' इति स्वात्मनो विश्रान्तेराधिक्ये वेद्यस्य चान्यथात्वे; यतः स्वात्मन्यौत्सुक्ये विश्रान्त्यभिलाषे विकस्वरतामुपेयुषि वेद्यविश्रान्तिरल्पीयसी भवेत्, येन निशाया दैर्घ्यं दिनस्यापचयः । तदुक्तम्

'द्राघीयसी वेद्यवृत्तिर्दिनदैर्घ्याय कल्पते ।
तथैव स्वात्मविश्रान्तिवृत्तिः स्याद्रात्रिविस्तरः ॥' इति ॥८६ ॥

अयमेव चात्र पक्षो युक्तः,—इत्याह

इत्थमेव दिवारात्रिन्यूनाधिक्यक्रमं वदेत् ।

कभी ऐसी अवस्था भी आती है, जब वेद्य में और स्वात्म में समानरूप से विश्रान्ति होती है । वहाँ वेद्य वेदक समान हो जाते हैं । परिणामतः रात दिन भी तुल्य हो जाते हैं । यह महत्त्वपूर्ण पर्व होता है । इसे 'विषुवत्' काल कहते हैं । यह योगियों की अनुभूति का विषय है ॥ ८४ ॥

रात और दिन के 'घट-बढ़' का कारण बता रहे हैं—

वेद्य में विश्रान्ति का समय जब बढ़ जाता है, तो दिन बड़े हो जाते हैं । स्वात्मविश्रान्ति में अधिकता होने पर रात बड़ी हो जाती है । विमर्श में स्वभावतः स्वात्मविश्रान्ति के मुकुल प्रसून बन कर खिल उठते हैं । आनन्द की लम्बी अवधि में दिन का छोटा होना अनिवार्य है । कहा गया है कि,

"वेद्यवृत्ति की बढ़त में दिन लम्बा हो जाता है । इसी तरह स्वात्म विश्रान्ति की वृत्ति में रात बड़ी हो जाती है" ॥ ८५–८६ ॥

नन्वन्तर्बहिश्च रात्रिदिनयोः स्थितेऽप्यौत्सर्गिके क्रमे यथान्तरसावुक्त-युक्त्या प्रकाशविमर्शयोरेकतरप्राधान्यात्प्रतिप्रमातृ विशिष्यते, तथा बहिरपि प्रतिभुवनं किं विशिष्यते न वा ? इत्याशङ्क्याह

यथा देहेष्वहोरात्रन्यूनाधिक्यादि नो समम् ॥ ८७ ॥
तथा पुरेष्वपीत्येवं तद्विशेषेण नोदितम् ।

विशेषेणेति देहमधिकृत्य, तथात्वेन हि तत्कथितं तत्तत्फलसंपत्तिनिमित्तं स्यादित्याशयः ॥ ८७ ॥

नन्वेवं रात्रिदिनविभजने किं प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह

श्रीत्रैयम्बकसन्तानविततास्बरभास्करः ॥८८॥
दिनरात्रिक्रमं मे श्रीशंभुरित्थमपप्रथत् ।

अत एवान्यथान्यैर्यत्तद्विभजनं कृतं तदग्राह्यमेव,—इत्याह

दिन और रात के न्यूनाधिक्य का यही क्रम है । प्रकाश और विमर्श में किसी एक की प्रधानता से प्रमाता में जैसे विशेषतायें होती रहती हैं, वैसे ही ब्रह्माण्ड के भुवनों की भी काल सम्बन्धी न्यूनता और अधिकता स्वाभाविक है । पिण्ड-देह में जो साम्य-वैषम्य घटित होता है, वह ब्रह्माण्ड के भुवन देह में भी घटित होता है । यह अलग से कहने की बात ही नहीं है अपितु स्वाभाविक है ॥ ८७ ॥

उक्त बातों की प्रामाणिकता का उल्लेख कर रहे हैं—

श्री त्रैयम्बक परम्परा रूप विशाल आकाश के देदीप्यमान दिवाकर परम गुरुदेव श्री शंभुनाथ ने स्वयं दिन रात की इस आगमिक प्रथा का उपदेश मुझे किया था । इस लिये अन्य गुरुजनों ने दूसरी परम्पराओं के अनुसार जो कुछ दूसरे ढङ्ग से कहा है, वह हमें मान्य नहीं ।

श्री सन्तान परम्परा में प्राणचार का प्रारम्भ हृदय से होता है—यह मानते हैं । हृदय से द्वादशान्त तक के प्राणचार की पहली तुटि का जो आधा भाग है, वह बुद्ध पुरुष का आद्य चार है । इसी से आगे अबुद्ध पुरुषों का प्राणचार है । इसी प्राणचार में रात दिन का विभाजन भी होता है । बुद्ध स्थान ही दिन और अबुद्ध स्थान रात्रि है । यह हमारी मान्यता के विपरीत है ।

श्रीसन्तानगुरुस्त्वाह स्थानं बुद्धाप्रबुद्धयोः ॥८९॥
हृद आरभ्य यत्तेन रात्रिन्दिवविभाजनम् ।
तदसत्सितपक्षेऽन्तः प्रवेशोल्लासभागिनि ॥९०॥
अबुद्धस्थानमेवैतद्दिनत्वेन कथं भवेत् ।

यन्नाम प्राच्यैर्हृदयादारभ्य द्वादशान्तं यावत्तुट्यर्धपरीमाणं प्राणीयमाद्यं स्थानं बुद्धस्य परं त्वबुद्धस्य,—इत्युक्तं, तेनैव बुद्धाबुद्धस्थानवदनेन समाख्यौचित्याद्रात्रिदिनयोरपि विभागः कृतो यद्बुद्धस्थानं दिनमबुद्धस्थानं तु रात्रिरिति, तत्त्वयुक्तं; यदन्तःप्रवेशात्मन्यपानवाहे स्थानस्याविशेषाद्रात्रित्वेन परिकल्पितमबुद्धस्थानमेव दिनं स्यात्,—इति पूर्वापरव्याहतत्वम् ॥९०॥

न चैतद्विद्वेषपूर्वमस्माभिरुक्तमिति न शिष्टनिन्दा कृता स्यात्,––इत्याह

अलं वानेन नेदं वा मम प्राङ्मतमत्सरः ।९१
हेये तु दर्शिते शिष्याः सत्पथैकान्तदर्शिनः ।

इदानीं प्रकृतमेवावतारयति

व्याख्यातः कृष्णपक्षो यस्तत्र प्राणगतः शशी ॥९२॥

विचारणीय बात है कि अपानवाह में जब अमाकलासे पूर्णिमा की ओर प्राण संचार शुरू होता है तो कृष्ण पक्ष होता है। इसमें श्री सन्तति की मान्यता के अनुसार रात्रिरूप अबुद्ध स्थान दिन हो जायेगा। क्योंकि हृदय का स्थान तो तै है। यहाँ अपानवाह में जिसे रात कहते हैं वह भी दिन होगा क्योंकि ऊर्ध्व प्रवेश का उल्लास तो यहाँ भी होता ही है॥ ८८-९०॥

इस विश्लेषण में पूर्वमान्यताओं की निन्दा करना उद्देश्य नहीं। यह इस लिये कहा गया है कि श्री त्रैयम्बक परम्परा में दीक्षा लेने वाले शिष्य सत्य का अवगम कर सकें। हेय के दर्शन से उपादेय में श्रद्धा स्वभावतः हो जाती है॥ ९१॥

इस लिये पुनः उसका ख्यापन करते हुए कहते हैं कि—

त्रैयम्बक सन्तति में जिसे कृष्णपक्ष कहते हैं, वहाँ प्राणगतचन्द्र अपान की एक-एक कला का परित्याग करता है क्योंकि आप्यायन में अमृत खर्च होता ही है।

आप्यायनात्मनैकैकां कलां प्रतितिथि त्यजेत् ।
द्वादशान्तसमीपे तु यासौ पञ्चदशी तुटिः ॥९३॥
सामावस्यात्र स क्षीणश्चन्द्रः प्राणार्कमाविशेत् ।

प्राणगत इति, तत्रास्य प्राधान्यात् । तेन तुटिस्थानावस्थितां यां तिथिं प्राणादित्य आक्रमते तस्यां तस्यामपानचन्द्रः सुरादीनामपानरूपेण हेतुना 'एकैकां कलां त्यजेत्' एकैककलाह्रासक्रमेण क्षैण्यमासादयेत्; यावत्स एव कलामात्र-शेषत्वात्क्षीणः सन् द्वादशान्तसमीपस्थायां पञ्चदशतुट्यात्मिकायाममावास्यायां 'प्राणार्कमाविशेत्' तदन्तर्लीनो भवेत्, यदेवास्य बहिरस्तमय इत्युच्यते ॥९३॥

न चैतन्निर्मूलमेवोक्तम्,—इत्याह

उक्तं श्रीकामिकायां च नोर्ध्वेऽधः प्रकृतिः परा ।
अर्धार्धे क्रमते माया द्विखण्डा शिवरूपिणी ॥९४॥
चन्द्रसूर्यात्मना देहं पूरयेत्प्रविलापयेत् ।

इह खलु 'परा' पूर्णा, अत एव 'शिवरूपिणी' शक्तिमदवियुक्ता 'प्रकृतिः, विश्वोत्पत्तिभूः संवित् 'माया' स्वरूपगोपनशीला प्रथमं प्राणात्मतया समुच्छलन्ती 'द्विखण्डा' प्राणापानात्मतया द्वैध्यमापन्ना सती नोर्ध्व एव नाध एव अपि तूर्ध्वाधः

है। अतः पूर्णिमा के बाद प्रतिपदा से चाँद में एक कला की कमी होती जाती है। द्वादशान्त के समीप १५वीं तुटि को इसी लिये अमावस्या कहते हैं। यहाँ चन्द्रमा पूरी तरह प्राण रूपी सूर्य में प्रवेश कर जाता है। इन्द्रियाँ 'सुर' हैं। ये करण देवियाँ हैं। इन्हें अमृत चाहिये। अपान का विष नहीं। प्राण सूर्य में चन्द्र के प्रवेश को ज्योतिष शास्त्र चन्द्रास्त कहता है। आगमिक दृष्टिकोण इस रहस्य को उद्घाटित करता है ॥ ९२–९३ ॥

यह कोई निर्मूल कथन नहीं है, अपितु श्री कामिका शास्त्र में इसका सुन्दर विश्लेषण किया गया है। वहाँ यह उल्लेख है कि परा संवित् शक्ति पहले शक्तिमान् शिव से अवियुक्त भाव से विमर्शरूप से उल्लसित रहती है। वही विश्वोन्मेष की आकांक्षा के कारण प्रकृति रूपा संवित् शक्ति हो जाती है और अपने वास्तविक स्वरूप का गोपन कर लेती है। 'पहले संवित् प्राण रूप में परिणत हुई'—यह उक्ति प्रसिद्ध है। प्राणरूप में परिणत यह संवित् प्राण और अपान

प्रवाहात्मना 'अर्धार्धे क्रमते' दक्षवामनाड्योरन्तः समप्रविभागेन प्रवहतीत्यर्थः। अत एव प्राणापानदशामधिशयाना परा संविच्चन्द्रात्मनाप्यायकारितया देहं प्रपूरयेत् सूर्यात्मना च चान्द्रीणामेव कलानामपचयात् 'प्रविलापयेत्' शोषये-दित्यर्थः ॥९४॥

ननु चान्द्रीणां कलानामपचये किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

अमृतं चन्द्ररूपेण द्विधा षोडशधा पुनः ॥९५॥

पिबन्ति च सुराः सर्वे दशपञ्च पराः कलाः।

अमा शेषगुहान्तःस्थामावास्या विश्वतर्पिणी ॥९६॥

यच्चन्द्ररूपेण षोडशधा भिन्नममृतं स्थितं तत्पुनर्द्विधा दृश्यमानसितरूप-पञ्चदशकलात्मना तद्भित्तिभूतातिस्वच्छाब्रूपकलात्मना चेत्यर्थः। तत्र पञ्चदश कलाः सर्व एव बहिः सुरादयोऽन्तः करणानि कार्याणि चाप्यायलिप्सया पिबन्ति येनासां प्रतिदिनमपचयः स्यात्। यदभिप्रायेणैव

रूप से विभाजित हो जाती है। न तो यह केवल ऊपर और न ही केवल नीचे वरन् आधे-आधे में ऊपर नीचे चलने लगती है। इसे ही प्राणवाह और अपान-वाह कहते हैं।

दायीं और बायीं पिङ्गला और इडा नाडियों के आश्रय से इनकी गति नियन्त्रित होती है। यही प्राण और अपान दशा में अधिष्ठित परा संवित् चन्द्र रूप से अमृत की वर्षा कर देहेन्द्रिय वर्ग को तृप्त करती है और प्राण रूप सूर्य इस चान्द्र कला को ही प्रविलापित करता रहता है ॥ ९४ ॥

चान्द्री कलाओं के घटने का कारण बता रहे हैं—

चन्द्र को साहित्यकार पीयूषवर्ष कहते हैं। यह अमृत मयी किरणों का उद्गम है। अमृत देव-पेय माना जाता है। यह चन्द्रमा से हमेशा स्रवित होता रहता है। यह दो प्रकार का होता है। १—प्रत्यक्ष ज्योतिश्चक्र दृष्ट चन्द्र की कलाओं के रूप में। पूर्णिमा से अमावस्या के पहले भी चतुर्दशी तक इसे देवता पी जाते हैं। श्वास में भी करण देवियाँ इसे पीती रहती हैं। २—अति स्वच्छ, शुद्ध 'अप्' तत्त्व रूप। पन्द्रह कलाओं को ही देवता पी सकते हैं। फलतः यह प्रतिदिन घटते घटते अमावस्या के दिन समाप्त हो जाता है। यही तथ्य

'यस्मिन्सोमः सुरपितृनरैरन्वहं पीयमानः
क्षीणः क्षीणः प्रविशति……।' (साम्य पं० ८ श्लो०)

इत्याद्यन्यत्रोक्तम् । अमाख्या षोडशी पुनः कला सुराद्युपसंहृतकलापञ्चदशकावशिष्टस्वभावत्वाच्छेषरूपा, अत एव गुहान्तरिव स्थितं वस्तु सुरक्षिततत्वादक्षीणं स्यात्तथैवेयमपीत्यर्थः । यतः सा विश्वस्य पञ्चदशकलाक्रोडीकारितयाप्यायकारिणी, अत एव येयममा सह यौगपद्येन पञ्चदशानां कलानां वसनात् 'अमावास्या' तद्व्यपदेश्येत्यर्थः । तिथौ पुनस्तदधिष्ठितत्वादौपचारिकस्तद्व्यपदेश इत्याशयः ॥९६॥

एतदेव प्रकृते योजयति

एव कलाः पञ्चदश क्षीयन्ते शशिनः क्रमात् ।
आप्यायिन्यमृताब्रूपतादात्म्यात्षोडशी न तु ॥९७॥

षोडशी न तु क्षीयते, यदब्रूपतादात्म्यादर्कस्तां क्षपयितुमक्षम इत्यभिप्रायः ॥९७॥

इदानीमेतदनन्तरभाविनं कृष्णस्य शुक्लस्य च पक्षस्य सन्धि दर्शयति

तत्र पञ्चदशी यासौ तुटिः प्रक्षीणचन्द्रमाः ।
तदूर्ध्वगं यत्तुटचर्धं पक्षसंधिः स कीर्तितः ॥९८॥

साम्य पञ्चदशी श्लो० ८ में इस तरह कहा गया है कि "देवों, पितरों और मनुष्यों द्वारा चन्द्र प्रतिदिन पिया जाता है। क्षीण होता हुआ अमा के आक्रोश में समा जाता है।"

यह अमा कला शेष रहने वाली १६ वीं कला है। गुहा के भीतरी भाग में सुरक्षित है। इसी में पन्द्रहों कलायें आवास बना लेती हैं। फिर इसी से पूर्णिमा तक बढ़ती हैं। इसी आवास के कारण इसे 'अमावास्या' कहते हैं ॥ ९५–९६ ॥

इसी तथ्य को प्रकृत प्रसङ्ग से जोड़ रहे हैं—

क्रमशः चन्द्रमा की कलाओं के क्रमशः क्षीण होने का यही कारण है। अमा कला सूक्ष्म 'अप्' तत्त्व रूपा है। इसलिये सूर्य भी उसको नहीं सोख पाता है। विश्व को आप्यायित करने वाली वह आप्यायनी कला है ॥ ९७ ॥

पञ्चदशी तुटिरित्यमावास्योदयस्थानम्, अत एव 'प्रक्षीणचन्द्रमा' इत्युक्तम्। यदिति, प्राणीयं षोडशतुटिसंबन्धि ॥९८॥

ननु संधिर्ह्युभयोर्भवति, तत्कथमेकस्यैव प्राणीयस्य तुट्यर्धस्यासौ स्यात्? इत्याशङ्क्याह

तस्माद्विश्रमतुट्यर्धादामावस्यं पुरादलम्।
परं प्रातिपदं चार्धमिति संधिः स कल्प्यते ॥९९॥

तत्प्राणीयमन्त्यं विश्रमतुट्यर्धमवलम्ब्य 'पुरादलं' प्रथममर्धमामावस्यं तत्संलग्नं 'परं द्वितीयं चापानीयमाद्यं तुट्यर्धं प्रातिपदं तत्संलग्नम्, इत्यनयोरुभयोरर्धयोः संमेलनात्प्रतिपदमावस्यान्तरालभूतोऽसावेकतुट्यात्मा 'सन्धिः कल्प्यते' तथा व्यपदिश्यत इत्यर्थः। तदुक्तम्

'स पक्षसन्धिः प्रतिपत्पञ्चदश्योर्यदन्तरम्।'
(अ० को० १।४।७) इति।

इदमेवान्यत्र प्रधानतया पूजाकालत्वेनोक्तम्। यदुक्तम्

'न दिवा पूजयेद्देवं रात्रौ नैव च नैव च।
अर्चयेद्देवदेवेशं दिनरात्रिपरिक्षये ॥' इति।

अत्र विश्रमतुट्यर्ध एवार्धाधिकया विभक्ते यदि सन्धिर्व्याख्यायते तत्सन्धिद्वयस्याप्येकैव तुटिरर्धाधिकया स्यात्,—इत्येकस्यास्तुटेर्विनियोगाभावादासमञ्जस्यं पर्यवस्येदित्यलं बहुना ॥९९॥

पक्षसन्धि की चर्चा कर रहे हैं—

पहले १६ तुटियों का वर्णन किया जा चुका है। पन्द्रहवीं तुटि के अन्त में अमावस्या का उदय हो जाता है! वहाँ चन्द्र क्षीण हो जाता है। उसके बाद भी आधी तुटि पक्ष सन्धि का समय है ॥ ९८ ॥

१६ वीं तुटि के आधे दोनों भागों की स्थिति दिग्दर्शित कर रहे हैं कि सोलहवीं का पहला आधा भाग आमावस्य भाग है और दूसरा आधा-भाग प्रातिपद है। दोनो को मिलाकर बनने वाली एक तुटि सन्धिकाल है। अमा भाग के पहले कृष्ण पक्ष समाप्त होता है। अतः इन्हें शुक्ल कृष्ण की सन्धि भी अर्थात् पक्ष सन्धि कहते हैं।

एवं प्राणे पक्षोदयं प्रदर्श्य सूर्यग्रहणमपि दर्शयति ।

तत्र प्रातिपदे तस्मिंस्तुट्यर्धार्धे पुरादलम् ।
आमावस्यं तिथिच्छेदात्कुर्यात्सूर्यग्रहं विशत् ॥१००॥

अर्धं चार्धं च अर्धार्धं, तुटेरर्धार्धं, तुट्यर्धार्धं, तस्मिन् सन्धित्वेन परिकल्पिते तुट्यर्धद्वय इत्यर्थः । तत्रैवं स्थिते सति तुट्यर्धद्वयमध्यादामावस्यं पूर्वमर्धम् अर्थात्परस्मिन्प्रातिपदेऽर्धे वक्ष्यमाणादृणशब्दाभिधेयात् तिथिच्छेदाद्विशत् सत् सूर्यग्रहणं कुर्यात्, प्रतिपदमावास्यासंघट्टात्सूर्यग्रहणं भवेदित्यर्थः ॥१००॥

नन्वेतावन्मात्रात्सूर्यग्रहणं भवेदित्यत्र क इवाशयः ? इत्याशङ्क्याह

तत्रार्कमण्डले लीनः शशी स्रवति यन्मधु ।
तप्तत्वात्तत्पिबेदिन्दुसहभूः सिंहिकासुतः ॥१०१॥

मध्वित्यमृतं । तप्तत्वादिति, यथायथमर्केण संनिकर्षात् । इन्दुसहभूरिति 'विधौ राहुः' इत्याद्युक्त्या तत्सहचारित्वात्, अन्यथैषां त्रयाणामपि संघट्टो न भवेदिति भावः । यदुक्तम्

"यह समय दिन रात्रि का परिक्षय समय होता है। यही परमेश्वर परम शिव और सर्वेश्वरी शिवा की पूजा का वास्तविक समय है।" इन दोनों के सामञ्जस्य में योगिवर्ग अपनी साधना पूरी करते हैं ॥ ९९ ॥

प्राणचार के प्रसङ्ग में ही पक्षोदय के बाद सूर्य ग्रहण की चर्चा कर रहे हैं—

सोलहवीं तुटि में दो भाग होते हैं। १—आमावस्य भाग और २—प्रातिपद भाग। दोनों के मध्य में एक ऐसा विन्दु है, जहाँ तिथि की कल्पना नहीं की जा सकती। आमावस्य भाग जब प्रातिपद भाग में प्रवेश-संघट्ट करता है, तब सूर्य ग्रहण होता है ॥ १०० ॥

यही स्पष्ट कर रहे हैं—

अमा कला के परिवेश में चन्द्र पूरी तरह सूरज में लीन हो जाता है। इससे वह गर्म होकर अमृत मधु का स्राव करने लगता है। चन्द्रमा के साथ रहने वाला सिंहिका का पुत्र सैंहिकेय राहु उसे पीने लगता है। स्व० ७।७०-७१ के अनुसार "प्राण सूर्य में अपान चन्द्र बिम्ब का प्रवेश होता है। प्राणार्क मान

'रविबिम्बान्तरे देवि चन्द्रबिम्बं तदा भवेत् ।
तदन्तरे भवेद्राहुरमृतार्थी वरानने ॥
अमृतं स्रवते चन्द्रो राहुश्च ग्रसते तु तत् ।
पीत्वा त्यजति तद्बिम्बं तदा मुक्तः स उच्यते ॥'
(स्व० ७।७०-७१) इति ॥ १०१ ॥

ननु त्रयाणामप्येषां संघट्टे किं सतत्त्वम् ? इत्याशङ्क्याह

अर्कः प्रमाणं सोमस्तु मेयं ज्ञानक्रियात्मकौ ।
राहुर्मायाप्रमाता स्यात्तदाच्छादनकोविदः ॥१०२॥
तत एव तमोरूपो विलापयितुमक्षमः ।

'तयोः' प्रमाणप्रमेययोः 'आच्छादनं' स्वात्मसात्कारेण तिरोधानं न पुनरत्यन्तमेव विलयः, संस्कारात्मना पुनरपि बोधकमाहात्म्यात्तदुदयस्य भावात्, अत एवोक्तं 'विलापयितुमक्षमः' इति । 'तत' इत्याच्छादकत्वात्, तमसो ह्यावारकत्वमेव तत्त्वम् ॥१०२॥

है। उसमें मेय चन्द्र का प्रवेश स्वाभाविक है। इससे अमृत चूने लगता है। यह चान्द्र अमृत उसका सहचारी राहु पीने लगता है। यही समय 'ग्रहण' कहलाता है। पीकर चान्द्र बिम्ब को जिस समय छोड़ता है, उसी समय को ग्रहण से मुक्ति का समय कहते हैं।" अपान चन्द्र उस समय मुक्त हो जाता है और शुक्ल पक्ष का प्रारम्भ हो जाता है ॥ १०१ ॥

एक तरह से यहाँ सूर्य, चन्द्रमा और राहु तीनों का संघट्ट होता है। उसी को स्पष्ट कर रहे हैं—

सूर्य को 'प्रमाण' मानते हैं और चन्द्रमा को प्रमेय। इनमें सूर्य 'ज्ञान' रूप और चन्द्र क्रिया रूप है। दोनों के संयोग की दशा में माया प्रमाता राहु की बन आती है। राहु इनको ग्रस लेने की कला का कौशल जानता है। ग्रास बनाकर यह सूर्य सोम को पचा नहीं सकता, क्योंकि यह माया प्रमाता होने से सिर्फ ढक सकता है। स्वयं तमोरूप भी है। सूर्य सोम प्रकाश रूप हैं। इसलिये अन्धकार से प्रकाश की मुक्ति हो जाती है। यही ग्रहण के स्पर्श, मध्य और ग्रहण मुक्ति का तत्त्व है ॥ १०२ ॥

नन्वेवमेतद्विलापने कः क्षमः ? इत्याशङ्क्याह

तत्संघट्टाद्वयोल्लासो मुख्यो माता विलापकः ॥१०३॥

तेषां मातृमानमेयानां 'संघट्टः' सामरस्यं ततः समुल्लसितमद्वयमेव मुख्यः प्रमाता विलापकस्तत्त्रयसंघट्टनेन परसंविन्मात्रसार एवेत्यर्थः। यदाहुः

'प्राणार्कमानहठघट्टितमेयचन्द्रविद्रावितामृतरसोत्सुकितः खमाता।
स्वर्भानुरावृणुत एव रविं रसं तु पुण्ये ग्रहेऽत्र रसयेत्त्रयघट्टनज्ञः ॥'

इति ॥१०३॥

अत एव चायं कालो महापुण्यः,—इत्याह

अर्केन्दुराहुसंघट्टात् प्रमाण वेद्यवेदकौ।

अद्वयेन ततस्तेन पुण्य एष महाग्रहः ॥१०४॥

'अद्वयेन' चिन्मात्रात्मना भवतीत्यर्थः। यदुक्तम्

राहु आच्छादक है, विलापक नहीं। प्रसङ्ग वश विलापक तत्त्व की चर्चा कर रहे हैं—

इनके मानमेयात्मक संघट्ट में एक अद्वय भाव उल्लसित होता है। उसे मुख्य माता कहते है। यह परसंविन्मात्रसार होता है। यह उनका विलापक तत्त्व है। कहते हैं कि,

"प्राण सूर्य (मान) का हठात् चन्द्र (मेय) से संघट्ट हो जाता है। शून्य माता राहु इस संघट्ट से द्रवित अमृत को पीने के लिये लालायित रहता है। अवसर मिलते ही वह अपने आवरण में इन्हें ले लेता है। असली रस तो तीनों के संघट्ट का रसज्ञ परमेश्वर ही पीता है।" यही आच्छादन और विलापन का अन्तर है ॥ १०३ ॥

ग्रहण का यह समय महापुण्य प्रद माना जाता है। यही कह रहे हैं—

सूर्य, चन्द्र और राहु के संघट्ट से प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता का अद्वय भाव उल्लसित हो जाता है। जीवन का वह क्षण जिसमें अद्वय चिन्मात्र का

'राहुरादित्यचन्द्रौ च त्रय एते ग्रहा यदा।
दृश्यन्ते समवायेन तन्महाग्रहणं भवेत् ॥
स कालः सर्वलोकानां महापुण्यतमो भवेत्।'
(स्व० ७।७३) इति ॥१०४॥

नन्वयं सूर्यादीनां संघट्टः किं प्रतिपदमावस्यासंभेद एव भवेदुतान्यथापि ? इत्याशङ्क्याह

अमावस्यां विनाप्येष संघट्टश्चेन्महाग्रहः ।
यथार्के मेषगे राहावश्विनोस्थेऽश्विनोदिने ॥१०५॥

अमावस्यां विनापि शुद्धायामेव प्रतिपदि यद्येष संघट्टः स्यात् तदापीदं महद्ग्रहणं भवेदेव। यथा बहिश्चन्द्रार्कराहूणामश्विन्यामेवस्थानादेकर्क्षेण वैशाखामावास्यायां प्रहरद्वयादूर्ध्वं शुद्धायामेव प्रतिपदि सूर्यस्य ग्रहणं संभवेत्, लम्बनस्य धनगतत्वाद्ग्रहणस्थित्यर्धस्य लम्बनादूनत्वात्। एवं यत्र प्रतिपदमावास्यासंभेदेन सूर्यग्रहणं भवेत् तत्रामावस्यायां प्रग्रहणं मोक्षस्तु प्रतिपदि, अन्यथा तूभयमपि प्रतिपद्येवेत्यर्थसिद्धम् ॥१०५॥

चमत्कार प्रतिफलित हो जाये, अत्यन्त पवित्र माना जाता है। स्व० तन्त्र ७।७३ के अनुसार "राहु, आदित्य और चन्द्र ये तीनों ग्रह जब एकत्र हो जाते हैं, तो वह महाग्रहण कहलाता है। यह समय पूरी सृष्टि में महान् पुण्यप्रद माना जाता है" ॥१०४॥

ग्रहों का यह संघट्ट क्या प्रतिपद् और अमा के संयोग में ही होता है ? इस आशङ्का का उत्तर दे रहे हैं कि,

यदि अमावस्या के विना प्रतिपदा में भी यह हो, तो यह एक पावन तम महान् ग्रहण होता है। ज्योतिः शास्त्र की गणना के अनुसार आकाश में रवि-सोम-राहु की अश्विनी नक्षत्र में स्थिति में एवं विशाखा को अमावस्या में दोपहर के पहले शुद्ध प्रतिपदा में सूर्यग्रहण होता है। उस समय रवि रश्मि के मूल विन्दु और पार्थिव किरण पात-विन्दु का चाप लम्बवत् होता है।

यह लम्बन जब धनराशि में हो और ग्रहण की आधी स्थिति हो तो प्रतिपदा में ही सूर्यग्रहण होता है। जहाँ प्रतिपदा और अमावस्या के संयोग से सूर्यग्रहण होता है, वहाँ ग्रहण तो अमावस्या में होता है और प्रतिपदा में मोक्ष होता है। जहाँ ऐसा नहीं होता, वहाँ ग्रहण-मोक्ष प्रतिपदा में ही होते हैं ॥१०५॥

तदेवाह

आमावास्यं यदा त्वर्धं लीनं प्रातिपदे दले ।
प्रतिपच्च विशुद्धा स्यात्तन्मोक्षो दूरगे विधौ ॥१०६॥

तन्मोक्षे च विधुदूरीभावो हेतुरित्युक्तं 'दूरगे विधौ' इति। तस्मिन् हि दूरीभूते तत्सहचारी राहुरपि तथा भवेदिति भावः ॥१०६॥

अस्य च ग्रहणस्य महत्त्वे निमित्तं दर्शयति

ग्रासमोक्षान्तरे स्नानध्यानहोमजपादिकम् ।
लौकिकालौकिकं भूयःफलं स्यात्पारलौकिकम् ॥१०७॥

भूयःफलमित्यनन्तफलम्। यदुक्तम्

'तत्र स्नानं तथा दानं पूजाहोमजपादिकम् ।
यत्कृतं साधकैर्देवि तदनन्तफलं भवेत् ॥'

(स्व० ७।७४) इति ॥१०७॥

पारलौकिकत्वे निमित्तमाह

ग्रास्यग्रासकताक्षोभप्रक्षये क्षणमाविशन् ।
मोक्षभाग्ध्यानपूजादि कुर्वंश्चन्द्रार्कयोर्ग्रहे ॥१०८॥

वही कह रहे हैं—

जहाँ आमावस्य अर्द्धभाग प्रातिपद भाग में लीन होता है, उस शुद्ध प्रातिपद भाग से चन्द्रमा के साथ राहु के भी दूर होने से ग्रहण नहीं होता ॥१०६॥

ग्रहण के महत्त्व का कारण बतला रहे हैं—

ग्रहण के स्पर्श से मोक्ष पर्यन्त का समय स्नान, ध्यान, होम और जप आदि के लिये महत्त्वपूर्ण होता है। इससे लौकिक और अलौकिक पारलौकिक फलों की प्राप्ति होती है। स्व० तन्त्र ७।७५ के अनुसार "उस समय स्नान, दान, पूजा, होम और जप आदि से अनन्त फल मिलते हैं" ॥१०७॥

पारलौकिक फल का कारण बतला रहे हैं—

ग्रास्य भले ही चाँद हो या सूरज, ग्रहण के समय प्रमेय और प्रमाता में एक प्रकार का क्षोभ उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इस क्षोभ के क्षय होते ही

इह खलु योगी चन्द्रार्कयोर्ग्रहे सूर्यग्रहणे 'ग्रास्यग्रासकयोः' प्रमेयप्रमात्रोर्यः संबन्धस्तद्रूपो यः 'क्षोभः' तत्प्रक्षयात्मनि परस्मिन्प्रमातर्याविशन् परां वृत्तिमवलम्ब्य क्षणमात्रं ध्यानादि कुर्वन् मोक्षभागपवृज्यत एवेत्यर्थः। यदुक्तम्

'पक्षद्वयं परित्यज्य पूर्वोक्तकरणेन च।
उन्मन्यन्ते स्थितो नित्यं परवृत्त्यवलम्बकः॥
परित्यज्य त्वधः सर्वं ध्यानमास्थाय योजयेत्।
तस्य मुक्तिर्न सन्देहस्त्वन्यथा सिद्धिभाग्भवेत्॥' इति ॥१०८॥

तिथिच्छेदादित्युक्तमधिकावापेन लक्षयति

तिथिच्छेद ऋणं कासो वृद्धिर्निःश्वसनं धनम्।
अयत्नजं यत्नजं तु रेचनादथ रोधनात्॥१०९॥

यन्नाम कासवशेन शीघ्रमेव प्राणस्य प्रसरणात् सहसैवामावास्यो भागः प्रतिपद्भागमनुप्रविशति तदुच्यते ऋणं, तिथिच्छेदयोः कार्यकारणयोरभेदोपचारात्कासश्चेति। यन्नाम च निःश्वासवशादपानवाहस्य चिरेण प्रसरणात् तिथेर-

---

यदि साधक की वृत्ति परासंविद् में प्रवेश पा ले, क्षण मात्र भी उसमें यदि ध्यान लग जाय तो एक चमत्कार ही हो जाता है। हृदय की गाँठ खुल जाती है और साधक के समस्त जागतिक द्वन्द्व दूर हो जाते। कहा गया है कि "द्वैतमय पक्षों का या ग्रास्य ग्रासक भाव का परित्याग कर साधक समना के स्तर को पार कर जाता है। परासंवित् तादात्म्य स्थापित कर लेता है। सारा प्रपञ्च पीछे छूट जाता है। ध्यान में स्थित योगी पुरुष तत्क्षण मुक्त हो जाता है। मुक्ति न मिलने पर अनन्त सिद्धियाँ उसे प्राप्त हो जाती हैं" ॥१०८॥

श्लोक १०० के तिथिच्छेद को और स्पष्ट कर रहे हैं—

साधक अपनी श्वास साधना प्रक्रिया में लगा हुआ है। जिस समय वह आमावस्य स्तर पहुँचता है, यदि संयोगवश कास आ जाय तो एक नई स्थिति पैदा हो जाती है। आमावास्य भाग से प्राण का प्रसार एकाएक तीव्र वेग से प्रातिपद भाग में प्रविष्ट हो जाता है। यह 'ऋणात्मक' स्थिति है।

निःश्वास दशा में श्वास प्रक्रिया धनात्मक होती है। अपान चन्द्र बढ़ने की ओर अग्रसर होता है। पूर्णता को प्राप्त कर पूर्णिमा की मंजिल पर पहुँचता है। यह चन्द्रग्रहण के लिये उपयोगी होता है। यह प्राणचार, उसमें कास का

धिकीभावेन पूर्णतया पौर्णमास्युदयस्तदुच्यते वृद्धिर्धनं निःश्वसनं च, इत्येतच्चोभयं सर्वेषामयोगिनामपि कासश्वासादिना स्वरसत एवोत्पद्यते,—इत्युक्तम् 'अयत्नजम्' इति, यद्वशादन्तरा चन्द्रसूर्योपरागो भवन्नपि तैरनवधानान्न परं लक्ष्यते। योगिनां पुनश्चन्द्रसूर्योपरागयोग्ये तत्प्राणस्य रेचकपूरकाद्यात्मना यत्नेन भवेदित्युक्तं 'यत्नजम्' इति। यदुक्तम्

'तिथिच्छेदे ऋणं ज्ञेयं वृद्धौ चैव धनं भवेत्।
ऋणं चैव भवेत्कासो निःश्वासो धनमुच्यते ॥'

(स्व० ७।६३) इति।

तथा

'तिथिच्छेदस्तथा वृद्धिः कासश्वासादि वा भवेत्।
अयत्नजो यत्नजस्तु प्राणवृत्तिनिरोधतः ॥' इति ॥१०९॥

एतदेवापानवाहेऽप्यतिदेष्टुमाह

एवं प्राणे विशति चित्सूर्य इन्दुं सुधामयम्।
एकैकश्येन बोधांशु-कलया परिपूरयेत् ॥११०॥

आना, श्वास का ऋणात्मक प्रवेश, निःश्वास में धनात्मक गति और पूर्णिमा की ओर बढ़ाव सामान्य पुरुषों का भी होता है और साधकों का भी होता है। अन्तर यही है कि योगियों की ये क्रियायें यत्नज और अयोगियों की अयत्नज होती हैं। एक इस अवस्था को साक्षी भाव से देखने में असमर्थ है। उसे किसी प्रकार की अनुभूति नहीं हो पाती। वहीं साधक साक्षी भाव से चन्द्र और सूर्य दोनों ग्रहणों को देखता ही नहीं अपितु उस स्वात्मसंविद् में अनुप्रवेश प्राप्त कर मुक्त भी हो जाता है। कहा गया है कि

"तिथिच्छेद हो, वृद्धि हो, कासश्वास आदि हो सबमें प्राणचार की प्रक्रिया चलती ही रहती है। कहीं यह स्वभावतः होती रहती है और कहीं साधकों द्वारा सम्पन्न होती है" ॥१०९॥

अपानवाह में भी इसी तरह की प्रक्रिया चलती है। यही कह रहे हैं—

चिति केन्द्र से मातृकेन्द्र की ओर गतिशील होने पर चिदात्मा प्राण सूर्य प्रति त्रुटि के क्रम से एक-एक त्रुटि में सुधा से सिक्त सोम को अपनी प्रबोध शुद्ध कलाओं से परिपूरित करने लगता है। क्रमशः बढ़ने वाली चन्द्रमा की सुधा-

क्रमसंपूरणाशालिशशाङ्कामृतसुन्दराः ।
तुट्यः पञ्चदशैताः स्युस्तिथयः सितपक्षगाः ॥१११॥

'एवं' पूर्वोक्तयैव गत्या 'विशति' शक्तेर्हृदन्तमवरोहति चिदात्मा प्राणसूर्यः प्रतितुट्यैकैकध्येन प्रबुद्धांशुजालया कलया सुधामयमिन्दुं परिपूरयेत्, येन प्रतिपद्येककलो द्वितीयस्यां द्विकलः—इत्याद्यात्मना क्रमेण सम्पूरणाशालिनः शशाङ्कस्यामृतेन सुन्दरा एताः पञ्चदश तुट्य एव सितपक्षगास्तिथयो भवेयुः । यदुक्तम्

> 'प्राणहंसो यदा प्राप्तस्त्वधस्तात्प्रथमां तुटिम् ।
> पूर्वमर्धं त्वहः प्रोक्तं तुट्यर्धमपरं निशा ॥' (स्व० ७।७७)

इत्युपक्रम्य

> प्रतिपत्सा तु विज्ञेया चन्द्रश्चैककलो भवेत् ।
> द्वितीयायां द्वितीया तु बुद्धिमेति क्रमेण तु ॥
> तिथयश्चैवमारभ्य यावत्पञ्चदशो तुटिः ।
> (स्व० ७।७९) इति ॥१११॥

अत्रैव च पक्षसन्धितादप्यतिदिशति

अन्त्यायां पूर्णमस्तुट्यां पूर्ववत्पक्षसन्धिता ।
इन्दुग्रहश्च प्रतिपत्सन्धौ पूर्वप्रवेशतः ॥११२॥
ऐहिकं ग्रहणे चात्र साधकानां महाफलम् ।
प्राग्वदन्यदयं मातः प्राणचारेऽब्द उच्यते ॥११३॥

सिक्त रश्मियों से समुज्वल ये १५ तिथियाँ शुक्ल पक्ष की होती हैं। स्वच्छन्द तन्त्र ७।७७ से ७९ तक इसी तथ्य की पुष्टि की गयी है। "प्राण हंस प्रतिश्वास प्रतितुटि कला में प्रवेश करता है। तुटि की पहली आधी कला की गिनती दिन में की जाती है और दूसरी आधी कला को रात कहते हैं। तिथियों में प्रतिपदा वह तिथि है जहाँ चन्द्रमा एक कला का होता है। शुक्ल प्रतिपदा को यह दीख नहीं पड़ता। द्वितीया में दो, तृतीया में तीन के क्रम से बढ़ता हुआ यह पूर्णिमा को पन्द्रह कलाओं से परिपूर्ण हो जाता है। कृष्ण पक्ष में एक-एक कर क्षीण होता जाता है और अमा में यह पूरी तरह अदृश्य हो जाता है" ॥११०–१११॥

पूर्णो माश्चन्दो यस्यामेवंविधायां पञ्चदश्यां तुट्यां पूर्ववदिति, तुट्यर्ध-द्वयसंमेलनया। पूर्वेति, पूर्वं पौर्णमासं सन्धिलक्षणं तुट्यर्धं तत्प्रवेशात्। एतच्च यद्यपि पूर्ववदित्यतिदेशाद्गतार्थमेव तथापि पूर्णिमाप्रतिपत्संभेदेनैवेन्दुग्रहो भवेत्, न तु शुद्धायामेव प्रतिपद्यपि,—इति दर्शयितुं साक्षादुक्तम्। ऐहिकमिति, सृष्टि-प्राधान्यात्, मातृमेयसंघट्टादि। यदाहुः

'शक्तिसंस्नुतसुधारसक्रमात् पूर्णमिन्दुमणुराहुराहरन्।
छादयेविह महाशुभे ग्रहे द्रावितं पिबति तं महामुनिः॥' इति।

इदानीं मासमुपसंहरन्नब्दमवतारयति अयमित्यादिना॥११३॥

तमेवाह

षट्सु षट्स्वङ्गुलेष्वर्को हृदयान्मकरादिषु।
तिष्ठन्माघादिकं षट्कं कुर्यात्तच्चोत्तरायणम्॥११४॥

मकरादिष्वर्थान्मिथुनान्तेषु, तेन षड्भिरङ्गुलैः षड्गुणितानि षट्त्रिंशद्भ-वन्तीति भावः। माघे हि मकरस्योदयो यावदाषाढे मिथुनस्य। यदुक्तम्

इसी क्रम में पक्षसन्धि आदि का भी निर्देश कर रहे हैं—

पूर्णिमा में भी आधी तुटि तो शुक्ल पक्ष की आधी कृष्ण पक्ष की होती है। एक तुटि में दो भाग करते हैं। आधी-आधी तुटियों की सन्धि में ही सारा चमत्कार भरा हुआ है। पहले पूर्णिमा के तुट्यर्ध में प्रवेश पुनः प्रतिपद् की सन्धि में। इस तरह इन्दु का ग्रहण भी सम्भव होता है। लौकिक ग्रहण में भी यह क्रम होता है। साधकों के लिए ग्रहण का यह पुण्यकाल बहुत ही महत्त्वपूर्ण होता है। इस तरह शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष मिलाकर एक मास एक श्वास-उच्छास में सम्पन्न हो जाता है। माता और मान का संघट्ट इसमें भी होता है। आगम कहता है कि,

"शक्ति से संबल प्राप्त कर प्रबोध शुद्ध सुधाकर जब पूर्णिमा में प्रवेश करता है, उस समय अमृत का प्यासा राहु चन्द्र की ओर दौड़ पड़ता है। उसे अपनी शक्ति भर ढकने का प्रयास करता है। कभी खण्डग्रास और कभी खग्रास द्वारा महाग्रहण करता है। इसमें द्रवित अमृत रस को कोई महामुनीश्वर ही पी पाता है। इसी तरह प्रति प्राणचार में वर्ष का आकलन भी किया जा सकता है॥११२-११३॥

षडङ्गुलं च सङ्क्रामो मकरादिषु राशिषु ।
भानोर्माघाद्याषाढान्तं भवेत्तच्चोत्तरायणम् ॥ इति ॥११४॥

अत्रैव विषुवत्सङ्क्रान्तिं दर्शयति

संक्रान्तित्रितये वृत्ते भुंक्ते चाष्टादशाङ्गुले ।
मेषं प्राप्ते रवौ पुण्यं विषुवत्पारलौकिकम् ॥११५॥

अष्टादशाङ्गुल इति प्रतिसंक्रान्त्यङ्गुलषट्कस्य भोगात् ।

'हृदयादुदयस्थानात्सङ्क्रान्तिर्मकरे स्मृता ।
षडङ्गुलान्यधस्त्यक्त्वा कुम्भे सङ्क्रमते पुनः ॥
कोष्ठोर्ध्वं द्व्यङ्गुलं त्यक्त्वा मीने सङ्क्रमते पुनः ।
गलोर्ध्वाद्यावत्ताल्वन्तं त्यक्त्वा मेषेऽथ संक्रमेत् ॥
नासान्तं यावत्सङ्क्रान्तिरङ्गुलानि षडेव हि ।
एषा वै विषुसङ्क्रान्तिरुत्तरे संव्यवस्थिता ॥'
(स्व० तं० ७।९४) इति ।

वर्ष कलना की ही चर्चा कर रहे हैं—

मातृकेन्द्र से चितिकेन्द्र तक ६ राशियाँ होती हैं। ३६ अंगुल के प्राणचार में ६–६ अंगुल करके सूर्य मकर आदि राशियों में प्रवेश करता है। माघ से आषाढ तक का यह समय उत्तरायण कहलाता है। माघ में मकर का उदय होता है और आषाढ में मिथुन का। आगम भी इसी मत का प्रतिपादन करता है। "सूर्य का संक्रमण मकर से मिथुन तक अर्थात् माघ से लेकर आषाढ तक उत्तरायण काल में होता है" ॥ ११४ ॥

इसी में विषुवत्संक्रान्ति की चर्चा कर रहे हैं—

तीन सक्रान्तियों के भुक्त होने पर अर्थात् ६ × ३ = १८ अंगुल के चक्रमण कर लेने पर अर्थात् मकर, कुम्भ और मीन की संक्रान्तियों के बाद मेष राशि के संक्रम से विषुवत्संक्रान्ति का प्रारम्भ होता है। विषुवत् साम्य व्याप्ति का समय होता है। इसमें रात दिन बराबर होते हैं। यह एक पारलौकिक स्थिति होती है। स्व० ७।९३–९५ के अनुसार "हृदय से मकर संक्रान्ति का उदय होता है। ६ अंगुल संक्रम के बाद कुम्भ में, कण्ठ के ऊपर दो अंगुल पर

विषं व्याप्तिं साम्यमर्हति इति विषुवत् । 'विषुवत्पारलौकिकम्' इत्येतच्च यद्यपि निखिलस्यैवोत्तरायणस्य संभवति तथाप्यत्र विशेषेणेति स्वकण्ठेनैतदुक्तम् । यदुक्तम्

'मकराच्च समारभ्य मिथुनान्तं च सुव्रते ।
उत्तरायणमत्रैतदैहिकीसिद्धिवर्जितम् ॥'

(स्व० तं० ७।९७) इति ॥११५॥

ननु यद्येतद्विषुवत्पारलौकिकं दक्षिणायनं पुनः कीदृक् ? इत्याशङ्क्याह

प्रदेशे तु तुलास्थेऽर्के तदेव विषुवद्भवेत् ।
इह सिद्धिप्रदं चैतद्दक्षिणायनगं ततः ॥११६॥

'प्रवेश' इति शक्तितो हृदन्तम् । 'तदेव' इत्यष्टादशाङ्गुलोपभोगात्म-संक्रान्तित्रयानन्तरभावीत्यर्थः । यदुक्तम्

शक्त्यधो हृदये हंसः सङ्क्रामेत्कर्कटे प्रिये ।
षडङ्गुलानि संत्यज्य सिंहे वै सङ्क्रमेत्पुनः ॥
षडङ्गुलैः पुनस्त्यक्तैः कन्यां सङ्क्रमते पुनः ।

मीन में उदय होता हैं । तालु तक मीन की समाप्ति हो जाती है । नासिका के अन्त तक ६ अङ्गुल मेष सङ्क्रान्ति को विषुवत्संक्रान्ति कहते हैं । यह उत्तरायण में परिगणित है । उत्तीर्यते अनेन इति उत्तरम् अयनम् इस विग्रह के अनुसार इसमें ध्यानादि करना महा पुण्य प्रद होता है" । यह ऐहिक सिद्धियों के लिये उत्तम नहीं होता । ऐसा स्व० ७।९७ कहा गया है ॥ ११५ ।

दक्षिणायन विषुवत् के सम्बन्ध में अपनी सम्मति बता रहे हैं—

शक्ति (द्वादशान्त) से हृदय तक की अपानवाह की यात्रा में भी अठा-रह अंगुल में कर्क सिंह कन्या तीन संक्रान्तियों के बीतने पर तुला में जब सूर्य होता है तब दूसरी विषुवत् संक्रान्ति होती है । यह समय बड़ी सिद्धि प्रदान करने वाला होता है ।

स्व० ७।११३ के अनुसार "द्वादशान्त से हृदय तक सूर्य के संक्रमण काल में कर्क राशि का उदय होता है । ६ अंगुल के बाद सिंह राशि और पुनः ६ अंगुल के प्रवेश के बाद कन्या में प्रवेश करता है । कर्क, सिंह और कन्या इन

नासिकाग्रात्तु ताल्वन्तं त्यक्ते वै विषुवद्भवेत् ॥
तुलासंक्रान्तिरेषोक्ता दक्षिणं विषुवद्भवेत् ।
(स्व० ७।११३) इति ।

इह सिद्धिप्रदमिति, यदुक्तम्

'साधनं यत्कृतं यत्र इह जन्मनि सिद्धिदम् ।' इति ॥११६॥

ननु मकरादे राशिद्वादशकस्य सामान्येन पारलौकिकैहलौकिकत्वेऽपि प्रत्येकमस्ति कश्चिद्विशेषो न वा ? इत्याशङ्क्याह

गर्भता प्रोद्बुभूषिष्यद्भावश्चाथोद्बुभूषुता ।
उद्भविष्यत्त्वमुद्भूतिप्रारम्भोऽप्युद्भवस्थितिः ॥११७॥
जन्म सत्ता परिणतिर्वृद्धिर्ह्रासः क्षयः क्रमात् ।
मकरादीनि तेनात्र क्रिया सूते सदृक्फलम् ॥११८॥

तीनों के बाद तुलाराशि में सूर्य विषुवत्संक्रान्ति करता है । नासिका के अग्र भाग भाग से तालु प्रदेश तक विषुवत्संक्रान्ति का काल होता है । यह दक्षिणायन विषुवत् होता है । यह सिद्धिप्रद काल होता है । "इस काल में जो साधन किया जाता है, वह इसी जन्म में सिद्धिप्रद होता है" ॥११६॥

मकर से शुरू होने वाली १२ राशियाँ सामान्यतया पारलौकिक और ऐहलौकिक होती है । इनके अतिरिक्त इनकी विशेषताओं के सम्बन्ध में विचार कर रहे हैं—

सृष्टि का एक मनोवैज्ञानिक क्रम है । इन बारह राशियों में भी एक क्रम अभिव्यक्त होता है । सर्वप्रथम सृष्टि बीज का शक्तियोनि में आधान होता है । इसे शास्त्र की भाषा में 'गर्भता' कहते हैं । यह मकर संक्रान्ति में श्रेयस्कर होता है । दूसरी दशा में विशेष रूप से उत्पन्न होने की इच्छा का आदिम स्पन्द क्रियाशील हो जाता है । इसे 'प्रोद्बुभूषिष्यद्भाव' कहते हैं । इससे आगे की सक्रिय स्थिति का नाम 'उद्बुभूषता' है । यह उद्बुभूषु प्रमाता की इच्छा का भाव होता है । इसमें उत्पत्ति की क्रिया और उसकी इच्छा का समन्वय होता है । इसके बाद चौथी अवस्था में उत्पन्न हो जाने के लिए स्वात्म में एक उच्छलन पैदा हो जाता है । यह उत्पत्ति की स्वात्मोच्छलत्ता का भाव है । इसे 'उद्भविष्यत्त्व' कहते हैं ।

'गर्भता' आधानं, प्रोद्भवितुमेषिष्यन् 'भावः' सत्ता यस्यासौ तथा आद्य इच्छापरिस्पन्दः । उद्भवितुमिच्छुरुद्बुभूषुस्तस्य भावस्तत्त्वं, उद्भवनात्मकैषणीयसंयुक्तमिच्छामात्रमित्यर्थः । 'उद्भविष्यत्त्वम्' उद्भवनाय स्वात्मन्येवोच्छलत्त्वेनावस्थानम् । 'उद्भूतिप्रारम्भः' तत्रैव नैविडयम् । 'उद्भवस्थितिः' तत्रैवौन्मुख्यम् । एवं मकरादिराशिद्वादशकं क्रमादिति, गर्भतादिरूपं यतो भवति तेन हेतुमात्रबाह्यबीजादिवज्जपादिक्रियापि गर्भताद्यनुगुणमेव फलं 'सूते' ददातीत्यर्थः । यदुक्तम्

'आधानमिच्छा संयोग आनन्दो घनता स्थितिः ।
जन्म सत्ता परिणतिर्वृद्धिर्ह्रासः क्षयः क्रमात् ॥
माघान्माक्षात्समारभ्य स्थितयः परिकीर्तिताः ।
साधकानां सिद्धिविधौ भावानां चापि संभवे ॥ इति ॥११८॥

अत्राप्यवान्तरोऽस्ति विशेषः,—इत्याह

आमुत्रिके क्षयः कुम्भो मन्त्रादेः पूर्वसेवने ।
चतुष्कं किल मीनाद्यमन्तिकं चोत्तरोत्तरम् ॥११९॥
प्रवेशे खलु तत्रैव शान्तिपुष्ट्यादिसुन्दरम् ।
कर्म स्यादैहिकं तच्च दूरदूरफलं क्रमात् ॥१२०॥

पाँचवीं अवस्था 'उद्भूति प्रारम्भ' कहलाती है । इसमें क्रिया के प्रवर्त्तन की लालसा का उल्लास रूप-ग्रहण करने को आकुल हो जाता है । छठीं अवस्था 'उद्भव स्थिति' इसमें सक्रियता की ओर उन्मुखता हो जाती है । सातवीं अवस्था में 'जन्म' होता है । पुनः स्थितिरूपा 'सत्ता', 'परिणाम' 'वृद्धि', 'ह्रास' और बारहवीं अवस्था 'क्षय' की होती है । बाह्य बीजों में भी यही बारह अवस्थायें क्रमशः आती हैं । इनमें जप आदि के तदनुरूप फल ही होते हैं । कहा गया है कि,

"आधान, इच्छा, संयोग, आनन्द, घनता, स्थिति, जन्म, सत्ता परिणति, वृद्धि, ह्रास और क्षय ये १२ अवस्थायें सृष्टि के प्रवर्तन की प्रक्रिया में अनिवार्यतः आती हैं । माघ मास से ही ये अवस्थायें साधकों की साधना के क्रम में अथवा सृष्टि की उत्पत्ति में आती हैं" ॥११८॥

'झषो' मकरः। एतौ चार्थात्सिद्धमन्त्रस्य, असिद्धमन्त्रस्य तु मन्त्रादि-सेवानिमित्तं मीनादिचतुष्कं; 'प्रवेशे' इत्यपानवाहे । यदुक्तम्

'तस्मादारभ्य मकराद्ध्यानहोमजपादिकम् ।
परलोकनिमित्ताय तदनन्तफलं भवेत् ॥
पुरश्चर्यानिमित्ताय मन्त्रग्रहव्रतं च यत् ।
मीनादावारभेत्सर्वं मन्त्रसिद्ध्यर्थमात्मनः ॥"

(स्व० ७।१०३) इति ।

तथा

'तस्मादिहात्मसिद्ध्यर्थं पुष्ट्यर्थं चैव साधयेत् ।
दक्षिणायनजे काले यस्मात्सृष्टिः प्रजायते ॥'

(स्व० ७।११०) इति ।

एवमुत्तरायणस्य वेद्यग्रहणपरत्वम्,—इति यथायथं फलदानेऽप्यासन्नत्वं; दक्षिणा-यनस्य त्वन्तर्विश्रान्तिपरत्वम्,—इति फलदाने यथायथं दूरत्वम्, अत एवोत्तरायणे दिनस्य वृद्धिर्निशाया ह्रासोऽत्र त्वन्यथा ॥१२०॥

कुछ अवान्तर विशेषताओं की ओर भी ध्यान आकर्षित कर रहे हैं—

ऐहिक कार्यों की सिद्धि के लिए मीन से साधना का प्रारम्भ करना चाहिए। मन्त्र आदि के पूर्व समय पालन का काम कुम्भ से करना चाहिए। मीन, वृष और मिथुन ये उत्तरोत्तर असिद्ध मन्त्रों की सिद्धि के लिए प्रयाजनीय हैं। अपानवाह में कर्क राशिका भोग होता है। कर्क, सिंह और कन्या इन संक्रान्तियों में शान्ति और पुष्टि आदि की क्रियायें सिद्ध होती हैं। तुला की संक्रान्ति विषुवद् अवस्था की प्रतीक है। वृश्चिक और धन रूप हृदय द्वादशान्त तक दक्षिणायन पूरा हो जाता है। यह समय स्वात्म विश्रान्ति का होता है। इस लिये फलाकांक्षा प्रायः नहीं होती और होने पर भी फल में विलम्ब होता जाता है। उत्तरायण में ऐसा नहीं होता। इसमें वेद्य या प्रमेय पदार्थों की प्रवृत्ति बढ़ती है। उनका फल भी मिलता रहता है। साथ ही दिन की वृद्धि और रात का ह्रास होता रहता है।

स्व० ७।१०३ में कहा गया है कि "मकर से होम जप और ध्यान का आरम्भ अच्छा होता है। इससे पारलौकिक अनन्त फल मिलता है। पुरश्चरण मन्त्र दीक्षा, व्रत और मन्त्रसिद्धि के कार्य मीन से आरम्भ करना

तदाह

निर्गमे दिनवृद्धिः स्याद्विपरीते विपर्ययः ।
वर्षेऽस्मिंस्तिथयः पञ्च प्रत्यङ्गुलमिति क्रमः ॥१२१॥
तत्राप्यहोरात्रविधिरिति सर्वं हि पूर्ववत् ।

ननु मासारब्धो वर्षः, इति तेषां प्रत्यङ्गुलषट्के उदय उक्तः, ते च तिथ्यारब्धा,—इति कथमत्र न तासाम् ? इत्याशङ्क्याह 'प्रत्यङ्गुलं पञ्च तिथय' इति। तत्षट्के त्रिंशद्भवन्ति येन तत्र मासोदय उक्तः। 'तत्रापि' इत्यङ्गुलदशांशं दिनं निशा च। 'सर्वं' पक्षादि, तेन पूर्वस्मिन्नङ्गुलत्रये कृष्णपक्षोऽन्यत्र तु परः। तदुक्तम्

'अङ्गुले ह्यङ्गुले ह्यत्र तिथयः पञ्च संस्थिता।
तस्याप्यर्धं दिनं पूर्वमपरार्धं निशा भवेत् ॥
षट्पञ्चकास्तिथीनां ये तेऽहोरात्रास्तु मासिकाः।
त्रिंशता तैरहोरात्रैर्द्विपक्षो मास उच्यते ॥'
(स्व० ७।९१) इति ॥१२१॥

चाहिए"। स्व० ७।१११ के अनुसार दक्षिणायन में आत्मिक, ऐन्द्रियिक और पुष्टिप्रदायक क्रियायें सफल होती हैं" ॥११९-१२०॥

वही कह रहे हैं—

प्राणवाह में दिन की वृद्धि स्वाभाविक है। दक्षिणायन में रात की वृद्धि भी अपने आप होती रहती है। इस प्रकार दो अयनों और बारह राशियों के आवर्त्तन प्रवर्त्तन में वर्ष और मास का आकलन होता है। १-१ अंगुल में ५ तिथियों का भोग भी निर्धारित है। तिथियों के क्रम से ही दिन और रात सब होते रहते हैं। ६ अंगुल में ३० तिथियों का भोग हो जाता है। ३६ अंगुल के उत्तरायण में ६ माह और ३६ अंगुल के दक्षिणायन में भी ६ माह, इस तरह १२ माह का एक वर्ष हो जाता है। इसी तरह पक्ष आदि की गणना हो जाती है।

स्व० ७।९१ के अनुसार "एक-एक अंगुल में ५ तिथियाँ होती हैं। उसी के आधे में दिन और और आधे अंगुल में रात भी होती है। ६×५ तिथियों का एक मास और आधे अंगुल में दिन और आधे में रात, ३० तिथियों के ३०

ननु प्रहराष्टकन्यायेन मासद्वादशकस्यापि किमधिष्ठातारः केचित्संभवन्ति न वा ? इत्याशङ्कयाह

प्राणीये वर्ष एतस्मिन्कार्तिकादिषु दक्षतः ॥१२२॥
पितामहान्तं रुद्राः स्युर्द्वादशाग्रेऽत्र भाविनः ।

यदुक्तम्

'दक्षनामा तु यो रुद्रः कथितोऽत्र महेश्वरि ।
कार्तिक मासमखिलं स तु भुङ्क्ते महेश्वरि ॥
चण्डो मार्गशिरोमासि हरः पौषे तु कीर्तितः ।
शौण्डी तु माघमासे च प्रमथः फाल्गुने तथा ॥
भीमश्चैत्रे समाख्यातो वैशाखे मन्मथः स्मृतः ।
शकुनिर्ज्येष्ठमासे तु आषाढे सुमतिस्तथा ॥
नन्दोऽथ श्रावणे मासि भाद्रे गोपालकस्तथा ।
पितामहश्च वीरेशो मासस्याश्वयुजस्य च ॥' इति ।

अग्र इत्येकीकारप्रकाशनाद्विके ॥१२२॥

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति

प्राणे वर्षोदयः प्रोक्तो द्वादशाब्दोदयोऽधुना ॥१२३॥
खरसास्तिथ्य एकस्मिन्नेकस्मिन्नङ्गुले क्रमात् ।
द्वादशाब्दोदये ते च चैत्राद्या द्वादशोदिताः ॥१२४॥

अहोरात्र, दो पक्ष और एक मास की गणना पूरी हो जाती है"। इस तरह दिन-रात, पक्ष-मास और वर्ष की गणना होती है ॥१२१॥

आठ पहरों की तरह बारह मासों के अधिष्ठाता देवताओं की गणना कर रहे हैं—

इस प्राणीय वर्ष के कार्त्तिक से आश्विन तक के १२ अधिष्ठाता रुद्र परिगणित हैं। जैसे "कार्त्तिक के दक्ष, मार्गशीर्ष (अगहन) के चण्ड, पौष (पूस) के हर, माघ के शौण्डी, फाल्गुन के प्रमथ, चैत्र के भीम, वैशाख के मन्मथ, ज्येष्ठ के शकुनि, आषाढ़ के सुमति, श्रावण के नन्द, भाद्र के गोपालक और आश्विन (कुआर) के पितामह वीरेश होते हैं" ॥ १२२ ॥

खरसा इति। खेति, शून्यं 'रसाः' षट्, एवं षष्टिः। तेन प्रत्यङ्गुलमृतु-रङ्गुलानां त्रयेऽयनं षट्के वर्षः। एवमेकस्मिन्नेव प्राणचारे वर्षोदये यथा प्रत्यङ्गुलषट्कं द्वादशानां संक्रान्तीनामुदयः एवमिहाब्दानामित्यभिप्रायः। यदुक्तम्

'सङ्क्रान्तयो द्वादशात्र यद्वदब्दे प्रकीर्तिताः।
द्वादशाब्दोदये प्राणे वत्सरास्ते प्रकीर्तिताः ॥'

(स्व ७।१२६) इति ॥१२४॥

ननु चैत्रस्य प्राक् तालुन्युदयः, इति ततः प्रभृति मन्त्रसेवादि कार्यमित्यु-क्तम्, इह तु हृदि तस्यैवोदय उक्तः, तदिदानीं साधकः कुत्र मन्त्रादिसेवां कुर्यात्? इत्यशङ्क्याह

चैत्रे मन्त्रोदितिः सोऽपि तालुन्युक्तोऽधुना पुनः।
हृदि चैत्रोदितिस्तेन तत्र मन्त्रोदयोऽपि हि ॥ १२५ ॥

उक्त इत्यब्दोदये। अधुनेति, द्वादशाब्दोदये ॥ १२५ ॥

प्राणीय वर्षोदय की तरह बारह वर्षों के भोग की चर्चा कर रहे हैं—

प्राणचार में वर्ष की कलना का प्रकार बतलाया गया है। अब यहाँ १२ वर्षों के क्रम में एक अंगुल में ६० तिथियों की गणना की जाती है। इस तरह एक-एक अंगुल में ऋतु, तीन अंगुल में अयन और ६ अंगुल में एक वर्ष का भोग भी पूरा हो जाता है। एक प्राणचार में वर्षोदय की तरह आधे अंगुल में एक संक्रान्ति और ६ अंगुल में कुल १२ रहों संक्रान्तियाँ पूरी हो जाती हैं। इस आकलन के अनुसार एक प्राणवाह और एक अपानवाह के अन्तराल में १२ वर्ष पूरे हो जाते हैं। स्व० ७।१२६ के अनुसार "एक वर्ष की १२ संक्रान्तियाँ द्वादशवर्षीय प्राणचार की कल्पना के अनुरूप वत्सर हो जाती हैं" ॥ १२४ ॥

चैत्र के तालु और हृदय में उदय के अन्तर का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

चैत्र तालु में उदित होता है, यह कथन एक वर्षीय एक प्राणचार की गणना पर निर्भर करता है। उसी तरह द्वादश वर्षीय कलना के अनुसार चैत्र हृदय में होगा। अतः मन्त्रसेवादि कार्य भी इसी के अनुकूल होंगे ॥ १२५ ॥

एवं द्वादशाब्दोदयमभिधाय षष्ट्यब्दोदयमप्यभिधत्ते

प्रत्यङ्गुलं तिथीनां तु त्रिशते परिकल्पिते ।
सपञ्चांशाङ्गुलेऽब्दः स्यात्प्राणे षष्ट्यब्दता पुनः ॥ १२६ ॥

प्रत्यङ्गुलं तिथिशतत्रयमित्युङ्गुलपञ्चभागे षष्टिरहोरात्राः । एवं सपञ्चाभागेऽङ्गुले षष्ट्यधिकशतत्रयात्माब्द उदियात् । ततः सपञ्चांशाङ्गुलेऽब्दस्योदयात्प्रागुक्तचषकोदयस्थित्या प्राणापानवाहात्मनि प्राणे षष्ठ्यब्दता, षष्टिरब्दा भवन्तीत्यर्थः । यदुक्तम् ।

'हृत्पद्माद्याव शक्त्यन्तं त्रिंशदब्दोदय भवेत् ।'
(स्व॰ ७।१३४) इति ॥ १२६ ॥

अत्रैवाहोरात्राणां संकलनां दर्शयति

शतानि षट् सहस्राणि चैकविंशतिरित्ययम् ।
विभागः प्राणगः षष्टिवर्षाहोरात्र उच्यते ॥ १२७ ॥

अनेन चात्र श्रोतॄणामपूर्वदर्शनात् संमोहो मा भूत्,—इति बाह्याहोरात्रगतप्राणचारसंख्यासाजात्यमुद्भावितम् । तदुक्तम्

'विंशतिस्तु सहस्राणि सहस्रं षट्शताधिकम् ।
अहोरात्रास्तु षष्टयब्दे संख्यातास्तु वरानने ॥'
(स्व॰ ७।१३६) इति ॥ १२७ ॥

एक प्राणचार में १२ वर्ष के आकलन की तरह ६० वर्षीय कलना भी होती है । यही कह रहे हैं—

प्रति अंगुल ३०० तिथियाँ, ⅕ अंगुल में ६० अहोरात्र १⅕ अंगुल में ३६० तिथियों का एक वर्ष और प्राणवाह-अपानवाह रूप एक-एक प्राणचार में ६० वर्ष हो जाते हैं। स्व॰ ७।१३५ के अनुसार "हृदय से बाह्य द्वादशान्त तक ३० वर्ष पूरे हो जाते हैं" ॥ १२६ ॥

सारे अहोरात्रों की संख्या बतला रहे हैं—

प्राणचार में अहोरात्र की कुल संख्या २१६०० इक्कीस हजार छः सौ होती है । इसी में ६० वर्ष भी होते हैं । दिन और रात मिलाकर इतनी ही साँसें चलती हैं । बाह्य काल गणना में ६० वर्षों में २१६००० दिन रात भी होवे हैं । यह तथ्य स्व॰ ७।१३६ से प्रमाणित है ॥ १२७ ॥

नन्वेवं तिथिविभाजनेऽस्य किं प्रयोजनम्,—इत्याशङ्क्याह

प्रहराहर्निशामासऋत्वब्दरविषष्टिगः ।
यश्छेदस्तत्र यः सन्धिः स पुण्यो ध्यानपूजने ॥ १२८ ॥

अब्दरवीत्यब्दद्वादशकं 'छेदः' समाप्तिः, 'सन्धिः' संध्या। अयमत्राशयः—यन्नाम हि नित्यनैमित्तिकादि बाह्यं प्रयत्नशतैरपि पुरुषायुषेण निष्पत्तिं यायात् न वा, तदन्तरेकस्मिन्नेव प्राणचारे प्रहराहर्निशादिक्रमेण क्षणमात्रमवधानात्सुखमेव योगिनः सिध्येदिति। यदुक्तम्

'चन्द्रसूर्योपरागे च पक्षमासायनेषु च।
'युगादिषु युगान्तेषु यच्च संवत्सरेऽप्यथ॥
वर्षद्वादशके चैव षष्ट्यब्देऽथ वरानने।
स्नानदानेन यज्ञैश्च पूजाहोमजपेन च॥
'ध्यानयोगतपोभिश्च बाह्ये कालेऽथ यत्कृतम्।
अमुनोक्ते वरारोहे तत्फलं लभते महत्॥
प्राणहंसगतिं चारे ज्ञात्वैकस्मिंस्तु तद्व्रजेत्।'
(स्व० ७।१४०) इति।

यदभिप्रायेणैवाह

'या अग्निहोत्राहुतयः सहस्रद्वासप्ततिः स्युः पुरुषायुषेण।
नाड्यंशयुक्त्या सकृदाशु जुह्वत् संपादयेद्यस्तव मार्गवित्सः॥'

इत्याद्यन्यैरुक्तम्।

इस प्रकार के तिथि-विभाजन का उद्देश्य बता रहे हैं—

प्रहर, अहोरात्र, मास, ऋतु, १२ और ६० वर्षों के उक्त काल-विभाजनों में तुटियों की सन्धियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें यदि ध्यान और पूजा आदि का कुछ भी काम होता है तो वह महापुण्यप्रद होता है। बाहर के काल खण्डों में कई जन्म बीत जाने पर भी जो नित्य नैमित्तिक आदि काम सिद्ध नहीं हो पाते, वे इन क्षणों में क्षणिक अवधान से ही सिद्ध हो जाते हैं। स्व० ७।१३९–१४२ में कहा गया है कि "सूर्य और चन्द्र के ग्रहण काल में, पक्ष, मास और अयनों में, युगादि और युगान्तों में संवत्सरों में बारह या साठ वर्षों में स्नान, दान, यज्ञ, पूजा, हवन, ध्यान, तप अथवा जो भो समन्वित कर्म आदि होते हैं, वे उतने फलप्रद नहीं होते, जितने प्राणचार के सन्धि क्षणों में हो जाते हैं"।

ननु भवतु नामैतद्यदन्तः क्षणमवधानमात्राद्योगिनो जन्मकृत्यं सिद्ध्येदिति, इदं तु न नः प्रतिभाति यदन्तःप्राणचारे नालिकाद्यब्दान्तं क्रमेणाभिधाय द्वित्रिचतुरब्दादिक्रमव्यतिक्रमेण निष्कारणमेव द्वादशाब्दाद्यभिहितमिति। तत्रापि द्वादशानामेवाब्दानामुदयो न त्रयोदशानां, षष्टिरेव न पुनरेकोनषष्टिरिति, तदधिकस्य चोदयानाभिधानमिति न किंचिदत्र निमित्तमुत्पश्यामः,—इति किमेतदिति न जानीमः। अत्रोच्यते—इह तावद्योगिनां प्राणे जिते सत्येतद् भवेत् न त्वन्यथा, प्राणजयश्च योगशास्त्राद्युक्त्या क्रमेणैव भवेत्, अत एव तत्र 'क्रामेदजितां मात्राम्' इत्याद्युक्तम्। ततश्चात्र तुट्यादिक्रमेणैव यथायथं तारतम्यादब्दपर्यन्तं तदुदय उक्तः। एवं जितप्राणः कश्चिद्योगी यदि क्रममपहाय तत्र द्वादशानामब्दानामुदयमनुसंदध्यात्, ततस्य निमित्ततामियात् अत्यन्तमेव प्राणस्य जितत्वात्; न चेह ज्योतिः--शास्त्रवत् संवत्सराणां क्रमः कश्चिद्विवक्षितो येनास्यातिक्रमः स्यात्; यावता हि जितप्राणे योगी यन्नाम तत्रानुसंधत्ते तत्तस्य साक्षात्कृतं भवेत्, –इत्यभिधानीयं, तच्चैवमस्तु नैवं वा को विशेषः। न चात्र योगिनां प्राणं जेतुं किंचिदपेक्षान्तरमस्ति येन क्रमोऽवश्यस्वीकार्य स्यात्। न च सहसैवात्यन्तं विदूरेऽप्यनुसन्धानं कार्यम्,-इत्यन्तरा सोपानकल्पतया द्वादशाब्दोदय उक्तः। एवं षष्ट्यब्दोदयेऽपि वाच्यम्। तस्माद्य-

---

और भी कहा गया है कि

"७२ हजार पुरुष-आयु वर्षों में अग्निहोत्र की आहुतियाँ, तुटियों की सन्धि के बोध रूपसंविदग्नि में क्षणिक विमर्श रूप आहुतियों के समक्ष नितान्त महत्त्वहीन हैं। ऐसा याज्ञिक ही शैव सिद्धान्त का पारखी है ॥"

प्राणचार के उक्त विभाजन में १२ वर्ष ६० वर्ष आदि काल खण्डों की कलना में न्यूनाधिक्य की सम्भावना नहीं क्योंकि यह सब उसी अवस्था में होता है, जब योगी प्राण प्रक्रिया पर पूर्ण अधिकार रखता हो! प्राण पर विजय योग शास्त्र के सम्यक् अभ्यास से होता है। प्राणजेता योगी चाहे क्रम से सन्धियों की दृष्टि से या अक्रम ही वर्षों के उदय का अनुसन्धान कर विमर्श करने में समर्थ हो तो वह चाहे जो अभिलषित हो, उसकी पूर्ति कर सकता है। ज्योतिःशास्त्र की तरह यहाँ काल क्रम का कोई विचार नहीं! प्राण पर विजय करने में किसी की अपेक्षा नहीं होती।

थांशांशिकाक्रमेण विषं भक्षयन् कश्चिज्जीर्णविषः सन् अक्रमेण बह्वपि विषं भक्षयन् जरयेदेवमिहापि ज्ञेयम्। एतदेव च तदधिकस्याप्युदयानभिधाने निमित्तम्। एवं परां काष्ठां प्राप्तोयोगी यत्किंचित्तत्रानुसंदध्यात् तदेव साक्षात्कुर्यात्—इत्यानन्त्यात्कियदन्यदभिधीयते इति। न ह्यतोऽधिकेनोक्तेन किंचित्प्रयोजनान्तरमुत्पश्यामः। यदुक्तमनेनान्यत्र

'न षष्ट्यब्दोदयादधिकं परीक्ष्यते आनन्त्यात्।'

(तं० सा० ६ आ०) इति।

यत्पुनरन्यत्र विंशत्यधिकोत्तराब्दशतोदयोऽप्युक्तस्तदप्येवं प्रदर्शनपरमेवेत्येकस्मिन्नेव प्राणचारे कल्पोऽप्यनुपसंहितः साक्षात्कृतो भवेदेव को नामात्र विरोधः। यत्तु द्वादशानामेवाब्दानां षष्टेरेव वा कथमभ्युदयोऽभिहितः,—इत्युक्तं तद्यद्यपि शिशपाचोद्यं तदन्याभिधानेप्येवंचोद्यावकाशात्, तथापि अत्यन्तमेवापूर्वार्थदर्शनेन श्रोतॄणामत्र संमोहो मा भूत्,—इति कारुण्याद्भगवता प्राच्यगणनाक्रमसजातीयमेवैतदुक्तमिति न कश्चिद्दोषः ॥१२८॥

एवमन्तः कालस्य स्वरूपं निरूप्य बहिरपि निरूपयति

इति प्राणोदये योऽयं कालः शक्त्येकविग्रहः।
विश्वात्मान्तः स्थितस्तस्य बाह्ये रूपं निरूप्यते ॥१२९॥

प्राणोदय इत्यर्थादपानोदयेऽपि विश्वात्मत्वे हेतुः 'शक्त्येकविग्रह' इति॥

विषकन्याओं या विषपुरुषों के क्रम अक्रम विष सेवन का उन पर प्रभाव नहीं होता। उसी तरह प्राणजित् योगी के लिए क्रम अक्रम का कोई मूल्य नहीं! पराकाष्ठा प्राप्त योगी जिसका अनुसन्धान करता है, उसका उसे अवश्य साक्षात्कार होता है। इससे अधिक क्या कहा जा सकता है। ६० से अधिक वर्षों की कलना भी यहाँ युक्त है। वास्तव में एक प्राणचार में केवल १२, २०, ६०, १२० वर्ष ही नहीं अपितु कल्पों तक का अनुसन्धान किया जा सकता है। भगवान् गुरुदेव ने कृपा कर बाह्य गणना के अनुरूप ही प्राणचार की यह कलना की है। इसमें किसी तर्क की कोई आवश्यकता नहीं। केवल आस्था पूर्वक इसका अनुसन्धान करना ही इसका उद्देश्य है ॥ १२८ ॥

उक्त आन्तरिक प्राणचार के अनन्तर बाह्यकाल परिमाप की परिभाषा दे रहे हैं—

तदेवाह

षट् प्राणाश्चषकस्तेषां षष्टिर्नाली च तास्तथा ।
तिथिस्तत्त्रिंशता मासस्ते द्वादश तु वत्सरः ॥१३०॥
अब्दं पित्र्यस्त्वहोरात्र उदक्दक्षिणतोऽयनात् ।
पितॄणां यत्स्वमानेन वर्षं तद्दिव्यमुच्यते ॥१३१।
षष्ट्यधिकं च त्रिशतं वर्षाणामत्र मानुषम् ।

तथेति षष्टिरेव । स्वमानेनेति मानुषात्मकस्वकाहोरात्रकल्पनयेत्यर्थः । यत्पित्र्यं वर्षं तदेव दिव्यमुच्यते, येन पितॄणां देवानामप्यहोरात्रादि समानमेवेति भावः । तस्य च पित्र्यस्य दिव्यस्य वा वर्षस्य कियन्मानमित्युक्तं 'मानुषं षष्टय-धिकं वर्षशतत्रयम् इति ॥१३१॥

एतदेव विभजति

तच्च द्वादशभिर्हत्वा माससंख्यात्र लभ्यते ॥१३२।
तां पुनस्त्रिंशता हत्वाहोरात्रकल्पना वदेत् ।
हत्वा तां चैकविंशत्या सहस्रैः षट्शतेन च ॥१३३॥
प्राणसंख्यां वदेत्तत्र षष्ट्याद्यब्दोदयं पुनः ।

तदिति, दिव्यं वर्षं 'द्वादशभिर्हत्वा, इति द्वादशभिर्विभज्य, तेनात्र मानुष-वर्षत्रिंशदात्मा द्वादशो भागो मासः । तामिति, माससंख्यां 'त्रिंशता हत्वा'

प्राणोदय में काल का यह उल्लास शक्तिका स्पन्द है । विश्वमय विश्वात्म अन्तःस्थित परमशिव भगवान् आन्तरिक प्राणचार में साक्षात्कार करने योग्य हैं । बाहर के काल खण्ड भी महाकालेश्वर भगवान् के ही स्पन्द हैं । वे इस तरह समझे जा सकते हैं—छः प्राण का एक चषक । ६० चषक = एक नाली । ३० तिथिका एक मास । १२ मासका एक वत्सर । उत्तरायण और दक्षिणायन पितरों के अहोरात्र । पितरों के मान से १ वर्ष = एक दिव्य वर्ष । ३६० मानुष वर्ष का एक दिव्य वर्ष । पितरों और देवों के अहोरात्र आदि समान ही होते हैं ॥१२९–१३१॥

त्रिशद्धा कृत्वा, तेनात्र मानुषवर्षात्मा त्रिंशो भागो दिव्योऽहोरात्रः । तामिति, मानुषषष्ट्यधिकशतत्रयदिनात्मिकामहोरात्रकल्पनाम् 'एकविंशत्या सहस्रैः षट्-शतेन च हृत्वा' इति तथात्वेन भागशः कृत्वेत्यर्थः । एवं हि प्रतिमानुषीं नालिकां दिव्यः प्राणचारो भवेदिति भावः । एवमविशिष्टैव सर्वत्र प्रत्यहं प्राणचारे संख्येत्याख्यातं स्यात् । तत्रेति प्राणसंख्यायां, पुनरित्यादाविवेत्यर्थः ॥१३३॥

नन्वन्ये पित्र्यमेव वर्षं देवानां दिनमित्युक्तवन्तस्तत्कथमिह तयोः साम्य-मुक्तं, किमत्र किंचित्साधकं प्रमाणमस्ति ? इत्याशङ्कयाह

उक्तं च गुरुभिः श्रीमद्रौरवादिस्ववृत्तिषु ॥१३४॥

तदेव पठति

देवानां यदहोरात्रं मानुषाणां स हायनः ।
शतत्रयेण षष्ठ्या च नृणां विबुधवत्सरः ॥१३५॥

पित्र्यं दिनं मानुषाणां हायन इत्यविवादः । देवानामप्येवमित्युक्तेरनयोः साम्यमेव,– इत्यर्थसिद्धम् । नृणामित्यत्र हायनानामिति शेषः ॥

न केवलमेतद्गुरुभिरेवोक्तं यावदागमोऽप्येवमेव,--इत्याह

श्रीमत्स्वच्छन्दशास्त्रे च तदेव मतमोक्ष्यते ।
पितृणां तदहोरात्रमित्युपक्रम्य पृष्ठतः ॥१३६॥
एवं दैवस्त्वहोरात्र इति ह्यैक्योपसंहृतिः ।

पृष्ठत इति पश्चात् । यदुक्तं यत्र

'दक्षिणं चायनं रात्रिरुत्तरं चायनं दिनम् ।
पितृणां तदहोरात्रमनेनाब्दस्तु पूर्ववत् ॥
एवं दैवस्त्वहोरात्रस्तत्राप्यब्दादि पूर्ववत् ।'
(स्व० ११।२०८) इति ॥ १३६ ॥

मनुष्य के ३६०÷१२=३० वर्ष देवताओं का एक मास । मानुष ३६० दिन बराबर एक देव अहोरात्र । मानुष दिव्य २१६००÷३६० =६० चषक । ६० दिव्य चषक =१ दिव्य अहोरात्र रूप दिव्य प्राण चार । १ मानुषी नलिका =६० चषक । देवताओं का पितरों का एकदिन मनुष्यों का एक वर्ष होता है॥१३२–१३५॥

एवं पित्र्यं वर्षं देवानां दिनमिति यदन्यैरुक्तं तदयुक्तमेव,—इत्याह

तेन ये गुरवः श्रीमत्स्वच्छन्दोक्तिद्वयादितः ॥ १३७ ॥

पित्र्यं वर्षं दिव्यदिनमूचुर्भ्रान्ता हि ते मुधा ।

'भ्रान्ता' इत्यत्र हेतुः 'उक्तिद्वयादितः' इति पितॄणामित्येकोक्तिः, एवं दैव इति द्वितीया, आदिशब्दाद्गुरुवृत्तिकारोक्तिः ॥ १३७ ॥

इदानीमेतदुपजीवनेनैव युगादिव्यवस्थामप्याह

दिव्यार्काब्दसहस्राणि युगेषु चतुरादितः ॥ १३८ ॥

एकैकहान्या तावद्भिः शतैस्तेष्वष्ट संधयः ।

चतुर्युगैकसप्तत्या मन्वन्तरास्ते चतुर्दश ॥ १३९ ॥

ब्रह्मणोऽहस्तत्र चेन्द्राः क्रमाद्यान्ति चतुर्दश ।

'अर्का' द्वादश । युगेषु चतुर्ष्वपि चतुरादित एकैकहान्येत्येषां विभागः; तेन कृते चत्वारि सहस्राणि, त्रेतायां त्रीणि, द्वापरे द्वे, कलावेकम्,—इति दिव्यानां वर्षाणां दशसहस्राणि चतुर्षु युगेषु मानम् । अवशिष्टस्य सहस्रद्वयस्य विभागमाह 'तावद्भिरित्यादिना' । तावद्भिश्चतुरश्यादिभिरेवाष्ट सन्धय इति चतुर्णां युगानामाद्यन्तयोर्भावात्, उभयमीलनया तु चत्वारः । एवं कलेरन्तगं

ये सारी परिभाषायें रौरव स्वच्छन्द आदि शास्त्रों में दी गयी हैं । अन्य आगम और गुरुजन भी यही कहते हैं । स्व० ११/२०८ के अनुसार 'दक्षिणायन रात्रि 'और उत्तरायण दिन होता है । यह पितरों का एक अहोरात्र होता है । दैव अहोरात्र की इसी परिभाषा पर आधारित सारा आकलन है ॥१३६॥

कुछ लोगों ने १ पितृ वर्ष को देवताओं का एक दिन माना है । शास्त्रकार की दृष्टि से यह अनुचित है । यही कह रहे हैं—

स्वच्छन्द शास्त्र में देव और पितृ वर्षों को एक ही माना है । इसके विपरीत कथन के आधार पर अन्तर मान लेना भ्रान्ति का ही द्योतक है॥१३७॥

इसी उक्त आकलन के आधार पर युग-व्यवस्था की कलना कर रहे हैं—

दिव्य १२ हजार वर्षों में से कृत युग का भोग ४ हजार वर्ष, त्रेताका तीन हजार वर्ष, द्वापरका २००० वर्ष और कलिका १००० वर्ष भोग का समय निर्धारित है । इनमें आठ सन्धियाँ होती हैं । कलिके अन्त के १०० वर्ष + कृत के

शतं कृतस्यादौ चत्वारि शतानीति कलिकृतयुगसंध्या पञ्च शतानि एवं कृतत्रेतयोः संध्या सप्तशतानि, त्रेताद्वापरयोः पञ्च, द्वापरकलियुगयोस्त्रीणि गणयित्वा सहस्रद्वयम्,—इत्युभयतो दिव्यं वर्षसहस्रद्वादशकं चतुर्युगम्। तदुक्तम्

'द्वादशाब्दसहस्राणि विज्ञेयं तु चतुर्युगम्।
चतुर्भिस्तु कृतं देवि सहस्रैस्तु यथाक्रमम्॥'
'त्रेता ज्ञेया त्रिभिर्देवि द्वाभ्यां वै द्वापरः स्मृतः।
सहस्रेणैव वर्षाणां विज्ञेयस्तु कलिः प्रिये॥'
(स्व० ११।२१०) इति।

तथा

'शतानि चत्वारि कृते त्वादिरन्तश्च कीर्त्यते।
त्रेते शतत्रयं ज्ञेयं द्वापरे तु शतद्वयम्॥
कलौ चापि शतं ज्ञेयं संध्यामानमिदं स्मृतम्।'
(स्व० ११।२१२) इति।

त इति मन्वन्ताः। तत्रेति ब्राह्मेऽह्नि, चतुर्दशेति तेन प्रतिमन्वन्तरमेकैक इन्द्रः संहारं यातीत्यर्थः। तदुक्तम्

'दिनेनैकेन ब्राह्मेण इन्द्राश्चैव चतुर्दश।
राज्यं कृत्वा क्रमद्यान्ति मन्वन्तरव्यवस्थया॥'
(स्व० ११।२२९) इति।

अत एवानेन संहारचित्रताया अप्यवकाशो दत्तः॥ १३९॥

आदि के ४०० वर्ष अर्थात ५०० वर्ष की कलिकृत सन्धि होती है। कृत+त्रेता की ७०० वर्ष, त्रेता+द्वापर ५०० वर्ष द्वापर+कलि की ३०० वर्ष कुल ५००+ ७००+५००+३००=२ हजार वर्ष सन्धियों के वर्ष और १०००० युगों के कुल १२००० वर्ष की यह चतुर्युग की अवधि है।

स्व० ११।२१० से इसी गणना का समर्थन होता है। ४ युगों का १ महायुग, १००० महायुगों का १ कल्प, २ कल्पों का ब्रह्मा का १ अहोरात्र, ३६० अहोरात्र का १ ब्रह्मवर्ष होता है। ७१ चतुर्युगों का १ मन्वन्तर और १४ मन्वन्तरों का ब्रह्माका एक दिन होता है। स्व० ११।२२९ के अनुसार ब्राह्म १ दिन = १४ मन्वन्तर की व्यवस्था के अनुसार इनमें १४ इन्द्र राज्य करते हैं और इस तरह ब्रह्मा के दिन का अन्त होता है॥१३८–१३९॥

तदाह

ब्रह्माहोऽन्ते कालवह्नेर्ज्वाला योजनलक्षिणी ।। १४० ॥
दग्ध्वा लोकत्रयं धूमात्त्वन्यत्प्रस्वापयेत्त्रयम् ।

लोकत्रयमिति, निरयेभ्यः प्रभृति भुर्भुवःस्वःपर्यन्तमित्यर्थः । यदुक्तम् ।

'सा दहेन्नरकान्देवि पातालानि समन्ततः ।
त्रींल्लोकांश्चैव दहति भुर्भुवःस्व.पवान्तकान् ॥'
(स्व० ११।२३७) इति ।

अन्यदिति, महोजनस्तपःसंज्ञम् ॥ १४० ॥

ननु सर्वेषां भुवनेश्वराणामधोऽध एव सर्वत्र सृष्टिसंहारकारित्वं श्रूयते; वक्ष्यते च पुरस्तात्तदिदं पुनः कस्मादन्यथोक्तम्,—इत्याशङ्क्याह

निरयेभ्यः पुरा कालवह्नेर्व्यक्तिर्यतस्ततः ॥ १४१ ॥
विभुरधःस्थितोऽपीश इति श्रीरौरवं मतम् ।

अस्य खलु निरयेभ्यः पूर्वं सृष्टिरिति तदधोऽवस्थानं न तु तदपकर्षात्; अतश्च तदधः स्थितोऽपि विभुर्व्यापकत्वादूर्ध्वमपि संहारादौ स्वामीत्यर्थः । न चैतदस्माभिः स्वोपज्ञमेवोक्तमित्याह 'इति श्रीरौरवं मतम्' इति । यदुक्तं तत्र

'नरकाणामधः पूर्वं व्यक्तिरस्योपजायते ।
सर्वस्थानोऽपि संस्तस्मादधःस्थ इव लक्ष्यते ॥' इति ॥१४१॥

ब्रह्मा दिन के अन्तमें कालानल की कराल ज्वाल-माला तीनों भुवनों को दग्ध कर देती है । स्व० ११।२३७ के अनुसार वह आग सारे नरक पाताल और भूर्भुवःस्वर्लोकों को भी भस्मसात् कर देती है । महः, जनः और तपःलोक भी प्रस्वाप तपिश से प्रभावित होते हैं यह संहार क्रम का चित्र है ॥१४०॥

सृष्टि के ऊर्ध्व संहार की स्थिति पर आगमिक दृष्टिकोण प्रस्तुत कर रहे हैं कि, निरयों से पहले ही काल-वह्नि की सृष्टि है । अतः ब्रह्मा का सामर्थ्य सृष्टि पर यथावत् है । अपकर्ष के कारण इनका अधः अवस्थान नहीं होता अपि तु सृष्टि की व्यवस्था के अनुसार होता है । ब्रह्मा नीचे रह कर भी ऊर्ध्व लोकों के संहार की शक्ति से सम्पन्न हैं । रौरव आगम कहता है कि यद्यपि ब्रह्मा सर्वत्र अवस्थित हैं फिर भी अधोभाग वासी प्रतीत होते हैं" ॥१४१॥

न केवलमेवं विश्वमास्ते यावदेकार्णवोभावेऽपि,--इत्याह

ब्रह्मनिःश्वासनिर्धूते भस्मनि स्वेदवारिणा ।।१४२।।
तदीयेनाप्लुतं विश्वं तिष्ठेत्तावन्निशागमे ।

ननु यद्येवं तत्तदा तेषां भुवनानामीश्वरास्तद्वासिनो वा जीवाः कुत्रासते ? इत्याशङ्क्याह

तस्मिन्नशिावधौ सर्वे पुद्गलाः सूक्ष्मदेहगाः ।।१४३।।
अग्निवेगेरिता लोके जने स्युर्लयकेवलाः ।
कूष्माण्डहाटकाद्यास्तु क्रीडन्ति महदालये ।।१४४।।

'सूक्ष्मदेहगाः' पुर्यष्टकरूपाः । तुशब्दो व्यतिरेके । अत एव क्रीडन्तीत्युक्तम् ।।१४४।।

निशाक्षये पुनः किं स्यात्,--इत्याशङ्क्याह

निशाक्षये पुनः सृष्टिं कुरुते तामसादितः ।

तामसादित इति, यदुक्तम्

'प्रथमं तामसीं सृष्टिं करोति तमसोत्कटाम् ।'
(स्व० ११।२४४)

विश्व को स्थिति की पुनः चर्चा कर रहे हैं

विश्व दग्ध होने पर भस्म हो जाता है, पुनः ब्रह्मा के निःश्वास से उत्पन्न प्रभञ्जन से उड़े भस्म पर उनके पसीने की वारिवर्षा हो जाती है। यह सारा अस्तित्व उसी अपरम्पार ऊर्मिल पारावार में हिलोरें लेने लगता है। यह ब्राह्मी रात्रि की दशा होती है ।।१४२।।

प्रश्न होता है कि उन भुवनों की जीव सत्ता और अधिष्ठाता देवों की क्या दशा होती है ? इसका उतर दे रहे—

उस ब्राह्मी रात्रि में समस्त पुद्गल पाश बद्ध जीव सूक्ष्म (पुर्यष्टक शरीर में ब्राह्म कालानल वेग से प्रेरित जन लोक में चले जाते हैं। ये लयकेवली कहलाते हैं। कूष्माण्ड और हाटक आदि रूद्र 'मह' लोक में निवास करते हैं ।।१४३-१४४।।

इत्युपक्रम्य

'तमोरजःसमावेशान्मानवान्स सृजेत्पुनः ।
रजःसत्त्वसमाविष्टः सृजेन्मुनिवरेश्वरान् ॥
गतनिद्रः प्रबुद्धः सत्त्वाविष्टो जगत्पतिः ।
सृजेद्देवान्सलोकांश्च पूर्वयैव व्यवस्थया ॥'
(स्व० ११।२४६) इति ।

एवं प्रत्यहं कुर्वतो मन्वन्तराष्टाविंशत्यात्मकाहोरात्रकलनया स्वकवर्ष-शतान्तेऽस्य संहारः,—इत्याह

स्वकवर्षशतान्तेऽस्य क्षयस्तद्वैष्णवं दिनम् ॥१४५॥
रात्रिश्च तावतीत्येवं विष्णुरुद्रशताभिधाः ।
क्रमात्स्वस्वशतान्तेषु नश्यन्त्यत्राण्डलोपतः ॥१४६॥

एतदेव यथोत्तरमतिदिशति 'तदित्यादिना' । तद्ब्राह्मं वर्षशतम् । 'अण्ड-लोपतः' इत्यण्डलोपमवधिं कृत्वा, तेन तन्नाशाद्ब्रह्माण्डोऽपि नश्यतीत्यर्थः । तदुक्तम्

विष्णोश्च तद्दिनं प्रोक्तं रात्रिर्वै तत्समा भवेत् ।
अनेन परिमाणेन तस्याब्दं तु विधीयते ॥
वर्षाणां च शते पूर्णे सोऽति याति परे लयम् ।
विष्णोरायुर्यदेवोक्तं रुद्रस्यैतद्दिनं प्रिये ॥'
(स्व० ११।२६३) इति ।

ब्राह्मी रात्रि के बीत जाने पर ब्रह्मा पुनः सबसे पहले तामसी सृष्टि करते हैं। स्व० ११।२४४-२४६ के अनुसार तमस् के प्रभाव से भयङ्कर सृष्टि पहले होती है। तमस् और रजस् के योग से वे पुनः मानुषी सृष्टि करते हैं। रजस् और सत्त्व के संयोग से मुनियों की सृष्टि करते हैं। स्वयं सत्वाविष्ट प्रबुद्ध ब्रह्मा यथापूर्व देवों और देवलोकों की रचना करते हैं। उसके बाद अपनी आयु का भोग पूरा हो जाने पर उनका भी अन्त हो जाता है।

ब्रह्मा के १०० वर्ष वैष्णव एक दिन के बराबर होते हैं। उतनी ही बड़ी रात्रि भी होती है। १०० वैष्णव वर्ष एक रुद्र का दिन और उसी तरह रौद्री रात्रि। प्रत्येक के १०० वर्ष के दिन और १०० वर्ष की रात्रि ! इसके बाद तीनों

'वत्सराणां शते पूर्णे शतरुद्रदिनक्षयात् ।
सोऽपि याति परं स्थानं........ ॥' (स्व० ११।२७१) इति ।
शतरुद्राश्च देवेशि स्वाब्दानां तु शतात्यये ।
ते प्रयान्ति परं तत्त्वं ततोण्डं च विनश्यति ॥'
(स्व० ११।२७३) इति च ।

अण्डनाशाच्च कालाग्निरुद्रस्यापि नाशः,—इत्यर्थसिद्धम् । यदुक्तम्

ततः कालाग्निरुद्रश्च कालतत्त्वे लयं व्रजेत् ।'
(स्व० ११।२७७) इति ॥ १४६ ॥

अव्यक्तान्तमपोयमेव व्यवस्था,—इत्याह

अबाद्यव्यक्ततत्त्वान्तेष्वित्थं वर्षशतं क्रमात् ।
दिनरात्रिविभागः स्यात् स्वस्वायुःशतमानतः ॥ १४७ ॥

एवं व्यवस्थयाव्यक्तस्थानां कियन्मानं दिनं भवेत्,—इत्याशङ्क्याह

ब्रह्मणः प्रलयोल्लाससहस्रैस्तु रसाग्निभिः ।
अव्यक्तस्थेषु रुद्रेषु दिनं रात्रिश्च तावती ॥ १४८ ॥

समाप्त हो जाते हैं और अण्डकटाह का लोप हो जाता है । स्व० ११।२६३-२७ के सन्दर्भों में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के दिन-रात के माप दिये गये हैं । विष्णु के ब्राह्म १०० वर्षों का एक दिन और इतनी ही बड़ी रात । १०० रुद्र वर्षों का एक दिन और इतनी हो बड़ी रात शतरुद्रों की होती है । शतरुद्र भी अपने वर्षों के १०० पूरे करने पर समाप्त हो जाते हैं । इसके बाद अण्ड कटाहका नाश हो जाता है और कालाग्नि रुद्र भी काल तत्त्व में विलीन हो जाते हैं ॥१४५-१४६॥

अव्यक्त तत्त्वों के सम्बन्ध में कह रहे हैं—

अप् आदि अव्यक्त तत्त्व का भी १०० वर्षों का मान होता है । इस आयु भोग के बाद उनका भी अन्त हो जाता है । शतमान दिन और शतमाना रात्रि का नियम इनमें भी चलता है । अपनी अपनी आयु के १०० वर्ष के दिन और १०० वर्ष की ही रात्रियाँ भी होती हैं ॥१४७॥

रसाग्निभिरिति, षट्त्रिंशता। ब्रह्मण इति, बुद्धितत्त्वस्थस्य न तु सत्यलोकस्थस्य; नहि तदायुष्कलनयैतत्कलयितुमेव शक्तमिति भावः। तेन बुद्धितत्त्वस्थस्य ब्रह्मणो गुणतत्त्वशतरुद्रदिनान्ते संहारस्तद्दिनारम्भे च सृष्टिः,—इति तदीयेऽब्दे तस्य सषष्टिशतत्रयं प्रलयोल्लासा भवन्ति, ते च शतेन गुणिताः षट्त्रिंशत्सहस्रसंख्याका भवेयुरित्युक्त 'रसाग्निभिः प्रलयोल्लाससहस्रैरिति तावद्गुणपरीमाणं च गुणतत्त्ववासिनां रुद्राणामायुर्यदव्यक्तस्थानां दिनमित्युक्तं 'अव्यक्तस्थेषु दिनं रात्रिश्च तावती' इति। यदुक्तम्

'षट्त्रिंशत्तु सहस्राणि ब्रह्मणां प्रलयोद्भवाः।
अव्यक्ते च दिनं प्रोक्तं रुद्राणां तन्निवासिनाम् ॥'
(स्व० ११।२८९) इति।

अस्याश्च व्यवस्थायाः शक्तितत्त्वान्तमविशेषेऽप्यव्यक्तान्तमेवमतिदेशस्येदमेव प्रयोजनं यदत्र गुणतत्त्ववर्तिरुद्रायुरपेक्षया दिनमानस्य संख्यानैयत्यमुत्पन्नमिति ॥ १४८ ॥

अत्र च सृष्टिसंहारादौ कस्याधिकारः,—इत्याशङ्क्याह

तदा श्रीकण्ठ एव स्यात्साक्षात्संहारकृत्प्रभुः।
सर्वे रुद्रास्तथा मूले मायागर्भाधिकारिणः ॥ १४९ ॥
अव्यक्ताख्ये ह्याविरिञ्चाच्छ्रीकण्ठेन सहासते।

अव्यक्तों के दिन मान का संकेत कर रहे हैं—

ब्रह्मा की स्थिति सत्य लोक में मानी जाती है। उनकी आयु का मान दिया जा चुका है। यहाँ बुद्धितत्त्व में स्थित ब्रह्मा की आयु का प्रसङ्ग है। इस ब्रह्मा का गुणतत्त्व स्थित शतरुद्रों के दिन की समाप्ति पर संहार और दिन के आरम्भ में सृष्टि होती है। शतरुद्रों के एक दिन में ३६० प्रलय और उल्लास होते हैं। १०० से गुणा करने पर ३६ हजार प्रलयोल्लास हुए। यह मान गुणतत्व स्थित रुद्रों का है। स्व० ११।२८९ के अनुसार गुणतत्व स्थित रुद्रों को १ दिन में ब्रह्मा के छत्तिस हजार प्रलय और उद्भव होते हैं। जितना मान दिन का उतना ही मान रात का भी होता है। गुणतत्ववर्त्ती रुद्र की आयु से दिन की संख्या निर्धारित होने के कारण शक्तितत्व के अतिरिक्त गुणतत्व स्थित रुद्र की चर्चा इस प्रसङ्ग में की गयी है ॥१४८॥

साक्षान्न तु विरिञ्चादिमुखेन, यतस्तदानीं विरिञ्चात्प्रभृति प्रकृतिगर्भाधिकारिणः सर्व एव तत्तद्भुवनेश्वररूपा रुद्रा अव्यक्ताख्ये मूले प्रकृतितत्त्वे श्रीकण्ठेन सहासते, अर्थाच्छ्रीकण्ठनाथमेव नायकतया प्रधानीकृत्य तिष्ठन्तीत्यर्थः। यदुक्तम्

'प्रजाः प्रजानां पतयः पितरो मानवैः सह।
सांख्यज्ञानेन ये सिद्धा वेदेन ब्रह्मवादिनः॥
छन्दःसामानि चोङ्कारो बुद्धिस्तद्देवताः प्रिये।
अह्नि तिष्ठन्ति ते सर्वे परमेशस्य धीमतः॥' इति ॥१४९॥

ननु

'महाकल्पस्य पर्यन्ते ब्रह्मा याति परे लयम्।'
(स्व० ११।२६१)

इत्याद्युक्त्या तस्य परशिवे लय उक्तस्तत्कथमसावास्ते,—इत्याशङ्क्याह

निवृत्ताधःस्थकर्मा हि ब्रह्मा तत्राधरे धियः॥ १५०॥

न भोक्ता ज्ञोऽधिकारे तु वृत्त एव शिवीभवेत्।
स एषोऽवान्तरलयस्तत्क्षये सृष्टिरुच्यते॥ १५१॥

सृष्टि और संहार आदि में किसका अधिकार है? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

उस समय ब्रह्मा से लेकर प्रकृति गर्भ के सभी अधिकारी सभी रुद्र उसी अव्यक्त परिवेश में भगवान् श्रीकण्ठ के साथ ही रहते हैं। सभी भगवान् श्रीकण्ठ को ही प्रधान मानकर वहाँ विराजमान रहते हैं। इसलिए सारा साक्षात् अधिकार भगवान् श्रीकण्ठ का ही है।

"शिव ने कहा है कि हे प्रिये! प्रजापति, पितर मानव सिद्ध सांख्य ज्ञानी वैदिक ब्रह्मवेत्ता, सारे छन्द, ओङ्कार, बुद्धि, बुद्धि के अधिष्ठाता आदि सभी परमेश्वर के दिन में निवास करते हैं" ॥ १४९॥

स्वच्छन्द तन्त्र ११।२६१ के अनुसार महाकल्प के अन्त में ब्रह्मा परमशिव में लीन हो जाते हैं। यहाँ अव्यक्त प्रकृति गर्भ में रहने की बात लिखी गयी है। ऐसा क्यों? इसका उत्तर दे रहे हैं—

यद्यसाववृत्तपरशक्तिपातस्तद्बुद्धयधोनिवृत्तकर्मतयाभोगाभावात्तत्र भोक्ता न भवेत्,—इत्यत्रैवास्ते, अन्यथा पुनर्यदि ज्ञानी साक्षात्कृतात्मतत्त्वः स्यात् अधिकारनिवृत्त्यनन्तरं स 'शिवीभवेत्' तदेकात्म्येनैव प्रस्फुरेदित्यर्थः। एवमन्येषामपि ज्ञेयम्। अवान्तरलय इति, ब्रह्माण्डलयस्योक्तत्वात्प्रकृत्यण्डलयस्य च वक्ष्यमाणत्वात्॥ १५१॥

नन्वत्र

'बुद्धितत्त्वे स्थिता बौद्धा गुणेष्वप्यार्हताः स्थिताः।
स्थिता वेदविदः पुंसि त्वव्यक्ते पाञ्चरात्रिकाः॥'

इत्याद्युक्त्या केचिदात्मानो मुक्ताः संभवन्ति, केचिच्च बद्धास्तत्कथमविशेषेणैवोक्तं 'तत्क्षये सृष्टिरुच्यते' इति नहि मुक्तात्मनां पुनः संसृतिः स्यात्,—इत्याशङ्क्याह

सांख्यवेदादिसंसिद्धाञ्छ्रीकण्ठस्तदहर्मुखे।
सृजत्येव पुनस्तेन न सम्यङ्मुक्तिरीदृशी॥ १५२॥

अपने कर्म से निवृत्त होकर ब्रह्मा बुद्धि के अधः भाग में रहते हैं। वहाँ वे भोक्ता नहीं रहते क्योंकि भोग का वहाँ अभाव होता है। आत्मज्ञान भी नहीं रहता। ज्ञान के अभाव में आत्मतत्त्व का साक्षात्कार उन्हें नहीं होता। अन्यथा स्वयं शिवीभाव उनमें जागृत हो जाता और तादात्म्य हो जाता। यहाँ अवान्तर लय है। इसके समाप्त होने पर ही सृष्टि हो सकती है॥ १५०-१५१॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि "बौद्ध बुद्धितत्त्व में, आर्हत गुणों में, वैदिक विज्ञानवेत्ता पुरुषतत्त्व में, और पाञ्चरात्रमतवादी अव्यक्त में ही रह जाते हैं। वास्तविक मोक्ष इन्हें नहीं मिलता"। इस कथन के अनुसार कुछ आत्मा मुक्त और कुछ पाशबद्ध रह जाते हैं। यहाँ क्षय के बाद पुनः सृष्टि की बात से मुक्तात्माओं की मुक्ति की बात कट जाती है और उनकी संसृति का सन्देह होने लगता है? इसका समाधान कर रहे हैं—

भगवान् श्रीकण्ठ दिन के प्रारम्भ में इन उक्त बौद्धादि सिद्ध पुरुषों को पुनः आवागमन के इन्द्रजाल के पथ पर छोड़ देते हैं। उनका स्तर सम्यक् मुक्ति का नहीं होता। इसलिये तादात्म्य से वे वंचित रह जाते हैं। शिवीभाव उन्हें उपलब्ध नहीं होता। मुक्तात्माओं की स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता॥१५२॥

इदानीं पूर्वोक्तयैव नीत्या यथोत्तरं वृद्धिक्रमेण दिनादिव्यवस्थामतिदेश-द्वारेण दर्शयति-'प्रधाने इत्यादिना 'सामनसे पदे' इत्यन्तम्

प्रधाने यदहोरात्रं तज्जं वर्षशतं विभोः ।
श्रीकण्ठस्यायुरेतच्च दिनं कञ्चुकवासिनाम् ।। १५३ ।।

तत्क्रमान्नियतिः कालो रागो विद्या कलेत्यमी ।
यान्त्यन्योन्यं लयं तेषामायुर्गाहनिकं दिनम् ।। १५४ ।।

तद्दिनप्रक्षये विश्व मायायां प्रविलीयते ।
क्षीणायां निशि तावत्यां गहनेशः सृजेत्पुनः ।। १५५ ।।

एवमव्यक्तकालं तु परार्धैर्दशभिर्जहि ।
मायाहस्तावती रात्रिर्भवेत्प्रलय एव सः ।। १५६ ।।

मायाकालं परार्धानां गुणयित्वा शतेन तु ।
ऐश्वरो दिवसो नादः प्राणात्मात्र सृजेज्जगत् ।। १५७ ।।

तावती चैश्वरी रात्रिर्यत्र प्राणः प्रशाम्यति ।

अहोरात्रमिति, गुणतत्त्ववर्तिरुद्रायुरपेक्षया ब्राह्मप्रलयोल्लासद्वासप्तति-सहस्रसंख्याकम् । तज्जमिति, षष्ठ्यधिकेन शतत्रयेण गुणयित्वा इत्यर्थः । एत-दिति, वर्षशतपरीमाणं श्रीकण्ठीयमायुः । कञ्चुकवासिनामित्यर्थान्नियतितत्त्वस्थानां वामदेवादोनां न तु कालतत्त्वादिगतानामपि; तदपेक्षया हि कालतत्त्वादौ यथोत्तरं वृद्ध्यादिव्यवस्था संभवेत्, अत एव 'क्रमादन्योन्यं लयं यान्ति' इत्युक्तम् । आगमोऽप्येवं

दिन और वर्ष आदि की उक्त गणना ब्रह्मा, विष्णु आदि की आयु के उतरोत्तर बढ़ाव को प्रदर्शित करतो है। उसी क्रम में श्रीकण्ठ की आयु के साथ ही कञ्चुक स्थित अधिकारियों की आयु का विचार कर रहे हैं—

गुणतत्त्व में विद्यमान रुद्र की आयु ब्राह्म प्रलयोल्लास के मान से ७२ हजार वर्ष (अहोरात्र की दृष्टि से) होती है। इससे १०० गुना अधिक आयु

'ततो नियतिकालौ च रागो विद्या कला तथा।
परस्परं लयं यान्ति क्रमात्सर्वे स्वमानतः॥'
(स्व० ११।२९) इति।

तेषामिति, कलातत्त्वस्थानां महादेवादीनां न तु सर्वेषां कञ्चुकवासिनां; तथात्वे हि गाहनिकं दिनमव्यक्तकालसंख्यामपेक्ष्य पञ्चदशस्थानावस्थितेन दशगुणेन परार्धेन वक्ष्यमाणं गुणनं सङ्गतिमियात्। तत्सर्वेषामेव कञ्चुकवासिनां यथोत्तरमायुषो वृद्ध्या गाहनिकस्य दिनस्यानवच्छिन्नसंख्याप्रतिपादनार्थमेवं वक्ष्यमाणं सङ्गच्छते,—इत्यलं बहुना। गणना तु ग्रन्थविस्तरभयान्न लिखिता,—इति स्वयमेवाभ्यूह्या। तावत्यामिति· वक्ष्यमाणदिनसमानायाम्। जहोति गुणयेत्यर्थः यदुक्तम्

प्राधानिकपरार्धेन दशधा गुणितेन च।
माया ह्रते सर्वं पुनश्चैव सृजेज्जगत्॥
मायाकालपरार्धस्य शतधा गुणितस्य च।
ईश्वरः कुरुते सृष्टिं संहरेच्च पुनः सृजेत्॥
(स्व० ११।२९७) इति।

श्रीकण्ठ की है। यह कञ्चुक (नियति तत्त्व) वासियों का एक दिन का मान है। इसी क्रम से काल, राग, विद्या और कला इन सबकी उत्तरोत्तर वृद्धि की व्यवस्था के अनुसार आयु की अवधि होगी। स्व० ११।२९२ के अनुसार कञ्चुक परस्पर लय हो जाते हैं। इन सभी का आयु मान उत्तरोत्तर वृद्धि व्यवस्था के अन्तर्गत ही है।

माया तत्त्व का आदि रुद्र गहनेश है। पाँचों के क्रमशः सौ सौ गुने मान के अनुसार (परस्पर लीन हो जाने पर) अन्तिममान गहनेश की एक दिन की अवधि के बराबर होता है। इस अवधि को गाहनिक दिन भी कहते हैं। इसके दिन के समाप्त हो जाने पर विश्व रात में माया में विलीन हो जाता है। रात के बीतने पर गहनेश पुनः विश्व की सृष्टि करते हैं।

इस प्रकार अव्यक्त काल को परार्ध से दशगुणित करने पर माया का दिन और उतनी ही बड़ी रात को मिलाकर एक माया का अहोरात्र होता है। माया की अवधि के परार्ध के सौ गुना करने पर एक ईश्वर सम्बन्धी दिन

अनेन चात्रोत्तरोत्तरं कालः प्रकृष्यते,—इत्युक्तं स्यात्; एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम्। 'नाद' इति बहिरुन्मेषरूपतया नदनस्वभाव ईश्वरः। प्राणात्मेति, प्राणप्रमातृत्वात्। प्रशाम्यतीति अत ऊर्ध्वं प्राणस्य प्राधान्याभावात्, विश्वमिति तस्याप्यहन्तायां विश्रान्तेः ॥ १५७ ॥

न केवलमत्र नादात्मनः प्राणस्यैव प्रशमो यावद्बिन्द्वाद्यात्मिकायाः संविदोऽपि भविष्यति,—इत्याह

प्राणगर्भस्थमप्यत्र विश्वं सौषुम्नवर्त्मना ॥ १५८ ॥

प्राणे ब्रह्मबिले शान्ते संविद्याप्यवशिष्यते ।
अंशांशिकातोऽप्येतस्याः सूक्ष्मसूक्ष्मतरो लयः ॥ १५९ ॥

गुणयित्वैश्वरं कालं परार्धानां शतेन तु ।
सादाशिवं दिनं रात्रिर्महाप्रलय एव च ॥ १६० ॥

(ऐश्वर) दिन होता है। इसमें प्राण रूप नाद ही विश्व की सृष्टि करता है। उतनी ही बड़ी ईश्वर की रात भी होती है। इस प्राणस्पन्द का भी प्रशमन हो जाता है।

स्वच्छन्द तन्त्र ११।२९७ के अनुसार भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। माया में प्राण की प्रधानता रहती है। ईश्वर दशा में नाद का प्राधान्य रहता है। प्राणवत्ता इसमें भी रहती है। ऐश्वरी रात्रि में प्राणात्मक नाद भी शान्त होता है। इस तरह इदन्ता का प्रवाह, अहन्ता के महासमुद्र में समाहित हो जाता है ॥ १५३-१५७ ॥

अहन्ता के अन्तराल में इदन्ता की शान्ति का यह एक चित्र है। ध्यान देने की बात है कि उस अवस्था में केवल नादात्मक प्राण का ही प्रशमन नहीं होता अपितु विन्दु आदि रूपों में उल्लसित संविद् की भी विश्रान्ति हो जाती है। वही कह रहे हैं—

इस स्तर पर प्राण परिवेश में विश्रान्त विश्व सुषुम्ना के पथ से आप् तत्त्व रूपिणी संविद् में प्रवेश कर जाता है। प्राण तो ब्रह्मरन्ध्र में ही शान्त रहता है। इस संविद् का अंश अंश करके सूक्ष्म सूक्ष्म लय होता है।

सादाशिवः स्वकालान्ते बिन्द्वर्धेन्दुनिरोधिकाः ।
आक्रम्य नादे लीयेत गृहीत्वा सचराचरम् ॥ १६१ ॥
नादो नादान्तवृत्त्या तु भित्त्वा ब्रह्मबिलं हठात् ।
शक्तितत्त्वे लयं याति निजकालपरिक्षये ॥ १६२ ॥
एतावच्छक्तितत्त्वे तु विज्ञेयं खल्वहर्निशम् ।
शक्तिः स्वकालविलये व्यापिन्यां लीयते पुनः ॥ १६३ ॥
व्यापिन्या तद्दिवारात्रं लीयते साप्यनाश्रिते ।
परार्धकोटचा हत्वापि शक्तिकालमनाश्रिते ॥ १६४ ॥
दिनं रात्रिश्च तत्काले परार्धगुणितेऽपि च ।
सोऽपि याति लयं साम्यसंज्ञे सामनसे पदे ॥ १६५ ॥

महाप्रलय इति, शुद्धाध्वनोऽपि संहरणात् । तदुक्तम्

'ततः सदाशिवो देवः स्वमानेन च संहरेत् ।
सृजते च पुनर्भूय आत्मीये देव्यहर्मुखे ॥
महाप्रलय एवोक्तः सादाख्ये तु दिनक्षये ।'
(स्व० ११।२६८) इति ।

'बिन्दुं चैवार्धचन्द्रं च भित्त्वा चैव निरोधिकाम् ।
नादतत्त्वे लयं याति गृहीत्वा सचराचरम् ॥'
(स्व० ११।३००) इति ।

नादानुवृत्येति, नादान्तभूमिकामासाद्येत्यर्थः । यदुक्तम्

'नादः सौषुम्नमार्गेण भित्त्वा ब्रह्मबिलं प्रिये ।
शक्तितत्त्वे लयं याति शक्तितत्त्वविनक्षपे ॥'
(स्व० ११।३०१) इति ।

स्व० तन्त्र ११।२९८–३०४ के अनुसार ऐश्वर काल को भी परार्धशत से गुणित करने पर सादाशिव अहोरात्र होता है । सदाशिव अपनी आयु की समाप्ति पर 'विन्दु' अर्धचन्द्र और निरोधिनी को पार कर नाद तत्व में लीन हो जाते हैं। उस समय सारा चराचर जगत् सदाशिव में ही समाहित रहता है । नाद नादान्त वृत्ति से ब्रह्मरन्ध्र का भेदन कर शक्तितत्व में लय हो जाता है । शक्ति का भी

एतावदिति, सदाशिवायुःसंख्यातम् तदिति, यः शक्तिलयकालः। परार्धकोटयेति, यदुक्तम्

शक्तिकालपरार्धस्य कोटिधा गुणितस्य तु।
अनाश्रितस्य देवस्य दिनमेकं प्रकीर्तितम्॥'
(स्व० ११।३०३)

सोऽपीत्यनाश्रितः तदुक्तम्

'अनेन परिमाणेन परार्धगुणितेन च।
सोऽपि याति परं स्थानं कारणं समनाश्रयम्।'
(स्व० ११।३०४) इति॥ १६५॥

नन्वेवं समनाया अपि लयः कस्मान्नोच्यते,—इत्याशङ्क्याह

स कालः साम्यसंज्ञः स्यान्नित्योऽकल्यः कलात्मकः।
यत्तत्सामनसं रूपं तत्साम्यं ब्रह्म विश्वगम्॥ १६६॥

यतः स विश्वकलनाकारी कालः समनाख्या येयं कला शक्तिस्तदात्मकोऽत एव नित्यो, न ह्यस्याः समनाख्यायाः शक्तेर्महाप्रलयेऽपि नाशः—इत्याशयः। यदभिप्रायेणैवान्यैः 'शंभुः पुरुषो माया नित्यम्' इत्याद्युक्तम्। अत एव पृथिव्यादेरनाश्रितान्तस्य विश्वस्याभेदात्मना साम्येनावस्थानात्साम्यशब्दाभिधेयः, अत एव भेदप्रथाया अभावात् 'अकल्यः' कलयितुमशक्य इत्यर्थः। शक्त्यन्तं हि विश्वसंहारे वृत्ते सकलोऽयमणुवर्गः संभूय समनायामेवास्ते,—इत्याह 'यत्तत्सामनसं

अहोरात्र होता है। शक्ति भी अपनी आयु की समाप्ति पर व्यापिनी में लीन हो जाती है। व्यापिनी अनाश्रित में लीन होती है। शक्तिकाल परार्ध के करोड़ गुना काल के बराबर अनाश्रित का एक दिन होता है। अनाश्रित भी परार्ध गुणित काल के बाद समना में लीन हो जाता है॥ १६५॥

समना के काल के विषय में कह रहे हैं—

समना का काल विश्व का आकलन करने वाला है। पृथिवी से लेकर अनाश्रित पर्यन्त विश्व का स्वात्म रूप से और समान भाव से समना कला में अवस्थान होता है। इस लिये इसे साम्य काल कहते हैं। यह नित्य है। भेदभिन्नता के न रहने के कारण इसकी कलना नहीं की जा सकती। अतः इसे अकल्य कहते हैं। शक्ति पर्यन्त विश्व का समस्त अणुवर्ग समना में ही एकी भाव

रूपं तद्विश्वगं साम्यम्' इति । न चैवमपि भेदवादिवदिदं परस्माद्ब्रह्मणोऽतिरिक्तमित्युक्तं 'ब्रह्म' इति, परब्रह्मरूपपमित्यर्थः तदुक्तम्

'स कालः साम्यसंज्ञश्च जन्ममृत्युभयापहः ।
तस्याप्यूर्ध्वममेयस्तु कालः स्यात्परमावधिः ।
नित्यो नित्योदितो देवि अकल्यश्च न कल्यते ।'
(स्व० ११।२४६) इति ॥ १६६ ॥

न केवलमत्र प्रलयावसरे विश्वस्यावस्थानमेव यावत्सृष्टिर (ष्टाव) पि,—इत्याह

अतः सामनसात्कालान्निमेषोन्मेषमात्रतः ।
तुटयादिकं परार्धान्तं सूते सैवात्र निष्ठितम् ॥ १६७ ॥

निमेषोन्मेषमात्रत इति, सदाशिवेश्वरदशामधिशयानादित्यर्थः । यदुक्तम्

'स चाधः कलयेत्सर्वं व्यापिन्याद्यं धरावधि ।
तुटयादिभिः कलाभिश्च देव्यध्वानं चराचरम् ॥'
(स्व० ११।३०७) इति ।

से स्थित रहता है। इसलिये इसे सामनस पद भी कहते हैं। इसका यह साम्य रूप परब्रह्म रूप ही है। स्व०त० ११।२४६ मे इस विचार का समर्थन होता है। "साम्यकाल में आवागमन का भय नहीं होता। इससे भी ऊपर व्यापक अमेय और परमावधिकाल होता है। वह कभी आकलित नहीं हो सकता। वह नित्योदित और नित्य है, जो मात्र अनुभूति का विषय है" ॥ १६६ ॥

उक्त ब्राह्म स्थिति में विश्व का अवस्थान केवल अनुभूति का विषय है। सभनाशक्तिका ही यह चमत्कार है कि वह सामनस भाव से अपने में ही विश्व को रख लेती है। फिर वही इसे उत्पन्न भी करती है। यही कह रहे हैं–

समना शक्ति ही सामनस काल से निमेष (सादाशिव भाव) और उन्मेष (ईश्वर भाव) के आकलन मात्र से तुटि से लेकर परार्ध पर्यन्त काल प्रवाह को उत्पन्न करती है। स्व० तन्त्र ११।३०७ के अनुसार समस्त अध्वावर्ग के सर्जन की शक्ति का उत्स यह सामनस काल ही है।

अत एव चान्यैरस्मच्छास्त्रप्रक्रियामजानानैः 'शक्त्यन्तं महाप्रलये वृत्ते सकलोऽय-मणुवर्गः प्रलयान्त ऊर्ध्वोर्ध्वमवस्थितेरभिधानात्परिशिष्टं शिवतत्त्वमेवासादयेत् । तदासादनमेव च मुक्तिः, तत्क्रमेण सर्वेषामनायासमेव सा सिद्ध्येदिति किं शास्त्रानुष्ठानादिना' इत्यादि यच्चोदितं तदुत्थानोपहतमेव । न हि शक्त्यन्तं प्रलयेऽप्येषां शिवतत्त्व एवावस्थानं समनायामेवमभिधानात्

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम् ।

(स्व० ४।४२९)

इत्याद्युक्त्यातदन्तं च बन्ध एव,—इति को नाम तत्र मुक्तेरवकाशः । न चैवमपि शंभुवत्समनाया अपि नित्यत्वादभेदवादक्षतिर्भेदमेवाधिकृत्य सृष्टिप्रलयादिव्यवहारस्योत्थानात्; वस्तुतः पुनरभेदवादचर्चा प्रतिपदमिह दर्शिता दर्शयिष्यते च,—इत्यलं बहुना ॥ १६७ ॥

इस सम्बन्ध में कुछ लोग यह कहते हैं कि शक्ति पर्यन्त महाप्रलय के हो जाने पर यह सारा अणुवर्ग प्रलय होते होते आगे से आगे ऊपर आरोहण करते हुए शिवतत्व में समाहित हो जाता है । शिव में समाहित होना हो मुक्ति है । यह अनायास ही मिल जाती है क्योंकि महाप्रलय तो क्रमशः होता ही है । इस तरह विना शास्त्रादि-स्वाध्याय और चिन्तन मनन के ही अक्रम मुक्ति सहज सम्भाव्य है ।

उक्त विचार वस्तुतः उठने के साथ ही नष्ट हो जाने योग्य है । स्व० तन्त्र ४।४२९ में स्पष्ट ही कहा गया है कि सारा अनन्त अनन्त यह अध्वावर्ग समना पर्यन्त ही है । इससे यह सिद्ध होता है कि, यहाँ तक बन्ध जीवित रहता है । इसमें मुक्ति असम्भव है । यह भी कहा जा सकता कि शंभु की तरह समना भी नित्य है । इस लिये अभेद भाव यहाँ भी है । अतः मुक्ति सम्भव है । वस्तुतः सृष्टि और प्रलय आदि व्यवहार भेद को लेकर ही चलते हैं । भले ही यह सामनस पद है, किन्तु इसकेअन्तराल में निमेष उन्मेष की सम्भावना बनी रहती है । शंभु में यह सम्भव नहीं । इस लिये मुक्ति की गुत्थी यहीं सुलझती है ॥ १६७ ॥

एवमुक्तवक्ष्यमाणपरिमाणोपयोगिन्याः संख्यायाः क्रमेण रूपं दर्शयति

दशशतसहस्रमयुतं लक्षनियुतकोटि सार्बुदं वृन्दम् ।
खर्वनिखर्वे शंखाब्जजलधिमध्यान्तमथ परार्धं च ॥ १६८ ॥

अब्जेति पद्मं, जलधीति सागरः ॥ १६८ ॥

नन्वेवमवस्थानमेषां कथं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

इत्येकस्मात्प्रभृति हि दशधा दशधा क्रमेण कलयित्वा ।
एकादिपरार्धान्तेष्वष्टादशसु स्थितिं ब्रूयात् ॥ १६९ ॥

यदुक्तम्

'एकं दशगुणं पूर्वं शतं दशगुणं तु तत् ।
शतं दशगुणं कृत्वा सहस्रं परिकीर्तितम् ॥
सहस्रं दशधा चैवमयुतं तद्धि कीर्तितम् ।
दशायुतानि लक्षं तु नियुतं दश तानि तु ॥
दश तानि च कोटिः स्याद्दश कोटयस्तदर्बुदम् ।
अर्बुदैर्दशभिर्वृन्दं खर्वं दशभिरेव तैः ॥
दशभिस्तन्निखर्वं तु शङ्कुः स्याद्दश तानि तु ।
शङ्कुभिर्दशभिः पद्मं दश पद्मानि सागरः ॥
सागरैर्दशभिर्मध्यमन्तस्तैर्दशभिः स्मृतः ।
अन्तं दशाहतं कृत्वा परार्धं तु प्रकीर्तितम् ॥
एवमष्टादशैतानि स्थानानि गणितस्य तु ।' इति ॥ १६९ ॥

एवमत्र सृष्टिप्रलयानामानन्त्येऽपि गौणमुख्यभावं दर्शयितुमाह

चत्वार एते प्रलया मुख्याः सर्गाश्च तत्कलाः ।
भूमूलनैशशक्तिस्थास्तदेवाण्डचतुष्टयम् ॥ १७० ॥

त्रुटि से परार्ध तक संख्या का उल्लेख कर रहे हैं—एक, दश, सौ, हजार, दश हजार, लाख नियुत दस लाख, करोड़, अरब, दस अरब (वृन्द) खर्व निखर्व दशनिखर्व (शंख), कमल, समुद्र, मध्य, अन्त और परार्ध। यह भारतीय आगमिक गणना का क्रम है। एक से लेकर दस से गुणा करते एक से परार्ध तक की १८ सोपान श्रेणियाँ संख्याओं की बनती हैं। आगम के उद्धरण से इसे सिद्ध किया गया है। इसमें दश कोटि को ही अर्बुद माना गया है। आज कल १०० करोड को अरब कहते हैं ॥ १६८-१६९ ॥

मुख्या इत्यवान्तराणामनन्तानां प्रलयानां सर्गाणां चात्रैवान्तर्भावात् । 'तत्कला' इति तेषां प्रलयानां सर्गाणां च 'कलाः' पृथिव्यादिभेदचतुष्टयरूपा अंशा इत्यर्थः ॥ तदेवेति, भूमूलादि । तदुक्तम्

'निजशक्तिवैभवभरादण्डचतुष्टयमिदं विभागेन ।
शक्तिर्माया प्रकृतिः पृथ्वी चेति प्रभावितं प्रभुणा ॥'

(**प० सा० ४ श्लो०**) इति ॥ १७० ॥

अत्रैव स्रष्टृसंहर्तृविभागमपि दर्शयति

कालाग्निर्भुवि संहर्ता मायान्ते कालतत्त्वराट् ।
श्रीकण्ठो मूल एकत्र सृष्टिसंहारकारकः ॥ १७१ ॥

तल्लयो वान्तरस्तस्मादेकः सृष्टिलयेशिता ।
श्रीमानघोरः शक्त्यन्ते संहर्ता सृष्टिकृच्च सः ॥ १७२ ॥

संहर्ता न पुनः स्रष्टा तद्धि ब्रह्मादीनामेव हि पूर्वमुक्तं, कालतत्त्वराडिति कालतत्त्वाधिपः श्रीकण्ठः । यदुक्तम् ।

'एकवीरः शिखोदश्च श्रीकण्ठः कालमाश्रितः ।'

(**मा० वि० ५।२७**) इति ।

श्रीकण्ठ इत्यव्यक्तस्थः । एकत्रेपि त्रिष्वपि योज्यम् । तल्लय इति श्रीकण्ठकर्तृकः सहारः । यद्वा त्रिष्वपि पृथिव्यादिषु स्थानेषु परापररूपतामधिशयानः श्रीकण्ठनाथ एककः सृष्टिसंहारकारकः । यदुक्तम्

भौम प्रलय, प्रकृति प्रलय, माया प्रलय और शाक्त प्रलय ये चार मुख प्रलय माने जाते हैं। सृष्टि तो इन प्रलयों की कलायें मात्र हैं। इन्हें भौभाण्ड, प्रकृत्यण्ड, मायाण्ड और शक्त्यण्ड भी कहते हैं, जिनके प्रलय होते हैं। प.सा ४ से इसका समर्थन किया गया है। यह सब परमेश्वर प्रभु से उनकी शक्ति के वैभव से भरा हुआ है। पराबीज में ये चारों व्याप्त हैं ॥ १७० ॥

इसी प्रसङ्ग में स्रष्टा और संहर्त्ता की चर्चा कर रहे हैं—

पृथिव्यण्ड के संहर्त्ता कालाग्नि हैं। मायान्त पर्यन्त कालाग्नि का प्रभाव रहता है। कालतत्व के अधिपति स्वयं श्रीकण्ठ ही हैं। ये पृथ्वी, प्रकृति और माया इन तीनों के सर्जक और संहारक दोनों हो हैं। मा०वि० ५।२७ भी काल

'श्रीकण्ठ एव परया मूर्त्या कालाग्निरुच्यते ॥' इति ।

तथा

'त्रिष्वेव संस्थितो रुद्रः कालरूपी महेश्वरः ॥' इति ।

'शक्त्यन्त' इति शुद्धाध्वनि । तदुक्तम्

'तदूर्ध्वं शुद्धमध्वानं यावच्छक्त्यन्तगोचरम् ।
तत्सर्वं संहरेद्घोरमघोरो घोरनाशनः ॥' इति ॥ १७२ ॥

न केवलं शक्त्यन्तं प्रलयस्यैव महत्त्वं यावत्सृष्टेरपीत्याह

तत्सृष्टौ सृष्टिसंहारा निःसंख्या जगतां यतः ।
अन्तर्भूतास्ततः शाक्ती महासृष्टिरुदाहृता ॥ १७३ ॥

ननु पृथिव्यादितत्त्वप्रलये यैव तन्निवासिनामणूनां व्यवस्था सैव किं तत्त्वेश्वराणां न वा ? इत्याशङ्क्याह

लये ब्रह्मा हरी रुद्रशतान्यष्टकपञ्चकम् ।
इत्यन्योन्यं क्रमाद्यान्ति लयं मायान्तकेऽध्वनि ॥ १७४ ॥
मायातत्त्वलये त्वेते प्रयान्ति परमं पदम् ।

के आश्रय प्रभु श्री कण्ठ की चर्चा करता है। ये अव्यक्त में ही निवास करते हैं। वस्तुतः "श्री कण्ठ ही कालाग्नि रूप में प्रसिद्ध हैं।" आगम कहता है कि "काल रूपी महेश्वर श्रीकण्ठ तीनों अण्ड कटाहों में स्थित हैं। शक्ति के अन्त में अर्थात् शुद्ध अध्वा में यही" अधिकारी हैं। इन्हें अघोर कहते हैं। शक्ति, शुद्ध विद्या, मन्त्र, ईश्वर और सदाशिव इन तत्वों के अघोर नामक महेश्वर अधिपति हैं। यही सर्जक और संहारक दोनों हैं' ॥ १७१-१७२ ॥

शक्तिपर्यन्त प्रलय का ही महत्व नहीं अपितु सृष्टि का भी महत्व है यही कह रहे हैं—

जगत् के विशाल विस्तार में अनन्त प्रकार की सृष्टि और अनन्त संहार होते रहते हैं। इसी क्रम में शक्तिजन्य महासृष्टि भी आन्तरिक रूप से अनवरत उद्भूत होती रहती है। पृथिव्यादि तत्वों के प्रलय की दशा में अणु जीवों की गति की चर्चा की गयी है। प्रश्न उनके तत्वेश्वरों का है। उनकी गति के विषय में कह रहे हैं कि,

शुद्धाध्वव्यवस्थितानां पुनः किं परमं पदम् ? इत्याशङ्क्याह

मायोर्ध्वे ये सिताध्वस्थास्तेषां परशिवे लयः ।। १७५ ।।

तत्राप्यौपाधिकाद्भेदाल्लये भेदं परे विदुः ।

तत्रापीति, परशिवे। परे विदुरिति, न पुनरस्माकमिदं मतमित्याशयः ॥ १७५ ॥

नन्वेवमपवृक्तेषु पुनः सृष्टौ तत्र केषामधिकारः ? इत्याशङ्क्याह

एवं तात्त्वेश्वरे वर्गे लीने सृष्टौ पुनः परे ।। १७६ ।।

तत्साधकः शिवेष्टा वा तत्स्थानमधिशेरते ।

तत्साधका इति

'लोकधर्मिणमारोप्य मते भुवनभर्तरि ।'

इत्यादिना निरूपिताश्वर्यादिक्रमेण प्रेप्सिततत्तद्भुवनैश्वर्याः। शिवेष्टा इति, तदिच्छामात्रानुगृहीता ॥ १७६ ॥

प्रलय की दशा में ब्रह्मा, विष्णु और १४० रुद्र ये सभी क्रमशः अन्योन्य तत्व में ही लीन होते हैं। मायान्त में इनको परम पद प्राप्त होता है ॥१७३–१७४॥

शुद्ध अध्वा में अवस्थित तत्त्वों की अवस्था के विषय में ग्रन्थकार का विचार निम्नलिखित है। माया के ऊपर शुद्धाध्व में निवास करने वालों का विलय परमशिव में होता है। कुछ लोगों का मत है कि उपाधि भेद से लय में भी भेद हो जाते हैं ॥१७५॥

इस प्रकार लीन होने वालों की सृष्टि में किसका अधिकार है ? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं कि इस तरह तत्वेश्वरवर्ग में लय होने पर उनकी सृष्टि करने का अधिकार दो प्रकार के अधिकारियों को होता है। १–तत्साधकों का और दूसरा शिवेष्ट तत्वों का। तत्साधक वे होते हैं जो किसी भुवन आदि ऐश्वर्य की प्राप्ति के उद्देश्य से साधना करते हैं। शिवेष्ट वे हैं, जिन्हें स्वयं परमशिव इस कार्य में नियुक्त करते हैं। उनकी इच्छा से ही ये अनुगृहीत होते हैं ॥१७६॥

नन्वेवमप्येषां ब्रह्मादिशब्दप्रवृत्तौ किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

ब्राह्मी नाम परस्यैव शक्तिस्तां यत्र पातयेत् ॥ १७७ ॥

स ब्रह्मा विष्णुरुद्राद्या वैष्णव्यादेरतः क्रमात् ।

'अत' इति शक्तेः । तदुक्तम्

'ब्राह्मी च वैष्णवी शक्तिरधिकारपदं गता ।
यं चाधितिष्ठत्यात्मानं तत्संज्ञां स प्रपद्यते ॥
तदाधिकारं कुरुते इच्छया परमात्मनः ।'
(स्व० ११।२६७) इति ॥ १७७ ॥

ननु ब्राह्मी नाम यदि शिवस्यैव शक्तिस्तत्कथमसावन्यं यायाद्येनायं ब्रह्मेत्युच्यते, न ह्यन्यदीयधर्मस्यान्यत्रान्वयः सम्भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

शक्तिमन्तं विहायान्यं शक्तिः किं याति नेदृशम् ॥ १७८ ॥

छादितप्रथिताशेष-शक्तिरेकः शिवस्तथा ।

न ह्येतच्छिवलक्षणं शक्तिमन्तं विहायान्यं ब्रह्मादिलक्षणं शक्तिर्याति' इत्येवंविधमुक्तं, किंत्वनन्तशक्तिखचितत्वेऽपि कांचिच्छक्तिं प्रच्छाद्य कांचिच्च प्रकटीकृत्यैक एव शिवस्तथा ब्रह्मविष्ण्वाद्यात्मनावभासत इति ॥ १७८ ॥

इन्हें भी ब्रह्मा कहने के कारणों पर प्रकाश डाल रहे है कि, ब्राह्मी एक पराशक्ति है। इस शक्ति का पात शिवकृपा से जिन पर हो जाता है, वही ब्रह्मा कहलाने लगते हैं। इसी तरह वैष्णवी शक्ति के संपात से विष्णु और रुद्र शक्ति संपात से रुद्र संज्ञा हो जाती है। स्व० ११।२६७ में कहा गया है कि—

"ब्राह्मी, वैष्णवी और रौद्री शक्तियों के सम्पात से वही तत्त्व ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र संज्ञक हो जाता है। परमात्मा की इच्छा से उन्हें अधिकार प्राप्त हो जाता है" ॥ १७७ ॥

प्रश्न है कि शिव की शक्ति ही यदि ब्राह्मी है, तो यह दूसरे देव के नाम से क्यों बोधित की जाती है ? शिव का धर्म-गुण ब्रह्मा में जैसे नहीं जा सकता। उसी तरह शैवी शक्ति ब्राह्मी नहीं कही जा सकती ! इसी का समाधान कर रहे हैं—

ननु प्राणस्य परं तत्त्वं प्रत्युपायत्वमस्तीति प्रागुपक्रान्तं तत्तदनभिधाय तदाश्रयेण सृष्टिसंहारादीनामेव स्वरूपमुच्यते,—इति किमेतत् ? इत्याशङ्क्याह

एवं विसृष्टिप्रलयाः प्राण एकत्र निष्ठिताः ॥ १७९ ॥

सोऽपि संविदि संविच्च चिन्मात्रे ज्ञेयवर्जिते ।

चिन्मात्रमेव देवो च सा परा परमेश्वरी ॥ १८० ॥

अष्टात्रिंशं च तत्तत्त्वं हृदयं तत्परापरम् ।

संविदीति, तत्तन्नीलाद्याभाससंभिन्नायां परिमितात्मरूपायाम् । चिन्मात्रमेव चाष्टात्रिंशं तत्त्वमित्येतदग्र एवोपपादयिष्यते,—इति नेहायस्तम् । तत्स्थितमेवास्य चिन्मात्रविश्रान्तत्वं यद्वशादेवात्र नालिकादिषष्टयब्दोदयान्तं लयोदययोर्वैचित्र्यमिति ॥ १८० ॥

तदाह

तेन संवित्त्वमेवैतत्स्पन्दमानं स्वभावतः ॥ १८१ ॥

लयोदया इति प्राणे षष्टयब्दोदयकीर्तनम् ।

शक्तिमान को छोड़ कर उसकी शक्ति दूसरे शक्तिमान् के यहाँ नहीं जा सकती । वास्तविकता यह है कि भगवान् शंकर की स्वातन्त्र्य शक्ति किसी शक्ति का प्रच्छादन कर लेती है और किसी को व्यक्त कर देती है । फलतः कभी ब्रह्मा और ब्राह्मी शक्ति के रूप में तथा कमी विष्णु और वैष्णवी शक्ति के रूप में व्यक्त होते हैं ॥ १७८ ॥

परतत्त्व की प्राप्ति में प्राण उपाय है–इसकी चर्चा न कर उसके आश्रय से सृष्टि और संहार आदि की ही चर्चा की गयी है । यह क्यों ? इसका समाधान कर रहे हैं–

सृष्टि और प्रलय प्राण में ही एकत्र स्थित हैं । प्राण भी संविद् में अवस्थित है । संवित् चिन्मात्र में अवस्थित है । चिन्मात्र ही देवी शक्ति है । वही परा परमेश्वरी है । इस का ही प्रसार सारा विश्व है । यह अड़तीसवाँ तत्त्व है । यह परात्पर हृदय रूप है । इसी में तुटि से लेकर सारा काल का विभाग है । इसी में सारा लयोदय (प्रसार संहारक्रम) क्रम भी समाहित है ॥ १७९-१८० ॥

संवित्त्वमिति, ये नाम लयोदयास्तत्संवित्स्वातन्त्र्यम्, इत्येवं संविदधीनमेव सर्वमेतत्कालीयं वैचित्र्यं, न पुनरस्वाधीनं किंचिद्रूपं बहिरस्तीत्युक्तं स्यात् ॥ १८१ ॥

अत आह

इच्छामात्रप्रतिष्ठेयं क्रियावैचित्र्यचर्चना ॥ १८२ ॥
कालशक्तिस्ततो बाह्ये नैतस्या नियतं वपुः ।

नैतस्या नियतं वपुरिति, तथात्वे हि यत्रैकचषकोदयस्तत्रैवाब्दोदयः कथं भवेदिति भावः ॥ १८२ ॥

ननु कथमति परिमितस्यापि कालांशस्य वैतत्येनावभासो भवेत् ?

स्वप्नस्वप्ने तथा स्वप्ने सुप्ते संकल्पगोचरे ॥ १८३ ॥
समाधौ विश्वसंहारसृष्टिक्रमविवेचने ।
मितोऽपि किल कालांशः विततत्वेन भासते ॥ १८४ ॥

वही क्रम स्पष्ट कर रहे हैं--

यह लय और उदय, यह प्रलय और उल्लास यह सृष्टि और संहार ये सब संविद् भगवती के स्वातन्त्र्य का चमत्कार ही है। यह परिलक्षित होने वाला क्रम उसी की स्पन्द प्रक्रिया का समयोल्लास है। यह सब प्राण में स्पष्ट रूप से अनुभव किया जा सकता है। तुटि से लेकर ६० वर्षों की क्रमिकता प्राणजित् पुरुष के एक प्राणवाह में घटित हो जाती है। इससे यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि जो कुछ भी ब्राह्मोल्लास है, वह स्वातन्त्र्य का ही प्रतीक है ॥ १८१ ॥

इस लिये आगम इस सिद्धान्त की घोषणा करता है कि क्रिया शक्ति का जो भी चमत्कार है, यह आश्चर्य चकित करने वाला है। यह सब परमेश्वर परमशिव की इच्छा से ही प्रतिष्ठित है। क्रियाशक्ति बाह्य व्यापार में प्रमेय-परम्परा को क्रमिक रूप से सजा कर उन्हीं परमशिव की सेवा में संलग्न कर देती है। इसके कोई निर्धारित निश्चित रूप नहीं होते। अन्यथा जहाँ तुटि के बाद चषकों का उदय होता हैं, वहीं अब्द का उदय नहीं होता ॥ १८२ ॥

यत्राद्यां स्वाप्नीमेव दशां जाग्रद्दशात्वेन परिकल्प्य द्वितीयां स्वप्नत्वेन कश्चिदभिमन्यते स स्वप्नस्वप्न उच्यते। एवं स्वप्ने क्षणेनैव हरिश्चन्द्रस्येवानेककालिकोऽप्यनुभवोऽभवदिति युक्तमुक्तं मितेऽपि काले वैतत्येनावभासः' इति 'सुप्ते' इति सुषुप्तदशायाम्। तत्र हि क्षणमात्रमपि मोहादौ 'चिरस्य गाढमूढोऽहमासम्' इत्याद्यभिमानोदयः। 'सङ्कल्पगोचरे' इति स्वतन्त्रविकल्पादौ तत्र हि क्षणेनैव कल्पपरिकल्पनमपि शक्यम्। 'समाधौ' इति विश्वसाक्षात्कारात्मनि। विश्वसंहारसृष्टिक्रमस्य 'विवेचने' समनन्तरोक्तकालीयप्रमेयसंकलनाबुद्धावित्यर्थः

एतच्च कालीयं वैतत्यं स्वपरदृष्टृत्वेनापि वैचित्र्यमियात्,—इत्याह

प्रमात्रभेदे भेदेऽथ चित्रो विततिमाप्यसौ।

अनेनेतत्स्वप्नादावनुभूतम्,—इति प्रमात्रन्तरैकीकारेण विततिम्नोऽवभासः, मयैवैतदसाधारण्येनानुभूतम्,—इति वा॥

इदानीं प्राणीयमेव कालविभागमपानेऽप्यतिदिशति

एवं प्राणे यथा कालः क्रियावैचित्र्यशक्तिजः॥ १८५॥

तथापानेऽपि हृदयान्शूलपीठविसर्पिणि।

परिमित काल का इतना व्यापक परिवेश और इसका आभासन भी आश्चर्य जनक ही है। संसार की संसृति मयी जागृति भी एक प्रकार का स्वप्न ही है। इसमें भी हम सभी स्वप्न देखते हैं। क्षण भर में सम्राट् और दरिद्र होते हैं। कितना क्षणिक और छोटा स्वप्न हो, वह स्वप्न के अन्दर का स्वप्न (स्वप्नस्वप्न) होता है और विशाल होता है। जैसे हरिश्चन्द्र के राज्यध्वंस की घटना का स्वप्न।

यही दशा समाधि के समय के विमर्श क्रम की होती है। उसमें सृष्टि और संहार के क्रम का उल्लास अनुभूति का विषय है। उस समय सुषुम्ना से सहस्रार तक प्रतिष्ठित प्राण प्रवाह काल में एक छोटा सा कालक्षण भी एक ब्रह्माण्ड की आयु का हो सकता है। क्षण भी कल्प और समाधि खण्ड विश्व के आकलन का प्रतीक हो जाता है। यह विततिमा, यह विस्तार दोनों अवस्थाओं में सम्भव है। पहली अवस्था व्यक्तिगत और भेदानुभूति की है। इसमें मैं ने यह

यद्यपि द्वादशान्ताद्धृदन्तमपाने कालवैचित्र्यमुक्तं तथापि हृदयान्मत्त-गन्धपर्यन्तं प्रसरणेऽस्यैव प्राधान्यमित्येवमुक्तम् । तदुक्तम्

'अपानस्यापि संचारे सर्पितेयं सुविस्तृता ।
गुदं यावत्ततो वायुरधस्तादुपयाति हि ॥' इति ॥ १८५ ॥

नन्वत्रापि प्राणवत्कालवैचित्र्यं किं संचेत्यते न वा ? इत्याशङ्क्याह

मूलाभिधमहापीठसङ्कोचप्रविकासयोः ॥ १८६ ॥
ब्रह्माद्यनाश्रितान्तानां चिनुते सृष्टिसंहृती ।

'रासभी वडवा यद्वत्' (तं० ५।५८) इत्यादिप्रागुक्तयुक्त्या जन्माधारोदितायाः शक्तेर्यौ सङ्कोचविकासौ तौ ब्रह्माद्यनाश्रितान्तस्य विश्वस्य सृष्टिसंहारादौ योगिनामनुभवसिद्धावित्युक्तं 'चिनुते सृष्टिसंहृती' इति ॥ १८६ ॥

असामान्य आनन्द लिया' ऐसा छोटा भी अनुभव बड़ा हो कर अनुभूत होता है। दूसरी अवस्था संविदैक्य विमर्श की तादात्म्य दशा है। इसमें भी यह निश्चय ही सम्भव है। यह सब प्राणवाह के आकलन का उन्मेष है ॥ १८३-१८५ ॥

अपानवाह में भी इस प्रकार के क्रिया वैचित्र्य का होना स्वाभाविक है। बाह्य द्वादशान्त से हृदय तक के इस प्रवाह में (अपानवाहमें) इस काल वैचित्र्य को साधक अनुभव करता है। फिर भी हृदय से मत्त गन्ध (मूलाधार) के विन्दु तक की अपानवाह की दशा ही प्रधान मानी जाती है। तिथि में यह पूर्णिमा की व्यापिनी स्थिति है। इसमें ३० वर्ष का समय प्रसरित होता है। आगम कहता है—"अपान के संचार में यह शक्ति पूरी तरह अपनी गति शक्ति का परिचय देती है। अपानवाह की चरम स्थिति में वायु भर कर नाभि से गुदा तक पहुँचता है। वहाँ मूल बीज द्वारा अश्विनी मुद्रा से वायु का उत्थान करने पर ऊपर से अमृत बरसता है और वायु पच जाता है। साधक पर सिद्धियों की वर्षा होती है। इसी को संकोच और विकोच की प्रक्रिया कहते हैं। यह मूलाधार का महापीठ है। श्रीत० ५।५८ के अनुसार रासभी और बड़वा के गुप्ताङ्गों की यही दशा दीख पड़ती है। ऐसा साधक मूलाधार से आज्ञा चक्रपर्यन्त ब्रह्मा से अनाश्रित सृष्टि संहार की दशा का अनुभव कर लेता है ॥ १८६ ॥

ननु यद्येवं तत्सर्वत्र प्रणोदय एव प्राधान्येनैतत्कस्मान्निर्दिष्टम् ? इत्याशङ्क्याह

शश्वद्यद्यप्यपानोऽयमित्थं वहति किंत्वसौ ॥ १८७ ॥
अवेद्ययत्नो यत्नेन योगिभिः समुपास्यते ।

ननु यद्यत्र ब्रह्मादीनां कारणानां सृष्ट्यादि संभवेत् तत्कुत्र कस्यावस्थानम् ? इत्याशङ्क्याह

हृत्कन्दानन्दसंकोचविकासद्वादशान्तगा ॥ १८८ ॥
ब्रह्मादयोऽनाश्रितान्ताः सेव्यन्तेऽत्र सुयोगिभिः ।

'द्वादशान्तः' शक्तेरुदयविश्रान्तिस्थानम् । सुयोगिभिरित्यन्तःप्राणे सावधानैर्न सामान्यैस्तेषामपानस्यावेद्ययत्नतया तत्सेवनस्य यत्नसाध्यत्वात् ॥ १८८ ॥

ननु व्यापकत्वादेषां स्वरसत एव सर्वत्रावस्थानं सिद्धमित्यत्र विशेषाभिधाने किं प्रयोजनम् ? इत्याशङ्क्याह

प्रश्न उपस्थित होता है कि अपानवाह के इतने महत्त्वपूर्ण होते हुए भी प्राणोदय के प्राधान्य का ही निर्देश क्यों करते हैं ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

यद्यपि प्राणवाह की ही तरह अपानवाह भी शाश्वत प्रवहमान है फिर भी यह अवेद्ययत्न है और योगी लोग हमेशा यत्न पूर्वक इस प्रक्रिया को पूरी करने में सचेष्ट रहते हैं । यत्न करने से ही साधना का चरम लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है ॥ १८७ ॥

सृष्टि के ब्रह्मा आदि कारणों के स्थान की चर्चा कर रहे हैं—

हृदय, कन्द, आनन्द, संकोच, विकास और द्वादशान्त में ब्रह्मा आदि देवताओं का निवास है । योगी लोग क्रमशः इनकी सेवा में लगे रहते हैं । शक्ति के उदय और विश्रान्ति स्थान को द्वादशान्त कहते हैं । यह ध्यान रखना चाहिये कि अपानचन्द्रोदय की प्रतिपद् से पूर्णिमा तक की समस्त कलाओं का नियन्त्रण पूर्वक साधना का क्रम चले, जिससे अमृततत्त्व की सहज ही प्राप्ति हो सके ॥ १८८ ॥

एते च परमेशानशक्तित्वाद्विश्ववर्तिनः ॥ १८९ ॥

देहमप्यश्नुवानास्तत्कारणानीति कामिके ।

तत्कारणानीति, तस्य देहस्य कारणानि तत्तदधिष्ठानद्वारेणोत्पत्ति निमित्तमित्यर्थः ॥ १८९ ॥

कामिकीयमेव ग्रन्थं पठति

बाल्ययौवनवृद्धत्वनिधनेषु पुनर्भवे ॥ १९० ॥

मुक्तौ च देहे ब्रह्माद्याः षडधिष्ठानकारिणः ।

तद्बाल्ये ब्रह्मणोऽधिष्ठानकारित्वं, यावन्मुक्तावनाश्रितस्येति ॥ १९० ॥
नन्वस्मद्दर्शने मुक्तेः किमनाश्रिताधिष्ठानं युक्तम् ? इत्याशङ्क्याह

तस्यान्ते तु परा देवी यत्र युक्तो न जायते ॥ १९१ ॥

अनेन ज्ञातमात्रेण दीक्षानुग्रहकृद्भवेत् ।

द्वादशान्त से हृदय और हृदय से द्वादशान्त तक भी इस प्राणापान प्रवाह की व्याप्ति है फिर इसके विशेष निर्देश की क्या आवश्यकता ? इसी का उत्तर दे रहे हैं—

परमेश्वर शिव की शक्ति से यह विश्ववर्तिनी कारण धारा सर्वत्र व्याप्त है। वस्तु स्थिति यह है कि कामिक आगम के अनुसार यह देववर्ग देह में भी उसी तरह प्रक्रिया में है। यह विश्व के कारण भी हैं ॥ १८९ ॥

कामिक ग्रन्थ की उक्ति यहाँ दे रहे हैं—

बालकपन, यौवन, वृद्धावस्था, निधन, पुनर्जन्म, और मुक्ति के अधिष्ठाता ब्रह्मा आदि हैं। क्रमशः उन्हीं नियत स्थान में ये कारण रूप अधिष्ठाता देवता रहते हैं ॥ १९० ॥

अपने दर्शन के अनुसार मुक्ति के अधिष्ठान के सन्दर्भ की चर्चा कर रहे हैं—

अनाश्रित के अन्त में परा देवी का अधिष्ठान है। गुरु द्वारा इस प्रक्रिया में नियुक्त शिष्य आवागमन से मुक्त हो जाता है। उसकी दीक्षा अनुग्रहकारिणी

अन्त इति यदुक्तम्

'षट्त्यागात्सप्तमे लयः ।' (स्व० ४।२६७ ।) इति ।

'युक्त' इत्यर्थाद्गुरुणा योजितः ॥ १९१ ॥

नन्वपानस्य कालवैचित्र्याभिधाने प्रक्रान्ते किमनेनोपदिष्टेन ? इत्याशङ्क्याह

समस्तकारणोल्लासपदे सुविदिते यतः ॥ १९२ ॥

अकारणं शिवं विन्देद्यत्तद्विश्वस्य कारणम् ।

हेये हि सुष्ठु ज्ञाते सुखमुपादेये विश्रान्तिर्भवेदिति भावः ॥ १९२ ॥

ननु प्राणक्रमेण 'द्वादशान्ते परः शिवः' इत्याद्युक्त्या तत्तत्कारणोल्लङ्घनेन तत्र शिवे विश्रान्तिः स्यादिह पुनः सा कुत्र यत्रैवं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

अधोवक्त्रं त्विदं द्वैतकलङ्कैकान्तशातनम् ॥ १९३ ॥

क्षीयते तदुपासायां येनोर्ध्वाधरडम्बरः ।

हो जाती है । स्व० ७।२६७ में कहा गया है कि 'छः को त्यागकर सातवें में लीन होना चाहिए' । १—ऊर्ध्व शून्य (शक्ति) २—अधः शून्य (हृदय) ३—मध्य शून्य (कण्ठतालु आदि) ४—चतुर्थ शून्य-व्यापिनी ५—पंचम शून्य-समना और षष्ठ शून्य-उन्मका । इन छहों से ऊपर सप्तम शून्य (४।२९१) में लय होना तन्त्र विधि की प्रक्रिया है ॥ १९१ ॥

अपानवाह के कालवैचित्र्य के सन्दर्भ में इन बातों की क्या आवश्यकता ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

कारणों के उल्लास के सभी विन्दुओं का जानना बहुत जरूरी है । इनके जान लेने पर अकारण शिव का सद्ज्ञान हो जाता है । हेय के जान लेने पर उपादेय में विश्रान्ति सरल हो जाती है ॥ १९२ ॥

प्राणवाह क्रम में 'द्वादशान्त में परम शिव है' इस उक्ति के अनुसार आमावस्य पद पर पहुँचने की यात्रा करने पर शिव में विश्रान्ति होती है किन्तु इस श्लोक में अकारण शिव संवेदन की चर्चा की गयी है । इन उक्तियों में विश्रान्ति गत कोई अन्तर्विरोध नहीं है, यही कह रहे हैं—

यत्र नामापानस्य विश्रान्तिस्तदिदं द्वैतकलङ्कापहम् 'अधोवक्त्रं' षष्ठ-स्रोतोरूपं योगिनीवक्त्रमित्युच्यते; यतोऽयमद्वैतार्थोपदेशिनां रहस्यशास्त्राणामुदयो, येन द्वैतापहतत्वेन हेतुना तत्र विश्रान्तिभाजाम् 'ऊर्ध्वाधरडम्बरः' शाम्येत् चिदानन्दैकघनपरशिवैकात्म्यमुल्लसेदित्यर्थः ॥ १९३ ॥

नन्वत्रैवं विश्रान्तिः किं प्राणवत्तुट्यादि क्रमेणैव भवेदुतान्यथापि? इत्याशङ्क्याह

अत्रापानोदये प्राग्वत्षष्टयब्दोदययोजनाम् ॥ १९४ ॥

यावत्कुर्वीत तुट्यादेर्युक्त्याङ्गुलविभागतः ।

युक्त्यं तुट्यनुगुणामङ्गुलविभागमाश्रित्य तुट्यादेरारभ्य षष्ट्यब्दोदय-योजनां यावत् प्राग्वदत्रापानोदयेऽर्थाद्योजनां कुर्वीत, येनैवं विश्रान्तिः स्यात् ॥ १९४ ॥

अधो द्वादशान्त में प्राण सूर्य जब अस्त हो जाता है और अपान विश्रान्ति भी हो जाती है, वहाँ अमावस्य तुटि और उद्भविष्यमाण प्रतिपद् तुटि की सन्धि होती है। वह सन्धिकाल या सन्धिधाम शिव का परम धाम होता है। अपान चन्द्र के कलात्मक उत्कर्ष से पूर्णिमा कला की पूर्णता पर पहुँचने की स्थिति में भी एक पौर्णमास्य–प्रातिपद सन्धि होती है। वह हृदय द्वादशान्त होता है। वह भी शिवधाम है। यह षट् स्रोतस् योगिनी वक्त्र है।

यह अधोवक्त्र का प्रकरण है। साधक उस विन्दु पर आनन्द के समावेश में द्वैत भावना की कलङ्क कालिमा से सर्वथा मुक्त हो जाता है। उस समय ऐसी स्थिति होती है, जिसमें ऊर्ध्व-अधः-हेय-उपादेय आदि आडम्बरों से वह मुक्त हो जाता है। चिदानन्द घन परम शिव से एकात्मता की चरम अवस्था का उल्लास हो जाता है ॥ १९३ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि उक्त विश्रान्ति प्राणवाह क्रम की तुटियों के उलंघन क्रम से होती है। या दूसरी तरह? इस का उत्तर दे रहे हैं—

अपानोदय में भी ६० वर्षों की यात्रा का आयोजन होता है। तुटियों, चषकों और अङ्गुलों के विभाग से क्रमशः पौर्णमास्य सन्धि की विश्रान्ति सम्भव होती है ॥ १९४ ॥

न केवलमेतदपाने यावत्समानेऽपि इत्याह

एवं समानेऽपि विधिः स हि हार्दीषु नाडिषु ॥ १९५ ॥
संचरन्सर्वतोदिक्कं दशधैव विभाव्यते ।

हार्दीषु, हृदि तासामभिव्यक्तेः, वस्तुतस्त्वासां नाभेरुदयः । यदुक्तम्

'नाभ्यधो मेढ्कन्दे च स्थिता वै नाभिमध्यतः ।
तस्माद्विनिर्गता नाड्यस्तिर्यगूर्ध्वमधः प्रिये ॥
चक्रवत्संस्थितास्तत्र प्रधाना दश नाडयः ।'

(स्व० ७।८) इति ।

समानस्यापि मुख्यया वृत्त्या नाभिरेव स्थानम् । यदुक्तम्

'हृद्गुदे नाभिकण्ठे च सर्वसन्धौ तथैव च ।
प्राणाद्याः संस्थिता ह्येते........................॥'

स्व० ७।३०१ इति ॥ १९५ ॥

नन्वेवं व्यपदेशस्य किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

दशमुख्या महानाडीः पूरयन्नेष तद्गताः ॥ १९६ ॥
नाड्यन्तराश्रिता नाडीः क्रामन्देहे समस्थितिः ।

यह क्रम समान वायु प्रवाह में भी चलता है, यही कह रहे हैं—

हृदय की नाडियों में समान को अभिव्यक्ति होती है। वास्तविकता यह है कि इसका उदय नाभिकेन्द्र से होता है। स्व० ७।८ में कहा गया है कि "नाभि से नीचे मेढ़ू के और गुदा के बीच में एक गद्दीदार मुलायम अङ्ग है। उसे 'कन्द' कहते है। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग है। अश्विनी मुद्रा से यह पुष्ट होता है। इसी से अधोमेरुस्थशैव लिङ्ग में लिपटी कुण्डलिनी का मुंह सटा होता है। उसी के उत्तेजन से और 'कूर्च बीज' की मान्त्रिक योजना से कुंडलिनी जागृत होती है और चक्रों का भेदन होता है।

समान वायु मूलतः वहीं स्थित नाडियों से प्रवाहित होता है। उसी के फल स्वरूप नाडियाँ १० भागों में विभक्त हैं। कुछ नीचे, कुछ ऊपर और कुछ टेढ़ी तिरछीं एक चक्र रूप में वहीं स्थित हैं। स्व० त० ७।३०१ के अनुसार "प्राण आदि गुदा, नाभि, हृदय, कण्ठ और सभी सन्धियों में संस्थित हैं" ॥ १९५ ॥

मुख्या इति प्रधानाः। तदुक्तम्

'इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयिका।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैवार्यमा तथा॥
अलम्बुसा कुहूश्चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता।
एताः प्राणवहाः प्रोक्ताः प्रधाना दश नाडयः॥'
स्व० ७।१६) इति।

'तद्गताः' इति तद्भेदरूपद्वासप्ततिसहस्रसंख्याकाः। नाड्यन्तरेति, तदुपभेदरूपाणि। यदुक्तम्

'द्वासप्ततिसहस्राणि नाड्यस्ताभ्यो विनिर्गताः।
पुनर्विनिर्गताश्चान्या आभ्योऽप्यन्याः पुनः पुनः॥'
(स्व० ७।९) इति।

अत एव देहे 'समननात्समाननामायमित्युक्तं समस्थितिः' इति ॥१९६॥

ननु यदि नामायं दश नाडीराक्रम्य वर्तते तावतास्य किमायातं येन दशधात्वमुच्यते ? इत्याशङ्क्याह

अष्टासु दिग्दलेष्वेष क्रामंस्तद्दिक्पतेः क्रमात् ॥१९७॥
चेष्टितान्यनुकुर्वाणो रौद्रः सौम्यश्च भासते।

उक्त प्रकरण-गत समान वाय और मुख्य नाडियों की चर्चा कर रहे हैं—

मुख्य नाडियाँ दश हैं। समान वायु से ही वे जीवन्त हैं। इन दश नाडियों से अन्य दूसरी ७२ हजार नाडियाँ निकलती हैं। इन से बहुत सारी ऐसी नाडियाँ निकलती हैं, जो बड़ी सूक्ष्म होती हैं। ये अनगित हैं। स्व० तं० ७।१५।१६ में इन नाडियों के इस प्रकार नाम दिये गये हैं—

"इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, अर्यमा, अलम्बुषा, कुहू और शाङ्खिनी ये दश मुख्यतया प्राणवाहिनी नाडियाँ है।" स्व० ७।९ के अनुसार "बहत्तर हजार नाडियाँ इन से निकलती हैं। उनसे भी निकलने वाली अनेक नाडियाँ है। ३१ भेदों के प्रभेद रूप में भी अनन्त सूक्ष्म नाड़ियाँ निकलती हैं"। समान रूप से संवहन करने के कारण ही समान वायु को समस्थिति भी कहते हैं॥ १९६॥

तद्दिक्पतेरिपि, इन्द्रादेः। चेष्टितानीति, स्तम्भादिरूपाणि। रौद्रो याम्यादौ, सौम्यश्च वारुण्यादौ, अत एव पुंसां प्रतिक्षणं क्रोधहर्षाद्याविर्भावः। यदुक्तम्

'पद्मस्याष्टदलस्येत्थं तन्मध्ये भोगभुक्सदा।
संस्थितः सर्वगोऽप्यस्मात्कारणात्सुप्रतीयते॥
येनाशु विषयान्दृष्ट्वा विचारयति सादरम्।
शोकः क्रोधो विषादो वा विस्मयस्ताप एव च॥
हर्षो वाप्यथ संचिन्त्य हृदयेनैव भाव्यते। इति ॥१९७॥

एवमस्य सर्वत्र साम्येनावस्थानेऽपि मुख्यया वृत्त्या नाडीत्रय एव चार,—इत्याह

स एव नाडीत्रितये वामदक्षिणमध्यगे ॥१९८॥
इन्द्वर्काग्निमये मुख्ये चरँस्तिष्ठत्यहर्निशम्।

नाडीत्रितये इति, इडापिङ्गलासुषुम्नात्मके। यदुक्तम्

समान वायु मुख्यतया दश नाडियों में अपना काम करता है। इस कथन का मुख्य तात्पर्य क्या है? इसके इस भेद का लक्ष्य क्या है? यही कह रहे हैं—

दिशायें आठ हैं। इनमें यह संचार करता है। दिशाओं के स्वामी भी आठ हैं। इस संचार क्रम में इन्द्र, अग्नि, यम, निऋति, वरुण आदि से उसका सम्पर्क होता है। परिणामतः जीव कभी इन्द्र की तरह, कभी अग्नि की तरह उग्र यम की तरह कभी कर्कश आदि सौम्य और रौद्र भावों के प्रवाह में बहता रहता है। स्वभाव के सुष्ठु, और दुष्ट होने का यही मूल कारण होता है। कहा गया है कि,

"अष्टदल नाभि चक्र के मध्य में और उसके परिवेश में विचरण करने वाला 'समान' वायु विषय सम्पर्क से जीव को शोक, क्रोध, विषाद, विस्मय, ताप और हर्ष आदि भावों से प्रभावित करता रहता है" ॥ १९७ ॥

समान वायु के सर्वत्र समान रूप से रहने के बावजूद मुख्यतः तीन नाडियों में ही इसका चार होता है। यही कह रहे हैं—

'दक्षिणे तु स्थितः सूर्यो वामे सोमो विजायते ।
पाके प्रकाशकत्वे च मध्यस्थश्चैव पावकः ॥''
(स्व० ७।१५३) इति ।

यदुक्तम्

'दशानां तु परं देवि नाडीत्रयमुदाहृतम् ।
बिन्दुनादात्मिके द्वे वै मध्ये शक्त्यात्मिका स्मृता ॥' इति ॥१९८॥

नन्वत्र कथमसावहर्निशं चरन्नास्ते ? इत्याशङ्क्याह

सार्धनालीद्वयं प्राणशतानि नव यत्स्थितम् ॥१९९॥
तावद्वहन्नहोरात्रं चतुर्विंशतिधा चरेत् ।

'षट्प्राणाश्चषकस्तेषां षष्टिर्नाली तथा तिथिः'

इत्याद्युक्त्या बाह्यायां घटिकायामन्तः प्राणचाराणां सषष्टिशतत्रयमुदियात्, इति बाह्येन सार्धेन घटिकाद्वयेन नवशतानि वहन् षष्टिघटिकात्म बाह्यमहोरात्रं चतुर्विंशतिभिः प्रकारैरर्थात् स एव समानश्चरेत्, येनात्र सषट्शतसहस्रैकविंशत्यात्मकप्राणचाराश्रयेण चतुर्विंशतिः संक्रान्तीनामुदियात् । यदुक्तम्

समान वायु इडा पिंगला और मध्यावाहिनी सुषुम्ना में चन्द्र, सूर्य और अग्नि चक्रों में रात दिन संचार करता है। स्व० ७।१५३ के अनुसार दाहिने सूर्य, बाएँ चन्द्र तथा पाचक और प्रकाशक अग्नि मध्य (नासा मध्य) में अवस्थित रहता है। इनमें पहली विंदु, दूसरी नाद और तीसरी शक्त्यात्मक है ॥ १९८ ॥

दिन और रात के समान संचार के विषय में बतला रहें हैं—

२½ घड़ी में ९०० प्राण चार होते हैं। १ घड़ी में ३६० प्राण चार के क्रम २½ घड़ी में ३६० + ३६० + १८० = ९०० श्वास निश्वास की गणना होती है। ६० घड़ी का एक अहोरात्र होता है। इसमें १२ दिवस संक्रान्तियाँ + १२ रात्रि संक्रान्तियाँ कुल २४ संक्रान्तियाँ होती हैं। प्रत्येक संक्रान्ति में ९०० प्राण संचार होते हैं। ९०० × १२ = १०८०० + १०८०० = २१६०० प्राणचार एक अहोरात्र में हो जाते हैं। एक अहोरात्र, २४ संक्रान्तियाँ और २१६०० प्राण चार यह पैमाना स्व० तं० ७।१६७ और १७० कारिकाओं से भी प्रमाणित है ॥ १९९ ॥

चतुर्विंशतिसंक्रान्त्यः समधातोः स्वभावतः ।
शतानि नव वै हंस एकामेकां वहेत्सदा ॥'
(स्व० ७।१७०) इति ।

'बाह्ये चैव त्वहोरात्रे अध्यात्मं तु वरानने ।
चतुर्विंशतिसंक्रान्तीः प्राणहंसस्तु संक्रमेत् ॥
अहनि द्वादश प्रोक्ता रात्रौ वै द्वादश स्मृताः ।'
(स्व० ७।१६७) इति च ॥१९९॥

एतदेव विभजते

विषुवद्वासरे प्रातः सांशां नालीं स मध्यगः ॥२००॥

वामेतरोदक्सव्यान्यैर्यात्संक्रान्तिपञ्चकम् ।

इस पैमाने को पुनः स्पष्ट कर रहे हैं—

६ प्राण = १ चषक । ६० चषक = १ नाली । ६० नाली १ तिथि । ३० तिथि = १ मास । १२ मास = १ वत्सर । १ वत्सर = १ पित्र्य दिन रात (अहोरात्र) । १८० वर्ष = १ पित्र्य उत्तरायण । १८० वर्ष = १ पित्र्य दक्षिणायन । ३६० वर्ष = १ पित्र्य वर्ष । पित्र्यवर्ष ही दिव्य वर्ष माना जाता है । इनका मान समान होता है । ढाई नाली में ९०० प्राण संचार । १ घड़ी में ३६० प्राण, दो घड़ी में ७२० । ½ घड़ी में १८० = ९०० कुल योग । ६० घड़ी का १ बाह्य अहोरात्र। १ अहोरात्र में २४ संक्रान्तियाँ । २४ संक्रान्तियों में २१६०० बार प्राणचार । स्व० तं० ७।१७० के अनुसार १ संक्रान्ति में ९०० प्राणचार । २४ संक्रान्तियों में ९०० × २४ = २१६०० प्राण संचार । स्व० तं० ७।१६७ के अनुसार दिन में १२ संक्रान्तियाँ और रात में भी १२। कुल मिलाकर २४ संक्रान्तियों से समन्वित १ अहोरात्र (प्राण संचार) । यह विभाजन इसी आह्निक के श्लोक १३० से १३६ में भी है ॥ १९९ ॥

विषुवद् की दृष्टि से इस काल का विभाजन कर रहे हैं—

प्राणचार के दिवाभाग में १२ और निशा भाग में १२ कुल २४ संक्रान्तियाँ होती हैं । रात दिन उत्तरायण दक्षिणायन क्रम से घटते बढ़ते रहते हैं । जब दिन रात बराबर होते हैं, वह विषुवद् वासर कहलाता है । वर्ष में पहला अर्थात् दक्षिणायन में विषुवद् वासर तुला में और दूसरा मेष संक्रान्ति में होता

एवं क्षीणासु पादोनचतुर्दशसु नालिषु ॥२०१॥
मध्याह्ने दक्षविषुवन्नवप्राणशतीं वहेत् ।
दक्षोदगन्योदग्दक्षैः पुनः संक्रान्तिपञ्चकम् ॥२०२॥
नवासुशतमेकैकं ततो विषुवदुत्तरम् ।
पञ्चके पञ्चकेऽतीते संक्रान्तेर्विषुवद्बहिः ॥२०३॥
यद्वत्तथान्तः सङ्क्रान्तिर्नवप्राणशतानि सा ।

'विषुवद्वासरे' रात्रिन्दिनसाम्यात्मनि मेषसंक्रान्तिदिने प्रातः सार्धशतचतुष्टयप्राणचारात्मिकां सचतुर्भागां घटिकां मध्यगःसौषुम्नमार्गविस्थितः सन् स समानस्तावद्वामेतरोदक्सव्यान्यैर्वामदक्षनाड्योः प्रत्येकं सार्धं नालीद्वयं पञ्चधा गमागमैश्चरेत् यावद्वृषादिकन्यान्तं संक्रान्तिपञ्चकं भवेत्, येन सभागत्रयासु त्रयोदशसु घटिकासु व्यतीतासु मध्यनाड्यां मध्याह्नसमये दक्षविषुवत्तुलासंक्रान्तिर्नवप्राणशतीं वहेत्, सार्धं घटिकाद्वयमुदियादित्यर्थः । ततोऽपि दक्षोदगन्योदग्दक्षैर्दक्षवामनाड्योः समानस्य पञ्चधा गमागमैः पुनरेकैकं नवासुशतं प्रत्येकं सार्धं नालीद्वयं वृश्चिकादिमीनान्तं संङ्क्रातिपञ्चकमुदेतीत्यर्थः । तदनन्तरं च मध्यनाड्यां सायमुत्तरं मेषसङ्क्रान्तिरूपं विषुवत् प्राग्वत्सार्धंशतचतुष्टयप्राणचारात्म सचतुर्भागैकघटिकोदयं भवेद्येन त्रिंशद्घटिकात्मनि दिने सङ्क्रान्तिद्वादशकमुदियात् । तत्र

है । मेष विषुवद् उत्तरायण में होता है । मकर संक्रान्ति नाभि में या हृदय में होती है । ६ अंगुल के बाद कुम्भ, ६ अंगुल के बाद मीन और तालु से नासिका तक ४५० प्राण चार में मेष विषुवद् वासर का पुण्य क्षेत्र आता है । यह पावन समय है । यहाँ से कन्या तक पाँच संक्रान्तियाँ प्रत्येक २½ घड़ी × ५ अर्थात् १२½ घटिकाओं के अन्दर हो जाती है । यहाँ तक १३¾ घड़ी का समय हो जाता है । यह दोपहर का समय होता है । अब दूसरा विषुवत् तुला संक्रान्ति का आता है । इसमें भी ९०० प्राण संचार हो जाते हैं ।

इसके बाद दाँये बाँये, दायें, बाँयें और दाँयें इडा पिङ्गला नाडियों में ढाई नाली में समान वायु का पाँच प्रकार से गमागम का अनुभव होता है । वृश्चिक से मीन तक प्रत्येक २½ घड़ी की ५ संक्रान्तियाँ होती हैं । इनमें एक एक के ९०० प्राण सञ्चार होते हैं । पुनः मध्यनाडो में सायम् मेष संक्रान्ति का विषुवत् ४५० प्राणचार १¼ घटिका अवधि में होता है जिससे ३० घड़ी के दिन में १२

सङ्क्रान्तीनामेकादशकमखण्डम्, एका तु सायंप्रातरर्धाधिकया, तस्य चार्धद्वयस्य पक्षसन्धिवद्रात्रोयार्धद्वयसंमेलनेऽप्यखण्डत्वम्, इति सायंप्रातरुत्तर विषुवद्द्वयं मध्याह्नार्धरात्रयोश्च दक्षविषुवद्द्वयमिति । यद्वक्ष्यति

'रात्र्यन्तदिनपूर्वांशौ मध्याह्नो दिवसक्षयः ।
स शर्वर्युदयो मध्यमुदक्तो विषुतेदृशी ॥'
(तं० ६।२०४) इति ।

एतच्च दक्षविषुवद्दिनोदयाभिप्रायेण

'दक्षिणादुत्तरं याति उत्तराद्दक्षिणं यदा ।
दक्षिणोत्तरसंक्रान्तिः सा चैवं संविधीयते ॥
दक्षिणस्यां यदा नाड्यां संक्रामेत्तु यदोत्तरम् ।
यावदर्धं तु तत्रस्थं मध्येनोत्तरतो वहेत् ॥
तावत्तु विषुवत्प्रोक्तमुत्तरं तूत्तरायणे ।
उत्तराद्दक्षिणायां तु संक्रामन्स वरानने ॥
यावदर्धं दहेत्तत्र अर्धं दक्षिणतो वहेत् ।
विषुवद्दक्षिणं तावद्दक्षिणायनजं प्रिये ॥' (स्व० ७।१६३)

इत्यादि श्रीस्वच्छन्दशास्त्रेऽभिहितम् । न चान्तरपूर्वं एवार्थं संक्रान्तीनामुदय इत्याह 'पञ्चक' इत्यादि । संङ्क्रान्तिरिति, विषुवद्रूपा । 'नव प्राणशतानि सा' इत्यनेन यथोक्तमेव स्मारितम् ॥२०३॥

एतदेवान्यत्राप्यतिदिशति

एवं रात्रावपीत्येवं विषुवद्दिवसात्समात् ॥२०४।
आरभ्याहर्निशावृद्धिह्राससङ्क्रान्तिगोऽप्यसौ ।

संक्रान्तियाँ हो जाती है । इनमें ११ संक्रान्तियाँ तो पूरी की पूरी और एक आधी प्रातः और आधी सायं काल प्रत्येक १$\frac{1}{8}$ घटिका मान से २$\frac{1}{4}$ घटिका की अवधि पूरी करती है । इनमें सायं और प्रातःकालीन विषुवद् उत्तरायण तथा मध्याह्न और अर्धरात्रि के दक्षिणायन कहे जाते हैं । स्व० तं० ७।१६२–१६५ श्लोको में भी इस विषुवत् प्राणचार का प्रतिपादन किया गया है ॥ २००–२०३ ॥

दिवा संक्रान्तियों की तरह निशा संक्रान्तियों और उनकी अवधि के वृद्धिक्षय के विषय में आगमिक मान्यता प्रस्तुत कर रहे हैं—

इत्येवं बाह्येनाहोरात्रेण संक्रान्तिचतुर्विंशतेरुदयादि सर्वं समाविशद्ध-किटाद्विषुवद्दिवसादारभ्योक्तम्, अन्यथा ह्यहर्निशयोर्वृद्धिह्रासौ न स्यातां, सक्रान्तिष्वपि चयापचयाभ्याम् अहनि द्वादश संक्रान्तयो रात्रौ च, इत्येवं विभागनियमो नोक्तः स्यात् ॥२०४॥

अत्र च विषुवत्संक्रान्तीनां विभागं स्फुटयति

रात्र्यन्तदिनपूर्वांशौ मध्याह्नौ दिवसक्षयः ॥२०५॥

स शर्वर्युदयो मध्यमुदक्तो विषुतेदृशो ।

मध्यमित्यर्थाच्छर्वर्याः । 'उदक्तः' इति उत्तराद्विषुवत आरभ्येत्यर्थः । यदुक्तम् ।

'पूर्वाह्णे विषुवत्त्वेकं मध्याह्ने तु द्वितीयकम् ।
तृतीयं चापराह्णे वै अर्धरात्रे चतुर्थकम् ॥
चतुर्धा विषुवत्प्रोक्तमहोरात्रेण मुक्तिदम् ।'

(स्व० ७।१६७) इति ॥२०५॥

नन्वासां चतसृणां संक्रान्तीनामेवं व्यपदेशे किं निमित्तम् ? इत्याशङ्क्याह

व्याप्तौ विषेर्यतो वृत्तिः साम्यं च व्याप्तिरुच्यते ॥२०६॥

तदर्हति च यः कालो विषुवत्तदिहोदितः ।

जैसे दिन की १२ संक्रान्तियाँ होती हैं, उसी तरह रात की संक्रान्तियाँ भी होती हैं। रात और दिन को घटत और बढ़त का प्रभाव इन पर भी पड़ता है। २४ संक्रान्तियों का बाह्य और आन्तर स्वरूप समान ही है ॥ २०४ ॥

चार विषुवतों की चर्चा कर रहे हैं—

रात्रि का अन्त और दिन का पूर्व भाग, मध्याह्न, अपराह्न और रात की शुरुआत ! अर्धरात्रि। उत्तर विषुवत् से आरम्भ कर यही ४ विषुवत् होते हैं। स्व० तं० ७।१६८-१६९ में इसी तथ्य का समर्थन किया गया है ॥ २०५ ॥

विषुवत् नामकरण के सम्बन्ध में शास्त्र का मन्तव्य अभिव्यक्त कर रहे हैं—

वृत्तिरिति, 'विष्लृ व्याप्तौ' इति पाठात्। 'अर्हति' इत्यर्हेऽर्थे वतेः प्रयोगात् ॥२०६॥

ननु विषुवत्संक्रान्तौ यद्येवं नियमस्तत्तदितरासु का व्यवस्था ? इत्याशङ्क्याह

विषुवत्प्रभृति ह्रासवृद्धी ये दिनरात्रिगे ॥२०७॥
तत्क्रमेणैव संक्रान्तिह्रासवृद्धी दिवानिशोः ।

तत्क्रमेणेति, रात्रिदिनवृद्धिह्रासपरिपाट्या। तेन पञ्चत्रिंशद्घटिके दिने चतुर्दश संक्रान्तयः, पञ्चविंशतिघटिकायां रात्रौ दशेति ॥२०७॥

तदेवोपसंहरति

इत्थं समानमरुतो वर्षद्वयविकल्पनम् ॥२०८॥
चार एकत्र नह्यत्र श्वासप्रश्वासवर्तनम् ।

वर्षद्वय इति, संक्रान्तिचतुर्विंशतेरुदयात्। एकत्रेति, न तु प्राग्वत्प्राणापानात्मनि चारद्वये ॥२०८॥

'विष्लृ' व्याप्तौ धातु का अर्थ ही व्याप्ति है। व्याप्ति साम्य अवस्था को ही कहते हैं। जो काल-साम्य का संवहन करता है—वही विषुवद् कहा जा सकता है विषुवत् शब्द में लगा वतुप् अर्हति अर्थ को ही व्यक्त करता है ॥२०६॥

विषुवत् संक्रान्ति के अतिरिक्त अन्य संक्रान्तियों के सम्बन्ध में शास्त्रीय और प्रत्यक्ष घटित स्थिति की चर्चा कर रहे हैं—

विषुवत् संक्रान्ति से प्रारम्भ होने वाली अन्य संक्रान्तियों की अवधि में, दिन और रात के आयनिक प्रभाव से होने वाली घटत और बढ़त से क्रमिक ह्रास और वृद्धि होते रहते हैं। यही कारण है कि ३५ घड़ी के दिन में १४ संक्रान्तियाँ और २५ घड़ी की रात में केवल १० संक्रान्तियाँ होती हैं ॥ २०७ ॥

इस विषय का उपसंहार कर रहे हैं—

इस प्रकार समान वायु का सञ्चार दो वर्ष का कल्पित किया गया है क्योंकि इसमें २४ संक्रान्तियों का उदय होता है। प्राण चार और अपानचार के प्रवर्त्तन में उक्त आकलन चर्चित नहीं है ॥ २०८ ॥

ननु किमत्र वर्षद्वयमेवोदियादुतान्यदपि ? इत्याशङ्क्याह

समानेऽपि त्रुटेः पूर्वं यावत्षष्ट्यब्दगोचरम् ॥२०९॥
कालसंख्या सुसूक्ष्मैकचारगा गण्यते बुधैः ।

सुसूक्ष्मत्वे हेतुः 'एकचारगा' इति । पूर्वं हि त्रुट्याद्युदयश्चारद्वये प्रोक्तः— इत्येतदपेक्षया तत्र स्थौल्यं संभाव्यमिति भावः ॥२०९॥

नन्वत्राप्येवं विभागेन कोऽर्थ ? इत्याशङ्क्याह

संध्यापूर्वाह्णमध्याह्नमध्यरात्रादि यत्किल ॥२१०॥
अन्तःसंक्रान्तिगं ग्राह्यं तन्मुख्यं तत्फलोदितेः ।

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति

उक्तः समानगः काल उदाने तु निरूप्यते ॥२११॥

तदेवाह

प्राणव्याप्तौ यदुक्तं तदुदानेऽप्यत्र केवलम् ।
नासाशक्त्यन्तयोः स्थाने ब्रह्मरन्ध्रोर्ध्वधामनी ॥२१२॥

दो वर्षों के अतिरिक्त भी कोई कलना यहाँ की जाती है या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

समान वायु के सन्दर्भ में पहले प्राण सञ्चार में या अपान वाह में भी त्रुटि आदि की गणना की गयी है । काल संख्या का आकलन तो उससे भी सूक्ष्म हो सकता है । विज्ञ लोग उस सूक्ष्मता का आकलन कर सकते हैं ॥ २०९ ॥

संक्रान्ति इत्यादि काल गणना का प्रयोजन बतला रहे हैं—

संध्या, पूर्वाह्ण, मध्याह्न, मध्य रात्रि इत्यादि आन्तर संक्रान्तियों के समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं । फल की दृष्टि से ही उनका महत्त्व आँका जाता है ॥ २१० ॥

समान के अन्त में उदानवायु के सञ्चार के स्वरूप का आकलन कर रहे हैं—

समान वायु के सञ्चार से सम्बन्धित काल का आकलन करने के उपरान्त अब उदान वायु सञ्चार के विषय का निरूपण कर रहे हैं कि प्राण व्याप्ति में

तेनोदानेऽत्र　　हृदयान्मूर्धन्यद्वादशान्तगम् ।
तुट्यादिषष्टिवर्षान्तं विश्वं कालं विचारयेत् ॥२१३॥

यदि परमत्रानयोः प्राणोदानयोरियान्विशेषो यत्प्राणस्य ब्रह्मरन्ध्रवर्तिनासिक्यद्वादशान्तमुदयस्थानमस्य तु ऊर्ध्वधामवर्तिशक्तिद्वादशान्तमिति । तेनेति, शक्तिद्वादशान्तं यावदुदानव्याप्तेः ॥२१३॥

नन्वेवं कालीयो विभागः किं व्याने संभवेन्न वा ? इत्याशङ्क्याह

व्याने तु विश्वात्ममये व्यापके क्रमवर्जिते ।
सूक्ष्मसूक्ष्मोच्छलद्रूपमात्रः कालो व्यवस्थितः ॥२१४॥

सूक्ष्मसूक्ष्मेति, स्पन्दमात्रात्मेत्यर्थः । अत्रैव विश्वात्ममयत्वादिविशेषणद्वारेण हेतुत्रयम्, अत एव चास्य व्यापकत्वात्मना विशेषेणाननाद्व्यानत्वम् ॥२१४॥

एषां च क्रमेण सृष्ट्यादिपञ्चकृत्यकारित्वमस्ति,—इत्याह

सृष्टिः प्रविलयः स्थेमा संहारोऽनुग्रहो यतः ।
क्रमात्प्राणादिके काले तं त तत्राश्रयेत्ततः ॥२१५॥

तं तमिति, प्राणादिकम् । तत्रेति, सृष्ट्यादिकारित्वे ॥२१५॥

प्राण के उदय का स्थान ब्रह्मरन्ध्र वर्त्ती नासिक्य द्वादशान्त है । वहीं उदान वायु का उद्गम ऊर्ध्वधाम वर्त्ती शक्ति द्वादशान्त है। इसलिये हृदय से ऊर्ध्व द्वादशान्त पर्यन्त उदान का सञ्चार माना जाता है ! तुटि से लेकर ६० वर्षों का काल इसके अन्दर आ जाता है ॥ २११–२१३ ॥

क्या व्यान में भी ऐसा विभाजन सम्भव है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

व्यान वायु विश्वात्मक है । व्यापक है । इसमें कोई क्रम नहीं है । इसमें केवल काल की कलाओं का सूक्ष्म स्पन्दन आकलित होता है । इसकी यह तीन विशेषतायें हैं । १—यह विश्वात्मक है । २—यह व्यापक है और ३—यह क्रम रहित है । व्यान नाम पड़ने में दो तरह के विग्रह कल्पित हो सकते हैं । १—व्यापक रूप से इसका आनन होता है या २—विशेष रूप से इसका आनन होता है । इसलिये इसे व्यान कहते हैं ॥ २१४ ॥

एवं प्राणे चारमानादि सर्वमभिधाय तदानन्तर्येणानुजोद्देशोद्दिष्टं वर्णोदयं वक्तुमुपक्रमते

प्राणचारेऽत्र यो वर्णपदमन्त्रोदयः स्थितः।
यत्नजोऽयत्नजः सूक्ष्मः परः स्थूलः स कथ्यते ॥२१६॥

इह तावत्प्राणचारे वर्णानां पदानां मन्त्राणां चोदय इति स्थितम्। स तु द्विधा स्वारसिकः प्रायत्निकश्चेति। तत्राद्यो वर्णानां तेषां नैयत्येन सर्वत्रैवाविशेषात्; द्वितीयस्तु पदानां मन्त्राणां च, ते हि वर्णपदपरिगणितत्वादनियताः, इति योगीच्छानिबन्धन एवैषामुदयः। यो हि यस्याभिप्रेतो मन्त्रादिः स तस्योदयं कारयेत्; अतश्च परेच्छाधीनत्वादेषां प्रायत्निक एवोदयः, स च समनन्तराह्निके यद्वक्ष्यति

'इत्ययत्नजमाख्यातं यत्नजं तु निगद्यते।' (तं० ७।२) इति ॥२१६॥

इह पुनर्वर्णोदय एवायत्नजः परसूक्ष्मस्थूलात्मतया त्रिप्रकारोऽभिधीयते। तत्र परस्यापि वर्णोदयस्य तरतमभावेन द्वैविध्यमिति परतमं तदुदयमभिधातुमुपक्रमते

इन पाँचों में पञ्चकृत्य करने की शक्ति है। इसकी चर्चा कर रहे हैं—

सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह की शक्ति रूपा क्रिया शीलता इनमें भी है। प्राण में सृष्टि, अपान में प्रविलय, समान में स्थिति, उदान में तिरोधान और व्यान में अनुग्रह की क्रियाशीलता है ॥ २१५ ॥

प्राण अपान आदि के सञ्चार और मान आदि के वर्णन के उपरान्त परम्परा प्राप्त अन्य शास्त्रकारों द्वारा उद्दिष्ट वर्णोदय वर्णन की अवतारणा कर रहे हैं—

प्राण चार में वर्णों, पदों और मन्त्रों के उदय का अनुभव विचारकों को अपने आप हो जाता है। वह दो प्रकार का होता है। १—स्वारसिक और २—प्रायत्निक। जैसे वर्ण नियत हैं। इनके उच्चारण में कोई विशेष बात नहीं आती। पर पदों और मन्त्रों में तो यत्न की आवश्यकता पड़ती है। ये वर्णों की तरह नियत नहीं हैं। इनकी कोई संख्या नहीं होती। योगी की इच्छा से ये उत्पन्न होते हैं। जो जिसका अभिप्रेत मन्त्र है, वह उसका उदय कर करा लेते हैं। दूसरे की इच्छा पर ये निर्भर होते हैं। अतएव इनका उदय प्रायत्निक ही होता है। सप्तम आह्निक में भी इसकी चर्चा है ॥ २१६ ॥

एको नादात्मको वर्णः सर्ववर्णाविभागवान् ।
सोऽनस्तमितरूपत्वादनाहत इहोदितः ॥२१७॥

इह खल्वेक एव सर्ववर्णसामान्यात्मा सततोच्चरद्रूपत्वादनाहतशब्दाभिधेयो नादात्मको वर्ण 'उदितः' सततमेवोदयमान आस्त इत्यर्थः ॥२१७॥

स एव च परमुपेयः, इत्याह

स तु भैरवसद्भावो मातृसद्भाव एष सः ।
परा सैकाक्षरा देवी यत्र लीनं चराचरम् ॥२१८॥

द्वितीयं परतरमपि एषामुदयमभिधातुमाह

ह्रस्वार्णत्रयमेकैकं रव्यङ्गुलमथेतरत् ।
प्रवेश इति षड्वर्णाः सूर्येन्दुपथगाः क्रमात् ॥२१९॥
इकारोकारयोरादिसन्धौ संध्यक्षरद्वयम् ।
एओ इति प्रवेशे तु ऐऔ इति द्वयं विदुः ॥२२०॥

अयत्नज वर्णोदय—पर, सूक्ष्म और स्थूल भेद से तीन प्रकार का माना जाता है। पर—वर्णोदय भी परतर और परतम श्रेणियों के माध्यम से अनुभूत होता है। यहाँ परतम वर्णोदय के वर्णन का उपक्रम कर रहे हैं—

नादात्मक वर्ण एक ही होता है। सर्वसामान्य यह वर्ण कभी अस्त नहीं होता। यह सतत उच्चरित है, सतत उदित है और इसमें कभी विराम नहीं होता। इसीलिये इसे अनाहत कहते हैं ॥ २१७ ॥

यह परम उपेय है। इसके वैशिष्ट्य का वर्णन कर रहे हैं। इसमें तमप् के स्तर का विमर्श है कि—

इस वर्ण में भैरव को सत्ता शाश्वत विद्यमान है। इसमें मातृ शक्ति का अनवरत उल्लास है। वह एकाक्षरा दिव्यशक्ति पराशक्ति है। यह सारे अचर और चर सब की विश्रान्ति का धाम है। इसमें ही सब कुछ लीन होता रहता है ॥ २१८ ॥

अब वर्ण का परतर स्वरूप प्रस्तुत कर रहे हैं—

तीन ह्रस्व वर्ण अ, इ, उ, प्रत्येक १२ अङ्गुल का है। इसमें एक-एक के स्वात्मानुप्रवेश से आ, ई, और ऊ, मिलकर छः वर्ण हो जाते हैं। प्रथम तीन

षण्ठार्णानि प्रवेशे तु द्वादशान्तललाटयोः ।
गले हृदि च विन्द्वर्णविसर्गौ परितः स्थितौ ॥२२१॥

'रख्यङ्गुलम्' इति द्वादशाङ्गुलम्; अतः एवाकारादेर्ह्रस्वत्रयस्योदयात्प्राण-वाहे षट्त्रिंशदङ्गुलानि भवन्ति । इतरदिति, दीर्घत्रयम् । षड्वर्णा इति, अकारा-द्यूकारान्ताः । क्रमादिति, सूर्यपथे ह्रस्वानां त्रयमिन्दुपथे च दीर्घाणामिति । आदिसंधाविति, अकारेणाकारेण च 'संधौ' संधिकार्ये कृते सतीत्यर्थः । अस्यैव संध्यक्षरद्वयस्यादिसंधावितरत्संध्यक्षरद्वयम् । एषां च प्रत्येकमष्टादशाङ्गुलमुदयो येन प्राणापानवाहयोर्व्याप्तिः सिद्धयेत् । प्रवेश इति न तु निर्गमेऽपि । द्वादशान्तेति न तु समचतुर्भागकलनया, तेन द्वादशान्ते ऋकारः, इत्यादिक्रमः । 'परितः' इति सर्वतः तेन प्राणे विन्दोः षट्त्रिंशदङ्गुलात्मन्यभ्युदयो विसर्गस्य त्वपाने, द्वयोरपि विन्दुनादात्मकत्वात् ॥२१८-२२१॥

एतदेवान्यत्राप्यतिदिशति

कादिपञ्चकमाद्यस्य वर्णस्यान्तः सदोदितम् ।
एवं सस्थानवर्णानामन्तः सा सार्णसन्ततिः ॥२२२॥

अन्तरिति, तेन यदेवाकारस्योदयस्थानं तदेव कवर्गस्येति । सस्थानवर्णा-नामितीकारादीनां सा सेति चवर्गादिका, तदिकारोदयस्थाने चवर्गस्य यकार-शकारयोश्चोदय इत्यादिक्रमः ॥२२२॥

सूर्य स्वर और द्वितीय त्रिक सोमस्वर कहलाते हैं । इकार और उकार की अ से सन्धि होने पर अ + इ = ए और अ + उ = ओ ये दो संयुक्त स्वर बनते हैं । वृद्धि में यही ऐ तथा औ बनते हैं । इनका १८ अङ्गुल का प्राणवाह होता है । ऋ और ऌ वास्तव में इ स्वर से अनुप्राणित हैं । र् और ल् (अग्नितत्व और पृथ्वीतत्त्व) की श्रुति से प्रभावित होकर ये दोनों षण्ठ (क्लीब) हो जाते हैं । इन का संचार द्वादशान्त से अपान वाह क्रम से ललाट, गला और हृदय-प्राण में विन्दु का स्थान है एवं विसर्ग का अपान में । प्राणवाह में विन्दु समान रूप से ३६ अंगुल में भरा रहता है । अपानवाह विसर्ग का आधार है ॥ २१९-२२१ ॥

व्यंजन वर्णोदय की चर्चा कर रहे हैं—

कवर्ग का वही स्थान है, जहाँ से अ वर्णोदय होता है । इसी तरह 'इ' कार का तालु स्थान चवर्ग 'य' और 'श' का भी होता है । यही क्रम अन्य वर्णों का भी है ॥ २२२ ॥

ननु सर्वत्रायं नियमः किं संभवेन्न वा ? इत्याशङ्क्याह

हृद्येष प्राणरूपस्तु सकारो जीवनात्मकः ।
विन्दुः प्रकाशो हार्णश्च पूरणात्मतया स्थितः ॥२२३॥

यद्यपि सस्थानतया सकारस्य दन्ता उदयस्थानं हकारस्य च कण्ठस्तथापि प्राणात्मजीवनरूपत्वात्सकारो हृद्युदेति हकारश्च प्रकाशात्मकत्वात्सर्वत इति ॥२२३॥

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति

उक्तः परोऽयमुदयो वर्णानां सूक्ष्म उच्यते ।

सूक्ष्मश्च त्रिधेति, तत्र सूक्ष्मसूक्ष्मं तावदुदयमाह

प्रवेशे षोडशौन्मुख्ये रवयः षण्ठवर्जिता ॥२२४॥
तदेवेन्द्वर्कमत्रान्ये वर्णाः सूक्ष्मोदयस्त्वयम् ।

षोडशेति, अपानवाहस्यानन्दप्राधान्यात्; अत एव परोदयेऽप्यपानवाह एव षण्ठवर्णानामुदय उक्तः । 'औन्मुख्ये' इति निर्गमे । तेनापाने प्रत्येकं सचतुर्भागमङ्गुलद्वयमुदयः प्राणे पुनरङ्गुलत्रयमिति । तदेव वर्णानां षोड-

---

इसके अतिरिक्त दूसरे नियम की चर्चा कर रहे हैं—

हृदय में प्राण रूप जीवन प्रदान करने वाला सकार सदा सन्निहित रहता है। विन्दु और ह कार प्रकाश रूप से प्राणवाह में रमण करते हैं। 'ह' कार पूरणात्मक माना जाता है। 'स' का उच्चारण स्थान यद्यपि दन्त है और हकार का उदय स्थान कण्ठ ! फिर भी इनका प्राणवाह प्रक्रिया में बड़ा महत्त्व है। इसी लिये स कार अजपा जाप क्रम में प्राण प्रद बनता है। हकार से बाहर जाकर प्राण शरीर की घटी प्राणशक्ति को पूरित करता है ॥ २२३ ॥

यह पर-वर्णोदय का प्रकरण था। अब सूक्ष्म-वर्णोदय की चर्चा कर रहे हैं—

सूक्ष्म भी तीन प्रकार का होता है। १—सूक्ष्म-सूक्ष्म २—सूक्ष्म स्थूल और ३—सूक्ष्म। प्राण-प्रवेश अपानवाह में होता है और औन्मुख्य निर्गम रूप प्राणवाह में होता है। इसलिये अपान में २¼ अंगुल प्रत्येक वर्ण लेता है। १६

शकं द्वादशकं वावलम्ब्यान्ये सस्थानाः कवर्गाद्या इन्द्वकं प्राणापानविषये समुदयन्ति,—इत्यत्र सूक्ष्मेऽपि वर्णोदये सूक्ष्मोऽयमुदय इत्यर्थः ॥ २२४ ॥

एवं सूक्ष्मसूक्ष्मं वर्णोदयमभिधाय सूक्ष्मस्थूलमप्याह

कालोऽर्धमात्रः कादीनां त्रयस्त्रिंशत उच्यते ॥ २२५ ॥

मात्रा ह्रस्वाः पञ्च दीर्घाष्टकं द्विस्त्रिः प्लुतं तु ऌ।

दीर्घाष्टकमिति, संध्यक्षरैः सह। द्विरिति, द्विमात्रं, त्रिरिति, त्रिमात्रं, दीर्घाणां च प्लुतत्वेऽपि तन्नोक्तं तस्योच्चारणापेक्षत्वात्; नह्येषां दीर्घत्ववत्प्लुतत्वमपि स्वाभाविकमिति भावः। एवं ऌकारस्यापि प्लुतत्वमेव स्वभावः,—इति दीर्घत्वापरिगणनेन तदेवेहास्य प्राधान्येनोक्तमिति न कश्चिद्दोषः। तेन कादीनां त्रयस्त्रिंशदर्धमात्राः ह्रस्वानां दश, दीर्घाणां द्वात्रिंशत्, प्लुतस्य षडित्येकाशीतिरर्धमात्राणामिति ॥ २२५ ॥

नन्वेवं विभाजने किं प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह

एकाशीतिमिमामर्धमात्राणामाह नो गुरुः ॥ २२६ ॥

तस्याप्येवमभिधाने क इवाशयः ? इत्याशङ्क्याह

यद्वशाद्भगवानेकाशीतिकं मन्त्रमभ्यधात्।

स्वर होते हैं। (४ षण्ठ वर्णों को छोड़कर) ये १२ (षण्ठ रहित) होते हैं। इन्हीं के अवलम्बन से अन्य व्यंजन वर्ण भी प्राण अपानवाह में उदित होते रहते हैं। प्राण रूप सूर्य और अपान रूप सोम में सारे सूक्ष्म से सूक्ष्म वर्णोदय होते रहते हैं ॥ २२४ ॥

सूक्ष्म स्थूल वर्णोदय का क्रम इस प्रकार है—

'क' से 'म' तक के ३३ स्पर्श वर्ण हैं। इनकी अर्धमात्रा भी ३३ मानी जाती है। ५ ह्रस्व स्वरों की १० अर्ध मात्रायें भी सूक्ष्म स्थूल ही हैं। दीर्घ स्वरों की ३२ अर्ध मात्रायें और प्लुत की—६ अर्ध मात्रायें होती हैं। इस तरह ३३ + १० + ३२ + ६ = ८१ अर्ध मात्रायें मानी जाती हैं ॥ २२५ ॥

यह गुरुजनों द्वारा प्रमाणित तथ्य है। यही कह रहे हैं—

स्वर व्यंजन समुदाय की कुल ८१ मात्रायें आगम शास्त्र में प्रसिद्ध हैं। देवी शक्ति भी एकाशीति पदा मानी जाती है। इसी आधार पर भगवान् शिव

यद्वशादिति, अस्याः परस्या मन्त्रमातुरेकाशीतिमात्रासद्भावात् एकाशोति-कमिति, तावत्संख्याकपदारब्धत्वात् ॥

ननु भगवतो व्योमव्याप्यभिधानेऽप्येतन्निमित्तमित्यत्र किं प्रमाणम्? इत्याशङ्क्याह

एकाशोतिपदा देवी शक्तिः प्रोक्ता शिवात्मिका ॥ २२७ ॥

श्रीमातङ्गे तथा धर्मसंघातात्मा शिवो यतः ।

शक्तिरिति, व्योमव्यापिरूपा । प्रोक्तेति, श्रीमातङ्गे । यदुक्तं तत्र

'एकाशीतिपदा देवी या सा शक्तिः शिवात्मिका ।'

(म० तं० १।७।३१) इति ।

तथा

'मन्त्राश्च शक्तिगर्भस्थाः शक्तिर्वै पारमेश्वरी ।
कालानलान्तमध्वानं शिवाद्व्याप्तं यथा मुने ॥
एकाशीतिपदोपेता विद्यापादे मयोदिता ।' (म० तं०) इति ।

नन्वस्या व्योमव्यापिरूपिण्याः पारमेश्वर्याः शक्तेस्तत्तद्वृदादिमन्त्रात्मकत्वेऽपि कथं शिवात्मकत्वमपि स्यात्? इत्याशङ्क्योक्तं 'तथेत्यादि' । यत्तथोक्तेन प्रकारेण धर्माणां

'पत्युर्धर्माः शक्तयस्तु............ ।' (मत. १।२०)

इत्याद्युक्त्या शक्तीनामेकाशीत्यात्मा यः संघातस्तदात्मा शिवः,—इति सामस्त्ये-नास्यास्तदात्मकत्वम् । तदुक्तं तत्र

ने ८१ सूत्रों की ही शिव सूत्रों की रचना की । श्री मतङ्ग शास्त्र के अनुसार भगवान् शिव धर्म संघात रूप ही हैं । मतङ्ग १।७।३१ के अनुसार शिवात्मिका देवी शक्ति को एकाशीति पदा कहते हैं । "सारे मन्त्र शक्ति गर्भ होते हैं और शक्ति परमेश्वर का स्वातन्त्र्य ही है" । "इसके द्वारा शिवादि क्षित्यन्त तत्त्ववाद से ऐकात्म्य की दृढ़ भावना धारणा बद्ध हो चुकी है, वही एकाशीति (८१) पदा शुद्ध विद्या के स्तर पर मुझे अनुभूत हुई है ।"

यह पराशक्ति व्योम व्यापिनी है । विभिन्न स्तरों पर यह सर्वमन्त्रात्मिका भी मानी जाती है । इतना होने पर भी यह धर्मसंघातमयी शक्ति शिवात्मिका ही है । मतङ्ग १।२० के अनुसार "पति के धर्म उसकी शक्तियाँ ही हैं" । इस

'एकत्रैव समस्तानि एकाशीतिपदानि तु ।
अष्टषष्ट्यधिकं प्रोक्तं वर्णानां तु शतत्रयम् ॥
अर्चा तु देवदेवस्य समस्तव्यस्तरूपिणी ।' इति ।

'एकोऽपि वर्णो देवानां वाचकः परिकीर्तितः ।
सर्वेऽप्येकस्य युज्यन्ते यतस्ते विश्वमूर्तयः ॥' इति च ।

न चैतदागमेनैव सिद्धं यावद्युक्तितोऽपि,—इत्याह

तथा तथा परामर्शशक्तिचक्रेश्वरः प्रभुः ॥ २२८ ॥
स्थूलैकाशीतिपदजपरामर्शैर्विभाव्यते ।

'शक्तिमतः खलु शक्तिरनन्या' इत्याद्युक्तयुक्त्या वस्तुतः सर्वशक्त्य-विभिन्नस्वभावोऽपि 'प्रभुः' परमेश्वरः शिवस्तत्तद्वर्णारब्धत्वात् स्थूलानि यान्येकाशीतिपदानि तज्जा ये प्रणवाद्याः परामर्शास्तैस्तथा तथा सर्वात्मानन्तादितया परामर्शो यस्यैवंविधो यद्वृदाशक्तिचक्रं तस्य 'ईश्वरः' संयोजनवियोजनकारी 'विभाव्यते' एवं यस्य ज्ञप्तिःक्रियते इत्यर्थः । अत एव चात्र सर्वात्मादीनां यावता परामर्शः सिद्धयेत् तावत्येव पदत्वं, येनैकाशीतित्वं स्यात् ॥ २२८ ॥

तरह ८१ पदोंवाली यह देवी अर्धमात्रात्मक शक्तियों का संघात रूप सामञ्जस्य है । शिव भी शक्तिरूप ही हैं । इसका सामस्त्य ही इसके शिवात्मक होने का प्रमाण है । वहाँ यह भी कहा गया है कि "शिव की पूजा में यह ८१ अर्धमात्रात्मिका कुसुममञ्जरी महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है । वर्णों के ३६८ भेद भी पूजा के उपचार द्रव्य ही हैं । इस प्रकार यह समास और व्यासरूपा शक्ति परमेश्वर की अर्चा के योग्य ही सिद्ध होती है" । मतङ्ग के अनुसार एक वर्ण भी देववाचक ही होता है । यों तो सभी एक शिव से जुष्ट हैं । इस लिये यह कह सकते हैं कि ये विश्वात्मक भी हैं" ॥२२७॥

केवल आगम प्रामाण्य के आधार पर ही यह सिद्ध नहीं होता अपितु युक्तिसिद्ध सत्य भी यही है—

उक्त विभिन्न स्तरों की परामर्शमयी शक्तियों के चक्र का स्वामी वही परमेश्वर परमशिव है । इसीलिए यह कहा गया है कि 'शक्तिमान् से शक्ति अलग नहीं वरन् वही है' । वर्णों के अलग-अलग परामर्श हैं । जैसे प्रणव परामर्श,

तदाह

तत एव परामर्शो यावत्येकः समाप्यते ॥ २२९ ॥
तावत्तत्पदमुक्तं नो सुप्तिङिनयमयन्त्रितम् ।

नो सुप्तिङ्नियमः, तथात्वे हि

'नमः शिवायेति पदं षडर्णं प्रणवादिकम् ।'

इत्याद्युक्तयैकत्वेऽप्यस्य पदस्य त्रिपदत्वमापतेदिति गणना विसंवदेत् ॥२२९॥

ननु यद्येवं तदेकाशीत्यर्धमात्रात्मिकेयमेव भगवती परा शक्तिरवस्थितेति किमनेनैतत्समव्याप्तिकेन व्योमव्यापिनोपदिष्टेन ? इत्याशङ्क्याह

एकाशीतिपदोदारविमर्शक्रमबृंहितः ॥२३०॥
स्थूलोपायः परो ।ायस्त्वेष मात्राकृतो लयः ।

'लयः' इति स्वात्ममात्रविश्रान्तिः । 'स्थूलोपायः' इत्यनेनोपदेश्यभेदादुपदेशस्यापि भेदः,—इति प्रकाशितम् ॥२३०॥

अनुत्तर परामर्श आदि । हृदय आदि शक्तियों के भी अलग स्वरूप हैं । इन सबका संयोजन और वियोजन करने वाला वही है । वही इन सूक्ष्म और स्थूल सभी ८१ आदि परामर्शों से विभासित हो रहा है ॥२२८॥

वह पद किसी व्याकरण आदि के नियमों से नियन्त्रित नहीं । जहाँ एक परामर्श समाप्त होता है, वही दूसरा पद प्रारम्भ हो जाता है । जैसे—"ॐ नमः शिवाय" बोलते ही ६ वर्णैकात्म्यभाव प्रस्फुरित होता है । ॐ एक पद कहने से ३ पदों का परामर्श हो जाता है ॥२२९॥

यदि वह परा भगवती ८१ मात्राओं में अवस्थित है, तो उसको समव्याप्तिक व्योम-व्यापिनी आदि संज्ञा से क्यों विभूषित करते हैं ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

८१ पदों से समन्वित विमर्शों में क्रमशः उपवृंहण प्राप्त करने वाले ये स्थूल उपाय हैं । जिनसे उसका अभिव्यंजन होता है । मात्रामय विश्रान्ति की दूसरी अवस्था 'परोपाय' है । जिसमें लय हो जाता है । वहीं इसमें व्योमव्यापिनी की तरह अनुभूति होती है । एक प्रकार का यह अनुभव सिद्ध साम्य ही है ॥ २३० ॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवानुसरति

अर्धमात्रा नव नव स्युश्चतुर्षु चतुर्षुयत् ॥२३१॥

अङ्गुलेष्विति षट्त्रिंशत्येकाशीतिपदोदयः ।

प्रत्यङ्गुलचतुष्कं नवार्धमात्राः,—इत्यङ्गुलषट्त्रिंशदात्मनि प्राणचारेऽर्धमात्राणामेकाशीतिरुदियात् ॥२३१॥

आसां चोदये विभागान्तरमस्ति,—इत्याह

अङ्गुले नवभागेन विभक्ते नवमांशकाः ॥२३२॥

वेदा मात्रार्धमन्यत्तु द्विचतुःषड्गुणं त्रयम् ।

एकैकस्मिन्यङ्गुले नवधा विभाजिते षट्त्रिंशतोऽङ्गुलानां सचतुर्विंशतिशतत्रयं मानं भवेत् । भागानां तत्रैकैकस्यार्धमात्रात्मनो व्यञ्जनस्य चत्वारो नव भागा उदयस्थानमित्युक्तं 'नवमांशका वेदाः मात्रार्धम्' इति । अन्यत्पुनर्ह्रस्वदीर्घप्लुतलक्षणं त्रयं द्विचतुःषड्गुणं, ह्रस्वस्यैकमात्रत्वादष्टौ नव भागा उदयस्थानं, दीर्घस्य द्विमात्रत्वात्षोडश, प्लुतस्य त्रिमात्रत्वाच्चतुर्विंशतिः ॥

प्राणचार में ३६ अंगुल और ८१ अर्धमात्राओं का सामञ्जस्य प्रस्तुत कर प्रकृत विषय का अनुसरण कर रहे हैं—

प्राणचार ३६ अंगुल का होता है। ४–४ अंगुल के अन्तराल पर ९–९ अर्धमात्राओं के क्रम से ३६ अंगुल में ८१ अर्धमात्राओं का उदय स्वाभाविक है ॥ २३१ ॥

इनके उदय होने की अवस्था में अन्य भेद भी उत्पन्न होते हैं। जैसे—एक-एक अंगुल को नौ भाग में बाँटने पर ३६ × ९ = ३२४ उदय स्थान होते हैं। अङ्गुलों को ९ बार विभाजित करने पर नौ अंश हो जाते हैं। एक अंश नवमांश होता है और वहाँ चार अंगुलों में अर्धमात्राओं का एक वर्ग बनता है। वहीं, ह्रस्व दीर्घ और प्लुत के तीनों के दूने ६ चौगुने १२ और छः गुने १८ करने पर ३६ उदय स्थान भी बनते हैं। एक मात्रात्मक ह्रस्व में आठ भाग के १,२,३ क्रम के अनुसार ८ × ९ उदय स्थान हो जाते हैं। दीर्घ द्विमात्रिक होते हैं । इसमें ८ × २ = सोलह मात्रायें होती हैं। प्लुत त्रिमात्रिक है। इसमें ८ × ३ = २४ उदय स्थान होते हैं ॥ २३२ ॥

एतदेव संकलयति

एवमङ्गुलरन्ध्रांशचतुष्कद्वयगं लघु ॥२३३॥
दीर्घं प्लुतं क्रमाद्द्वित्रिगुणमर्धं ततोऽपि हल् ।

'रन्ध्रांशानां' नवभागानां 'चतुष्कद्वयम्' अष्टौ नवभागा इत्यर्थः। लघ्विति, ह्रस्वं 'ततो' लघोरपीत्यर्थः। तेन पञ्चानां ह्रस्वानां प्रत्येकमष्टसु भागेषूदयाच्चत्वारिंशन्नव नव भागा भवन्ति, दीर्घाणामष्टानां प्रत्येकं षोडश-भागकलनया साष्टाविंशति शतम् इति। प्लुतस्य चतुर्विंशतिस्त्रयस्त्रिंशतां हलां प्रत्येकं भागचतुष्टयकलनया द्वात्रिंशदधिकं शतमिति। यद्यप्येकाशीतेरर्धमात्राणां प्रत्येकमङ्गुलीयाश्चत्वारो नव भागा उदयस्थानमित्येव स्पष्टमभिधातव्यं, तथाप्येवमभिधानेऽयमाशयः—यदादौ ह्रस्वानामुदयस्तदनन्तरं दीर्घाणां प्लुतस्य व्यञ्जनानां च, इति क्रमः प्रदर्शितो भवेदिति ॥२३३॥

नन्वेतन्मध्ये क्षकारश्चेद्गण्यते तदा कियत्योऽर्धमात्रा अधिकोभवन्ति, तथात्वे वासां कथमुदयः? इत्याशङ्क्याह

क्षकारस्त्र्यर्धमात्रात्मा मात्रिकः स तथान्तरा ॥२३४॥
विश्रान्तावर्धमात्रास्य तस्मिंस्तु कलिते सति ।

इनको संकलित रूप स्पष्ट कर रहे हैं—

इस तरह अङ्गुलों के ९ नवमांश हो जाते हैं। ७२ अंगुलों में १८ नवमांश होते हैं। ५ ह्रस्व वर्ण हैं। इन्हें आठ-आठ भागों में बाँटने पर ४० नव-नव भाग होंगे। ८ दीर्घ वर्णों के १६ भागों की गणना से १२८ भाग होते हैं। प्लुत की २४ स्थितियाँ और ३३ हलों के ४ गुणन करने पर १३२ उदयस्थान बनते हैं। इन सब विभागों में सबसे साफ विभाजन ८१ अर्धमात्राओं के ३६ अंगुल में ४–४ अंगुल के ९×९=८१ भाग वाला ही है। उक्त गणना में पहले ह्रस्व फिर दीर्घ और इसके बाद प्लुत का क्रम स्पष्ट हो जाता है ॥ २३३ ॥

यदि इनमें क्षकार की गणना भी कर ली जाय तो कितनी अर्धमात्रायें अधिक होंगी और उनका उदय स्थान कैसे निर्धारित होगा? इसका समाधान कर रहे हैं—

'क्ष' में ३ अर्धमात्रायें मानी जाती हैं क्योंकि 'क्' के उच्चारण में १ अर्धमात्रा और उसकी विश्रान्ति के बाद 'ष' का उच्चारण होने के कारण २

अङ्गुलार्धेऽद्रिभागेन त्वर्धमात्रा पुरा पुनः ॥२३५।

क्षकारः सर्वसंयोगग्रहणात्मा तु सर्वगः ।

सर्ववर्णोदयाद्यन्तसन्धिषूदयभाग्विभुः ॥२३६॥

कथमस्य त्र्यर्धमात्रात्मकत्वमित्याशङ्क्योक्तं 'मात्रिकः' इत्यादि । ककार-सकारात्मकार्धमात्राद्वयारब्धत्वात् । अन्तरा विश्रान्ताविति, ककारान्तरमर्धमात्रीयं कालं विश्रम्य सकारस्योच्चारात् । 'कलिते' इत्येकाशीत्या, तेनार्धमात्राणां चतुर-शीतिरिति । 'अद्रि' इति सप्त । अङ्गुलार्धे हि सप्तधा विभक्ते प्रत्यङ्गुलं चतुर्दश भागाः—इति षट्त्रिंशतोऽङ्गुलानां सचतुष्टयं शतपञ्चकं भागानां भवेत् । तेनार्धाङ्गुलीयेषु षट्सु सप्तभागेष्वर्धमात्रेति षट्त्रिंशदङ्गुलात्मनि प्राणचारे चतुर-शीतेरर्धमात्राणामुदय इति । नन्वेवमेकाशीतिकलोदयपक्षे क्षकारस्य नास्त्येवोदयः इत्युक्तं स्यादित्यां शङ्क्याह पुरेत्यादि । सर्वसंयोगग्रहणात्मेति, संयोगान्तरलक्षण-परत्वात् । यदुक्तं प्राक्

'योनिरूपेण तस्यापि योगे क्षोभान्तरं विदुः ।
तन्निदर्शनयोगेन पञ्चाशत्तमवर्णता ॥' (तं० ३।१८१) इति ।

अनुत्तरविसर्गानुप्राणितयोः ककारसकारयोः प्रत्याहारतयोपादाने निखिलस्य वर्णजातस्य, गर्भीकारात्, अत एवायं सर्ववर्णानामादावन्ते परस्परं संमेल-नात्मनि संधौ' चोदयभाक् सर्ववर्णानुस्यूततयोदियात्, यतोऽयं विभुः' व्यापक इत्यर्थः ॥ २३६ ॥

अर्धमात्रायें बाद में आती हैं । अतः 'क्ष' में तीन अर्धमात्रायें ही मानी जाती हैं । इसमें ८१ अर्धमात्रा जोड़ने पर ८४ हो जाती हैं। एक अंगुल के दो भाग अर्द्धांगुल और एक अर्द्धाङ्गुल को ७ बार विभक्त करने पर १ अंगुल के १४ भाग होते हैं। ३६ अंगुल में ५०४ भाग होते हैं। इस तरह ३६ अंगुल में ८४ अर्धमात्राओं का उदय भी स्वाभाविक हो जाता है। अर्द्धांगुल के ६ के ७ भाग बनाने पर ४२ और इसके द्विगुणित ८४ अर्धमात्रायें हो ३६ अंगुल के प्राणवाह में उदित होती है।

जहाँ तक 'क्ष' के उदय का प्रश्न है, वह सभी वर्णों को प्रत्याहार के माध्यम से अपने में धारण करता है। वह सर्वग वर्ण है। तं० ३।१८१ के अनु-सार योनि रूप इसके योग से एक नये क्षोभ का उदय होता है। इसी के योग

नन्वेवं वर्णोदयेनाभिहितेन कोऽर्थं ? इत्याशङ्क्याह

इत्थं षट्त्रिंशके चारे वर्णानामुदयः फले ।
क्रूरे सौम्ये विलोमेन हार्दि यावदपश्चिमम् ॥ २३७ ॥

'वर्णानाम्' इत्यकारादीनां, उदय इत्यर्थाद्धृदयाद्द्वादशान्तम् । 'क्रूरे' इति मुक्तिलक्षणे, 'सौम्ये' इति तत्तत्सिद्ध्यात्मनि भोगलक्षणे । 'विलोमेन' इत्यर्थादपानोदये । विलोममेवाह 'हार्दि यावदपश्चिमम्' इति । तदुक्तम्

'अधः प्रवहणे सिद्धिर्हृत्पद्मं यावदागतः ।
मुक्तिश्चैव भवेदूर्ध्वे परतत्त्वे तु सुव्रते ॥'
(स्व० ७।५६) इति ।

वस्तुतस्त्वकारस्य हृद्युदयस्थानं हकारस्य तु द्वादशान्त इति ॥ २३७ ॥

एवमेतदुपजीवनेनैव सूक्ष्मपरमपि वर्णानामुदयमाह

हृद्यकारो द्वादशान्ते हकारस्तदिदं विदुः ।
अहमात्मकमद्वैतं यः प्रकाशात्मविश्रमः ॥ २३८ ॥

अद्वैतमिति, प्रत्याहारक्रमेणाशेषवर्णान्तःकारात् । प्रकाशेति, यदुक्तम्

से ४९ वर्ण, ५० हो जाते हैं । अनुत्तर से अनुप्राणित 'क' और विसर्ग से अनुप्राणित ष के प्रत्याहार में रहने और सभी सन्धियों में अनुस्यूत होने के कारण यह 'विभु' वर्ण माना जाता है । अतः सर्वोदय वर्ण है ॥ २३४–३६ ॥

इस वर्णोदय चर्चा से क्या लाभ ? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं कि इस ३६ अङ्गुलात्मक प्राणचार में हृदय से द्वादशान्त तक सभी वर्णों के उदय होते हैं । इनसे भोग और मोक्ष तथा मोक्ष और भोग रूप फल साधकों को सिद्धि रूप से अनुभूत होते रहते हैं । स्व० ७।५६ के अनुसार "प्राणवाह और अपानवाह में अधः और ऊर्ध्व प्राणापान सञ्चार जीवन का उत्स है ।" विश्व के लिये वरदान है । योगी इसी के माध्यम से औन्मनस विसर्ग में मत्स्य की तरह विश्रान्ति लाभ करने में समर्थ होते हैं । सामान्य जन इस वरदान से वंचित रह जाता है । इसी में यह अनुभव भी होता है कि द्वादशान्त ही 'ह' और हृदय ही 'अ' का उदय स्थान है ॥ २३७ ॥

'प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः ।'
(अ० प्र० सि० २२) इति ॥ २३८ ॥

एतच्चापानोदयेऽप्यतिदेष्टुमाह

शिवशक्त्यविभागेन मात्रैकाशीतिका त्वियम् ।
द्वासप्ततावङ्गुलेषु द्विगुणत्वेन संसरेत् ॥ २३९ ॥

शिवशक्त्योरविभाग इति, विन्दुनादात्मप्राणापानोभयमेलनायामित्यर्थः । एकाशीतिरित्युपलक्षणं, तेन चतुरशीतिरपि । द्विगुणत्वेनेति, षट्त्रिंशतोऽङ्गुलानाम् ॥ २३९ ॥

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति

उक्तः सूक्ष्मोदयस्त्रेधं द्विधोक्तस्तु परोदयः ।
अथ स्थूलोदयोऽर्णानां भण्यते गुरुणोदित. ॥ २४० ॥

अथ इत्यानन्तर्ये । गुरुणोदित इति सर्वशेषः ॥ २४० ॥

इसी के सहकार में सूक्ष्म अपर वर्णों का उदय कैसे होता है, यह बतला रहे हैं—

प्राण चार क्रम में अहमात्मक अद्वैत प्रकाश का विश्रान्ति धाम हृदय और द्वादशान्त में उदित होता है। सोऽहं में 'ह' कार से प्राण बाहर जाता है और 'सो' से प्रवेश करता है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि 'सो' से प्रवेश कर जाने पर पूर्णिमा की विश्रान्ति के बाद जब प्रतिपदा शुरू होती है तो प्रथम स्पन्द 'अ' का ही होता है। द्वादशान्त में 'ह' चिति विन्दु से समन्वित होकर अहमात्मक उल्लास का प्रतीक बनता है। अ० प्र० सि० २२ भी "अहं भाव को हो प्रकाश विश्रान्तिधाम मानता है" ॥ २३८ ॥

प्राणवाह के साथ अपानवाह की स्थिति का दिग्दर्शन करा रहे हैं—

दोनों चार ७२ अङ्गुल के होते हैं। 'विन्दु' रूप प्राण 'नाद' और रूप अपान के सम्मेलन स्थल दो ही हैं। १—बाह्य द्वादशान्त और २—ऊर्ध्व। अमा और पूर्णिमा। इन्हीं के बीच में गमागम होता है। इसी में ८१ अर्द्धमात्रायें संसृति प्राप्त करती रहती है। इसमें शिव और शक्ति का विभाजन नहीं किया जा सकता ॥ २३९ ॥

तत्र वर्गक्रमेण तावद्वर्णानां स्थूलमुदयमाह

एकैकमर्धप्रहरं दिने वर्गाष्टकोदयः ।

रात्रौ च ह्रासवृद्ध्यत्र केचिदाहुर्न केऽपि तु ॥ २४१ ॥

ह्रासवृद्धीति, बाह्यमहोरात्रमपेक्ष्यानपेक्ष्य वा ॥ २४१ ॥

तत्र बाह्याहोरात्रानपेक्षिमते साम्येनैवैषामुदयः,—इत्याह

एष वर्गोदयो रात्रौ दिवा चाप्यर्धयामगः ।

'अर्धयामग' इति, प्रतिवर्गं सार्धचतुरङ्गुलमुदय इत्यर्थः ।

एवं बाह्याहोरात्रानपेक्षिमतमभिधाय तदितरेषामपि दर्शयति

प्राणत्रयोदशशतो पञ्चाशदधिका च सा ॥ २४२ ॥

अध्यर्धा किल संक्रान्तिर्वर्गे वर्गे दिवानिशोः ।

सेति प्राणचारीया सार्धत्रयोदशशती । 'अध्यर्धा' इति सार्धा, प्रतिसंक्रान्ति इति सार्धा, प्रतिसंक्रान्ति नवानां प्राणचारशतानामभिधानात् । तेन दिने द्वादशानां संक्रान्तीनामुदयः, इति साष्टशतं सहस्रदशकं प्राणचाराणां भवेत् । रात्रावप्येवं सषट्शतसहस्रैकविंशतिः ॥ २४२ ॥

सूक्ष्मोदय तीन प्रकार और परोदय दो प्रकार के बतलाये जा चुके है । अब यहाँ से स्थूलोदय का वर्णन कर रहे हैं । यह इन्हें गुरुमुख से प्राप्त है ॥२४०॥

८ प्रहर का अहोरात्र और ८ ही वर्णों के वर्ग । एक एक प्रहर में एक एक वर्ग । बाह्य अहोरात्रों की तरह इनमें भी वृद्धि और क्षय होते हैं—यह कुछ लोग मानते हैं और कुछ लोग नहीं मानते । यह सब साधकों की अनुभूति पर निर्भर है ॥ २४१ ॥

जो बाह्य अहोरात्र के अनुसार वृद्धिक्षय नहीं मानते उनके अनुसार ४॥ अङ्गुल में प्रत्येक वर्ग अपनी सत्ता का उल्लास करता है । दूसरे लोगों के अनुसार दिन की १२ संक्रान्तियाँ होती हैं । प्रति संक्रान्ति ९०० प्राणचार होते हैं । इस तरह ९०० × १२ = १०८०० । और इतने ही रात के भी योग कर २१६०० प्राणचार एक अहोरात्र में हो जाते हैं । १३५० प्राणचार १½ संक्रान्तियों के आठ भाग रूपी दिन की अवधि में १३५० × ८ = १०८०० प्राणचार और इतने ही रात में मिलाकर कुल २१६०० प्राणचार एक अहोरात्र में होते हैं ॥ २४२ ॥

अहोरात्रमेलानायां पुनः प्रतिसंक्रान्तित्रयमेकैकस्य वर्गस्योदयः—इत्याह

तदैक्ये तूदयश्चारशतानां सप्तविंशतिः ॥ २४३ ॥

एवं प्रागुक्तसंक्रान्तिद्वयवद्बाह्याहोरात्रह्रासवृद्धयनुसारं वर्गाष्टकोदयस्यापि ह्रासवृद्धौ भवतः,—इति सिद्धम्, अन्यथा प्रतिवर्गोदयं प्राणचाराणां नैयत्यं न स्यात् ॥ २४३ ॥

ननु क्षकारेण सह नव वर्गाः,—इति येषां मतं तत्रैषामुदये प्राणचाराणां कीदृग्विभागः ? इत्याशङ्क्याह

नव वर्गास्तु ये प्राहुस्तेषां प्राणशती रवीन् [विः]
सत्रिभागैव संक्रान्तिर्वर्गे प्रत्येकमुच्यते ॥ २४४ ॥
अहर्निशं तदैक्ये तु शतानां श्रुतिचक्षुषो ।

रवीनिति द्वादश। सत्रिभागेति प्राणशतत्रयस्याधिक्येनोपादानात्। तेन प्रतिवर्गं प्राणचाराणां शतद्वादशकम्,—इति वर्गनवके साष्टशतं सहस्रदशकं भवेत् 'तदैक्ये' इत्यहर्निशमेलने। 'श्रुतिचक्षुषी' इति चतुर्विंशतिः।

एवं वर्णानां वर्गक्रमेण स्थूलमुदयमभिधाय क्रमान्तरेणाप्याह

स्थूलो वर्गोदयः सोऽयमथार्णोदय उच्यते ॥ २४५ ॥

अहोरात्र मिलाकर प्रति संक्रान्तियों पर एक एक वर्ग के क्रम से ८ वर्गों के उदित २७०० प्राणचार और ८ प्रहरों में २७००×८=२१६०० प्राणचार का क्रम सिद्ध हो जाता है ॥ २४३ ॥

प्रश्न है कि क्षकार को लेकर ९ वर्ग होते हैं। यहाँ आठ पर ही सारा गणित चल रहा है। इस पर अपना मत व्यक्त कर रहे हैं—

जो लोग नौ वर्ग मानते हैं उनकी गणना के अनुसार १२×$\frac{१}{३}$ संक्रान्ति भाग करना पड़ेगा। प्राणचार १ संक्रान्ति में १२०० होंगे। पहले ९०० की गणना थी। अब १२०० संख्या हो जाती हैं। ९ वर्ग में अब १०८०० प्राणचार होंगे। दोनों मिलने पर २१६०० हो जायेंगे। दो संक्रान्तियों में २४०० प्राणचार और ९ वर्गों और ९ संक्रान्तियों में २४००×९=२१६०० प्राणचार प्रति अहोरात्र की गणना ठीक बैठ जाती है। यह स्थूल वर्गोदय ही वर्णोदय भी कहलाता है ॥ २४४–२४५ ॥

तदाह

एकैकवर्णे प्राणानां द्विशतं षोडशाधिकम् ।
बहिश्चषकषट्‌त्रिंशद्दिन इत्थं तथा निशि ॥ २४६ ॥

चषकषट्‌त्रिंशदिति, प्रतिचषकं षण्णां प्राणचारणामुदयात् । तेन पञ्चाशतो वर्णानां साष्टशतं सहस्रदशकं प्राणचाराणां स्यात् ॥ २४६ ॥

अत्र चोदये विशेषं दर्शयति

शतमष्टोत्तरं तत्र रौद्रं शाक्तमथोत्तरम् ।
यामलस्थितियोगे तु रुद्रशक्त्यविभागिता ॥ २४७ ॥

'यामलस्थितियोगे' इत्युभयसंमेलनायाम् ॥ २४७ ॥

एतदेव चाहोरात्रसंमेलनायां द्विगुणीभवेत्,—इत्याह

'दिनरात्र्यविभागे तु दृग्वह्न्यब्ध्यसुचारणाः ।
सपञ्चमांशा नाडी च बहिर्वर्णोदयः स्मृतः ॥ २४८ ॥

दृग्वह्न्यब्धिरिति, द्वात्रिंशदधिकं शतचतुष्टयम् 'असुचारणाः' इति प्राणसंचारणाः । सपञ्चमांशा नाडीति, चषकषट्‌त्रिंशतो द्वैगुण्यात् ॥ २४८ ॥

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति

इति पञ्चाशिका सेयं वर्णानां परिचर्चिता ।

वही कह रहे हैं—

एक-एक वर्ण में प्राणचार २१६ होते हैं । एक चषक में ६ प्राणचार होंगे । ५० वर्णों में १०८०० प्राणचार की कल्पना श्वास और मातृका के मान पर आधारित है ॥ २४६ ॥

वर्णोदय के वैशिष्ट्य बतलाते हुए कह रहे हैं कि १०८ रौद्र और शेष शाक्त उदय होते है । रौद्र शाक्त यामल भाव दशा में रुद्र और शक्ति दोनों अविभाजित रहते हैं ॥ २४७ ॥

अहोरात्र के एकत्र प्राणचार दूने होते हैं । अर्थात् २१६०० × २ = ४३२०० होते हैं । सपंचमाशा नाड़ी श्लोक २०३ में द्रष्टव्य है ॥ २४८ ॥

एकोनां ये तु तामाहुस्तन्मतं सम्प्रचक्ष्महे ॥ २४९ ॥

तदाह

वेदाश्चाराः पञ्चमांशन्यूनं चारार्धमेकशः ।
वर्णेऽधिकं तद्द्विगुणमविभागे दिवानिशोः ॥ २५० ॥

'वेदा' श्चत्वारः। पञ्चमांशेनार्थात्किचिदंशेन 'न्यूनं' रहितम्। अधिकमिति, षोडशाधिकशतद्वयस्योपरीत्यर्थः। तेनैकोनपञ्चाशतो वर्णानां प्रत्येकं षोडशाधिकशतद्वयात्मकत्वात् चतुरशीतिशतपञ्चकाधिकं सहस्रदशकं प्राणचारा भवन्ति, अधिकैश्च प्रत्येकं चतुर्भिः सषण्णवतिशतम् अनेन च चाराणां सार्धचतुर्विंशतेः किंचिदंशन्यूनं पञ्चभागं विंशति (?) साष्टशतं सहस्रदशकम् ॥ २५० ॥

एतदेवोपसंहरति

स्थूलो वर्णोदयः सोऽयं पुरा सूक्ष्मो निगद्यते ॥ २५१ ॥

सूक्ष्म इत्यर्थात्परोऽपि पुरा निगदित इत्यर्थः ॥ २५१ ॥

इस विषय का उपसंहार करते हुए दूसरे विषय की अवतारणा कर रहे हैं—

मातृका ५० वर्णों वाली है। कुछ लोग इसे ४९ ही मानते हैं। उनका कहना है कि जब ४९ वर्ण माने जायेंगे तो १०८०० की जगह प्राणचार १०५-८४ ही होंगे। अहोरात्र में दिन के २१६ में ४९ का गुणा करने पर १०५८४ प्राण चार की संख्या होती है। २१६ में ४९ का गुणन करने पर जितने प्राणचार हो रहे हैं—उनके दूने अहोरात्र में होने पर प्राणचारों की कुल संख्या २११६८ ही होगी।

इसका उपसंहार कर रहे हैं—

यहाँ तक स्थूल वर्णोदय प्रकरण पूरा हुआ। अब आगे सूक्ष्म वर्णोदय का प्रवर्त्तन होगा ॥ २५१ ॥

इदानीमाह्निकार्थमार्याया: प्रथमार्धेनोपसंहरति

इति कालतत्त्वमुदितं शास्त्रमुखागमनिजानुभवसिद्धम् ।

मुखागमेति 'शैवी मुखमिहोच्यते' (वि॰ भै॰ २० श्लो॰) इत्यादिन्यायेन परतत्त्वप्रवेशोपायत्वाद्गुरुस्तस्य 'आगमो' वचनमित्यर्थः। सिद्धमिति

'यतः शास्त्रक्रमात्तज्ज्ञगुरुप्रज्ञानुशीलनात् ।
आत्मप्रत्ययितं ज्ञानं पूर्णत्वाद्भैरवायते ॥' (तं॰ ४।७७)

इत्याद्युक्तयुक्त्या पारिपूर्ण्येन लब्धसिद्धीति शिवम् ॥

प्राणापानसमाश्रयचारप्रविचारचातुरीनिष्ठः ।
षष्ठाह्निके वरिष्ठां विवृतिमिमां जयरथश्चक्रे

इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य-श्रीमदभिनवगुप्तविरचिते तन्त्रालोके
श्रीजयरथविरचित विवेकाभिख्यव्याख्योपेते
कालतत्त्व-प्रकाशनं नाम षष्ठमाह्निकं समाप्तम् ॥ ६ ॥

इस आर्या के प्रथमार्ध से आह्निक का उपसंहार कर रहे हैं। और कह रहे हैं कि शास्त्रों की गणना के अनुसार और अपनी साधनात्मक अनुभूतियों से जो भी स्फुरण हुआ है उसके अनुसार मैंने कालतत्त्व की व्याख्या की है और उसके सन्दर्भानुकूल आगमिक वचनों का उद्धरण भी दिया है। विज्ञान भैरव तन्त्र के श्लोक २० के अनुसार भगवान् शिव के मुख से निकलने के कारण इसे 'शैवी मुख' कहा जाता है। परतत्व में अनुप्रवेश के लिये गुरु देव रूप शिव के वदनारविन्द से निकले वचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं। श्री तं॰ ४।७७ में भी इसी सत्य का समर्थन किया गया है। पहले शास्त्र का स्वाध्याय, फिर गुरु-प्राप्त प्रज्ञा द्वारा शास्त्र का अनुशीलन और पुनः आत्मा को तृप्त करने वाली परम आप्यायक ज्ञान राशि। इस क्रम से निश्चय ही साधक शिष्य भैरवी भाव प्राप्त कर लेता है।

प्राणापानाश्रित–नियत– चार– चातुरी– निष्ठ ।
जयरथ ने की विवृति यह षष्ठाह्निकी वरिष्ठ ॥

× × × ×

रवि शशि गति विज्ञान का परम पारखी 'हंस' ।
षष्ठाह्निक मौक्तिक चयन-हर्षित शिव-अवतंस ॥

प्राणप्रवाहे पथि साधितेयं
मया स्ववेद्यश्वसनप्रणाली ।
व्याख्याय षष्ठाह्निकमेतदीये
प्रकाशराशौ निकषायिता च ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित श्रीराजानक
जयरथकृत विवेकव्याख्योपेत डॉ० परमहंसमिश्र विरचित
नीर-क्षीर-विवेक-भाषा-भाष्य संवलित श्रीतन्त्रालोक का
कालतत्त्व प्रकाशन नामक षष्ठ आह्निक सम्पूर्ण
नमः शिवाय ह्सौं क्लीं ॥ ६ ॥

अथ

श्रीतन्त्रालोकस्य

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तपादविरचितस्य
श्रीमदाचार्यजयरथकृतविवेकाख्यव्याख्योपेतस्य
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेक
हिन्दी भाष्य संवलितस्य

सप्तममाह्निकम्

तत्तन्मन्त्राभ्युदयप्रगुणीकृतचण्डभैरवावेशः।
विद्रावितभवमुद्रो द्रढयतु भद्राणि जयरुद्रः॥

इदानीं कालतत्त्वानुषक्तमेव द्वितीयार्धेन चक्रोदयं वक्तुमुपक्रमते

अथ परमरहस्योऽयं चक्राणां भण्यतेऽभ्युदयः॥ १॥

चक्राणामिति मन्त्राद्यात्मनाम्॥ १॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तपादाचार्यविरचित
श्रीराजानक जयरथकृतविवेकाभिख्यव्याख्योपेत
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीरक्षीरविवेक
हिन्दीभाष्यसंवलित

श्रीतन्त्रालोक

का

सप्तम आह्निक

मन्त्रसिद्धि शतगुणित-शिव-समावेश भवमुद्र-
उन्मीलक दृढ़कर कुशल कुशलंकर जयरुद्र।

इस आह्निक के आरम्भ में कालतत्त्व से सम्बन्धित चक्रोदय विषय की अवतारणा आर्या की उस अर्धाली से कर रहे हैं, जिसकी प्रथम अर्धाली से छठाँ आह्निक समाप्त हुआ था—

ननु सर्वमन्त्रसामान्यभूतया भगवत्या मातृकायाः समनन्तरमेवोदय उक्तः, तत्तद्विशेषरूपाणां मन्त्राद्यात्मनां चक्राणामप्युदयाभिधाने किं निमित्तम्? इत्याशङ्क्याह

इत्ययत्नजमाख्यातं यत्नजं तु निगद्यते ।

नन्वेतन्निगदनेन कोऽर्थः ? इत्याशङ्क्याह—

बीजपिण्डात्मकं सर्वं संविदः स्पन्दनात्मताम् ।। २ ।।
विदधत्परसंवित्तावुपाय इति वर्णितम् ।

सर्वमिदं बीजपिण्डात्मकं मन्त्रजातम् अर्थात्प्राणान्तरुदयत् संविदः स्पन्दमात्मतां शाक्तस्वरूपावेशं विदधत् परसंवित्तावुपायः पारम्पर्येण शाम्भवमपि रूपमाविशेत्,—इत्याणवोपाये वर्णतत्त्वान्तर्वर्णितं तन्नास्यानर्थक्यमित्यर्थः ॥ २ ॥

नन्विह मन्त्राणां प्राणान्तरेवमुदयः,—इत्यभिधातुं प्रक्रान्तं, स च यत्नजः,—इति तत्र यत्ने क्रियमाणे तदेव सिद्ध्येत् नान्यदिति कथमत्रैव परसंविदुपायत्वमप्येषां स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

यह परम रहस्यमय चक्रोदय प्रकरण स्वात्मसंविद्-उत्कर्ष के प्रकाश में व्यक्त किया जा रहा है ॥ १ ॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि सामान्यतः सभी मन्त्रों में मातृकायें अभिव्यक्त हैं। विगत आह्निकों में उनके उदय का वर्णन भी किया गया है। अब उनके विशेष रूप से मन्त्रादिरूपों के चित्र स्वरूप चक्रों के उदय के वर्णन की क्या आवश्यकता ? इसका उत्तर दे रहे हैं कि पहले जो वर्णन किया गया था, वह अयत्नज उदय का वर्णन था। यहाँ यत्नज चक्रोदय प्रवर्त्तन की प्रक्रिया अपनायी जा रही है।

यह सारा बीज पिण्ड रूप मन्त्रवर्ग प्राण में ही स्फुरित होता है। यह संविद् की स्पन्दनात्मकता का, उसके शाक्त स्वरूप और उसके आवेश का अभिव्यजंन करता है। इतना ही नहीं, वरन् यह क्रमशः निर्विकल्प संस्कार से संस्कृत होकर शाक्त स्तर से ऊपर उठकर शाम्भव स्थिति रूप परासंविद् की उपलब्धि में उपाय बनता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आणवोपाय में वर्णित वर्णोदय का अपना अलग महत्त्व है और यहाँ का यह उपक्रम भी अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण प्रयास है ॥ २ ॥

यथारघट्टचक्राग्रघटीयन्त्रौघवाहनम्　　॥ ३ ॥
एकानुसंधियत्नेन चित्रं यन्त्रोदयं भजेत् ।
एकानुसंधानबलाज्जाते मन्त्रोदयेऽनिशम् ॥ ४ ॥
तन्मन्त्रदेवता यत्नात्तादात्म्येन प्रसीदति ।

इहारघट्टवाहकस्य यन्त्रमात्रवाहनक्रियाविषयत्वात् एकेनैवानुसंधानेन अरघट्टचक्राग्रगतघटीसंबन्धिनो यन्त्रस्यौघेन नैरन्तर्येण वाहनं यथा 'चित्रं यन्त्रोदयं भजेत्' ऊर्ध्वाधोमुखरिक्तपूर्णघटीचक्रात्मना वैचित्र्येण निष्पत्तिमियात्, तथा साधकस्यानिशं मन्त्रोदयविषयेणैकेनैवानुसंधानेन न केवलमेतदुदय एव सिध्येत् यावत्तन्नान्तरीयकतया प्रयत्नान्तरमन्तरेण एतन्मन्त्रदेवतापि तादात्म्येन प्रसीदतीति। इदमत्र तात्पर्यम्—यथा हि यन्त्रं वाहयन् अरघट्टवाहकस्तत्र

मन्त्रों का उदय प्राण के अन्तर् में होता है और वह यत्नज होता है। प्राण में वर्णोदय या कालोदय का यत्न करने से वही सिद्ध होगा क्योंकि नियम है कि जिसके लिये यत्न होता है वही सिद्ध होता है। इस अवस्था में ये परा-संविद् के उपाय कैसे बन सकते है ? इस आशङ्का का समाधान कर रहे हैं—

रहट पानी खींचने का एक यन्त्र है। एक गोल चक्के में लगे अवरोधों के बल से जल से भरी बाल्टियाँ ऊपर आती हैं। और पानी गिराती हुई ऊपर से नीचे तक जाती हैं। पानी लेकर उसी ऊपरी चक्के के घुमाव और अवरोधों के सहारे ऊपर आती हैं और जल उड़ेलती नीचे चली जाती हैं। यह क्रिया निरन्तर होतो है और खेत सींचे जाते हैं।

गोल चक्का चलाना यत्नज व्यापार है। उसे 'गहुओं' के सहारे बैल या ऊँट चलाते हैं। उसमें लगी बाल्टियों का नीचे ऊपर आना, पानी गिराना और खेत का सींचा जाना यह सब उसके परिणाम हैं। इसके लिये अलग काम करने की आवश्यकता नहीं होती। सिर्फ कुएँ के ऊपर लगा गोल लोहे का चक्र चलाना काफी है। उससे अन्य दूसरे काम अपने आप होते जाते हैं।

प्राण में वर्णोदय का यत्नज व्यापार ऐसा ही सुपरिणामो प्रयत्न है। आप मन्त्र-जप का चक्का चलाइये। एकानुसन्धान का यत्न कीजिये। १०८ चक्र माला में घूमना शुरू रखिये। प्राण में, उसके अन्तर में वह चक्र चलता रहे। यन्त्रोदय बहाल रहे और आप चकित होंगे कि उन मन्त्रों के देवता आप के

वैचित्र्यान्तरमपि प्रयत्नान्तरनिरपेक्षमासादयेत्, एवं साधकोऽपि मन्त्रोदय एव प्रयतमानः परसंविदैकात्म्यमिति । एवं चक्रोदयः परसंविदासादने निमित्तमित्यावश्याभिधेयः, — इत्युक्तं स्यात् ॥ ४ ॥

तदाह —

'खे रसैकाक्षि नित्योत्थे तदर्धं द्विकपिण्डके ॥ ५ ॥
त्रिके सप्त सहस्राणि द्विशतोत्युदयो मतः ।
चतुष्के तु सहस्राणि पञ्च चैव चतुःशती ॥ ६ ॥
पञ्चार्णेऽब्धिसहस्राणि त्रिशती विंशतिस्तथा ।
षट्के सहस्रत्रितयं षट्शती चोदयो भवेत् ॥ ७ ॥
सप्तके त्रिसहस्रं तु षडशीत्यधिकं स्मृतम् ।
शतैस्तु सप्तविंशत्या वर्णाष्टकविकल्पिते ॥ ८ ॥
चतुर्विंशतिशत्या तु नवार्णेषूदयो भवेत् ।
अधिषष्टचेकविंशत्या शतानां दशवर्णके ॥ ९ ॥
एकान्नविंशतिशतं चतुःषष्टिः शिवार्णके ।
अष्टादश शतानि स्युरुदयो द्वादशार्णके ॥ १० ॥
त्रयोदशार्णे द्वाषष्ट्या शतानि किल षोडश ।
त्रिचत्वारिंशता पञ्चदशेति भुवनार्णके ॥ ११ ॥
चतुर्दशशतो खाब्धिः स्यात्पञ्चदशवर्णके ।
त्रयोदशशतो सार्धा षोडशार्णे तु कथ्यते ॥ १२ ॥
शतद्वादशिका सप्तदशार्णे सैकसप्ततिः ।
अष्टादशार्णे विज्ञेया शतद्वादशिका बुधैः ॥ १३ ॥

अस्तित्व को स्वयं सींचना शुरू कर देंगे । वह यत्न इष्टोपलब्धि में और संविद के तादात्म्य में कारण बन जायगा । उस यत्न के विना यह देव-तादाम्य सिद्ध नहीं हो सकता । यह नान्तरीयक स्थिति है । इस तरह यह चक्रोदय परासंविद् स्वात्मैक्य के लिये अनिवार्य है ॥ ३-४ ॥

चतुर्विंशतिसंख्याके चक्रे नवशतो भवेन् ।
सप्तविंशतिसंख्याते तूदयोऽष्टशतात्मकः ॥ १४ ॥
द्वात्रिंशके महाचक्रे षट्शती पञ्चसप्ततिः ।
द्विचतुर्विंशके चक्रे सार्धा शतचतुष्टयीम् ॥ १५ ॥
उदयं पिण्डयोगज्ञः पिण्डमन्त्रेषु लक्षयेत् ।
चतुष्पञ्चाशके चक्रे शतानां तु चतुष्टयम् ॥ १६ ॥
सप्तत्रिंशत्सहार्धेन त्रिशत्यष्टाष्टके भवेत् ।
अर्धमर्धत्रिभागश्च षट्षष्टिर्द्विशती भवेत् ॥ १७ ॥
एकाशीतिपदे चक्रे उदयः प्राणचारगः ।
चक्रे तु षण्णवत्याख्ये सपादा द्विशती भवेत् ॥ १८ ॥
अष्टोत्तरशते चक्रे द्विशतस्तूदयो भवेत् ।

खे इति द्वे शून्ये, रसा षट्, अक्षीति द्वयं, नित्योत्थ इति स्वरसत एव हि सततं प्रवहतः प्राणस्य सषट्शतसहस्त्रैकविंशत्या [तिः] चाराणां भवेदिति भावः। एवमेकपिण्डात्मनो मन्त्रस्य प्रतिप्राणचारं तदानुगुण्यात् तत्संख्याक एवोदयः, तेन प्रतिप्राणचारमेकैकस्य पिण्डस्य वर्णस्य वोदयात् द्वयादिपिण्ड-वर्णात्मनां मन्त्राणां नित्योदितप्राणचारार्धत्रिभागक्रमेण न्यूनसंख्याक उदयः,— इत्याह 'तदर्धं द्विकपिण्डके' इति। तस्याः सषट्शतायाः सहस्रैकविंशतेरर्धं साष्टशतं सहस्रदशकम्। अत्र हि स्वारसिकप्राणचारद्वयकालस्यैकप्राणचारतयो-दयस्य चिकीर्षितत्वं; 'जपः प्राणसमः कार्यं' इति हि सर्वत्राविशेषेणोद्घोष्यते, अत एवेह यत्नजत्वमुक्तम्। सप्त सहस्राणि द्विशतीति, स्वारसिकप्राणचारत्रयका-

---

उसी का आकलन कर रहे हैं—

एक अहोरात्र में २१६०० चक्रोदय होते हैं। दिन में १०८०० और रात में भी १०८०० प्राणचार का क्रम है। नियम यह है कि जप प्राण के साथ ही होना चाहिए अथवा प्राणसंचार के समान होना चाहिये। प्राणापानवाह यद्यपि स्वारसिक होता है पर यदि इसमें यत्नज जप की क्रिया नहीं होगी तो परिणाम शून्य रह जायेगा। इसलिये यत्नजजपादि व्यापार से ही यन्त्र देवतादात्म्य का चमत्कार सम्भव है।

लस्यैकप्राणचारतयोदयस्य कर्तुमभिप्रेतत्वात् । एवमुत्तरत्रापि अवसेयम् । अब्धीति चत्वारः षडशीत्यधिकमिति भूम्ना, एवं हि चारद्वयमधिकं भवेत्, तेनात्र प्रतिचारं किंचिदंशन्यूनता कार्या येन गणनासाम्यं स्यात् । न चैतदस्माभिः स्वोत्प्रेक्षितमुक्तमिति साक्षादागम एव पठितः, अस्माभिरप्यत्र गणना विभज्य न दर्शिता ग्रन्थविस्तरभयादनुपयोगाच्च । अधिकषष्टिरेकविंशतिशतो तया दशवर्णग इत्युदयः । 'शिवाः' रुद्रा एकादश, चतुःषष्टिरिति भूम्ना एवं हि चारचतुष्टयमधिकं भवेत् । द्वाषष्ट्येति भूम्ना, षण्णां प्राणचाराणामतिरेकात् । त्रिचत्वारिंशतेति भूम्ना, चारद्वयाधिक्यात् । पञ्चदशेति शतानि । भुवनेति चतुर्दश । खाब्धिरिति चत्वारिंशत् । सैकसप्ततिरिति भूम्ना चारसप्तकातिरेकात् । न चात्र संख्यायाः कश्चित् क्रमो विवक्षितः,—इत्येकोनविंशादीनां चक्राणामन्तरानुपदेशे न कश्चिद्दोषो, यावता हि अत्र प्रतिप्राणचारमेकैकस्य चक्रस्योदये यत्नः कार्यः,—इत्यभिधित्सितं तच्चैवमपि सिद्धयेदिति । 'द्विचतुर्विशके' इत्यष्टाचत्वारिंशदात्मक इत्यर्थः । 'अष्टाष्टके' इति चतुःषष्ट्यात्मके । सहार्धेनेति येनावशिष्टा द्वात्रिंशत्प्राणचारा भवन्ति । अर्धमिति अर्धत्रिभाग इति, येन सार्धाश्चत्वारिंशत्प्राणचारा भवेयुः सार्धास्त्रयोदश चेत्युभयथा चतुःपञ्चाशदिति गणनासाम्यं स्यात् । तदुक्तं श्रीयोगिनीकौले

> 'नित्योदिते सहस्राणि एकविंशच्छतानि षट् ।
> द्विके दश सहस्राणि तथाष्टौ च शतानि तु ॥
> त्रिके सप्त सहस्राणि द्विशतीत्युदयः स्मृतः ।
> चतुष्के तु सहस्राणि पञ्च तुर्यशतानि तु ॥

प्राणजित् साधक यदि तीन प्राणचार की कालावधि का एक प्राणचार बनाले २१६०० की जगह ७२०० प्राणचार रह जायेगा और तादात्म्य चरितार्थ होने लगेगा। ४ को एक करने पर ५४०० प्राणचार रह जायेगा और तादात्म्य काल बढ़ जायेगा। पाँच में ४३२०, छः में तीन हजार छः सौ, सात में ३०८६, आठ में २७००, नौ में २४००, दस में २१६, ग्यारह में १९६४, बारह में १८०० तेरह में १६६२, चौदह में १५४३, पन्द्रह में १४४०, सोलह में १३५०, सत्रह में १२७१, अठारह में १२०० चौबीस में ९००, सत्ताइस में ८००, बत्तीस में ६७५ अड़तालिस में ४५० प्राणचार उदित होंगे। चौवन में केवल ४००, चौसठ में ३३७½ जिसमें ३२ शेष रहते हैं। ८१ में २६६ छानबे में २५५, एक सौ आठ में २०० प्राणचारके सिद्ध हो जाते हैं। श्रीयोगिनी कौल नामक ग्रन्थ में भी यही

पञ्चाक्षरे सहस्राणि चत्वारि त्रिशतोदयः ।
विंशाधिकः समाख्यातो ज्ञेयश्चोदयवाहिभिः ॥
षट्के तु त्रिसहस्राख्यः षट्शतान्तोदयः स्मृतः ।
सप्तके त्रिसहस्रं तु षडशीत्यधिकं स्मृतम् ॥' इत्यादि—
'अष्टोत्तरशते चक्रे मन्त्रपिण्डाक्षरात्मके ।
द्विशतात्मा पुनः प्रोक्त उदयः सर्वसिद्धिदः ॥' इत्यन्तम् ॥

न चैतावतैव विरन्तव्यमित्याह

क्रमेणेत्थमिदं चक्रं षट्कृत्वो द्विगुण यदा ॥ १९ ॥

ततोऽपि द्विगुणेऽष्टांशस्यार्धमध्यर्धमेककम् ।
ततोऽपि सूक्ष्मकुशलैरर्धार्धादिप्रकल्पने ॥ २० ॥

भागषोडशकस्थित्या सूक्ष्मश्चारोऽभिलक्ष्यते ।

'इत्थं' वक्ष्यमाणेन प्रकारेणेदमष्टोत्तरशतात्मकं चक्रं क्रमेण षट्कृत्वो द्विगुणं, प्रथमं षोडशाधिकशतद्वयात्मकं यावदन्ते सद्वादशशतनवकाधिकषट्-सहस्रात्मकं यदा भवेत् तदा तस्मिन्नपि द्विगुणे सचतुर्विंशतिशताष्टकाधिकसहस्र-त्रयोदशात्मके चक्रेऽध्यर्धमात्रेति कृत्वा सार्धमेककं प्राणस्य चरणमष्टांशस्यार्धं षोडशो । भागश्चोदयो भवेदित्यर्थः । तदनन्तरमपि भागषोडशकस्थित्यार्धार्धा-दिकल्पने कृते सति 'सूक्ष्मकुशलैः' परधाराधिरूढैर्योगिभिः 'सूक्ष्मो' ऽतिपरिमितः प्राणीयश्चारांशोऽ'भिलक्ष्यते' ज्ञायते इत्यर्थः । इदमत्र तात्पर्यम्—एवंकलनायां हि प्राणचारीयः षोडशो भागः सषट्शतपञ्चचत्वारिंशत्सहस्राधिकलक्षत्रयात्मनश्च-

---

गणना प्रतिपादित है । इस तरह प्राणजित् साधक अपने यत्न के बल पर एक अहोरात्र में मात्र १०८ बार प्राणचार करले तो २०० चक्रोदय में अहोरात्र सिमट जायेगा और तादात्म्य का समय सर्वाधिक होता जायेगा ॥ ५–१८ ॥

काल और प्राणवाह की अवधि मूलक इयत्ता केवल इतनी ही नहीं अपितु इससे भी अधिक की कलना साधकों ने की है । यही कह रहे हैं—

१०८ प्राणचार का ६ बार दूना करने पर ६९१२ और इसे दो गुना करने पर यही तेरह हजार ,आठ सौ चौबीस हो जाता है । इस तरह १३८२४ चक्रोदय होते हैं । अहोरात्र के प्राणचारीय १६ भाग करने पर २१६०० ■ १६ = ३४५६०० तथा इसकी भी अर्धकलना करने पर ३२ गुना अर्थात् छः लाख ९१

क्रस्योदयः स्यात् । तस्याप्यर्धकल्पने सशतद्वयैकनवतिसहस्राधिकलक्षषट्कात्मनश्चक्रस्य द्वात्रिंशो भागः; तस्याप्येवं कल्पने सचतुःशतद्वयशीतिसहस्राधिकत्रयोदशलक्षात्मनश्चक्रस्य चतुःषष्टितमो भागः—इत्यन्तमेव परिमितिः प्राणचारीयो भागो योगिनामभिलक्ष्यो भवतीति ॥

नन्वेवमभिलक्षणेन योगिनां किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

एवं प्रयत्नसंरुद्धप्राणचारस्य योगिनः ॥ २१ ॥
क्रमेण प्राणचारस्य ग्रास एवोपजायते ।

ग्रास इति विरुद्धतया पुनरनुदयात् ॥

अतोऽप्यस्य किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

प्राणग्रासक्रमावाप्तकालसंकर्षणस्थितिः ॥ २२ ॥
संविदेकैव पूर्णा स्याज्ज्ञानभेदव्यपोहनात् ।

हजार दो सौ प्राणचार की आंशिकता परिलक्षित होती है। पर-धाराधिरूढ योगियों को तो इससे भी आगे ६४ गुणित चारीयांश १३ लाख बयासी हजार ४ सौ तक परिलक्षित होते हैं। पन्द्रह प्राणगत तिथियों में $\frac{१}{२}$ + १५ + $\frac{१}{२}$ = १६ काल भाग होते हैं। इसी में उक्त सारा आकलन होता है ॥ १९–२० ॥

प्रश्न है कि इस से योगियों को लाभ क्या ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

साधक आमावस्य-पौर्णमास के प्राणापानवाह को २१६०० चारात्मकता की सूक्ष्मता का आकलन करते-करते प्राणपर विजय पा लेता है। यह यत्नज स्थिति विकसित होते होते समाप्त हो जाती है और पूरे प्राणचार का ग्रास हो जाता है। सामान्यतया कोई भी व्यक्ति एक श्वास को १-१ मिनट बढ़ाते हुए लेने और १-१ मिनट बढ़ाते हुए बाहर करने का अभ्यास करे और धीरे-धीरे स्वात्मस्थ होकर श्वास चार का पर्यवेक्षण तटस्थता पूर्वक करने लगे, तो ऐसा करते-करते निश्चय ही श्वास का ग्रास हो जाता है। इस तरह साधक प्राण जेता बन जाता है ॥ २१ ॥

इससे भी क्या लाभ ? प्राण-जेता बन जाने पर उसके पल्ले क्या पड़ा ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

ज्ञानभेदापोहनमेवोपपादयति

तथा हि प्राणचारस्य नवस्यानुदये सति ॥ २३ ॥
न कालभेदजनितो ज्ञानभेदः प्रकल्पते ।

कालस्य हि साक्षात् प्राणोऽधिष्ठानमिति प्राणस्यानुदये कालोऽपि नोदियात्,—इति तस्याभावात् तज्जनितोऽपि ज्ञानस्य भेदो न भवेत्,—

इति युक्तमुक्तम् 'एकैव पूर्णा संवित्स्यात्' इति ॥ २२-२३ ॥

ननु प्राणग्रासक्रमेण कालस्यापि ग्रासो वृत्तः,—इति तदाहितश्चेत्संविदि भेदो नास्ति तज्ज्ञेयाहितो भविष्यति येनेदं नीलज्ञानमिदं पीतज्ञानमिति विभागः,—इत्येतावतैव कथमेकत्वमस्याः सिद्ध्येद् ? इत्याशङ्क्याह

संवेद्यभेदान्न ज्ञानं भिन्नं शिखरिवृत्तवत् ॥ २४ ॥

नहि एकान्ततः संवेद्यभेदः संविदं भिन्द्यात् एवं हि तत्तद्गृहाणां नामादिवेद्यभेदेऽपि कथमेकमेव नगरादिज्ञानं स्यादित्युक्तं 'शिखरिवृत्तवत्' इति । उन्नतप्रदेशावस्थितस्य हि पुंसस्तत्तदाभासमय एक एव प्रकाशो भवेदिति भावः । यदाहुः

प्राण ग्रास कर लेने पर कालसंकर्षणी स्थिति आ जाती है । एक पूर्ण संविदैक्य का भाव दृढ़ हो जाता है । काल जनित भेदभाव विगलित हो जाते हैं । नया प्राणचार उदित नहीं होता । परिणामतः पूर्णज्ञान का बोधात्मक महा प्रकाश भासमान हो जाता है ॥ २२–२३ ॥

प्राण ग्रास क्रम में काल का ग्रास सम्भव है । काल ग्रास के सम्पन्न होने पर शुभ संविद् उल्लास अनिवार्य है । संविद् उल्लास में ये नील पीत आदिज्ञेय भेद विभाग घटित होंगे ही । ऐसी अवस्था में 'एकैव पूर्णा संवित्' यह कथन कहाँ तक संगत है ? इसका उत्तर दे रहे हैं—

संवेद्य भेद संविद् को भिन्न नहीं कर सकते । उदाहरण के रूप में जैसे घरों के नाम आकार भेद रहने पर भी चोटी की ऊँचाई से या वायुयान या उपग्रह से नीचे एक गाँव, एक नगर का ही संवेदन होता है, उसी तरह संविदुल्लास की दृष्टि से वेद्य भेद न होकर एकता का ही महाबोध होगा । कहा गया है कि,

'तस्मात्सत्यपि बाह्येऽर्थे धीरेकानेकवेदनात् ।
अनेकसदृशाकारा नानेवेव प्रसज्यते ॥' इति ।

तस्मादस्य काल एव भेदकः, स चातिसूक्ष्मक्षणात्माभिमतो येन ज्ञानस्योत्पादानन्तरं निरोधो भवेत् ॥ २४ ॥

तदाह

कालस्तु भेदकस्तस्य स तु सूक्ष्म क्षणो मतः ।

तु शब्दो हेतौ । स इति कालः ॥

ननु चास्य सौक्ष्म्ये कोऽवधिः ? इत्याशङ्क्याह

सौक्ष्म्यस्य चावधिर्ज्ञानं यावत्तिष्ठति स क्षणः ॥ २५ ॥

तेन नियतोभयान्तपरिच्छिन्ना ज्ञानोयैव सत्तास्य सत्तेत्यर्थः ।

नन्वस्य परोपाधिकः कस्मादेवंनिर्देशः ? इत्याशङ्क्याह

अन्यथा न स निर्वक्तुं निपुणैरपि पार्यते ।

"बाह्य विषयों में एकानेक बुद्धि के रहते हुए भी अनेक सम्मिलित एकत्व सदा स्फुरित रहता है ।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि काल जब अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है तो उससे उत्पन्न सूक्ष्म ज्ञान के बाद उसका स्वतः निरास हो जाता है ॥ २४ ॥

इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

काल तो ज्ञान का क्षण भेदक है । काल स्वयं सूक्ष्म क्षण रूप ही है । इसकी सूक्ष्मता की अवधि ज्ञान की अवधि है । प्रथम ज्ञान तक क्षण समाप्त हो जाता है । ज्ञानीय सत्ता ही कालावधिक सत्ता हैं । यह एक दूसरे के अन्त से ही सम्बतिध है ॥ २५ ॥

क्षण में उत्पन्न होना और क्षण मात्र में विलीन होने में जो परिच्छेद है, वह इतना सूक्ष्म है कि अत्यन्त सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति सम्पन्न भी उसको वाणी से व्यक्त नहीं कर सकता । कहा गया है कि 'काल के लव का सूक्ष्मांश अभेद्य और निरंश हो जाता है' । स्थिति यह है कि उत्पाद के अनन्तर निरोध इस वाक्य में उपचाररूप से आदि और अन्त का अनुभव होने पर भी मध्य की

अन्यथेति 'अभेद्यो निरंशः काललवक्षणः' इत्यादिना साक्षाल्लक्षणेनेत्यर्थः। एवं हि उत्पादानन्तरं निरोध इत्येवमुच्यमाने तस्याद्यन्तौ कथितौ स्यातां तत्सद्भावे च मध्यमप्यवश्यसंभाव्यम्,—इत्यस्यादिमध्यावसानैस्त्र्यंशत्वमापतेदिति निरंशत्वेऽभिधित्सिते सांशत्वमभिहितं स्यात्। यदाहुः

'यथान्तोऽस्ति क्षणस्यैवमादिर्मध्यं च चिन्त्यताम्।
आत्मकत्वात्क्षणस्यैवं न लोकस्य क्षणे स्थितिः ॥' इति।

इत्थम्

'आदिमध्यावसानानि चिन्त्यानि क्षणवत्पुनः।'

इत्याद्युक्तयुक्त्यादिमध्यान्तरूपाणां तदंशानामप्येवंविचारे क्रियमाणे स एव पर्यनुयोगः,—इत्यनवस्थानात् न किंचित्सिद्धयेत्,—इत्यतिनिपुणैरपि तस्य लक्षणं कर्तुं न शक्यं, कृत वा न प्ररोहमियात्॥

ननु यद्येवं तज्ज्ञानस्यापि कोऽवधिर्येनैतन्निरूपितं भवेत्? इत्याशङ्क्याह

ज्ञानं कियद्भवेत्तावत्तदभावो न भासते ॥ २६ ॥

कियदिति, क्षणिकत्वेऽपि किं परिमाणमित्यर्थः। 'तदभावः' इति ज्ञानाभावः तेन यावत्तदभावो न वृत्तस्तावदेकमेव तज्ज्ञानं भवेदिति भावः। अभावश्च प्रत्यक्षग्राह्यः कार्यश्चेति अन्यत्रोपपादितमिति तत एवावधार्यम्॥ २६॥

सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। जहाँ हम काल का निरंशत्व कहना चाह रहे हैं, वहीं आदिमध्यावसानमय आंशिकता का भी कथन हो जा रहा है। एक आगमिक उक्ति है कि,

क्षण का जैसे अन्त होता है, उसी तरह उसका आदि और मध्य भी चिन्तन का विषय होता है। क्षण की इस सूक्ष्म विलक्षणता के कारण सामान्य जन क्षण में अपनी स्थिति का निरीक्षण नहीं कर सकते।" क्षण की तरह उसके आदि, मध्य और अन्त का चिन्तन (अत्यन्त श्रेयस्कर है)"। समस्या तो यह है क्षणों के अंश और उनके भी अंश और उनके अंश के विचार में संवेदन जन्य क्लेश ही हाथ लगता है, किसी लक्ष्य की सिद्धि नहीं होती।

दूसरी समस्या ज्ञान के क्षण को लेकर भी उपस्थित होती है। काल की क्षणिकता, ज्ञान की क्षणिकता और ज्ञान के क्षण का परिमाण उतना ही है, जब तक उसका अभाव द्योतित नहीं होता। अभाव का प्रत्यक्ष ग्रहण कैसे होता है आदि विषय अन्यत्र प्रतिपादित हैं, जहाँ इनके सन्दर्भ हैं। वहाँ से इनकी अवधारणा आवश्यक है॥ २६॥

ननु यद्येवं तत्तदभावोऽपि कदा जायते येन ज्ञानस्याप्यवधिः ? इत्याशङ्क्याह

तदभावश्च नो तावद्यावत्तत्राक्षवर्त्मनि ।
अर्थे वात्मप्रदेशे वा न संयोगविभागिता ॥ २७ ॥

ज्ञानस्य च तावदभावो न जायते यावदिन्द्रियाणामर्थस्य प्रमातुर्वा संयोगविभागौ न स्यातां, तदविरतेन्द्रियव्यापारस्य प्रमातुर्नीलादिविषये ज्ञाने जायमाने यदा नीलादिना विभाग उत्पद्यते, पीतादिना वा संयोगस्तदा तदभाव इति । ननु प्रदीपादिवत् प्रतिक्षणं करणोपयोगात् ज्ञानस्य क्षणिकत्वे सर्वेषां तावदविवादोऽन्यथा विततकरणव्यापारस्यापि प्रमातुर्नीलादिज्ञानं न स्यात् तत्किमेतदुक्तं यदिन्द्रियाणां यावन्न संयोगविभागोदयस्तावदेकमेव ज्ञातमिति; एवं हि धारावाहिनां विज्ञानानामभावोऽभिहितो भवेत् । सत्यं, किंतु भवदभिरुचितं निरन्वयविनाशात्म क्षणिकत्वं ज्ञानस्य न स्यात्, इत्यभिदध्मः । अनन्तरं हि त्रिचतुरादि-

ज्ञान की अवधि का सूक्ष्म पर्यवेक्षण उपस्थापित कर रहे हैं—

ज्ञान का अभाव तब तक नहीं होता, जब तक प्रमाता और उसकी इन्द्रियों का संयोग विभाग न हो जाये। प्रमाता की दृष्टि किसी पदार्थ पर पड़ती है। उसे प्रतीत होता है कि यह वस्तु नील है, पीत है या इस रंग की है। इस दृष्टि भेद से वस्तु भेद उत्पन्न होता है। नील से हटकर दृष्टि जब पीत पर पड़ती है तो नील-ज्ञान की अवधि समाप्त हो जाती है। यह विभाग है। पीत का संयोग होता है। फिर विभाग होता है। एक साथ ही काल और ज्ञान की वस्तु-संयोग जन्य अवधि समाप्त और शुरू होती रहती है। संयोग विभाग चालू रहने पर ज्ञान का भाव और न रहने पर ज्ञान का अभाव मानना चाहिये।

दीपक के प्रकाश में वस्तु का इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष प्रतिक्षण रहता है। इसमें ज्ञान की क्षणिकता का सहज आभास हो जाता है। ऐसा न मानने पर सदा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष व्यापार रत प्रमाता को भी कोई नीलादि ज्ञान नहीं हो सकता। संयोग विभाग की क्रमिकता न रहने पर एक ज्ञान रहता है—यह बात भी गलत सी हो जायेगी। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से धाराप्रवाह विज्ञान भी कैसे होगा ? उलटे इनका अभाव ही होने लगेगा।

इन समस्याओं के रहते भी सोचना तो यह है कि ज्ञान की अवधि का स्वरूप क्या है ? तीन चार या बहुत सारे क्षणों के बाद भी ज्ञान का रहना पाया

क्षणावस्थायि ज्ञानं भवेदिति समनन्तरं क्षणनिर्णयेनैवोपपादितम्। तस्मादेकरसेऽपि नीलादिविषये विज्ञानेऽन्तरा चक्षुरादीन्द्रियविभागादिना तदभावादि स्थितमेव किंतु न तथा संचेत्यते; तेन धारावाहिनां विज्ञानानामप्यभावो न स्यादिति न कश्चिद्विरोधः ॥ २७ ॥

ननु संयोगविभागितापि किं सकारणिका भवेत् न वा ? इत्याशङ्क्याह

सा चेदुदयते स्पन्दमयी तत्प्राणगा ध्रुवम् ।
भवेदेव ततः प्राणस्पन्दाभावे न सा भवेत् ॥ २८ ॥

स्पन्दमयीति, स्पन्दः प्रकृतिर्मूलकारणं यस्याः सा स्पन्दाधीनैव इत्यर्थः। देशाद्देशान्तरं हि चलद्वस्तु वस्त्वन्तरेण संयुज्यते वियुज्यते वेत्यभिप्रायः। स्पन्दश्च प्राणाश्रयः, इति पारम्पर्येण संयोगविभागितापि प्राणगतैव निश्चितं भवेत्, इति प्राणस्पन्दाभावे सा न भवेत्; निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभावः, इति नीत्या तद्भावोऽपि कुतस्त्य इत्यर्थः ॥ २८ ॥

जाता है। वह क्षणिक कहाँ होता है ? हो ही नहीं सकता ज्ञान का निरन्वय क्षणिकत्व। एकरस नीलादिज्ञान की दशा में यदि आँखें दूसरे विषय की ओर उन्मुख हो जाती हैं, तो वहाँ नये ज्ञान का उदय और पुराने का अभाव तो स्वभावतः हो जाता है। पर यह अभाव ऐसा नहीं होता जैसा कि पदार्थ का स्मरणात्मक ज्ञान भी समाप्त हो जाये। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि धारा प्रवाह विज्ञान का अभाव नहीं होता अपितु उनके अर्थों का सन्दर्भित अर्थ उजागर रहता है। उस विषय में किसी का विरोध नहीं। यह निर्विवाद नियम है ॥ २७ ॥

संयोग और विभाग भी अकारण नहीं होते। उनके कारण भी होते हैं या नहीं ? इस जिज्ञासा का समाधान कर रहे हैं—

यह नियम है कि निमित्त के अभाव में नैमित्तिक का भी अभाव हो जाता है। प्राण में स्पन्द होता है। स्पन्द से संयोग विभाग भी अपने आप होते हैं। प्राण स्पन्द के अभाव में इसका भी अभाव निश्चित है। कोई वस्तु जो एक देश से दूसरे देश में गमनशील होगी वह दूसरे वस्तु से मिलेगी भी और और वियुक्त भी होगी। इससे यह निश्चय होता है कि संयोगविभागिता प्राणगत होती है। यह इसकी सकारणिका अवस्था है ॥ २८ ॥

ननु भवतु नाम संयोगविभागिता मा वा भूत् किमनया नश्चिन्तया, यावता ह्यत्र प्राणग्रासक्रमेण कालग्रासे वृत्ते एकैव पूर्णा संवित्स्यादित्युपक्रान्तं तदेव कथं निर्वहेत् इत्युच्यताम् ? इत्याशङ्क्याह

तदभावान्न विज्ञानाभावः सैवं तु सैव धीः ।

तस्याः संयोगविभागितताया अभावाद्विज्ञानस्याप्यभावो न स्यात्; यद्धि यदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत्तत्कार्यं भवेदिति भावः । एवं हि सति सा प्राच्या या धीः संवित्सैवेयं नतु संविदन्तरमेकैव पूर्णा संवित्स्यादित्यर्थः ॥

नन्वेवमेकस्या एव संविदः किं पूर्वापरैकीकाराद्दैतत्येनावभासो भवेत् ? इत्याशङ्क्याह

न चासौ वस्तुतो दीर्घा कालभेदव्यपोहनात् ॥ २९ ॥

असाविति धीः दीर्घेत्यर्थान्न सूक्ष्मापि दैर्घ्यादि हि कालाधीनं, न चास्यास्तत्स्पर्श एवास्ति अकालकलितत्वात् ॥ २९ ॥

यहाँ एक नयी बात सामने आती है। क्रमिक रूप से प्राण ग्रास हो जाने पर कालग्रास होता है। उस समय एकरस पूर्ण संवित् तत्त्व ही उल्लसित रहता है। इस का निर्वाह कैसे हो ? क्योंकि यहाँ भी सकारणिकता उपस्थित है ? इस पर कह रहे हैं—

संयोग और विभागिता के अभाव में विज्ञान का अभाव नहीं होता। अन्वय व्यतिरेक पद्धति से होने वाले कार्य होते ही हैं। इस तरह वह पहली जानकारी जो संयोग की दशा में उत्पन्न होती है, वही संविद्रूपा होती है। इसके अतिरिक्त किसी दूसरी संवित् की कल्पना यहाँ नहीं होती।

यहाँ यह शङ्का भी नहीं करनी चाहिये कि उक्त एक प्राच्य संविद् से पूर्व और अपर की भावना के कारण स्थायी और दीर्घावधिक अवभास नहीं होगा। यह कोई रस्सी आदि की तरह लम्बी चीज नहीं। वह सूक्ष्म और अकाल कलित विज्ञानकला के समान होती है। काल के अधीन होने का, उसके आश्रित होने का या उसके सम्पर्क का प्रश्न भी यहाँ नहीं उठाया जा सकता है ॥ २९ ॥

तदाह

वस्तुतो ह्यत एवेयं कालं संविन्न संस्पृशेत् ।

एवं वस्तुतो नित्यत्वमप्यस्या न संभवेत्, तद्धि कालत्रयानुगामित्वमुच्यते ननु सदाभासमानत्वम्, एवं हि त्रिषु कालेषु भासमानत्वमुक्तं स्यात् । यदाहुः

'न सदा न तदा न चैकदे-
त्यपि सा यत्र न कालधीर्भवेत् ।
तदिदं भवदीयदर्शनं
न च नित्यं न च कथ्यतेऽन्यथा ॥'

(उ० स्तो० १२।५)

ननु यद्येवमकालकलिता वस्तुत एकैव संविदस्ति तत्कथमयं बहिर्भेदनिष्ठो व्यवहारः सिद्ध्येत् ? इत्याशङ्क्याह

अत एकैव संवित्तिर्नानारूपे तथा तथा ॥ ३० ॥
विन्दाना निर्विकल्पापि विकल्पो भावगोचरे ।

इसे और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

वस्तुतः संविद् काल का स्पर्श भी नहीं करती । नित्य शब्द भो कालानुगामित्व का ही बोधक है । संविद् के विशेषण का काम नित्य शब्द नहीं कर सकता । साधक या अध्येता अपने सामान्य संस्कार के अनुरूप उसमें सदा आभासन को बात न सोचें । इस स्थिति में भी उसकी त्रैकालिक भासमानता में अन्तर नहीं पड़ता । उ० स्तो० १२।५ में स्पष्ट ही कहा गया है कि—

"सदा, तदा, एकदा रूप काल भावना में वह कभी नहीं बाँधा जा सकता । प्रियतम ! आप का दर्शन नित्य भी नहीं और अनित्य भी नहीं कहा जा सकता ।"

यहाँ यह शङ्का भी व्यर्थ है कि अकाल कलित एक संवित् मानने पर बाह्य भेदनिष्ठ व्यवहार कैसे चल सकते हैं ? क्योंकि संवित्ति के एक होने परभी विभिन्न उन उन रूपों में भी वह सुध्युपास्य हो जाती है । यह उसका वैशिष्टय,

अतः कालसंस्पर्शाभावात् एकैव निर्विकल्पापि संवित्तिर्नानारूपेऽनेकाभास-संमूर्छनात्मनि भावविषये तथा तथा नीलानीलादिरूपतया विन्दाना विमृशन्ती विकल्प इत्युच्यते, इति न बाह्यस्यापि व्यवहारस्य विप्रलोपः ॥३०॥

ननु तथा तथा विमर्शेऽप्यस्याः कथमेकत्वमेव ? इत्याशङ्क्याह

स्पन्दान्तरं न यावत्तदुदितं तावदेव सः ॥ ३१ ॥

तावानेको विकल्पः स्याद्विविधं वस्तु कल्पयन् ।

तत्तस्मात्पूर्वोक्तात्तत्तदर्थादिसंयोगविभागोत्पादलक्षणात् हेतोर्याविद्विकल्प्य-वस्त्वन्तरविषयं स्पन्दान्तरं नोदितं तावन्नानाप्रकारं वस्तु कल्पयन्नपि तावान्दी-र्घंदीर्घ एक एव विकल्पः स्यात् न पुनरनेक इत्यर्थः । यत्तदनेकाभाससंमूर्छनात्म-तया विकल्प्यमानेऽपि नीलादौ विकल्पस्यैक्यमेव तावत एकस्यैवानुसंधानस्य भावात् अन्यथा पुनरस्य स्वरूपलाभ एव न भवेदिति भावः ॥३१॥

तदाह

ये त्वित्थं न विदुस्तेषां विकल्पो नोपपद्यते ॥ ३२ ॥

स ह्येको न भवेत्कश्चित् त्रिजगत्यपि जातुचित् ।

ये इति **बौद्धाः**, इत्थमिति स्पन्दान्तरोदय एव विकल्पान्तराणामुदयो नत्वेकस्मिन्नेव स्पन्दे इत्यर्थः । एक इति, येन स्मृत्यपलापाद्यनेकाश्रयनिबन्धनो बाह्यो व्यवहारः सिद्ध्येत् ।

वैलक्षण्य और वैचित्र्य-स्वातन्त्र्य है कि निर्विकल्प रहती हुई भी भावात्मक विकल्प रूपता को स्वीकार कर लेती है। परिणामतः नील पीतादि विमर्श भी वह करती है। इस तरह बाह्य व्यवहार के विलुप्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता ॥ ३० ॥

विभिन्न विमर्शों की विकल्पात्मकता में भी उसके एकत्व में कोई बाधा नहीं होती। स्पन्द की यही विशेषता है। एक स्पन्द हुआ। उसमें अनेक वस्तुओं के आकलन में दीर्घ-दीर्घ विकल्प भी उत्पन्न हुए, पर वह तो एक ही रहा। संयोग विभाग की उत्पत्ति के कारण तो स्पन्द ही होते हैं। एक स्पन्द, अनन्त वस्तुओं का कल्पन और एक ही विकल्प। एकात्मक अनुसन्धान! सूक्ष्म विमर्शात्मक चैतन्य! यह सब स्पन्द का ही चमत्कार है। इसके अतिरिक्त स्पन्द, विकल्प और विमर्श का कोई रूप ही नहीं बनता ॥ ३१ ॥

एतदेव दर्शयति

शब्दारूषणया ज्ञानं विकल्पः किल कथ्यते ॥ ३३ ॥

सा च स्यात्क्रमिकैवेत्थं किं कथं को विकल्पयेत् ।

घट इत्यपि नेयान्स्याद्विकल्पः का कथा स्थितौ ॥ ३४ ॥

न विकल्पश्च कोऽप्यस्ति यो मात्रामात्रनिष्ठितः ।

कथ्यते इति भवद्भिः । यदुक्तं । 'अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना' इति । सेति शब्दारूषणा, क्रमिकेति वाचः क्रमभावित्वात्, इत्थं क्रमिकत्वाद्विकल्पस्योदितानां तत्क्षणानां प्रध्वस्तत्वान्नवानां चानुदयात् को न कश्चित्कल्पितोऽपि विकल्पात्मा प्रमाता किमुत्पन्नप्रध्वस्तप्रकल्प्यं पूर्वापरानुसंधानादेरभावाच्च कथं विकल्पयेत् विकल्पस्य स्वरूपलाभ एव न भवेदित्यर्थः । अत एव घकारोच्चारकाले टकारस्याभावात्तदुच्चारकाले च तस्य प्रध्वस्तत्वाद् यत्र 'घट' इत्येतावन्मात्रोऽपि विकल्पो न सिध्येत् तत्र व्यवहारादिचिन्ता दूर एवास्तां तदवस्थानमात्रेऽपि का वार्तेत्यर्थः । नहि तन्मते कोऽप्येवंविधो विकल्पोऽस्ति यस्यांशमात्रेऽपि परिनिष्ठितत्वं तथात्वे ह्येषां क्षणभङ्गव्रतविलोपो भवेदिति भावः ॥

क्षणिकता वादी बौद्ध इसे नहीं मानते । स्पन्दान्तर में ही विकल्पान्तर समुदय उन्हें स्वीकार नहीं है । पर इससे कोई फर्क नहीं पड़ता । वे मानें या न मानें, सत्य तो यही है कि वास्तविकता से वे अपरिचित हैं ॥ ३२ ॥

इसी वस्तु-सत्य का विश्लेषण कर रहे हैं—

बौद्ध न्याय के अनुसार शब्द से आरूषित ज्ञान ही विकल्प है । 'अभिलाप संसर्ग योग्य प्रतिभासा प्रतीति को ही कल्पना कहते हैं । वाणी का प्रयोग हुआ । शब्द और वाक्य की क्रमिकता से उत्पन्न विकल्पों के क्षण नष्ट हुए । शब्द भी नष्ट, विकल्प भी नष्ट और क्षण भी नष्ट । उत्पन्न प्रध्वस्त की बाल-कल्पना पूर्वापरात्मक अनुसन्धान कैसे करने देगी । कोई प्रमाता विकल्प सिद्ध वाक्य व्यवहार कैसे चला पायेगा ? घट शब्द के 'घ' के उच्चारण के बाद 'घ' नष्ट हो गया । 'ट' वहाँ अभी है नहीं । फिर 'ट' की ओर बुद्धि गयी । 'ट' का उच्चारण किया । अब 'ट' भी नष्ट और क्षण भी नष्ट ! जहाँ घटात्मक विकल्प ही असिद्ध हो रहा हो, वहाँ बाह्य व्यवहार सिद्धि की बात क्या की

नन्वेकमेव मालासूत्रवत्सर्वत्रानुयायि ज्ञानं किंचिन्नास्ति, इत्यस्माकं मतं नतु क्षणभङ्गुराण्यनेकानि ज्ञानानि न सन्तीति; तत्तान्येय समुदितानि बाह्यव्यवहारनैपुण्यभाञ्जि भविष्यन्ति, इति को दोषः ? इत्याशङ्क्याह

न च ज्ञानसमूहोऽस्ति तेषामयुगपत्स्थितेः ॥ ३५ ॥

अयुगपत्स्थितेरिति, उत्पादानन्तरं तन्निरोधस्याभिधानात् ॥ ३५ ॥

तस्माद्वैकल्पिकः सकल एवायं व्यवहारस्तन्मते न सिद्ध्येत्, इत्याह

तेनास्तङ्गत एवैष व्यवहारो विकल्पजः ।

तेन।स्मत्पक्ष एव ज्यायानित्याह

तस्मात्स्पन्दान्तरं यावन्नोदियात्तावदेककम् ॥ ३६ ॥
विज्ञान तद्विकल्पात्मधर्मकोटीरपि स्पृशेत् ।

तद्यावद्विकल्पान्तरनिष्ठं स्पन्दान्तरं नोदेति तावद्गोत्वशुक्लत्वचलत्वाद्यात्मकं धर्मौघमपि विकल्पयेत् एकमेवैतद्वैकल्पिकं ज्ञानं स्यात् येनैकानुसंध्यनुप्राणितः समग्र एवायं व्यवहारः सिध्येत् ॥ ३६ ॥

जाय ? इनके मतानुसार कोई ऐसा विकल्प नहीं है जिसमें अंशमात्र में भी परिनिष्ठा हो ! ऐसा मानने पर क्षणभङ्गव्रत का विलोप रूप अनर्थ ही हो जायेगा ! ॥ ३३-३४ ॥

हमारी मान्यता के अनुसार माला की तरह एक सूत्र ग्रथित कोई ज्ञान नहीं होता । क्षणभङ्गुर अनेक ज्ञान नहीं हैं—यह बात भी नहीं मानी जाती । ऐसे उदित ज्ञान ही बाह्य व्यवहारों के निपुणता पूर्वक साधक हो सकते हैं । इसमें क्या दोष है ? इस आशङ्का का उत्तर दे रहे हैं—

ज्ञान से उत्पन्न होने के साथ उसके नष्ट हो जाने की आपकी मान्यता के कारण ज्ञान राशि कैसे अस्तित्त्व में रह सकती है ? क्षण भङ्गुर ज्ञान स्वयं ही अस्तित्व रहित हैं । ये व्यवहार साधक नहीं हो सकते हैं ॥ ३५ ॥

बौद्ध मान्यता के अनुसार यह सारा वैकल्पिक व्यवहार असिद्ध ही है । हमारी मान्यता के अनुसार ही यह यथातथ रूप से सिद्ध है । अतः यही मत श्रेष्ठ है । इसके अनुसार एक स्पन्द से समुदित बोध की दशा में जब तक दूसरा स्पन्द उदित नहीं होता, तब तक वही बोध अनेक विकल्प कोटि का स्पर्श करने

न चैतदपूर्वतया स्वोपज्ञमेवोक्तमित्याह

एकाशीतिपदोदारशक्त्यामर्शात्मकस्ततः ॥ ३७ ॥

विकल्पः शिवतादायी पूर्वमेव निरूपतः ।

तत उक्तानेकधर्मपरामर्शकत्वेऽप्येकत्वलक्षणाद्धेतोर्व्योमव्यापिरूपः शुद्ध-विद्यात्मा विकल्पस्तत्तदनेकहृदादिशक्त्यामर्शकत्वेऽप्येकत्वात् पार्यन्तिकफलरूपां शिवतामेव ददातीति पूर्वमेवास्माभिरुक्तम् ॥ ३७ ॥

नन्वेवमेकस्मिन्नेव प्राणचारे एकपिण्डात्मकाच्चक्रादारभ्य सचतुः शतद्वय-शीतिसहस्राधिकत्रयोदशलक्षात्मकचक्राद्यन्तं यावच्चक्राणां स्वारसिक एवोदयो वर्तते,—इति योगिनां प्रतिनियतचक्रविषयः कथमवगमो भवेत् ? इत्याशङ्कां दृष्टान्तोपदर्शनेनोपशमयति

यथा कर्णौ नर्तयामीत्येवं यत्नात्तथा भवेत् ॥ ३८ ॥

चक्रचारगताद्यत्नात्तद्वत्तच्चक्रगैव धीः ।

में सक्षम होता है। गोत्व के साथ ही शुक्लत्व, कपिलत्व, और चलत्वादि धर्म राशिरूप विकल्प व्यवहार स्वयं सिद्ध हो जाते हैं और एकसन्ध्यनुप्राणित व्यवहार-परम्परा का पूर्ण रूप से पालन हो जाता है ॥ ३६ ॥

यह कोई नई बात नहीं कही गयी है अपितु पहले ही यह विषय प्रति-पादित है। शक्ति को एकाशीति पदा देवी कहा गया है। इसका आमर्शात्मक विकल्प शिवत्त्व रूप पार्यन्तिक फल प्रदान करने वाला है। अनेक धर्म परामर्शक होने पर भी जिसके एकत्व के उल्लास में कोई अन्तर नहीं पड़ता ऐसे विकल्प का ही शास्त्रीय महत्त्व है। व्योम व्यापिनी शुद्ध विद्या रूप विकल्प ही ऐसा है, जिसमें अनेक हृदादि शक्तियों की आमर्श दशा में भी एकत्व का विमर्श सम्भव होता है ॥ ३७ ॥

यहाँ एक नया प्रश्न उपस्थित कर रहें हैं। ७२ अंगुल का एक प्राणचार होता है। इसे प्राणापानवाह अहोरात्र भी कहते हैं। इस एक पिण्डात्मक चक्र में तेरह लाख बयासी हजार आठ सौ चक्रों का स्वारसिक उदय होता है। यह प्रतिनियत चक्र रूप अवगम क्या योगियों को सरलता से हो जाता है ? इसका समाधान दृष्टान्त के माध्यम से कर रहे हैं—

कर्णौ नर्तयामीत्येवमिच्छापूर्वकात्प्राणीयाद्यत्नात् यद्वद्योगिनस्तथा भवेत्, गोस्फुरितादिन्यायेन कर्णद्वयमेव नृत्यत्स्यात् तद्वदेकपिण्डादिचक्रप्रधानो यः प्राणीयश्चारस्तद्गतादपि यत्नात्तच्चक्रगैव धीः प्रारिप्सितोदयप्रतिनियतचक्रनिष्ठ एवावबोधो भवेदित्यर्थः । अयमत्र भावः—इह खलु योगिना यत्र क्वापि कर्मणि यस्य कस्यचिन्मन्त्रस्यावश्यं प्राणसाम्येनोच्चारः कार्यः, अन्यथा हि न कार्यसिद्धिः स्यात् । तदुक्तम्

'जपेत्तु प्राणसाम्येन ततः सिद्धिर्भवेद्ध्रुवम् ।
नान्यथा सिद्धिमाप्नोति हास्यमाप्नोति सुन्दरि ।।'' इति ।

ततश्चैकपिण्डात्मनोऽन्यस्य वा चक्रस्योदये तुल्य एव विधिः प्राणसाम्यस्य सर्वत्राविशेषात् ॥ ३८ ॥

तदाह

जपहोमार्चनादीनां प्राणसाम्यमतो विधिः ॥ ३९ ॥

होमेति, तत्रापि मन्त्रोच्चारस्य भावात् । अत इत्युक्ताच्चक्रोदयाद्धेतोः, संख्यायास्तु स्वारसिकप्राणचाराभिप्रायेण वर्णभूयस्त्वाभूयस्त्वनिबन्धनं तथात्वमिति न कश्चिद्विरोधः ॥ ३९ ॥

प्राणीय प्रयत्न से योगी लोग या कुछ साधक या कुछ जादूगर भी कान या कहीं का चर्म-चालन करने लगते हैं । जैसे पशु भी यथेच्छ चर्मचालन कर लेता है । उसे गोस्फुरित कहते हैं । उसी तरह यदि कोई योगी दोनों कान नचाने लगे तो उसे प्रतिनियत नर्त्तन का स्पन्द-बोध होता है । उसी तरह उसके चाहने से प्राणसाम्य के माध्यम से सारे स्पन्द-बोध हो जाते हैं ।

एक तरफ से यह आवश्यक भी है । मन्त्र कई प्रकार और कई श्रेणी के होते हैं । प्राणसाम्य की सजातीयता के अनुसार जप करने से बड़ा लाभ होता है । कहा भी गया है कि "प्राणसाम्य से जप करने पर अनिवार्य सिद्धि मिलती है । अन्यथा सिद्धि नहीं होती और वह जापक हँसी का पात्र हो जाता है" । इस तरह योगी प्राणचार के क्रम में समस्त चक्रों के बोध में समर्थ हो जाता है ॥ ३८ ॥

इसलिये आगमिक या सभी आचार्य यह स्वीकार करते है कि चाहे जप हो, अर्चा हो या होम आदि हो, सब में प्राणसाम्य की विधि का आचरण आवश्यक है ।

किमत्र प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह

सिद्धामते कुण्डलिनीशक्तिः प्राणसमोन्मना ।
उक्तं च योगिनीकौले तदेतत्परमेशिना ॥ ४० ॥

तदेतत्परमेशिना श्रीसिद्धयोगीश्वरीमते श्रीयोगिनीकौले चोक्तमिति संबन्धः। तत्तदेकपिण्डाद्यात्मकमन्त्ररूपतया बहिरुल्लसन्ती वर्णकुण्डलिन्याख्या पारमेश्वरी शक्तिर्यदि नाम प्राणसमा प्राणसाम्येनोदयमियात् तदुन्मना शिवैकात्म्येन प्रस्फुरेदियत्र्थः। यदुक्तं तत्र

'कुर्यात्प्राणसमं जप्यं होमं प्राणसमं कुरु ।
एवं प्राणसमा शक्तिः कुण्डलाख्या मनोन्मनी ॥' इति ॥ ४० ॥

श्रीयोगिनीकौलग्रन्थं पठति

पदमन्त्राक्षरे चक्रे विभागं शक्तितत्त्वगम् ।
पदेषु कृत्वा मन्त्रज्ञो जपादौ फलभाग्भवेत् ॥ ४१ ॥

पदप्रधानानि मन्त्राक्षराणि यत्रैवंविधे चक्रे पदेषु शक्तितत्त्वगं विभागं कृत्वा एकैकं पदं प्रतिप्राणचारं प्रविभागेनोदयं कारयित्वा जपहौमादौ मन्त्रोदयं जानानो योगी फलभाग्भवेत्, यथोचितं फलमाप्नुयादित्यर्थः ॥४१॥

होम की चर्चा इसलिये है कि उसमें भी मन्त्रोच्चार होता है। मन्त्र बड़ा हो या छोटा अपने प्राणचार में उसे संयोजित कर उसका जप विधि पूर्वक सम्पन्न होना ही चाहिये ॥ ३९ ॥

इस सन्दर्भ में सिद्धयोगीश्वरी और श्री योगिनी कौल शासनों का प्रमाण उपस्थित करते हुए कह रहे हैं कि एक पिण्डात्मिका वर्णकुण्डलिनी रूपा पारमेश्वरी शक्ति मन्त्रोच्चार सहित जब उल्लसित होती है अर्थात् प्राणचार के साथ प्राण के साथ ही उदित होती है तो वह मूलाधार से उन्मना की यात्रा में शिवैकात्म्य भाव प्राप्त कर लेती है। वहाँ की उक्ति है कि,

"प्राण के साथ ही जप करना चाहिए। होम भी प्राणसाम्य से होना चाहिए। इस प्राण-समा शक्ति को मनोन्मनी कुण्डलिनी कहते हैं"। यह सारा कथन स्वयं परमेश्वर का ही है ॥ ४० ॥

ननु कोऽसौ विभागः किं वा फलम् ? इत्याशङ्कयाह

द्वित्रिसप्ताष्टसंख्यातं लोपयेच्छतिकोदयम् ।

इह चक्राणां प्रागुक्तवदेकद्वित्रिसप्ताष्टादिपदपिण्डसंख्यातम्, अर्थात् लोपयेत् प्राणग्रासं कुर्यादित्यर्थः। एतदेव हि मुख्यं फलं योगिनां यदकालकलितायां परस्यां संविद्यनुप्रवेश इति ।

एवं चात्रैवावधातव्यमित्याह

इति शक्तिस्थिता मन्त्रा विद्या वा चक्रनायकाः ॥ ४२ ॥

पदपिण्डस्वरूपेण ज्ञात्वा योज्याः सदा प्रिये ।

नित्योदये महातत्त्वे उदयस्थे सदाशिवे ॥ ४३ ॥

अयुक्ताः शक्तिमार्गे तु न जप्ताश्चोदयेन ये ।

ते न सिद्धयन्ति यत्नेन जप्ताः कोटिशतैरपि ॥ ४४ ॥

इति प्रागुक्तं सर्वं ज्ञात्वा चक्रप्रधाना मन्त्रा विद्या वा पदपिण्डस्वरूपेण समनन्तरोक्तपदपिण्डादिगत्या 'शक्तिस्थिताः' प्राणसाम्येनोदिताः सर्वकालं जपादौ

योगिनी कौल ग्रन्थ का सन्दर्भ-पद्य प्रस्तुत कर रहे हैं—

पद प्रधान मन्त्राक्षर वाले चक्रों में जप की विधि क्रमिक रूप से इस प्रकार है १—पदों में शक्तितत्व-गति का आकलन, २—तदनुरूप उनका विभाग, ३—एक-एक पद को प्रति प्राणचार में उदय कराना और ४—जप, अर्चा या होम में भी उनका प्रयोग। ऐसा जानने और करने वाला साधक यथोचित फल की शीघ्र प्राप्ति कर लेता है ॥ ४१ ॥

विभाग का निर्देश करते हुए कह रहे हैं कि योगी २, ३, ७, और आठ पदों के पिण्डों की जानकारी करते हुए शतिकोदय अर्थात् अनेक पदात्मक पिण्ड रूप चक्र पर्यन्त अनुकूल विभाग करे। इससे प्राणचार का ग्रास होने लगता है। इसका सब से बड़ा फल है—अकालकलित परसंवित् में अनुप्रवेश !

उक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि चक्रों में प्रधानतया अधिष्ठित मन्त्र और विद्यायें शक्ति में ही स्थित रहती हैं। शक्ति प्राणतत्त्व है। प्राणचार में पद पिण्ड योजना जप की एक अनोखी और मौलिक विधि है। प्राण जब आमावस्य प्रातिपद सन्धि से स्पन्दित होकर उदित होने का उपक्रम करता है,

योज्या येन यथोचिता योगिनां सिद्धिः स्यात्। अन्यथा हि नित्योदयेऽत एव परमुपेयत्वान्महातत्त्वे, सृष्टिप्राधान्यादुदयस्थेऽत एव तत्सिद्धिप्रदायित्वात् सदैव श्रेयोरूपे शक्तिरूपे मध्यधाम्न्ययोजिताः, तथा प्राणस्योदयेन निर्गमेन अर्थात्प्रवेशेनापि ये मन्त्रादयो न जप्तास्ते कोटिशतैर्यत्नेनापि जप्ता न सिद्ध्यन्ति, तां पूर्णां दातुं न शक्ता इत्यर्थः। यदुक्तम्।

'न विन्दति यदा मन्त्री सृष्टिसंहारवर्त्मनी।
उदयास्तमरूपेण मन्त्रा अल्पफलप्रदाः॥
भोग मोक्षं न यच्छन्ति जप्ता ध्यातास्तु पूजिताः।
ईषत्फलं प्रयच्छन्ति शिवाज्ञासंप्रचोदिताः॥' इति।

मन्त्रा विद्या वेत्यनेनाजुद्देशोद्दिष्टो मन्त्रविद्याभेदोऽप्यासूत्रितः॥४४॥

ननु सर्वेषां मन्त्रादीनामविशेषेणैव किमियं व्यवस्था किमन्यथा वा? इत्याशङ्क्याह

मालामन्त्रेषु सर्वेषु मानसो जप उच्यते।
उपांशुर्वा शक्त्युदयं तेषां न परिकल्पयेत्॥ ४५॥

उसी समय मन्त्र के पद और विद्याओं के भी पद पिण्ड योजित करने चाहिये। पौर्णमास पद तक पहुँचते-पहुँचते पूरा मन्त्र पूरा हो जाना चाहिए। नित्योदय और उदयस्थ ये दोनों शब्द महातत्त्व के और सदाशिव तत्त्व के प्रतीक हैं। प्राण का उदय ही जीवन का उद्गम है। उदय में स्थित होना मध्यधाम की उपलब्धि है। यही शक्तिधाम है और सदाशिव अर्थात् शाश्वत श्रेयस्कर है। इसमें यदि मन्त्र युक्त न रहे, उनका योजन न हो सके, तो वे मन्त्र सिद्ध नहीं होते और यथोचित फल नहीं देते। कहा गया है—

"प्राणापान वाह को न जानने वाला जापक उदयस्थ नहीं हो सकता, संहार विधि से सृष्टि के उद्गम विन्दु तक नहीं पहुँच सकता और उसमें मन्त्रों का योजन नहीं कर सकता। परिणामतः मन्त्रपूर्ण फल नहीं दे पाते! न भोग और न मोक्ष कुछ भी उनसे नहीं मिल पाता। शिवाज्ञा से संप्रेरित मन्त्र अविधिपूर्वक जप, ध्यान और पूजा से नाम मात्र ही फल दे पाते हैं"॥ ४२-४४॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या सभी मन्त्रों और मन्त्र भेदों की सामान्यतः यही व्यवस्था है? या कोई दूसरी व्यवस्था भी है? इसका समाधान कर रहे हैं—

सर्वेष्विति विद्यास्वपि, मानस इति । तदुक्तम् ।

'आत्मा न शृणुते यं स मानसो जप उच्यते ।
आत्मना शृणुते यस्तु तमुपांशुं विजानते ॥
परे शृण्वन्ति यं देवि स शब्दः स उदाहृतः ।
(स्व० २।१४७) इति ।

वेति विकल्पे । स शब्दस्यार्थसिद्धो निषेधः ॥ ४५ ॥

ननु समनन्तरमेवोक्तं यच्छक्तिवर्त्मन्ययोजिता मन्त्रा न सिद्ध्यन्तीति तत्कथमिदमुच्यते 'शक्त्युदयं तेषां न परिकल्पयेत्' इत्याशङ्क्याह

पदमन्त्रेषु सर्वेषु यावत्तत्पदशक्तिगम् ।
शक्यते सततं युक्तैस्तावज्जप्यं तु साधकैः ॥ ४६ ॥
तावती तेषु वै संख्या पदेषु पदसंज्ञिता ।
तावन्तमुदयं कृत्वा त्रिपदोक्त्यादितः क्रमात् ॥ ४७ ॥
द्वादशाख्ये द्वादशिते चक्रे सार्धं शतं भवेत् ।
उदयस्तद्धि सचतुश्चत्वारिंशच्छतं भवेत् ॥ ४८ ॥
षोडशाख्ये द्वादशिते द्वानवत्यधिके शते ।
चारार्धेन समं प्रोक्तं शतं द्वादशकाधिकम् ॥ ४९ ॥
षोडशाख्ये षोडशिते भवेच्चतुरशीतिगः ।
उदयो द्विशतं तद्धि षट्पञ्चाशत्समुत्तरम् ॥ ५० ॥

विद्याओं और माला मन्त्रों के जप मानस होने चाहियें। अथवा उपांशु जप होना चाहिये। शक्ति के उदय में इनका संयोजन नहीं होता। स्व० २।१४७ के अनुसार "जिसे स्वयं भी न सुन सकें, वह मानस जप है। स्वयं सुनने पर उपांशु और दूसरों के सुनाई देने पर वह मात्र शब्दोच्चारया रह जाता है" ॥ ४५ ॥

पहले कहा गया है कि शक्ति सरणी में जिन मन्त्रों का संयोजन नहीं होता, वे सिद्ध नहीं होते। यहाँ कहा गया है कि मन्त्रों का शक्ति में उदय अकल्पित है। यह तो वदतो व्याघात होने जैसी स्थिति है ?

चाराष्टभागांस्त्रीनत्र कथयन्त्यधिकान्बुधाः ।
अष्टाष्टके द्वादशिते पादार्धं विंशतिं वसून् ॥ ५१ ॥
उदयः सप्तशतिका साष्टा षष्टिर्यतो हि सः ।

एतदेवोपसंहरति

एष चक्रोदयः प्रोक्तः साधकानां हितावहः ॥ ५२ ॥

पदप्रधानेषु सर्वेषु विद्यादिरूपेषु मन्त्रेषु पदानां प्राणशक्तेश्च साम्यं गतं तज्जपादि अभियुक्तैः साधकैर्यावत्कर्तुं शक्यते तावदेव सर्वकालं जपनीयं येन तेषु पदेषु त्रिपदोक्त्यादिकं क्रममवलम्ब्य 'त्रिषु बहुत्वं परिसमाप्यते' इत्यादिनीत्या क्रमेणैकैकं पदं बहुपदतया विभज्य शमस्तस्य पदस्य प्राणचारसाम्येन सकृदुच्चारयितुमशक्यत्वात् तावन्तं पदांशपरिमाणं प्राणशक्तावुदयं कृत्वा तावतीपादांशपरिमाणैव पदसंज्ञिता जपस्य संख्या स्यादिति । अयमत्र भावः न केवलमनेकपदस्य मन्त्रस्य प्राणशक्तौ सकृदुच्चारयितुमशक्यत्वं यावद्बह्वर्णतया तत्पदस्यापीति तस्याप्यंशांशिकया विभागः कार्यो येन शनैः शनैरेकमेवं तदंशं प्राणसाम्येनोच्चारयतां योगिनां लक्षजपादि सिद्ध्येदिति । तदुक्तं तत्र

'पदमन्त्राक्षरे चक्रे विभागं शक्तितत्त्वगम् ।
पदेषु कृत्वा मन्त्रज्ञो जपं नित्यं तु कारयेत् ॥
द्वित्रिसप्ताष्टसंख्यातं लोपयेच्छतिकोदयम् ।
इति शक्तिस्थिता मन्त्रा विद्या वा चक्रनायकाः ॥
पदपिण्डस्वरूपेण ज्ञात्वा योज्याः सदा प्रिये ।
नित्योदये महातत्त्वे उदयस्थे सदाशिवे ॥
अयुक्ताः शक्तिमार्गे तु अजप्ताश्चोदयेन तु ।
नैव सिद्ध्यन्ति यत्नेन.......................... ॥' इति ।

इस पर अपना मत व्यक्त कर रहे हैं—

कुछ मन्त्र बीजात्मक होते हैं और कुछ विद्यात्मक । विद्यात्मक मन्त्र पदों के समवाय रूप होते हैं । ये पदप्रधान मन्त्र कहलाते हैं । प्राणचार की शाश्वत परम्परा में पदों का समरस भाव से मानस प्रवाह चलता है । यही जप हो जाता यदि माला मन्त्र १२ पदों का है, तो १२ से गुणा करने पर यह संख्या १४४

तथा

'मालामन्त्रेषु सर्वेषु मानसो जप उच्यते ।
शक्त्योदयं तु वै तेषु न कदाचित्प्रकल्पयेत् ॥
यतस्तेषां वरारोहे मानसस्तु जपः स्मृतः ।
क्वचिच्चैव उपांशुः स्याज्जपः शास्त्रेषु कीर्तितः ॥
महामन्त्रेषु सर्वेषु यावत्तत्पदशक्तिगम् ।
शक्यते सततं युक्तैः प्रजप्तुं साधकोत्तमैः ॥
तावती तेषु वै संख्या पदेषु पदसंज्ञिता ।
तावन्तमुदयं कृत्वा त्रिपदोक्त्यादितः क्रमात् ॥' इति ।

अतश्च सामस्त्येन मालामन्त्रादीनां प्राणशक्तावुदयं कर्तुं न शक्यते,—इत्युक्तमेषां शक्त्युदयं न परिकल्पयेदिति न तु सर्वं सर्विकया, तथात्वे हि जपस्याल्पफलप्रदत्वादधमत्वं स्यात् । यदुक्तम्

'अधमस्तु जपः प्रोक्तः प्राणसंख्याविवर्जितः ।' इति ।

पदविभागमेव दर्शयति द्वादशेत्यादिना । 'द्वादशाख्ये' द्वादशपदात्मके मालामन्त्राद्यात्मनि चक्रे 'द्वादशिते' संजातद्वादशसंख्याके प्रत्येकं पदद्वादशकस्य द्वादशधाविभागे कृते सति द्वादशानां चतुश्चत्वारिंशदधिकं शतं भवेत् येन तस्यापि प्रत्येकं सार्धं शतं प्राणचाराणामुदयः, इति सषट्शता सहस्रैकविंशतिः प्राणचाराणां स्यात् । तथा षोडशपदात्मके चक्रे द्वादशधा कृते तदंशानां द्वानवत्यधिकं शतं षण्णवतेरवशिष्टत्वादयं चोदयः । तथा षोडशाख्ये एव चक्रे षोडशधा कृते षोडशांशानां षट्पञ्चाशदधिकं शतद्वयं भवेदिति भावः । तस्य प्रत्येकं प्राणचाराणां

होती है । इन का प्रत्येकका १५० विभाग करने पर २१६०० संख्या हो जाती है । यही प्राणचार की संख्या भी है । इस तरह पदों के जप और प्राणचार का साम्य हो जाता है ।

कुछ १६ पदों के चक्र होते हैं । उनका १२ से गुणा करने पर १९२ भाग होते हैं । कुल प्राणचार में १९२ से भाग देने पर ९६ शेष बचते हैं । इसी तरह १६ पदों के चक्र को १६ से गुणित किया जाय तो २५६ पद होंगे । प्रत्येक प्राण चार की ८४ लब्धि पर भी ९६ ही शेष बचते हैं । इस तरह विचार करने पर कई तथ्य सामने आते हैं । मान लीजिये ६४ पदों का चक्र है । उसे बारह बार गुणित करने पर ७६८ संख्या होगी । प्राणचार में इससे भाग देने पर २८

चतुरशतिः षण्णवतेरेवावशिष्टत्वात् चाराष्टभागैरयमुदयो भवेत्। तथाष्टाष्टके चतुष्षष्टिपदात्मके चक्रे द्वादशधा कृते प्रतिपदं द्वादशकं प्राणचाराणां विंशतिवसुनष्टाविंशति तथा षण्णवतेरर्धावशिष्टत्वात् पादार्धमष्टभागमुदयो यतश्चतुःषष्ट्यात्मनश्चक्रस्य द्वादशभिर्गुणनात् अष्टषष्ट्यधिकशतसप्तकलक्षणा सा संख्या भवेदित्येवमत्र सर्वत्र प्राणचाराणां सषट्छता सहस्रैकविंशतिरेव भवेत् ॥४६-५२॥

ननु प्राणचारोदयानुसारं चक्राणामुदय इति स एव कीदृक् येन सोऽपि स्यात् ? इत्याशङ्क्याह

निरुद्धच मानसोर्वृत्तोश्चक्रे विश्रान्तिमागतः ।
व्युत्थाय यावद्विश्राम्येत्तावच्चारोदयो ह्ययम् ॥ ५३ ॥

उपलब्धि में भी ९६ ही शेष बचता है। यह अवशेष ७६८ का आँठवाँ भाग है। इस प्रकार पदों के और सम्पूर्ण प्राणचार से सामञ्जस्य बिठला कर योगी लोग मंत्रों का जप कर अर्थ से तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। इस प्रकार प्राण चार से सम्बन्ध करने पर मन्त्र तत्काल सिद्ध हो जाते हैं। विषय का उपसंहार करते हुए आचार्य यह घोषणा करते हैं कि यह साधना विधि साधकों के लिये अत्यन्त श्रेयस्कर है ॥ ४६-५२ ॥

एक पिण्डात्मक मन्त्र को भी चक्र कहते हैं। उसी पिण्ड में विश्रान्ति आवश्यक है। मन्त्र पिण्डात्मक चक्र का एक केन्द्र होता है। उस केन्द्र के मध्य भाग में विश्रान्ति की विधि गुरु द्वारा प्राप्त हो सकती है। इसके पहले मानसिक वृत्तियों का निरोध करना चाहिये। यहाँ निरोध का अर्थ याग मार्ग के अनुसार परित्यागपूर्वक दमन नहीं होता। दमन और निरोध युद्ध की भाषा है। तन्त्र माँ की जिज्ञासा का माहेश्वर द्वारा किया हुआ समाधान है। यहाँ किसी पदार्थ का परित्याग और ग्रहण, हान और उपादान नहीं होते। इस लिये यहाँ वृत्ति निरोध का अर्थ वृत्ति का अन्तर्मुखी भाव है। महापण्डित जयरथ ने भी इसी ओर संकेत किया है।

अन्तर्मुखी वृत्ति हो जाने पर मन्त्रचक्र को मध्य धाम में विश्रान्ति मिल जाती है। मध्यधाम हृदय कहलाता है। हृदय भी केन्द्र होता है। शरीर की दृष्टि से और प्राणचार की दृष्टि से नाभि ही हृदय है। यही श्वास का उद्गम केन्द्र है। स्थूल भाषा में जिसे जीवशास्त्री हृदय कहते हैं, वह अनाहत का स्थान

इह खलु योगी संकल्पात्मिका मानसीर्वृत्ती 'निरुद्धय' अन्तर्मुखीकृत्य 'चक्रस्य' एकपिण्डाद्यात्मनो मन्त्रस्य 'विश्रान्ति' मध्यधामैकात्म्यमागतः सन् यावदुत्थाय हृद आरभ्य द्वादशान्तपर्यन्तं निर्गम्य पुनरन्तः प्रविश्य हृद्येव विश्राम्येत् तावदयं प्राणस्योदयो भवेदित्यर्थः ॥ ५३ ॥

अत्रैव त्रैरूप्यं निरूपयन् सिद्ध्यादिविभागमप्याह

पूर्णे समुदये त्वत्र प्रवेशैकात्म्यनिर्गमाः ।
त्रय इत्यत एवोक्तः सिद्धौ मध्योदय वरः ॥ ५४ ॥

अत्र पुनः सम्यक् मध्यधामैकात्म्येन प्रवेशपर्यन्तं प्राणस्योदये निर्गमे 'पूर्णे' यथोक्तगत्या परिपूर्तिं प्राप्ते प्रवेशैकात्म्यनिर्गमलक्षणास्त्रयः प्रकाराः सन्तीत्यतः प्रकारत्रयमध्यात्सिद्धिनिमित्तमैकात्म्यलक्षणो मध्योदय एव प्रवेशादपि 'वरः' श्रेष्ठ उक्तः इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

है। पर प्राणचार की दृष्टि से प्राण सूर्य आमावस्य द्वादशान्त में अस्त होता है। पौर्णमास मध्यधाम केन्द्र नाभिकेन्द्र माना जाता है। इसे मातृ केन्द्र भी कहते हैं। यहीं से बाह्य द्वादशान्त तक की यात्रा का माप ७२ अंगुल होता है। श्वास के ३६ अङ्गुल जाने और ३६ अङ्गुल आने में प्राणापान प्रवाह रूप एक अहोरात्र होता है। यही नाभिकेन्द्र हृदय है, मध्यधाम है। यहीं से प्राण का उदय होता है। प्राण का उठना, उदय होना, चलना, अस्त होना, पुनः उदय के बाद अन्तः प्रवेश कर विश्राम प्राप्त करना ही प्राणचार का क्रम है ॥५३॥

प्राणचार तीन प्रकार का होता है। उसी से क्रमशः सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। यही कह रहे हैं—

आमावस्य दशा में सूर्यास्त के बाद प्राण चितिकेन्द्र के अमृत से सराबोर हो कर सोमात्मक जीवन तत्व से परिपूरित होकर प्रातिपद विन्दु से उदित होता हुआ पौर्णमास पद पर पहुँचता है। यह उसकी प्रवेश-यात्रा है। यह प्राणचार का एक प्रकार है।

दूसरा प्रकार पौर्णमास पद में ऐकात्म्य-विश्रान्ति है। यह मध्य धाम है। यही सबसे महत्वपूर्ण पद है। विश्रान्ति के बाद ही पुनः कृष्णपक्ष की यात्रा चलती है। सोम तत्त्व क्रमशः क्षीण होने लगता है और आमावस्य धाम तक की यात्रा के अन्त में सूर्य चन्द्र दोनों अस्त हो जाते हैं। मध्यधाम से उदय, सिद्धि के लिये

नन्वेवंबचने किं प्रमाणम् ? इत्याशङ्क्याह

आद्यन्तोदयनिर्मुक्ता　　मध्यमोदयसंयुताः ।
मन्त्रविद्याचक्रगणाः सिद्धिभाजो भवन्ति हि ॥ ५५ ॥
मन्त्रचक्रोदयज्ञस्तु　　विद्याचक्रोदयार्थवित् ।
क्षिप्रं सिद्ध्येदिति प्रोक्तं श्रीमद्द्विशतिके त्रिके ॥ ५६ ॥

'आद्यन्तोदयौ' निर्गमप्रवेशौ, 'मध्यमोदयो' मध्यधामैकात्म्यम् । हिर्हेतौ । तेनैवं मन्त्रविद्याचक्रोदयं जानानो योगी निर्विलम्बमेव सिद्धिभाग् भवेदित्यर्थः ॥ ५५-५६ ॥

ननु जितप्राणस्यारूढस्य योगिनः किं नामासाध्यं यन्न प्राणगं कुर्यात्, प्राणं जयतः पुनरारुरुक्षोः कथमेतत्सिध्येत् ? इत्याशङ्क्याह

द्विस्त्रिश्चतुर्वा मात्राभिर्विद्यां वा चक्रमेव वा ।
तत्त्वोदययुतं　नित्यं　पृथग्भूतं　जपेत्सदा ॥ ५७ ॥
पिण्डाक्षरपदैर्मन्त्रमेकैकं　　शक्तितत्त्वगम् ।

उत्तम होता है । इस प्रकार प्रवेश, ऐकात्म्य और निर्गम की इन तीन दशाओं का साक्षी बन कर अभ्यास करना चाहिये । सिद्धि का वास्तविक विन्दु ऐकात्म्य विन्दु है । यही श्रेष्ठ पद है ॥ ५४ ॥

आगमिक प्रामाण्य देते हुए आचार्य कह रहे हैं कि श्रीमद्द्विशतिकत्रिक शास्त्र से उक्त बातों का समर्थन हो रहा है । उसके अनुसार ऐकात्म्य दशा ही मन्त्र और विद्या के चक्रों को सिद्ध करती है । मन्त्रचक्रोदय का ज्ञाता विद्याचक्र का भी ज्ञाता हो जाता है ॥ ५५-५६ ॥

प्राणजित् योगी पुरुष अपनी साधना के बल पर प्राणचार सम्बन्धी प्रक्रिया में मन्त्रचक्रों और विद्याचक्रों के मध्य धामैकात्म्य द्वारा सिद्धि प्राप्त कर लेता है । प्रश्न तो आरुरुक्षु साधक का है । अभी वह अभ्यास के क्रम में प्राण को जीतने का प्रयास कर रहा है । उसकी सिद्धि के विषय में अपना विचार प्रस्तुत कर रहे हैं—

बह्वक्षरस्तु यो मन्त्रो विद्या वा चक्रमेव वा ॥५८॥
शक्तिस्थं नैव तं तत्र विभागस्त्वों नमोन्तगः ।

आरुरुक्षुः पुनर्योगी नित्यं द्विः त्रिश्चतुर्वाभ्यासतारतम्यानुसारमेकद्वयादिक्रमेण

'त्रिर्जानुवेष्टनान्मात्रा त्रिगुणच्छोटिकात्रयात् ।
(मा० वि० १७।१२)

इति लक्षिताभिर्मात्राभिरनेकाक्षरां विद्यामनेकपिण्डं वा चक्रमनेकपदं वा मन्त्रमेकैकं पिण्डाक्षरपदैः पृथग्भूतमेकमेव पिण्डमक्षरं पदं वा पूर्वोक्तयुक्त्या प्राणशक्तितत्त्वगतं कृत्वा तत्त्वोदययुतं मध्यधामैकात्म्येन सदा जपेत्, लक्षजपादि कुर्यादित्यर्थः । अत एव पदादिविभागशून्यो बह्वक्षर एव यः पुनर्मन्त्रादिस्तमारुरुक्षुर्योगी तावतः प्राणनिरोधस्याशक्यत्वात् शक्तिस्थं नैव कुर्यात् शक्त्युदयमेषां न परिकल्पयेदित्यर्थः । ननु यद्येषां बह्वक्षरतया सामस्त्येन प्राणशक्तावुदयं कर्तुं न शक्यते तत्समनन्तरोक्तक्रमेण व्यस्ततयैतदस्तु, इत्याशङ्कयोक्तं तत्रेत्यादि । ओं नमोन्तग इति, न तु मन्त्रान्तरवत् पदपिण्डादिक्रमेणैषां विभागोऽस्ति येनांशांशिकयापि शक्तावुदयः सिद्ध्येत्, अतश्चारुरुक्षुभिरेवंविधानां मन्त्राणां जप एव न कार्यः,—इत्युक्तं स्यात् ॥ ५७-५८ ॥

मालिनी विजयोत्तर तन्त्र १७।१२ में मात्राओं के निर्देश हैं । प्रारम्भिक साधक प्राण के मध्यधाम में दो या तीन मात्राओं अथवा चार मात्राओं का ही सुविधानुसार अभ्यास करता है । भले ही वह पदपिण्ड हो अथवा विद्यापद हो या चक्र हो, पहले सबको प्राणतत्व से समन्वित करना चाहिये । प्राणतत्वके उदय के माध्यम से इनका अलग अलग जप करना चाहिये । इससे मध्यधाम की एकात्मकता होती है और जप सिद्ध हो जाता है ।

जिन मन्त्रों में पद आदि के विभाग नहीं होते, और पद-बहुल मालामन्त्र होते हैं, उनका जप मध्यधाम प्रक्रिया से नहीं हो सकता । इतना प्राण का निरोध करना आगमिक दृष्टि से अनुचित है । इसमें हठ योग नहीं चलता । यह भी नहीं कहा जा सकता कि माला मन्त्रों को तोड़ कर थोड़ा-थोड़ा कर शक्ति से मध्यधाम का समन्वय कर जप करना चाहिये । मन्त्र विभाग ॐ नमः पर्यन्त होता है । समर्थ प्राण जेता भले ही स्वतन्त्र मार्ग का आश्रय ले, आरुरुक्षु साधक को यह प्रक्रिया कभी नहीं अपनानी चाहिए ॥ ५७-५८ ॥

आरूढस्य पुनर्योगिनो न केवलं पूर्ण एव समुदये प्रवेशादित्रैविध्यं यावत्तदंशेष्वपीत्याह

अस्मिंस्तत्त्वोदये तस्मादहोरात्रस्त्रिशस्त्रिशः ॥५९॥
विभज्यते विभागश्च पुनरेव त्रिशस्त्रिशः ।

तस्मात्पूर्वोक्ताद्धेतोः, अस्मिन् प्रक्रान्ते 'तत्त्वोदये' कार्यकारणयोरभेदोपचारात् चक्रोदये प्राणापानात्माहोरात्रस्त्रिशस्त्रिशो विभज्यते, केवल एव प्राणोऽपानो वा प्रवेशैकात्म्यनिर्गमात्मना प्रकारत्रयेण विभागमापद्यते इत्यर्थः । त्रैविध्यमिति प्रवेशादेः प्रत्यंगुलद्वादशकमुदयः । एवमात्मा विभागोऽपि पुनस्त्रिशस्त्रिश एव, प्रवेशाद्यपि प्रवेशनिर्गमैकात्म्यलक्षणप्रकारत्रयभाग्भवेदित्यर्थः । तेन प्रत्यंगुलचतुष्टयमपि प्रवेशादीनामुदयः,—इति सिद्धम् । तदारूढस्य योगिनः परिमिते प्राणचारीयेऽप्यंशेऽप्येवं चक्रोदयः सिद्ध्येदित्यभिप्रायः ॥ ५९ ॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवानुसरति

पूर्वोदये तु विश्रम्य द्वितीयेनोल्लसेद्यदा ॥६०॥
विशेच्चार्धाधिकायोगात्तदोक्तार्धोदयो भवेत् ।
यदा पूर्णोदयात्मा तु समः कालस्त्रिके स्फुरेत् ॥६१॥
प्रवेशविश्रान्त्युल्लासे स्यात्स्वत्र्यंशोदयस्तदा ।

आरूढ योगी के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कर रहे हैं—

इस तत्वोदय प्रक्रिया में कार्य कारण-भावभेद का उपचार नहीं चलता। यहाँ प्राण और अपान रूप अहोरात्र हैं, वे तीन तीन भाग से विभक्त किये जाते हैं। प्राण में भी प्रवेश, ऐकात्म्य और निर्गम तथा अपान में भी प्रवेश, ऐकात्म्य तथा निर्गम रूप तीन विभाग करने में साधक समर्थ होता है। ३६ अंगुल के तीन भाग करने पर १२-१२ अङ्गुल के तीन प्राणचार अथवा तीन अपान वाह में भी १२-१२ अङ्गुल के तीन विभाग हो जाते हैं। ७२ अङ्गुल का ही प्राणापान वाह रूप एक अहोरात्र होता है। इन १२ अंगुलों वाले विभागों को भी त्रिधा त्रिधा विभक्त करने पर ४-४ अङ्गुल विभाग हो जाते हैं। आरूढ योगी इस आंशिक प्राणचार में चक्रोदयानुरूप मन्त्रजप में समर्थ होते हैं ॥५९॥

तस्मात् 'पूर्वस्मिन्' प्रधाने मध्यधामात्मनि 'उदये विश्रम्य' तदैकात्म्येन स्थित्वा 'यदा द्वितीयेन' निर्गमात्मना प्रकारेण 'उल्लसेत्' प्राणक्रमेणोर्ध्वं गच्छेत्, अर्थात्तृतीयेनापि प्रवेशात्मना प्रकारेण 'विशेत्' अपानक्रमेण हृदन्तं प्रवेशं कुर्यात् तदा प्राणापानयोः प्रत्येकमर्धाधिकया संबन्धात् सषट्छतसहस्रैकविंशत्यात्मन उक्तस्य कालस्यार्धेन प्राणचाराणां साष्टशतं सहस्रदशकमुदयो भवेत्। यदा पुनः 'पूर्णः' सषट्छतसहस्रैकविंशतिरूपो योऽसावुदयस्तदात्मा कालः प्रवेशविश्रान्त्युल्लासाख्ये त्रिके साम्येन स्फुरेत् तदा प्रवेशादीनां प्रत्येकं 'स्वः' आत्मीयो यः सशतद्वयसहस्रसप्तकात्मा 'त्र्यंशः' तस्योदयो भवेदित्यर्थः ॥६०-६१॥

ननुप्राक्

अन्तः संविदि सर्वोऽयमध्वा विश्रम्य तिष्ठति ।' (तं० ६।२८)

इति प्रतिज्ञातं तत्कथमिह कालाध्वनः प्राण एवैवं प्रतिष्ठितत्वमुच्यते ? इत्याशङ्क्याह

इत्येष कालविभवः प्राण एव प्रतिष्ठितः ॥६२ ।
स स्पदे खे स तच्चित्यां तेनास्यां विश्वनिष्ठितिः ।

'प्राण' इति प्राधान्यात् तेनापानादावपि। स इति प्राणः। 'स्पन्दे' इति सामान्यात्मिकायामाद्यप्रसररूपायां प्राणनावृत्तौ। 'खे' इति शून्ये-

---

इस प्रकार प्राण प्रक्रिया के स्वाभाविक क्रम का उल्लेख कर रहे हैं—

श्वास का उदय हुआ। मध्यधाम का यह प्रथम उल्लास होता है। योगी उसी में विश्राम कर लेता है। फिर दूसरा निर्गम हुआ। प्राण गतिशील हुआ। यह तीसरा उल्लास हुआ। इसमें विश्राम कर चौथा निर्गम करते हैं। इस प्रकार प्राणसंचरण-क्रम पूर्ण होता है। अपान वाह में आमावस्य पद में प्रतिपद उत्थान और ऊपर कहे ढङ्ग से ऐकात्म्य और निर्गम होते हैं। इस तरह दिन में १०८०० बार और रात में भी १०८०० बार प्राण अपान चार हो जाते हैं। २१६०० के पूर्णोदय में त्र्यंश करने पर ७२०० प्राणचार हो जाते हैं ॥६०–६१॥

तन्त्रालोक ६।२८ के अनुसार सारा अध्वा का उल्लास संविद् में विश्रान्त होता है। इसके विपरीत यहाँ कालाध्वा की प्राण में प्रतिष्ठा क्यों उक्त है? इसका समाधान कर रहे हैं—

वस्तुतः यह सारा काल प्राण में ही प्रतिष्ठित है। प्रधानता के कारण प्राण का ही उल्लेख है। इससे अपान अर्थ भी लिया जाना चाहिये। काल प्राण में,

प्रमातरि। स इति मेयौत्सुक्येन बहिःसमुच्छलन्प्राणस्पन्दादिशब्दव्यपदेश्यो भवेदिति भावः। तदिति खं, चित एव स्वातन्त्र्याच्छून्यरूपत्वेन परिस्फुरणात्। तेनेत्युक्तेन पारम्पर्येण हेतुना, विश्वेति षड्विधस्याध्वनः। यद्वक्ष्यति

'अध्वा समस्त एवायं चिन्मात्रे संप्रतिष्ठति।
यत्तत्र न हि विश्रान्तं तन्नभःकुसुमायते॥
संविद्द्वारेण तत्सृष्टे शून्ये धियि मरुत्सु च।
नाडीचक्रानुचक्रेषु बहिर्देहेऽध्वसंस्थितिः'॥

(तं० ८।४) इति॥ ६२॥

एवं संविदधीनानेव विश्वस्य सृष्टिसंहारावित्याह

अतः संवित्प्रतिष्ठानौ यतो विश्वलयोदयौ। ६३॥

शक्त्यन्तेऽध्वनि तत्स्पन्दासंख्याता वास्तवी ततः।

अतः कालस्य पारम्पर्येण संविद्येव निष्ठितत्वात् संवित्कर्तृकावेव यतो विश्वस्य सृष्टिसंहारौ, ततः शक्त्यन्तेऽध्वनि तेषां प्रागुक्तानां सृष्टिसंहाराद्यात्मनां स्पन्दानां

'तत्सृष्टौ सृष्टिसंहारा निःसंख्या जगतां यतः।
अन्तर्भूता ततः शाक्ती महासृष्टिरुदाहृता॥'

प्राण स्पन्द में, स्पन्द शून्य में और शून्य चिति तत्त्व में प्रतिष्ठित है। यही बात तन्त्रालोक के ८।४ में स्पष्ट कही गयी है कि "यह सारा षडध्वचक्र चिन्मात्र में प्रतिष्ठित है। जो यहाँ नहीं है, वह आकाश कुसुम है। संविद् से सृष्टि के रूप में विश्व समुदित होता है। शून्य, स्पन्द और प्राण में सारा विस्तार समाहित है। बाह्यदेह में नाडी चक्र की तरह यह सारा अध्वा-प्रतिष्ठान चिति में प्रतिफलित है॥ ६२॥

इससे यह सिद्ध होता है कि सृष्टि और संहार ये सभी संवित् तत्व के ही अधीन हैं। यही कह रहे हैं—

विश्व के लय और उदय अर्थात् सृष्टि और संहार का संविद् तत्व ही प्रतिष्ठान है। संवित् कर्तृक ही सृष्टि है और संहार भी। ये दोनों भी एक प्रकार के स्पन्द ही हैं। चूँकि स्पन्द अनन्त हैं। इस लिये सृष्टि और संहार भी असंख्यात हैं। इनकी गणना नहीं की जा सकती। यह सब बाह्य सृष्टि है।

इत्याद्युक्तयुक्त्यावान्तराणां स्पन्दानामन्तर्भावात् असंख्यातापि वास्तवी सन्मात्रैकरूपत्वात् पारमार्थिकीत्यर्थः। यो हि नाम बहिः कश्चन परिस्पन्दः स संवित्सतत्त्व एव,—इत्यभिप्रायः ॥ ६३ ॥

न चैतदस्मदुपज्ञमेव यावदागमेऽपि एवमित्याह

उक्तं श्रीमालिनीतन्त्रे गात्रे यत्रैव कुत्रचित् ॥ ६४ ॥
विकार उपजायेत तत्तत्त्वं तत्त्वमुत्तमम् ।

इह खलु परसंविदावेशालिनो योगिनो यत्रैव कुत्रचिच्चक्षुरादौ गात्रे 'सर्वो ममायं विभवः' इत्यादिसंकल्पपूर्वक उपजायमानो यो विकारः स्पन्दस्तस्य यत्तत्त्वं सर्वभावानां स्वाविभागेनावभासनं तदुत्तमं तत्त्वं, संविदनतिरेकात्परः परमार्थ इत्यर्थः। तदुक्तं तत्र

'यत्रैव कुत्रचिद गात्रे विकार उपजायते ।
संकल्पपूर्वको देवि तत्तत्त्वं तत्त्वमुत्तमम् ।'

(मा० वि०।१८।४२) इति ॥ ६४ ॥

ननु भवतु नामेतत् तत्राप्यस्य प्राणस्य देहनिष्ठत्वेन कस्माद्रूपमुच्यते ? इत्याशङ्क्याह

"वस्तुतः सृष्टि बहिः स्पन्दमान है और अनन्त है। आन्तरिक शाक्ती सन्मात्र रूपा सृष्टि महासृष्टि है और पारमार्थिकी है।"

अतः यह कहा जा सकता है कि बहर जो भी स्पन्द है, वह संवित् तत्व का उल्लास है। इसमें किसी तरह के सन्देह की गुन्जाइश नहीं ॥ ६३ ॥

उक्त कथन के समर्थन में आगमिक प्रामाण्य प्रस्तुत कर रहे हैं—

बाह्य स्पन्द के रूप में अपने शरीर का विकार भी व्यक्त होता है। एक योगी है। परा संवित्तत्त्व में आवेश के महाभाव से वह भूषित है। "यह सारा विश्व उल्लास मेरा ही है" इस धारणा के स्तर का वह महा साधक है। कभी उसके शरीर में भी यदि कोई विकार जैसे आँख का रोग या फोड़ा आदि हो जाय, तो उसे वह अविभाग रूप से अवभासित अपना ही स्पन्द मानता है। मालिनी विजयोत्तर तन्त्र १८।४२ के अनुसार "यह वैकारिक स्पन्द भी अत्यन्त उत्तम तत्त्व है" ॥ ६४ ॥

प्राणे प्रतिष्ठितः कालस्तदाविष्टा च यत्तनुः ॥ ६५ ॥
देहे प्रतिष्ठितस्यास्य ततो रूपं निरूप्यते ।

तदाविष्टेति, तच्छब्देन प्राणपरामर्शः। तत इति, प्राणस्य तनावाविष्टत्वात् ॥ ६५ ॥

ननु कथं नाम देहस्य तदावेशः ? इत्याशङ्क्याह

चित्स्पन्दप्राणवृत्तोनामन्त्या या स्थूलता सुषिः ॥ ६६ ॥
सा नाडीरूपतामेत्य देहं संतानयेदिमम् ।

प्राङ्निरूपितस्वरूपाणां चिदादीनां कार्यजननौन्मुख्यादन्त्या, अत एव चिदादेरन्तःकरणात् सुषिशब्दव्यपदेश्या या स्थूलता बहीरूपतया श्यानीभावः सा

'पादाङ्गुष्ठाग्रतो व्यक्ता नाभितो हृदयं गता ।
सुषुम्ना नाम सा ज्ञेया ब्रह्मरन्ध्राब्जनिर्गता ।
प्राणिनां प्राणसंचारे निर्मिता परमेष्ठिना ॥'

स्पन्द का यह परिणाम माना जा सकता है । प्रश्न तो प्राण की सन्मात्र रूपता का है । वह देह निष्ठ होता है, रूप नहीं । यह सभी जानते हैं । विकार रूपात्मक होता है । प्राण नहीं होता । इस जिज्ञासा का समाधान कर रहे हैं–

प्राण में काल प्रतिष्ठित होता है । शरीर भी प्राण के आवेश से आविष्ट होता है । इस तरह प्राण देह में भी प्रतिष्ठित है । इस लिये शरीर भी प्राण रूप ही है । इसीलिये यह रूप निरूपित किया गया है ॥ ६५ ॥

प्राण से आविष्ट शरीर विषयक जिज्ञासा का भी समाधान कर रहे हैं—

चित्, स्पन्द और प्राण की कारण से कार्य की ओर उन्मुखता की अन्तिम स्थूलता 'सुषि' कहलाती है । "वह पैर के अंगूठे के अग्रभाग से व्यक्त होती है। नाभि से हृदय की ओर गतिशील है । तम्बू-घर के बीच में जैसे स्तम्भ होता है और जिस पर यह टिका होता है । उसी तरह सुषुम्ना मध्य नाड़ी के रूप में स्थित रह कर पूरे शरीर को और उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग को धारण कर एक स्वरूप प्रदान करती है । यह नाड़ी बड़ी महत्वपूर्ण होती है । ब्रह्म रन्ध्र के कमल से निकलती है । प्राणियों के प्राण संचार के लिये इसे परमेष्ठी ब्रह्मा ने बनाया

इत्याद्युक्त्या प्रथमं मध्यस्थूणान्यायेन मध्यनाडीरूपतामाश्रित्य वक्ष्यमाणप्रमाण-मिमं देहं संतानयेत् सर्वतो भेदोपभेदरूपतया नाड्यन्तरोपजननात् जालवत्संतान-वन्तं कुर्यादित्यर्थः । । ६६ ॥

अतश्चागमोऽप्येवमित्याह

श्रीस्वच्छन्देऽत एवोक्तं यथा पर्णं स्वतन्तुभिः ॥ ६७ ॥

व्याप्तं तद्वत्तनुर्द्वारद्वारिभावेन नाडिभिः ।

यथा पलाशपत्रं मध्यतन्त्ववलम्बिभिरात्मीयैस्तन्त्वन्तरैः सर्वत्र व्याप्तं तथा शरीरमपि भेदोपभेदरूपत्वेन द्वारद्वारिकया मध्यनाडिसंलग्नाभिर्गुणप्रधानभावेना-वस्थिताभिर्नाडीरिति वाक्यार्थः । यदुक्तं तत्र

'नाभ्यधो मेढ्कन्दे च स्थिता वै नाभिमध्यतः ।
तस्माद्विनिर्गता नाड्यस्तिर्यगूर्ध्वमधः प्रिये ॥
चक्रवत्संस्थितास्तत्र प्रधाना दश नाडयः ।
द्वासप्ततिसहस्राणि नाड्यस्ताभ्यो विनिर्गताः ॥
पुनर्विनिर्गताश्चान्या आभ्योऽप्यन्याः पुनः पुनः ।
यावत्यो रोमकोटयस्तु तावत्यो नाडयः स्मृताः ॥
यथा पर्णं पलाशस्य व्याप्तं सर्वत्र तन्तुभिः ।'

(स्व० ७।११) इति ॥ ६७ ॥

है"। यह चित् स्पन्द और प्राण की अन्तःकरण रूपा है। इसी लिये इसे सुषि कहते हैं। इस तरह यह शरीर प्राण से आविष्ट है—यह सिद्ध हो जाता है। यहाँ ब्रह्मरन्ध्राब्ज मूलाधार के मूल चतुर्दल कमल से सहस्रार कमल अर्थ में भी प्रयुक्त है ॥ ६६ ॥

आगम प्रामाण्य से इस मत का समर्थन कर रहे हैं—

एक पत्ता जैसे अनन्त तन्तुओं से व्याप्त रहता है, उसी तरह यह शरीर भी प्रधान और गौण नाड़ी शिरा जाल से व्याप्त है। यह स्वच्छन्द तन्त्र का मत है। वहाँ कहा गया है कि,

"नाभि के नीचे लिङ्ग के निम्न भाग में स्थित कन्द में यह रहती है। वहाँ से नाभि चक्र में चङ्क्रमण करती है। वहाँ से ऊपर नीचे आडी-तिरछी दश नाड़ियों का एक तन्तुजाल बनता है। उनसे पूरे शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ निकलती हैं। इनसे भो सूक्ष्म नाड़ियाँ निर्गत होती हैं। इन पतली

ननु 'मारुतापूरिताः सर्वाः' इत्याद्युक्त्या सर्वा एव तावन्नाडयः प्राणवहाः, ताभिश्च निखिलमेव शरीरं व्याप्तमिति नास्त्यत्र विमतिः, तत्कथं हृदयाद्द्वादशान्तं मत्तगन्धस्थानां वा यावत्षट्त्रिंशदङ्गुल एव प्राणचार उक्तः ?

इत्याशङ्क्याह

पादाङ्गुष्ठादिकोर्ध्वस्थब्रह्मकुण्डलिकान्तगः ॥ ६८ ॥

कालः समस्तश्चतुरशीतावेवाङ्गुलेष्वतः ।

द्वादशान्तावधि किंचित्सूक्ष्मकालस्थितिं विदुः ॥ ६९ ॥

षण्णवत्यामधः षड्द्विक्रमाच्चाष्टोत्तरं शतम् ।

उर्ध्वस्था ब्रह्मकुण्डलिका ब्रह्मबिलं, समस्तः प्रागुक्तः कालश्चतुरशीतावङ्गुलेष्विति सार्धत्रिहस्तात्मकत्वात् देहस्य। इत इति, गतः स्थित इत्यर्थ। षण्णवत्यामङ्गुलेष्विति पूर्वतो योज्यम्। तथात्वे च द्वादशानामङ्गुलानामाधिक्येनोपादानात् सूक्ष्मशब्दसन्निधेः पूर्वापरयोर्मानयोः स्थूलत्वं परत्वं चार्थसिद्धम्। अध इति पादाङ्गुष्ठात्। षड्द्विक्रमादिति, षण्णांद्वियोऽसौ द्वादशाङ्गुलात्मा क्रमस्तस्माद्यदूर्ध्व इवाधोऽपि द्वादशान्तः संभवेदिति भावः॥ ६८-६९॥

नाड़ियों से अन्य तनुतमा नाड़ियों का निर्गम होता है। जितने करोड़ शरीर में में रोम हैं—उतनी नाड़ियाँ भी हैं। पलाश पर्ण ही इसका प्रमाण है"। स्वच्छन्द तन्त्र ७।११ की यह उक्ति उक्त मत का पूर्ण समर्थन करती है॥ ६७॥

नाड़ियों के सम्बन्ध शास्त्र कहते हैं कि "ये सभी प्राण से पूरित रहती हैं।" इससे इन्हें प्राणवहा नाड़ियाँ कहते हैं। इनसे सारा शरीर व्याप्त है। ऐसी स्थिति में यह क्यों कहा जाता है कि हृदय से द्वादशान्त तक ही मात्र ३६ अङ्गुल का ही प्राणचार होता है ? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

पैर के अङ्गुठे के अग्रभाग से लेकर ऊर्ध्व कुण्डली पर्यन्त काल का आकलन स्वाभाविक है। यह पूरी लम्बाई ८४ अङ्गुल की होती है। पहले ९६ अङ्गुल की चर्चा की गयी है। यह शरीर की लम्बाई के अतिरिक्त १२ अङ्गुल की गणना सूक्ष्म काल स्थिति मानी जाती है। काल के इस आकलन में पूर्वापर मान के अनुसार यदि अधःद्वादशान्त १२ अङ्गुल का माना जायेगा तो ऊर्ध्व

नन्वेवं देहस्य मानवैचित्र्ये प्राणादेरपि कश्चिदतिशयो न वा? इत्याशङ्क्याह

अत्र मध्यमसंचारिप्राणोदयलयान्तरे ॥ ७० ॥

विश्वे सृष्टिलयास्ते तु चित्रा वाय्वन्तरक्रमात् ।

अत्र त्रिप्रकारप्रमाणावच्छिन्ने देहे प्राधान्यान्मध्यवाहिनः प्राणस्य ये उदयलया निर्गमप्रवेशास्तदन्तराले विश्वे प्रागुक्तकलना एव सर्वे सृष्टिसंहारा भवन्ति, किंत्वेषामपानवाय्वन्तरक्रमादेव प्राग्वद्वैचित्र्यं न तु देहवैचित्र्यादित्यर्थः ।

इदानीमाह्निकार्थमेव श्लोकस्य प्रथमार्धेनोपसंहरति

इत्येष सूक्ष्मपरिमर्शनशीलनीय-

श्चक्रोदयोऽनुभवशास्त्रदृशा मयोक्तः ॥ ७१ ॥

सूक्ष्मपरिमर्शनेत्यनेन अत्यन्तमस्यावधानगम्यत्वमुक्तमिति शिवम् ॥

द्वादशान्त भी १२ अङ्गुल का होगा। इस तरह १२ + ८४ + १२ = १०८ अङ्गुल व्यष्टि का अस्तित्व स्वीकृत किया जाता है। इस विश्लेषण से उक्त द्वादशान्त सम्बन्धी जिज्ञासा का समाधान हो जाता है ॥ ६८-६९ ॥

प्रश्न होता है कि शरीर के इस मान के आकलन में क्या प्राण आदि का भी कोई अतिरिक्त अतिशय पूर्ण महत्त्व है? इसका उत्तर दे रहे हैं—

शरीर में प्राण संचार की तीन वाह विधि का निर्देश पहले किया जा चुका है। मध्य (ऐकात्म्य) धाम से ही प्राण का उदय और फिर उसी में लय यह स्वाभाविक क्रम है। यही निर्गम और प्रवेश भी कहलाता है। इसी अन्तराल में यह विश्व उल्लसित है। सृष्टि और संहार की लीला का विलास भी यही है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि इसमें प्रधानतः अपान वायु का आन्तरिक क्रम विशिष्ट वैचित्र्य का संचार करता है। देह तो प्राण मात्र का बाह्य स्पन्द ही है ॥ ७० ॥

अपनी शैली के अनुसार श्लोकार्ध से आह्निक का उपसंहार कर रहे हैं—

इस तरह यह चक्रोदय-लय-क्रम सूक्ष्म परामर्श के माध्यम से अनुशीलन करने योग्य है—यह सिद्धान्त मैंने अनुभव शास्त्र की सिद्ध सरणी के अनुसार व्यक्त किया है। स्वयं परम शिव इसके साक्षी हैं ॥ ७१ ॥

प्रतिनियतमन्त्रसमुदयचारभिदनुभवनिभालनोद्युक्तः ।
सप्तममाह्निकमेतद्व्याकृतवाञ्जयरथाभिख्यः ॥

इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य-श्रीमदभिनवगुप्तविरचिते तन्त्रालोके
श्रीजयरथविरचित विवेकाभिख्यव्याख्योपेते
चक्रोदय-प्रकाशनं नाम सप्तममाह्निकं समाप्तम् ॥ ७ ॥

●

प्राणचार में प्रतिनियत मन्त्रज अनुभव-गम्य ।
जयरथ व्याकृत सातवाँ आह्निक यह अति रम्य ॥

× × × ×

मध्ये धाम्नि लयोदयानन्दं स्वयमनुभूय ।
कृत्वा तत्र जपादिकं व्यत्यासं व्याधूय ॥
आह्निकमेवं सप्तमं सन्तुष्टः व्याख्याय ।
मृशति परमहंसः शिवं सौः ओं नमः शिवाय ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तपादविरचित श्रीराजानक
जयरथकृत विवेकव्याख्योपेत डॉ० परमहंसमिश्र विरचित
नीर-क्षीर-विवेक-भाषा-भाष्य संवलित श्रीतन्त्रालोक का
चक्रोदय प्रकाशन नामक सप्तम आह्निक सम्पूर्ण
नमः शिवाय ह्सौं क्लीं ॥ ७ ॥

द्वितीयो भागः

❀ शुभं भूयात् ❀

●

अभिनवशास्त्रमार्गप्रवर्त्तनम्

जयताज्जगदुद्धृतिक्षमोऽसौ
भगवत्या सह शंभुनाथ एकः ।
यदुदीरित - शासनांशुभिर्मे
प्रकटोऽयं गहनोऽपि शास्त्रमार्गः ॥

सन्तिपद्धतयश्चित्राः स्रोतोभेदेषु भूयसा
अनुत्तरषडर्धार्थक्रमे त्वेकाऽपि नेक्ष्यते ।
इत्यहं बहुशः सद्भिः शिष्यसब्रह्मचारिभिः
अर्थितो रचये स्पष्टां पूर्णार्थां प्रक्रियामिमाम् ॥

श्रीभट्टनाथचरणाब्जयुगात्तथा
श्रीभट्टारिकांघ्रियुगलाद् गुरुसन्ततिर्या ।
बोधान्यपाशविषनुत्तदुपासनोत्थ-
बोधोज्वलोऽभिनवगुप्त इदं करोति ॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यः
अभिनवगुप्तपादाचार्यः

मूलश्लोकादिपंक्तिक्रमः

चतुर्थमाह्निकम्

पञ्चममाह्निकम्

षष्ठमाह्निकम्

सप्तममाह्निकम्

उद्धरणश्लोकादिपंक्तिक्रमः

चतुर्थाह्निकम्

पञ्चममाह्निकम्

उद्धरणाद्यपंक्तयः पृष्ठाङ्काः

षष्ठमाह्निकम्

सप्तम माह्निकम्

उद्धरणाद्यपंक्तयः पृष्ठाङ्काः

विशिष्टशब्दादिक्रमः

विशिष्टोक्तयः

उद्धृताः ग्रन्थाः मतवादाश्च

गुरवः ग्रन्थकाराश्च

●

संकेतग्रहः

संक्षिप्तसंकेतः	सांकेतिकाः शब्दाः	पृष्ठाङ्काः
अ० को०	अमरकाशः	३८८
अनुत्तरा०	अनुत्तरामृतम्	२७१
अ० प्र० सि०	अजड प्रमातृ सिद्धिः	४६४
आ०	आह्निकम्	२३३
ई० अ० का०	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा अधिकारः कारिका	२३०
ई० प्र० वि०	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी	२९३,३०८,३१६,३४४
गी०	श्रीमद्भगवद्गोता	३०७
उ० स्तोत्र०	उत्तरस्तोत्रम्	४८५
तं० (श्रीत०)	श्रीतन्त्रालोकः	२२४,२६४,३१०,३१२,३७४, ४४७,४५२,४६२,४६९,५०२,५०३
तं० सा०	तन्त्रसारः	४०९
प० सा०	परमार्थसारः	४२९
परात्री०	परात्रीशका	२६४,२७०
म० तं०	मतङ्गतन्त्रम्	४५७
मा० वि०	मालिनी विजयोत्तर तन्त्रम्	२९५,३१३,३२८,४२९,५००,५०४
यो० सू०	योगसूत्रम्	१८,७३,७४
वि० भै०	विज्ञानभैरवः	२३७,२४९,२६७,२६८,२६९, २८१,३१५,३४७, ४६९
वृ० उ०	वृहदारण्यक उपनिषत्	३४०
शि० सू०, शिव सू०	शिवसूत्रम्	१६३,२५७
श्री० त०	श्रीतन्त्रालोकः	३३३, ३४२
स्तो०	स्तोत्रम्	२२८
स्प०	स्पन्दकारिका	२४०
स्व० तं०	स्वच्छन्दतन्त्रम्	२४८,२६३,३३३,३१०,३६९-७०,३७२, ३९०,३९२,३९६,३९८-९९,४००,४०७,४११, १३,१४,१५,१६,१९,२२,२४,२७,३२,३९, ४१,४२,४४४,७४ ,४४८,४९४,५०६
साम्ब पं०	साम्बपञ्चाशिका	३८७

अपमुद्रणसंशोधनक्रमः

अशुद्धमुद्रणम्	शुद्धम् रूपम्	पृष्ठाङ्काः	पंक्तितयः
अकृतमाहं	अकृत्रिमाहं	१६२	१०
अग्नि सोमोत्मके	अग्निसोमात्मके	१००	१०
अनुग्रहीत	अनुगृहीतः	४१	१९
अनुभय	अनुभूय	३०९	२२
अहाराात्रो	अहोरात्रो	३७७	
ऊध्र्व	ऊर्ध्वं	२८१	
१२८	१२५	९५	१
१३०	१२५	९६	१
एव	एवं	३८७	९
एवापदेष्टा	एवोपदेष्टा	२०२	११
कथमनया	कथमनयो	२६४	१६
किंचित्तुं	किंचित्कर्त्तु	२९६	२
घर्माशु:	घर्मांशुः	३०५	२
चक्रेशत्व	चक्रेशत्वं	२९५	१२
चतुरशतिः	चतुरशीतिः	४९७	१
ज्ञेता	ज्ञेया	४१३	६
तत	तत्	३८१	११
तदरिक्त	तदतिरिक्त	९५	११
तदेवम्	तदेवम	२६१	१०
तुर्टा	तुटिको	३६९	९
त्रयादशत्व	त्रयोदशत्व	९४	२७
त्रिश्व	विश्व	२४३	९
दर्शनान्तरीययः	दर्शनान्तरीयः	१५	१४
दिनया	दिनयो	३८१	३
द्विगुणा	द्विगुणं	४७७	८
दृगादिदेदी	दृगादिदेवी	२४०	९

दृष्वा	दृष्ट्वा	६४	४
२४६	२४९	४१६	६
२६३	४६३	४६३	१
धर्भज्ञाना	धर्मज्ञाना	१२	८
धानीर्य	धानीयं	४०८	१३
नेकाराङ्क्ष्य	नैराकाङ्क्ष्य	१७०	१४
डठल	डंठल	८४	१६
परत्य	परस्य	२२७	६
परमे	परमै	१३६	१
पूव	पूर्वं	१९२	६
प्रकोत्तिता:	प्रकीर्त्तिता:	४०५	५
प्रकान्त	प्रक्रान्त	११८	८
प्रको	प्रकी	४०५	५
प्रबुद्धः	प्रबुद्धस्तु	४१६	४
प्रमाण और करणगोचर	करणगोचर प्रमाण और	९३	२०
प्रायश्चिताश्च	प्रयश्चिताश्च	१९९	४
बिम्बु	विन्दु	३२३	३
भतंरि	भर्तरि	४३१	१०
मेढ़	मेढ्र	४४१	५
मध्य	मद्य	२८०	७
मंखेन	मुंखेन	२६०	११
युक्त युक्तम्	युक्तमुक्तम्	१६	१०
ग्रेय	येयं	९६	३
लोकशाष्त्र	लोकशास्त्र	१९२	१२
विग्रह	विग्रहं	१२२	१४
विज्ञान	विज्ञानं	४८८	१०
विनश्दरेण	विनश्वरेण	६७	१२
विशेष	विशेषः	२९२	१६

वीर्य	वीर्यं	३२९	९
शान	ज्ञान	३७	२५
शूल	महामृल	२५८	२५
श्री स्तोत्र	श्रीस्तोत्रकार	१३८	२०
सनद्धो	संनद्धो	१७४	२
समन्वितभ्	समन्वितम्	३०२	१४
सहोदय	सहोदयः	३७३	१४
सविद्वी	संविद्देवी	१३३	१५
सविद्	संविद्	९५	१५
सवित्	संवित्क्रमः	११७	१२
सम्बत्धि	सम्बन्धित	४८०	२१
सं	सं	४२२	११
सामा	समा	१९३	१०
साम्य	साम्ब	३८७	२
सुष्टु	सुष्ठु	२५७	११
स्दात्मसंस्कृतम्	स्वात्मसंस्कृतम्	३	५
स्फात	स्फोत	२३७	९
स्त्रानं	स्नानं	३९३	१०
स्वप्रत्थयात्मकः	स्वप्रत्ययात्मकः	३३	१४
हृतम	हृतम्	१०४	१०
ह्ल	ह्ल	४५३	९
ह्म	ह्य	१३४	१२
ह्यवम्	ह्ययम्	२०१	१३